

B. V. S. S. MANI
BEEHIVE BUILDINGS
11, 12, 13, 14, 15, 16, 17, 18, 19, 20, 21, 22, 23, 24, 25, 26, 27, 28, 29, 30, 31, 32, 33, 34, 35, 36, 37, 38, 39, 40, 41, 42, 43, 44, 45, 46, 47, 48, 49, 50, 51, 52, 53, 54, 55, 56, 57, 58, 59, 60, 61, 62, 63, 64, 65, 66, 67, 68, 69, 70, 71, 72, 73, 74, 75, 76, 77, 78, 79, 80, 81, 82, 83, 84, 85, 86, 87, 88, 89, 90, 91, 92, 93, 94, 95, 96, 97, 98, 99, 100, 101, 102, 103, 104, 105, 106, 107, 108, 109, 110, 111, 112, 113, 114, 115, 116, 117, 118, 119, 120, 121, 122, 123, 124, 125, 126, 127, 128, 129, 130, 131, 132, 133, 134, 135, 136, 137, 138, 139, 140, 141, 142, 143, 144, 145, 146, 147, 148, 149, 150, 151, 152, 153, 154, 155, 156, 157, 158, 159, 160, 161, 162, 163, 164, 165, 166, 167, 168, 169, 170, 171, 172, 173, 174, 175, 176, 177, 178, 179, 180, 181, 182, 183, 184, 185, 186, 187, 188, 189, 190, 191, 192, 193, 194, 195, 196, 197, 198, 199, 200, 201, 202, 203, 204, 205, 206, 207, 208, 209, 210, 211, 212, 213, 214, 215, 216, 217, 218, 219, 220, 221, 222, 223, 224, 225, 226, 227, 228, 229, 230, 231, 232, 233, 234, 235, 236, 237, 238, 239, 240, 241, 242, 243, 244, 245, 246, 247, 248, 249, 250, 251, 252, 253, 254, 255, 256, 257, 258, 259, 260, 261, 262, 263, 264, 265, 266, 267, 268, 269, 270, 271, 272, 273, 274, 275, 276, 277, 278, 279, 280, 281, 282, 283, 284, 285, 286, 287, 288, 289, 290, 291, 292, 293, 294, 295, 296, 297, 298, 299, 300, 301, 302, 303, 304, 305, 306, 307, 308, 309, 310, 311, 312, 313, 314, 315, 316, 317, 318, 319, 320, 321, 322, 323, 324, 325, 326, 327, 328, 329, 330, 331, 332, 333, 334, 335, 336, 337, 338, 339, 340, 341, 342, 343, 344, 345, 346, 347, 348, 349, 350, 351, 352, 353, 354, 355, 356, 357, 358, 359, 360, 361, 362, 363, 364, 365, 366, 367, 368, 369, 370, 371, 372, 373, 374, 375, 376, 377, 378, 379, 380, 381, 382, 383, 384, 385, 386, 387, 388, 389, 390, 391, 392, 393, 394, 395, 396, 397, 398, 399, 400, 401, 402, 403, 404, 405, 406, 407, 408, 409, 410, 411, 412, 413, 414, 415, 416, 417, 418, 419, 420, 421, 422, 423, 424, 425, 426, 427, 428, 429, 430, 431, 432, 433, 434, 435, 436, 437, 438, 439, 440, 441, 442, 443, 444, 445, 446, 447, 448, 449, 450, 451, 452, 453, 454, 455, 456, 457, 458, 459, 460, 461, 462, 463, 464, 465, 466, 467, 468, 469, 470, 471, 472, 473, 474, 475, 476, 477, 478, 479, 480, 481, 482, 483, 484, 485, 486, 487, 488, 489, 490, 491, 492, 493, 494, 495, 496, 497, 498, 499, 500, 501, 502, 503, 504, 505, 506, 507, 508, 509, 510, 511, 512, 513, 514, 515, 516, 517, 518, 519, 520, 521, 522, 523, 524, 525, 526, 527, 528, 529, 530, 531, 532, 533, 534, 535, 536, 537, 538, 539, 540, 541, 542, 543, 544, 545, 546, 547, 548, 549, 550, 551, 552, 553, 554, 555, 556, 557, 558, 559, 560, 561, 562, 563, 564, 565, 566, 567, 568, 569, 570, 571, 572, 573, 574, 575, 576, 577, 578, 579, 580, 581, 582, 583, 584, 585, 586, 587, 588, 589, 590, 591, 592, 593, 594, 595, 596, 597, 598, 599, 600, 601, 602, 603, 604, 605, 606, 607, 608, 609, 610, 611, 612, 613, 614, 615, 616, 617, 618, 619, 620, 621, 622, 623, 624, 625, 626, 627, 628, 629, 630, 631, 632, 633, 634, 635, 636, 637, 638, 639, 640, 641, 642, 643, 644, 645, 646, 647, 648, 649, 650, 651, 652, 653, 654, 655, 656, 657, 658, 659, 660, 661, 662, 663, 664, 665, 666, 667, 668, 669, 670, 671, 672, 673, 674, 675, 676, 677, 678, 679, 680, 681, 682, 683, 684, 685, 686, 687, 688, 689, 690, 691, 692, 693, 694, 695, 696, 697, 698, 699, 700, 701, 702, 703, 704, 705, 706, 707, 708, 709, 710, 711, 712, 713, 714, 715, 716, 717, 718, 719, 720, 721, 722, 723, 724, 725, 726, 727, 728, 729, 730, 731, 732, 733, 734, 735, 736, 737, 738, 739, 740, 741, 742, 743, 744, 745, 746, 747, 748, 749, 750, 751, 752, 753, 754, 755, 756, 757, 758, 759, 760, 761, 762, 763, 764, 765, 766, 767, 768, 769, 770, 771, 772, 773, 774, 775, 776, 777, 778, 779, 780, 781, 782, 783, 784, 785, 786, 787, 788, 789, 790, 791, 792, 793, 794, 795, 796, 797, 798, 799, 800, 801, 802, 803, 804, 805, 806, 807, 808, 809, 810, 811, 812, 813, 814, 815, 816, 817, 818, 819, 820, 821, 822, 823, 824, 825, 826, 827, 828, 829, 830, 831, 832, 833, 834, 835, 836, 837, 838, 839, 840, 841, 842, 843, 844, 845, 846, 847, 848, 849, 850, 851, 852, 853, 854, 855, 856, 857, 858, 859, 860, 861, 862, 863, 864, 865, 866, 867, 868, 869, 870, 871, 872, 873, 874, 875, 876, 877, 878, 879, 880, 881, 882, 883, 884, 885, 886, 887, 888, 889, 890, 891, 892, 893, 894, 895, 896, 897, 898, 899, 900, 901, 902, 903, 904, 905, 906, 907, 908, 909, 910, 911, 912, 913, 914, 915, 916, 917, 918, 919, 920, 921, 922, 923, 924, 925, 926, 927, 928, 929, 930, 931, 932, 933, 934, 935, 936, 937, 938, 939, 940, 941, 942, 943, 944, 945, 946, 947, 948, 949, 950, 951, 952, 953, 954, 955, 956, 957, 958, 959, 960, 961, 962, 963, 964, 965, 966, 967, 968, 969, 970, 971, 972, 973, 974, 975, 976, 977, 978, 979, 980, 981, 982, 983, 984, 985, 986, 987, 988, 989, 990, 991, 992, 993, 994, 995, 996, 997, 998, 999, 1000

महाकविश्रीभारविप्रणीतं

किरातार्जुनीयम् ।

महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरि-
कृतया घण्टापथव्याख्यया परिशिष्टादि-
भिश्च समुल्लसितम् ।



मूल्यं २१ सपादरूप्यकद्वय

B. V. S. S. MAI...
BEEHIVE BUILDINGS,
88, BROADWAY, MADRAS-1.

KIRĀTĀRJUNIYA

OF

BHĀRAVI

WITH

The Commentary (Ghaṇṭāpatha) of Mallinātha,
Paris'isṭa

AND

VARIOUS READINGS.

EDITED BY

MAHĀMAHOPĀDHYĀYA PANDIT DURGĀPRASĀD

AND

KĀSĪNĀTH PĀNDURANG PARAB,

Thirteenth Edition

REVISED BY

NĀRĀYAṆ RĀM ĀCHĀRYA "KĀVYATĪRTHA"

PUBLISHED BY

SATYABHĀMĀBĀI PĀNDURANĜ,

FOR THE NIRṆAYA SĀGAR PRESS,

BOMBAY.

1942.

1982

Price 15

सर्वोपरुप्यकद्वयम्



[All rights reserved by the publisher.]

**Publisher:-Satyabhamabai Pandurang, } Nirnaya-Sagar Press,
Printer:-Ramchandra Yesu Shedge, } 26-28, Kolbhat Street, Bombay.**

॥ श्रीः ॥

महाकविश्रीभारविप्रणीतं

किरातार्जुनीयम् ।

महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिकृतया

घण्टापथव्याख्यया परिशिष्टादिभिश्च

समुल्लसितम् ।

जयपुरमहाराजाश्रितेन पण्डितब्रजलालसूनुना

महामहोपाध्यायपण्डितदुर्गाप्रसादेन,

परबोपाह्वेन पाण्डुरङ्गतनूभुवा

काशीनाथशर्मणा च

पूर्वसंस्कृतस्यास्य

त्रयोदशं संस्करणम्

श्रीमदिन्दिराकान्तचरणान्तेवासिना

नारायण राम आचार्य "काव्यतीर्थ"

इत्यनेन संशोधितम् ।

तच्च

मुम्बय्याम्

सत्यभामाबाई पाण्डुरङ्ग इत्येताभिः

निर्णयसागरमुद्रणालयस्य कृते तत्रैव मुद्रयित्वा

प्राकाश्यं नीतम् ।

शाकः १८६३, सन १९४२

मूल्यं १॥ पादोनरूप्यकद्वयम् ।



उपोद्घातः ।

किरातार्जुनीयप्रणेतातिप्राचीनो महाकविमूर्धन्यः श्रीभारविः कस्मिन्समये कतमं जनपदं जन्मना भूषितवानिति निश्चेतुमतीव दुःशकम् । किं तु काव्यमालायां मुद्रिते त्रयोदशे प्राचीनलेखे 'किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गादिकोंकारो दुर्विनीतनामधेयः' इति किरातार्जुनीयस्य, षोडशे प्राचीनलेखे च 'येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म । स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ॥' इति भारविकवेर्नाम समुपलभ्यते । तत्र त्रयोदशो लेखोऽष्टानवत्युत्तरषट्शतेषु (६९८) शकवर्षेषु, षोडशो लेखश्च षट्पञ्चाशदधिकपञ्चशतेषु (५५६) शकवर्षेषु लिखितोऽस्ति । एतेन ख्रिस्ताब्दीयसप्तमशतकारम्भेऽपि भारविकविः कालिदासवत्सुप्रसिद्ध उपमानभूतश्चासीत् । तादृशी प्रसिद्धिश्च सत्वरमेव न भवतीति ख्रिस्ताब्दीयषष्ठशतकात् प्राचीनो भारविरिति निर्विकल्पम् ।

'विहएना ओरिएण्टल जर्नल्' नाम्नचैमासिकपुस्तकस्य तृतीये भागे द्वितीये खण्डे (१४४ मिते पृष्ठे) शर्मण्यदेशीयो याकोबीपण्डितोऽपि "We therefore cannot place Mâgha later than about the middle of the sixth century; and Bhâravi who is older than Mâgha by at least a few decades, about the beginning of the sixth century" इत्यादि वदन्ख्रिस्ताब्दीयषष्ठशतकमध्यभागात्कथमपि माघकविर्नावाचीनः, भारविश्च ततोऽपि प्राचीन इति स्थिरीकरोति ।

देशश्च भारवेरनिश्चित एव । राजाराम-रामकृष्ण-भागवत-पण्डितस्तु 'मन्हाठ्यांच्या संबंधानें चार उद्गार' एतन्नामके महाराष्ट्रभाषाग्रथिते स्वकीयसंदर्भे (३४) पृष्ठे 'जशा सह्याद्रीच्या कळ्यावर समुद्राच्या लाटा मोघ होतात, असा किराताच्या अठराव्या सर्गात उद्गार काढणारा भारवि निःसंशय दाक्षिणात्य होय; मग तो मन्हाठा असो किंवा अस्सल द्रविड असो.' इत्युद्गिरति । अत्र यदि सह्याद्रिनामग्रहणमात्रेणैव भारवेर्दाक्षिणात्यत्वमङ्गीक्रियेत, तदा तु दक्षिणादिकप्रसिद्धानां मलय-सह्य-सुवेल-दिपर्वतानां कावेरी-गोदावरी-ताम्रपर्णी-भीमा-वेण्यादिनदीनां च वर्णयिता हरविजयकारः सुप्रसिद्धकाश्मीरकरत्नाकरमहाकविरपि दाक्षिणात्य एवेत्यपि सुवचम् । एवं विन्ध्याटवीवर्णनतत्परो बाणोऽपि विन्ध्याद्रिवासी कश्चन भिल्लः स्यात् । अन्येऽपि स्वर्गपातालादिवर्णनबद्धपरिकराः कवयस्तत्तत्प्रदेशवास्तव्या देवा दानवाश्च भवितुमर्हन्तीत्यतिसरला सरणिर्देशनिर्णये समुद्रीर्णा भागवतमहाशयेन ।

किरातार्जुनीयमपहायान्यः कोऽपि ग्रन्थो भारविकविप्रणीतो नावलोकितः । किरातार्जुनीयस्य तु प्रकाशवर्ष-जोनराज-एकनाथ-धर्मविजय-विनयसुन्दर-नरहर-मल्लिनाथादिभिः प्रणीताष्टीकास्तत्तद्देशेषु समुपलभ्यन्ते । तासु मल्लिनाथप्रणीता घण्टापथारूपैव सर्वगुणपूर्णा सर्वत्र लब्धप्रचारा च । तत्र प्रकाशवर्ष-जोनराजौ काश्मीरकौ, धर्मविजय-विनयसुन्दरौ जैनौ, एकनाथ-नरहरि-मल्लिनाथाश्च दाक्षिणात्याः सन्ति । प्रतापरुद्रीयटीकाप्रारम्भे मल्लिनाथस्य कनिष्ठसूनुः कुमारस्वामी मङ्गलाचरणश्लोकद्वयानन्तरमित्थमात्मानं वर्णयति—'वर्णी काणभुजीमजीगणदवाशासीच वैयासिकीमन्त-

स्तत्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् । वाचामाचकलद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपा-
दस्फुरां लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥ त्रिस्कन्धचास्त्रजलधिं चुलु-
कीकुरुते स्म यः । तस्य श्रीमल्लिनाथस्य तनयोऽजनि तादृशः ॥ कोलचलपेद्धार्यः प्रमा-
णपदवाक्यपारदृशा यः । व्याख्यातसर्वशास्त्रः प्रबन्धकर्ता च सर्वविद्यासु ॥ तस्यानु-
जन्मा तदनुग्रहात्तद्विद्योऽनवद्यो विनयावनम्रः । स्वामी विपश्चिद्वितनोति टीकां प्रताप-
रुद्रीयरहस्यभेत्रीम् ॥ यद्यन्निगूढमखिलं शक्त्या तत्तत्प्रकाश्यते । नामूलं लिख्यते
किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥' इति । स च मल्लिनाथस्तैलङ्गाभिजनः ख्रिस्ताब्दीयचतुर्दश-
शतक आसीदिति बहुसंमतम् । केचित्तु मल्लिनाथः ख्रिस्ताब्दीयसप्तदशशतकोत्तरभा-
गादप्यर्वाचीनः । यतोऽयं शिशुपालवधकिरातार्जुनीयादिटीकासु केशवकोशं प्रमाणत्वे-
नोपन्यस्यति । केशवश्च स्वकीयकोषे 'तत्रायं सांप्रतं कलिः । तद्गताब्दाः कुतिथिमाः
(४७६१)' इति कटपयादिक्रमेणात्मग्रन्थनिर्माणसमये कलिगताब्दान् वदति । अतः
षष्ठ्यधिकषोडशशत (१६६०) मिते ख्रिस्ताब्दे केशवेन कोशः प्रतीत इति स्फुटमेवेति
वदन्ति । एतद्वंश्या गजेन्द्रगडाख्यनगर्यामद्याप्यधिवसन्तीति केचिद्वदन्ति । काव्यप्रका-
शटीकाकारस्य सरस्वतीतीर्थस्य जनको मल्लिनाथस्त्वस्माद्भिन्नः । यतो नारायणो नैर-
हरिश्चेति तत्सूनुद्वयस्य नामधेये । शिशुपालवधोपोद्धाते तु सरस्वतीतीर्थजनकः
शिशुपालवधादिटीकाकारश्चैक एवेति भ्रमेण लिखितम् ।

घण्टापथयुक्तस्यास्य किरातार्जुनीयस्य मुद्रणावसरेऽस्माभिः संकलितानि पुस्तकानि
त्वेतानि—

- १.—जयपुरराजगुरुपर्वणीकरनारायणभट्टानां सटीकं (१७३०) मिते विक्रमाब्दे
जोधपुरे यशवन्तसिंहराज्ये सौभाग्यहर्षेण लिखितं प्रायः शुद्धम् । प्रारम्भे
पत्रपञ्चकहीनम् । तत्पत्राणि १३९.
- २.—सटीकमेव पुस्तकं जयपुरमहाराजाश्रितपण्डितश्रीसरयूप्रसादानां नातिशुद्धं
प्रारम्भे पत्रचतुष्टयेनान्तिमपत्रेण च विकलम् । सार्धशतवर्षप्राचीनमिवोपल-
क्ष्यमाणम् । तत्पत्राणि २८३.
- ३.—टीकामात्रं जयपुरराजगुरुभट्टलक्ष्मीदत्तात्मजभट्टश्रीदत्तानां शुद्धं प्रत्नतरम-
तिम्लिष्टस्वरूपम् । तत्पत्राणि १०३.
- ४.—भट्टश्रीदत्तानामेव टीकामात्रं पञ्चदशसर्गस्याष्टत्रिंशन्मितश्लोकपर्यन्तं प्राचीनं
सुवाच्यं किं तु नातिशुद्धम् । तत्पत्राणि १५७.
- ५.—तेषामेव मूलमात्रं शुद्धं प्राचीनं च । तत्पत्राणि ६७.

एवं पुस्तकपञ्चकमासाद्य टीकापाठान्सम्यग्विविच्यैतन्मुद्रणमकारि । ग्रन्थादौ विष-
यानुक्रमः, ग्रन्थान्ते च पञ्चदशसर्गस्थगोमूत्रिकादिबन्धश्लोकानां चित्राणि, टीकायां
मल्लिनाथेन प्रमाणतयोपन्यस्तानां ग्रन्थग्रन्थकर्तृणां तत्तत्स्थलोल्लेखपूर्वकं नामानि, ग्रन्थ-
स्थानिखिलश्लोकानां मातृकाक्रमेणानुक्रमणी च निवेशितास्ति । एवं प्रयत्नपूर्वकं मुद्रितो-
ऽयं ग्रन्थो निर्मत्सराणां गुणैकपक्षपातिनां विदुषामानन्दावहो भूयादिति शिवम् ॥

किरातार्जुनीयस्य विषयानुक्रमः ।

सर्गाङ्कः ।

विषयः ।

- १ युधिष्ठिरेण वनेचरस्य समागमः । तत्कृतं दुर्योधनस्य राजनीतिनैपुण्यवर्णनम् । वनेचरगमनम् । युधिष्ठिरं प्रति द्रौपदीवाक्यम् ।
- २ युधिष्ठिरं प्रति भीमसेनवचनम् । भीमसेनं प्रति युधिष्ठिरवाक्यम् । पाण्डवसमीपे व्यासमुनेरागमनम् । पाण्डवकृतमुनिसत्कारवर्णनम् ।
- ३ व्यासमुनिस्वरूपवर्णनम् । मुनिं प्रति युधिष्ठिरवचनम् । युधिष्ठिरं प्रति मुनिवचनम् । अर्जुनं प्रति मुनिकृतो विद्योपदेशः । तपश्चर्यार्थं निदेशश्च । मुनिगमनम् । अर्जुनस्य गमनोपक्रमः । पाण्डवानां भाव्यर्जुनवियोगेन वैमनस्यम् । अर्जुनकृतं द्रौपदीविलोकनम् । अर्जुनं प्रति द्रौपदीवाक्यम् । व्यासाज्ञप्तेन गुह्यकेन सहार्जुनस्येन्द्रकीलं नाम हिमालयपादविशेषं प्रति प्रस्थानम् ।
- ४ कविकृतं शरद्वर्णनम् । गुह्यककृतं शरद्वर्णनम् । हिमाद्रिविलोकनम् ।
- ५ हिमाद्रिवर्णनम् । अर्जुनस्य तन्मूले प्राप्तिः । गुह्यकगमनम् ।
- ६ इन्द्रकीलेऽर्जुनस्यारोहणादिवर्णनम् । तत्रार्जुनस्य तपश्चर्यारम्भः तपोवर्णनं च । इन्द्रकीलवनरक्षकैरिन्द्रसमीपे गत्वार्जुनस्य कृततपोतिशयवर्णनम् । अर्जुनतपोविघ्नार्थं गन्तव्यमित्यप्सरोगणं प्रति शकनिदेशः ।
- ७ गन्धर्वैः समेतस्याप्सरोगणस्य सविलासगमनादिवर्णनम् । इन्द्रकीलपर्वते प्राप्तानां तेषां रथगजादिसमेतस्य तच्छिबिरस्य संनिवेशादिवर्णनम् ।
- ८ गन्धर्वाणामप्सरसां च पुष्पावचयक्रीडावर्णनम् । सलिलक्रीडावर्णनम् ।
- ९ सायंकालवर्णनम् । चन्द्रोदयवर्णनम् । सुरतवर्णनम् । पानगोष्ठीवर्णनम् । पुनरपि संक्षेपेण सुरतवर्णनम् । संक्षेपेण प्रभातवर्णनम् ।
- १० अर्जुनप्रलोभनार्थमप्सरसां तत्समीपे गमनवर्णनम् । अर्जुनवर्णनम् । वर्षादिऋतुवर्णनम् । अर्जुनं विलोक्याप्सरसां चेष्टावर्णनम् । आसां प्रयासनैः फल्यवर्णनं च ।
- ११ अर्जुनाश्रमे मुनिरूपधारिण इन्द्रस्यागमनम् । इन्द्रार्जुनयोः संवादः । इन्द्रेण प्रत्यक्षीभूयार्जुनं प्रति शिवाराधनमादिष्टमिति वर्णनम् ।
- १२ शिवाराधनार्थमर्जुनकृतस्य तपसो वर्णनम् । अर्जुनतपसा भृशं तप्तानां सिद्धतापसानां शिवसमीपे गमनं तत्तपोवृत्तकथनं च । शिवकृतं मुनिसान्त्वनमर्जुनस्वरूपकथनं च । वराहरूपमास्थायार्जुनपराभवार्थमागतस्य मूकदानवस्य वधार्थमर्जुनानुजिघृक्षया च किरातरूपधारिणस्तद्रूपधारिण्यैव गणसेनया समेतस्य भगवतो मृगयाव्याजेनार्जुनाश्रमे गमनवर्णनम् ।

गाङ्कः ।

विषयः ।

- १३ वराहरूपधारिणो मूकदानवस्यार्जुनकृतं विलोकनम् । तद्विलोकनेनार्जुनस्य नानाविधा वितर्काः । वराहं प्रति भगवतोऽर्जुनस्य च बाणमोक्षवर्णनम् । वराहमृत्युवर्णनम् । वराहशरीरतः स्वबाणमाददानमर्जुनं प्रति शिवप्रहितस्य वनेचरस्योत्तेजकं वाक्यम् ।
- १४ वनेचरं प्रत्यर्जुनवचनम् । तच्छ्रुत्वागतस्य वनेचरस्य वचनमाकर्ष्य सेनासमेतस्य लीलाकिरातस्य भगवतोऽर्जुनविजयार्थमागमनम् । भगवत्सेनयार्जुनस्य युद्धवर्णनम् ।
- १५ चित्रयुद्धवर्णनम् ।
- १६ किरातवेषस्य भगवतो नितान्तं युद्धकौशलं विलोक्यार्जुनस्य वितर्कः । भगवता सहार्जुनस्यास्त्रयुद्धवर्णनम् ।
- १७ सेनया सहार्जुनयुद्धवर्णनम् । भगवदर्जुनयोर्युद्धवर्णनम् ।
- १८ भगवदर्जुनयोर्बाहुयुद्धवर्णनम् । अर्जुनस्य सत्त्वातिशयं विलोक्य भगवतः प्रसादस्वरूपप्रकटीकरणं च । तत्रैवेन्द्रादिदेवागमनम् । अर्जुनकृता भगवत्स्तुतिः । वरयाचनम् । अर्जुनं प्रति पाशुपतास्त्रसमेतस्य धनुर्वेदस्य भगवत्कृत उपदेशः । इन्द्रादिदेवानामपि भगवदाज्ञयार्जुनं प्रति वरदानं स्वस्त्रदानं च । कृतकृत्यस्यार्जुनस्य भगवदाज्ञया युधिष्ठिरसमीप आगमनम् । ग्रन्थसमाप्तिः ॥



॥ श्रीः ॥

महाकविश्रीभारविप्रणीतं किरातार्जुनीयम् ।

मल्लिनाथकृतया घण्टापथव्याख्यया समेतम् ।

प्रथमः सर्गः ।

अर्धाङ्गीकृतदांपत्यमपि गाढानुरागि यत् ।
पितृभ्यां जगतस्तस्मै कस्मैचिन्महसे नमः ॥
भालम्बे जगदालम्बं हेरम्बचरणाम्बुजम् ।
शुष्यन्ति यद्गजःस्पर्शात्सद्यः प्रत्यूहवार्धयः ॥
तद्विव्यमव्ययं धाम सारस्वतमुपासहे ।
यत्प्रकाशात्प्रलीयन्ते मोहान्धतमसश्छटाः ॥
वार्णीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासकी-
मन्तस्तन्नमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।
वाचामाचकलद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव त्रिदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥
मल्लिनाथकविः सोऽयं मन्दात्मानुजिघृक्षया ।
तत्किरातार्जुनीयाख्यं काव्यं व्याख्यातुमिच्छति ॥
नारिकेलफलसंमितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते ।
स्नादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥
नानानिबन्धविषमैकपदैर्नितान्तं साशङ्कचङ्कमणखिन्नधियामशङ्कम् ।
कर्तुं प्रवेशमिह भारविकाव्यबन्धे घण्टापथं कमपि नूतनमातनिष्ये ॥
इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥

अथ तत्रभवान्भारविनामा कविः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतर-
क्षतये । सद्यः परनिवृत्तये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥' इत्याद्यालंकारिक-
प्रामाण्यात्काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनताम्, 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' इ-
शास्त्रस्यासत्काव्यविषयतां च पश्यन्किरातार्जुनीयाख्यं महाकाव्यं
विषयार्थाविप्लपरिसमाप्तिसंप्रदायाच्चिच्छेदलक्षणफलसाधनत्वम्

वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्' इत्याद्याशीर्वादाद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वाच्च वनेचरस्य युधिष्ठिरप्राप्तिरूपं वस्तु निर्दिशन् कथामुपक्षिपति—

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम् ।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ॥ १ ॥

श्रिय इति ॥ आदितः 'श्री'शब्दप्रयोगाद्दर्शगणादिशुद्धिर्नात्रातीवोपयुज्यते । तदुक्तम्—'देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः । ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा ॥' इति । कुरूणां निवासाः कुरवो जनपदाः । 'तस्य निवासः' इत्यणप्रत्ययः । जनपदे लुप् । तेषामधिपस्य दुर्योधनस्य संबन्धिनीम् । शेषे षष्ठी । श्रियो राजलक्ष्म्याः । 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्मणि षष्ठी । पाल्यतेऽनयेति पालनी ताम् । प्रतिष्ठापिकामित्यर्थः । प्रजारागमूलत्वात्संपद इति भावः । 'करणाधिकरणयोश्च' इति करणे ल्युट् । 'टिड्ढाणञ्-' इत्यादिना ङीप् । प्रजासु जनेषु विषये । 'प्रजा स्यात्संततौ जने' इत्यमरः । वृत्तिं व्यवहारं वेदितुं ज्ञातुं यं वनेचरमयुङ्क्त नियुक्तवान् । वर्णः प्रशस्तिरस्यास्तीति वर्णी ब्रह्मचारी । तदुक्तम्—'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च । एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः । विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥' एतदष्टविधमैथुनाभावः प्रशस्तिः । 'वर्णाद्ब्रह्मचारिणि' इतीनिप्रत्ययः । तस्य लिङ्गं चिह्नमस्यास्तीति वर्णिलिङ्गी, ब्रह्मचारिवेषवानित्यर्थः । स नियुक्तः । वने चरतीति वनेचरः किरातः । 'भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः' इत्यमरः । 'चरेष्टः' इति टप्रत्ययः । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक् । विदितं वेदनमस्यास्तीति विदितः । परवृत्तान्तज्ञानवानित्यर्थः । 'अर्शआदिभ्योऽच्' इत्यच्प्रत्ययः । अथवा कर्तरि कर्मधर्मोपचाराद्विदितवृत्तान्तो विदित इत्युच्यते । उभयत्रापि 'पीता गावः', 'भुक्ता ब्राह्मणाः', 'विभक्ता भ्रातरः' इत्यादिवत्साधुत्वम्, न तु कर्तरि क्तः । सकर्मकेभ्यस्तस्य विधानाभावात् । अत एव भाष्यकारः—'अकारो मत्वर्थीयः । विभक्तमेषामस्तीति विभक्ताः, पीतमेषामस्तीति पीताः' इति सर्वत्र । अथवोत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । विभक्तधना विभक्ताः, पीतोदकाः पीता इति । अत्र लोपशब्दार्थमाह कैयटः—'गम्यार्थस्याप्रयोग एव लोपोऽभिमतः । 'विभक्ता भ्रातरः' इत्यत्र च धनस्य यद्विभक्तत्वं तद्भ्रातृषूपचरितम् । 'पीतोदका गावः' इत्यत्राप्युदकस्य पीतत्वं गोष्वारोप्यते' इति । तद्भ्रातृषु वृत्तिगतं विदितत्वं वेदितरि वनेचर उरचर्यते । एतेन 'वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां', 'पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु' एवमादयो व्याख्याताः । अथवा विदितो विदितवान् । सकर्मकादप्यविवक्षिते कर्मणि कर्तरि क्तः । यथा 'आशितः कर्ता' इत्यादौ । यथाहुः—'धातोर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात् । प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥' इति । द्वैतवने द्वैताख्ये तपोवने । यद्वा द्वे इते गते यस्मात्तद्वीतम् । तमेव द्वैतम् । तच्च तद्वनं च तस्मिन् । शोकमोहादिवर्जित इत्यर्थः । युधि रणे युधिष्ठिरं धर्मराजम् । 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्' इत्यलुक् । 'गवियु-
' इति षत्वम् । समाययौ संप्राप्तः । अत्र 'वने वनेचरः' इति द्वयोः
ययोरेकदेवावृत्त्या वृत्त्यनुप्रासो नामालंकारः । अस्मिन्सर्गे
—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति ॥ १ ॥

संप्रति तत्कालोचितत्वमादेशयंस्तस्य तद्गुणसंपन्नत्वमादर्शयन्नाह—
कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः ।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैपिणः २

कृतप्रणामस्येति ॥ कृतप्रणामस्य तत्कालोचितत्वात्कृतनमस्कारस्य सपत्नेन रिपुणा दुर्योधनेन । 'रिपो वैरिसपत्नारिद्विपद्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः । जितां स्वायत्तीकृतां महीं महीभुजे युधिष्ठिराय । क्रियाग्रहणात्संप्रदानत्वम् । निवेदयिष्यतो ज्ञापयिष्यतः । 'लुटः सद्वा' इति शत्रुप्रत्ययः । तस्य वनेचरस्य मनो न विव्यथे । कथमीदृगप्रियं राज्ञे विज्ञापयामीति मनसि न चचालेत्यर्थः । 'व्यथ भयचलनयोः' इति धातोर्लिट् । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन समर्थयते—न हीति । हि यस्मात् । हितमिच्छन्तीति हितैपिणः स्वामिहितार्थिनः पुरुषा मृषा मिथ्याभूतं प्रियं प्रवक्तुं नेच्छन्ति । अन्यथा कार्यविघातकतया स्वामिद्रोहिणः स्युरिति भावः । 'अमोढ्यममान्द्यममृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वं चेति चारगुणाः' इति नीतिवाक्यामृते ॥ २ ॥

तथापि प्रियार्हे राज्ञि कदुनिष्ठुरोक्तिर्न युक्तेत्याशङ्क्य स्वाम्यनुज्ञया न दुष्यतीत्याशयेनाह—

द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतो रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृतः ।

स सौष्ट्वौदार्यविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे ॥३॥

द्विषामिति ॥ रहस्येकान्ते स वनेचरो द्विषां शत्रूणाम् । कर्मणि षष्ठी । विघाताय । विहन्तुमित्यर्थः । 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी । 'भाववचनाश्च' इति तुमर्थे घञ्प्रत्ययः । अत्र तादर्थ्यमपि न दोषः । तथापि प्रयोगवैचित्रीविशेषस्याप्यलंकारत्वादेवं व्याचक्षते । विधातुं व्यापारं कर्तुमिच्छतः । 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' । द्विषो विहन्तुमुद्युक्तज्ञानस्येत्यर्थः । अत एव भूभृतो युधिष्ठिरस्यानुज्ञामधिगम्य । सुष्ठु भावः सौष्टवं शब्दसामर्थ्यम् । सुष्ठुशब्दादव्ययादुद्गात्रादित्वाद्घञ्प्रत्ययः । उदारस्य भाव औदार्यमर्थसंपत्तिः । तयोर्द्वन्द्वः सौष्ट्वौदार्ये । अत्रौदार्यशब्दस्याजाद्यदन्तत्वेऽपि 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इत्यत्रालपस्वरस्यापि हेतुशब्दस्य पूर्वनिपातमकुर्वता सूत्रकृतैव पूर्वनिपातस्यानित्यत्वज्ञापनात् पूर्वनिपातः । उक्तं च काशिकायाम्—'अयमेव लक्षणहेत्वोरिति निर्देशः पूर्वनिपातव्यभिचारचिह्नम्' इति । त एव विशेषः । तयोर्वा विशेषः । तेन शालते शोभत इति सौष्ट्वौदार्यविशेषशालिनी ताम् । ताच्छील्ये णिनिः । विनिश्चितार्था विशेषतः प्रमाणतो निर्णीतार्थाम्, इति वक्ष्यमाणरूपां वाचमाददे स्वीकृतवान् । उवाचेत्यर्थः ॥ ३ ॥

प्रथमं तावदप्रियनिवेदकमात्मानं प्रत्यक्षोभं याचते—

क्रियासु युक्तैर्नृप चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः ।

अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥४॥

क्रियास्विति ॥ हे नृप, क्रियासु कृत्यवस्तुषु युक्तैर्नियुक्तैरनुजीविक्षिय इत्येव चारादिभिरित्यर्थः । चरन्तीति चराः । पचाद्यच् । त एव चाराः, क्षयौ च भवत

जन्तात्प्रज्ञादिस्वादणप्रत्ययः । त एव चक्षुर्येषां ते चारचक्षुषः । 'स्वपरमण्डले कार्याकार्यावलोकने चाराश्चक्षुषि क्षितिपतीनाम्' इति नीतिवाक्यामृते । प्रभवो निग्रहानुग्रहसमर्थाः स्वामिनो न वञ्चनीया न प्रतारणीयाः । सत्यमेव वक्तव्या इत्यर्थः । चारापचारे चक्षुरपचारवद्राज्ञां पदे पदे निपात इति भावः । अतोऽप्र-
तार्यत्वाद्देतोः । असाध्वप्रियं साधु प्रियं वा । मदुक्तमिति शेषः । क्षन्तुं सोढु-
मर्हसि । कुतः । हितं पथं मनोहारि प्रियं च वचो दुर्लभम् । अतो मद्-
चोऽपि हितत्वाद्प्रियमपि क्षन्तव्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

तर्हि तूष्णींभाव एव वरमित्याशङ्क्याह—

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः ।
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसंपदः ॥ ५ ॥

स इति ॥ यः सखामात्यादिरधिपं स्वामिनं साधु हितं न शास्ति नोपदि-
शति । 'ब्रुविशासि—' इत्यादिना शासेर्दुहादिपाठाद्विकर्मकत्वम् । स हितानुप-
देष्टा । कुत्सितः सखा किंसखा । दुर्मन्त्रीत्यर्थः । 'किमः क्षेपे' इति समासान्त-
प्रतिषेधः । तथा यः प्रभुर्निग्रहानुग्रहसमर्थः स्वामी हितादासजनाद्वितोपदेष्टुः
सकाशात् । 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानत्वात्पञ्चमी । न संशृणुते न शृणोति ।
हितमिति शेषः । 'समो गम्यच्छि—' इत्यादिना संपूर्वाच्छृणोतेरकर्मकादात्मनेप-
दम् । अकर्मकत्वं वैवक्षिकम् । स हितमश्रोता प्रभुः किंप्रभुः कुत्सितस्वामी ।
पूर्ववत्समासः । सर्वथा सचिवेन वक्तव्यं श्रोतव्यं स्वामिना । एवं च राजमन्त्रिणो-
रैकमत्यं स्यादित्यर्थः । ऐकमत्यस्य फलमाह—सदेति । हि यस्मान्नृपेषु स्वामिषु ।
अमा सह भवा अमात्यास्तेषु च । 'अव्ययात्स्यप्' । अनुकूलेषु परस्पराणुरक्तेषु
सत्सु सर्वसंपदः सदा रतिमनुरागं कुर्वते कुर्वन्ति । न जातु जहतीत्यर्थः ।
अतो मया वक्तव्यं त्वया च श्रोतव्यमिति भावः । अत्रैवं राजमन्त्रिणोर्हितानुपदे-
शतदश्रवणनिन्दासामर्थ्यसिद्धेरैकमत्यलक्षणकारणस्य निर्दिष्टस्य सर्वसंपत्सिद्धिरूप-
कार्येण समर्थनात्कार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलंकारः । तदुक्तम्—
'सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः' इति ॥५॥

संप्रति स्वाहंकारं परिहरति—

निसर्गदुर्बोधमबोधविक्रवाः क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः ।
तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्त्वं नयवर्त्म विद्विषाम् ॥६॥

निसर्गेति ॥ निसर्गदुर्बोधं स्वभावदुर्ग्रहम् । 'ईषहुः—' इत्यादिना खलप्र-
त्ययः । भूपतीनां चरितं क्व अबोधविक्रवा अज्ञानोपहता जन्तवः । माइशाः
पामरजना इत्यर्थः । क्व । नोभयं संघटत इत्यर्थः । तथापि निगूढतत्त्वं संवृत-
याथार्थ्यं विद्विषां नयवर्त्म षड्गुण्यप्रयोगः 'संधिविग्रहयानानि संस्थाप्यासन-
मेव च । द्वैधीभावश्च विज्ञेयाः षड्गुणा नीतिवेदिनाम् ॥' इत्यादिरूपो यन्मया-
वेदि । ज्ञातमिति यावत् । विदेः कर्मणि लुङ् । अयम् । इदं वेदनमित्यर्थः ।
वेद्येयप्राधान्यात्पुलिङ्गनिर्देशः । तवानुभावः सामर्थ्यम् । अनुगतो भावोऽनु-

पि घञन्तेन प्रादिसमासः । न तूपसृष्टाद्धप्रत्ययः । 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे'

वतेर्घातोर्घञ्विधानात् । अत एव काशिकायाम्—'कथं प्रभावो

इति प्रादिसमासः' इति । दोषपरिहारौ सम्यग्ज्ञात्वाच्च विज्ञाप-

कठोरं प्रलपामीत्याशयः ॥ ६ ॥

संप्रति यद्वक्तव्यं तदाह—

विशङ्कमानो भवतः पराभवं नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः ।
दुरोदरच्छन्नजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः ॥ ७ ॥

विशङ्कमान इति ॥ सुखेन युध्यते सुयोधनः । 'भाषायां शासियुधिदृशिधु-
षिमृषिभ्यो युज्वाच्यः' । नृपासनस्थः सिंहासनस्थोऽपि । वनमधिवसतीति
वनाधिवासिनो वनस्थात् । राज्यभ्रष्टादपीत्यर्थः । भवतस्त्वत्तः पराभवं परा-
जयं विशङ्कमान उत्प्रेक्षमाणः सन् । दुष्टमुदरमस्येति दुरोदरं द्यूतम् । पृषोद-
रादित्वात्साधुः । 'दुरोदरो द्यूतकारे पणे द्यूते दुरोदरम्' इत्यमरः । तस्य छन्नना
मिषेण जितां लब्धां दुर्नयार्जितां जगतीं महीम् । 'जगती विष्टपे महां वास्तु-
च्छन्दोविशेषयोः' इति वैजयन्ती । नयेन नीत्या जेतुं वशीकर्तुं समीहते
व्याप्रियते । न तूदास्त इत्यर्थः । बलवत्स्वामिकमविशुद्धागमं च धनं भुञ्जानस्य
कुतो मनसः समाधिरिति भावः । अत्र 'दुरोदरच्छन्नजिताम्' इति विशेषणद्वारेण
पदार्थस्य चतुर्थपादार्थं प्रति हेतुत्वेनोपन्यासाद्वितीयकाव्यलिङ्गमलंकारः । तदु-
क्तम्—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति ॥ ७ ॥

'नयेन जेतुं जगतीं समीहते' (१।७) इत्युक्तम्, तत्प्रकारमाह—

तथापि जिह्वः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसंपदा यशः ।
समुन्नयन्भूतिमनार्यसंगमाद्वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः ॥ ८ ॥

तथापीति ॥ तथापि साशङ्कोऽपि । जिह्वो वक्रः । वञ्चक इति यावत् । स
दुर्योधनो भवज्जिगीषया । गुणैर्भवन्तमाक्रमितुमिच्छयेत्यर्थः । 'हेतौ' इति
वृत्तीया । गुणसंपदा दानदाक्षिण्यादिगुणगरिम्णा । करणेन । शुभ्रं यशस्त-
नोति । स खलो गुणलोभनीयां त्वत्संपदमात्मसात्कर्तुं त्वत्तोऽपि गुणवत्तामात्मनः
प्रकटयतीत्यर्थः । नन्वेवं गुणिनः सतोऽपि सज्जनविरोधो महानस्यस्य दोष इत्या-
शङ्क्य सोऽपि सत्संसर्गालाभे नीचसंगमाद्वरमुत्कर्षावहत्वादित्याह—समिति ।
तथा हि—भूतिं समुन्नयन्नुत्कर्षमापादयन् । 'लटः शत्रुशानचौ' इत्यादिना शत्रु-
प्रत्ययः । पुनर्लङ्ग्रहणसामर्थ्यात्प्रथमासामानाधिकरण्यम् । महात्मभिः समम् ।
सहेत्यर्थः । 'साकं सत्रा समं सह' इत्यमरः । अनार्यसंगमाद्दुर्जनसंसर्गात् ।
'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । विरोधोऽपि वरं मनाक्प्रियः । 'देवाद्दृते वरः
श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक्प्रिये' इत्यमरः । अत्र मैत्र्यपेक्षया मनाक्प्रियत्वं विरोधस्य
'भूतिं समुन्नयन्' इत्यस्य पूर्ववाक्यान्वये समाप्तस्य वाक्यार्थस्य पुनरादानात्
सपुनरात्ताख्यदोषापत्तिः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'समाप्तपुनरादानात्स
रात्तकम्' इति । न च वाक्यान्तरमेतत्, येनोक्तदोषपरिहारः स्यात्
न्यासोऽलंकारः । स च भूतिसमुन्नयनस्य पदार्थविशेषणद्वारा विरो
हेतुत्वाभिधानरूपकाव्यलिङ्गानुप्राणित इति ॥ ८ ॥

ननु 'कातर्यं केवला नीतिः' इत्याशङ्क्य नीतियुक्तं पौरुषमस्येत्याह—

कृतारिपङ्गजयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना ।
विभज्य नक्तदिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन ॥ ९ ॥

कृतेति ॥ षण्णां वर्गः षड्वर्गः । अरीणामन्तःशत्रूणां

ऽरिषड्वर्गः । शिवभागवतवत्समासः । तस्य जयः कृतो येन तेन तथोक्तेन । विनी-
तेनेत्यर्थः । विनीताधिकारं प्रजापालनमिति भावः । अगम्यरूपां पुरुषमात्रदु-
ष्प्राप्त्याम् । मनोरिमां मानवीम् । मनूपदिष्टसदाचारक्षुण्णामित्यर्थः । पदवीं
प्रजापालनपद्धतिं प्रपित्सुना प्रपत्तुमिच्छुना । प्रपद्यतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । 'सनि-
मीमा-' इत्यादिनेसादेशः । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः । अस्ता तन्द्रि-
रालस्यं यस्य तेनास्ततन्द्रिणा । अनलसेनेत्यर्थः । तदिः सौत्रो धातुः । तस्मात्
'वङ्ग्यादयश्च' इत्यौणादिकः क्तिन्प्रत्ययः । 'कृदिकारादक्तिनो वा ङीष् वक्तव्यः'
इति । 'वन्दीघटीतरीतन्द्नीति ङीषन्तोऽपि' इति क्षीरस्वामी । तथा रामायणे
प्रयोगः—'निस्तन्द्रिरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित्' इति । तेन दुर्योधनेन । पुरुषस्य
कर्म पौरुषं पुरुषकारः । उद्योग इति यावत् । युवादित्वाद्दणप्रत्ययः । 'पौरुषं पुरु-
षस्योक्ते भावे कर्मणि तेजसि' इति विश्वः । नक्तं च दिवा च नक्तं दिवम् । अहो-
रात्रयोरित्यर्थः । 'अचतुर-' इत्यादिना सप्तम्यर्थवृत्त्योरव्यययोर्द्वन्द्वनिपातेऽचसमा-
सान्तः । विभज्यासां वेलायामिदं कर्मेति विभागं कृत्वा नयेन नीत्या वित-
न्यते विस्तार्यते ॥ ९ ॥

संप्रति भृत्याद्यनुरागमाह—

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान्सुहृदश्च बन्धुभिः ।

स संततं दर्शयते गतस्सयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम् ॥१०॥

सखीनिवेति ॥ गतस्सयो निरहंकारोऽत एव स दुर्योधनः संततमनारतं
साधु सम्यक् । अकपटमित्यर्थः । अनुजीविनो भृत्यान् । प्रीतियुजः स्निग्धान्-
न्सखीनिव मित्राणीव । दर्शयते । लोकस्येति शेषः । 'हेतुमति च' इति णिच् ।
'णिचश्च' इत्यात्मनेपदम् । शोभनं हृदयं येषां तान्सुहृदो मित्राणि च । 'सुह-
हुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इति निपातः । बन्धुभिर्भ्रात्रादिभिः समानमानांस्तुल्य-
सत्कारान् दर्शयते । बन्धूनां समूहो बन्धुता ताम् । 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तत्' ।
कृतमाधिपत्यं स्वाम्यं यस्यास्तां कृताधिपत्यामिव दर्शयते । बन्धूनधिपतीनिव
दर्शयतीत्यर्थः । यथा भृत्यादिषु सख्यादिबुद्धिर्जायते लोकस्य तथा तान्संभावयती-
त्यर्थः । अनुजीव्यादीनाम् 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इति कर्मत्वम् । पूर्वं त्वस्मिन्नेव
पदान्वये वाक्यार्थमित्थं वर्णयन्ति—स राजानुजीव्यादीनिव दर्शयते । सख्यादय
इव ते तु तं पश्यन्ति । सख्यादिभावेन पश्यतस्तांस्तथा दर्शयते । स्वयमेव छन्दा-
नुवर्तितया स्वदर्शनं तेभ्यः प्रयच्छतीत्यर्थः । अर्थात्तस्येप्सितकर्मत्वम् । अणि कर्तु-
रनुजीव्यादेः 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्' इति पाक्षिकं कर्मत्वम् ।
एवं चात्राप्यन्तकर्मणो राज्ञोऽप्यन्ते कर्तृत्वेऽपि 'आरोहयते हस्ती स्वयमेव' इत्या-
दिवदश्रूयमाणकर्मान्तरत्वाभावान्नायं णेरणादिसूत्रस्य विषय इति मत्वा 'णिचश्च'
इत्यात्मनेपदं प्रतिपेदिरे । भाष्ये तु णेरणादिसूत्रविषयत्वमप्यस्योक्तम् । यथाह—
'-पश्यन्ति भृत्या राजानम्', 'दर्शयते भृत्यान्राजा', 'दर्शयते भृत्यै राजा' भत्रात्म-
नेपदं सिद्धं भवति', इति । अत्राह कैयटः—'ननु कर्मान्तरसद्भावादत्रात्मनेप-
दमप्यम् । उच्यते—अस्मादेवोदाहरणाद्भाष्यकारस्यायमेवाभिप्राय उच्यते ।
यथा ये कर्तृकर्मणी तद्व्यतिरिक्तकर्मान्तरसद्भावादात्मनेपदं न भवति ।
यति मनुष्यान्' इति । इह त्वप्यन्तावस्थायां कर्तृणां भृत्यानां
आत्मनेपदमिति ॥ १० ॥

न चायं त्रिवर्गात्प्रमाद्यतीत्याह—

असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया ।

गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान्न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम् ११

असक्तमिति ॥ यथायथं यथास्वं विभज्य । असंकीर्णरूपं विविचयेत्यर्थः । 'यथास्वे यथायथम्' इति निपातनाद्धिर्भावो नपुंसकत्वं च । 'ह्रस्वो नपुंसके प्राति-
पदिकस्य' इति ह्रस्वत्वम् । पक्षे पातः पक्षपात आसक्तिविशेषः समस्तुल्यो यस्यां
तया समपक्षपातया । भक्त्याऽनुरागविशेषेण । पूज्येष्वनुरागो भक्तिरित्युप-
देशः । पूज्यश्चायं त्रिवर्ग इति । असक्तमनासक्तम् । अव्यसनितयेति यावत् ।
आराधयतः सेवमानस्यास्य दुर्योधनस्य त्रयाणां धर्मार्थकामानां गणस्त्रिगण-
स्त्रिवर्गः । 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः' इत्यमरः । गुणानुरागात्त-
दीयगुणेष्वनुरागात् । गुणवदाश्रयलोभादित्यर्थः । सख्यं मैत्रीम् । 'सख्युर्यः' इति
यप्रत्ययः । ईयिवानुपगतवानिवेत्युत्प्रेक्षा । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति
कसुप्रत्ययान्तो निपातः । 'नात्रोपसर्गस्तत्रम्' इति काशिकाकार आह स् । पर-
स्परं न बाधते । समवर्तित्वादस्य धर्मार्थकामाः परस्परानुपमर्देन वर्धन्त इत्यर्थः ।
उक्तं च—'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः' इति ॥ ११ ॥

अथ श्लोकत्रयेणोपायकौशलं दर्शयन्नादौ सामदाने दर्शयति—

निरत्ययं साम न दानवर्जितं न भूरि दानं विरहय्य सत्क्रियाम् ।

प्रवर्तते तस्य विशेषशालिनी गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया १२

निरत्ययमिति ॥ तस्य दुर्योधनस्य निरत्ययं निर्बाधम् । अमायिकमित्यर्थः ।
अन्यथा जनानां दुर्ग्रहत्वादिति भावः । साम सान्त्वम् । 'साम सान्त्वमुभे समे'
इत्यमरः । दानवर्जितं न प्रवर्तते । अन्यथा लुब्धाद्यावर्जनस्य शुष्कप्रियैर्वाक्यै-
र्दुष्करत्वादिति भावः । उक्तं च—'लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्साधुमञ्जलिकर्मणा । मूर्खं
छन्दानुरोधेन तत्त्वार्थेन च पण्डितम् ॥' इति । तथा भूरि प्रभूतम्, न तु
कदाचित्स्वल्पमित्यर्थः । दानं धनत्यागः । सदित्यादरार्थेऽव्ययम् । 'आदराना-
दरयोः सदसती' इति निपातसंज्ञास्मरणात् । तस्य क्रियां सत्क्रियां विरहय्य
विहाय । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्यादेशः । न प्रवर्तते । अनादरे दानवैफल्यादिति
भावः । न चैवं सर्वत्र, येनाविवेकित्वं कोशहानिश्च स्यादित्याह—प्रेति । विशेष-
शालिन्यतिशययोगिनी सत्क्रियादरक्रिया गुणानुरोधेन गुणानुरागेण विना
न प्रवर्तते । 'पृथग्विना—' इत्यादिना तृतीया । गुणेष्वेवादरो भूरि दानं चेति
नोक्तदोषावकाश इत्यर्थः । अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणतया स्थापनादेकावल्या-
लंकारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम् ।
विशेषणतया वस्तु यत्र सैकावली द्विधा ॥' इति ॥ १२ ॥

अथ दण्डप्रकारमाह—

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः ।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मक्षय इत्ये-
वसूनीति ॥ वशी दुर्योधनो वसूनि धनानि वाञ्छन्नुपेक्ष्यौ च भवत

‘वसु तोये धने मणौ’ इति वैजयन्ती । निहन्तीति शेषः । तथा मन्युना कोपेन न च । ‘मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि’ इत्यमरः । ‘धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलो भविवर्जितः’ इति स्मरणादित्यर्थः । किंतु निवृत्तकारणो निवृत्तलोभादिनिमित्तः सन् स्वधर्म इत्येव । स्वस्य राज्ञः सतो ममायं धर्मो ममेदं कर्तव्यमित्यस्मादेव हेतोरित्यर्थः । ‘अदण्ड्यान्दण्डयनराजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् । अयशो महदामोति नरकं चैव गच्छति ॥’ इति स्मरणादिति भावः । गुरूपदिष्टेन प्राङ्निवाकोपदिष्टेन । ‘धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राङ्निवाकमते स्थितः । समाहितमतिः पश्येद्यवहाराननुक्रमात् ॥’ इति नारदस्मरणात् । दण्डेन दमेन । शिक्षयेत्यर्थः । रिपौ सुतेऽपि वा । स्थितमिति शेषः । एतेनास्य समदर्शित्वमुक्तम् । धर्मविप्लवं धर्मव्यतिक्रमम् । अधर्ममिति यावत् । निहन्ति निवारयति । दुष्ट एवास्य शत्रुः क्षिष्ट एव बन्धुः, न तु संबन्धनिबन्धनः पक्षपातोऽस्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥

संप्रति भेदकौशलं दर्शयति—

विधाय रक्षान्परितः परेतरानशङ्किताकारमुपैति शङ्कितः ।

क्रियापवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः कृतज्ञतामस्य वदन्ति संपदः ॥ १४ ॥

विधायेति ॥ शङ्का संजातास्य शङ्कितोऽविश्वस्तः सन् परितः सर्वत्र स्वपरमण्डले परेतरानात्मीयान् । अवञ्चकानिति यावत् । यद्वा परानितरयन्ति भेदेनात्मसात्कुर्वन्तीति परेतरान् । ‘तत्करोती’ति ण्यन्तात्कर्मण्यणप्रत्ययः । रक्षन्तीति रक्षान् रक्षकान् । मन्त्रगुप्तिसमर्थानित्यर्थः । ‘नन्दिग्रहि—’ इत्यादिना पचाद्यच् । विधाय कृत्वा । नियुज्येत्यर्थः । अशङ्किताकारमुपैति । स्वयमविश्वस्तोऽपि विश्वस्तवदेव व्यवहरन्परमुखेनैव परान्भिनत्तीत्यर्थः । न च तान् रक्षानुपेक्षते येन तेऽपि विकुर्वीरन्नित्याह—क्रियेति । क्रियापवर्गेषु कर्मसमाप्तिषु अनुजीविसात्कृता भृत्याधीनाः कृताः । अपरावर्तितया दत्ता इत्यर्थः । ‘देये त्रा च’ इति सातिप्रत्ययः । संपदोऽस्य राज्ञः कृतज्ञतामुपकारित्वं वदन्ति । प्रीतिदानैरेवास्य कृतज्ञत्वं प्रकाशयते, न तु वाङ्मात्रेणेत्यर्थः । कृतज्ञे राजन्यनुजीविनोऽनुरज्यन्ते, अनुरक्ताश्च तं रक्षन्तीति भावः ॥ १४ ॥

अथोपायप्रयोगस्य फलवत्तां दर्शयति—

अनारतं तेन पदेषु लम्बिता विभज्य सम्यग्विनियोगसत्क्रियाः ।

फलन्त्युपायाः परिबृंहितायतीरुपेत्य संघर्षमिवार्थसंपदः ॥ १५ ॥

अनारतमिति ॥ तेन राज्ञा पदेषूपदेयवस्तुषु । ‘पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्गिस्तुषु’ इत्यमरः । सम्यगसंकीर्णमव्यस्तं च विभज्य विविच्य । विनियोग एव सत्क्रियानुग्रहः । सत्कार इति यावत् । येषां ते लम्बिताः । लम्बिताः सम्यक्प्रयुक्ता इत्यर्थः । उपायाः सामादयः । संघर्षं परस्परस्पर्धाम् । परिबृंहितायतीः प्रचितोत्तरकालाः । स्थिरा इत्यर्थः । नमजस्रं फलन्ति । प्रसुवत इत्यर्थः ॥ १५ ॥

अर्थसंपदमेवाह—

अनेकराजन्यरथाश्वसंकुलं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरम् ।

नयत्ययुग्मच्छदगन्धिरार्द्रतां भृशं नृपोपायनदन्तिनां मदः ॥१६॥

अनेकेति ॥ अयुग्मच्छदस्य सप्तपर्णपुष्पस्य गन्ध इव गन्धो यस्यासावयुग्म-
च्छदगन्धिः । सप्तभ्युपमान—' इत्यादिना बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च । 'उपमा-
नाच्च' इति समासान्त इकारः । नृपाणामुपायनान्युपहारभृता ये दन्तिनस्तेषां
मदः । 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः । राज्ञामपत्यानि पुमांसो
राजन्याः क्षत्रियाः । 'राजश्वशुराद्यत्' इति यत्प्रत्ययः । राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणाद्नृ ।
रथाश्वाश्चाश्च रथाश्वम् । सेनाङ्गत्वादेकवद्भावः । अनेकेषां राजन्यानां रथाश्वेन
संकुलं व्याप्तं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरं सभामण्डपाङ्गणं भृशमत्यर्थमा-
र्द्रतां पङ्किलत्वं नयति । एतेन महासमृद्धिरस्योक्ता । अत एवोदात्तालङ्कारः ।
तथा चालङ्कारसूत्रम्—'समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तः' इति ॥ १६ ॥

संप्रति जनपदक्षेमकरत्वमाह—

सुखेन लभ्या दधतः कृषीवलैरकृष्टपच्या इव सस्यसंपदः ।

वितन्वति क्षेममदेवमातृकाश्चिराय तस्मिन्कुरवश्चकासति ॥ १७ ॥

सुखेनेति ॥ चिराय तस्मिन्दुर्योधने क्षेमं वितन्वति क्षेमंकरे सति । देवः
पर्जन्य एव माता येषां ते देवमातृका वृष्ट्यम्बुजीविनो देशाः । ते न भवन्तीत्य-
देवमातृकाः । नदीमातृका इत्यर्थः । 'देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसंपन्नव्रीहिपालितः ।
स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम् ॥' इत्यमरः । एतेनास्य कुल्यादिपूर्तप्रव-
र्तकत्वमुक्तम् । कुरूणां निवासाः कुरवो जनपदविशेषाः । कृष्टेन पच्यन्त इति
कृष्टपच्याः । 'राजसूय—' इत्यादिना कर्मकर्तरि क्यप्प्रत्ययान्तो निपातः । तद्विपरीता
अकृष्टपच्या इव । कृषिर्येषामस्तीति तैः कृषीवलैः । कर्षकैरित्यर्थः । 'रजःकृषि-'
आदिना बलच्प्रत्ययः । 'बले' इति दीर्घः । सुखेनाक्लेशेन लभ्या लब्धुं शक्याः
सस्यसंपदो दधतो धारयन्तः । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमागमप्रतिषेधः ।
चकासति । सर्वोत्कर्षेण वर्तन्त इत्यर्थः । 'अदभ्यस्तात्' इति झेरदादेशः ।
'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञा । संपन्नजनपदत्वादसंतापकरत्वाच्च दुःसाध्यो-
ऽयमिति भावः ॥ १७ ॥

नन्वेवं जनपदानुवर्तिनः कथमर्थलाभ इत्यत आह—

उदारकीर्तेरुदयं दयावतः प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया ।

स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्तुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी ॥ १८ ॥

उदारेति ॥ उदारकीर्तेर्महायशसः । 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः । दया-
वतः परदुःखग्रहाणेच्छोः । अत एव प्रशान्तबाधं प्रशमितोपद्रवं यथा स्यात्तथेति
क्रियाविशेषणम् । उदयविशेषणं वा । 'वा दान्तशान्त—' इत्यादिना शमिधात्पेदु-
न्तान्निष्ठान्तो निपातः । अभिरक्षया सर्वतस्त्राणेन । उदयं वृद्धिं दिग्- नोपेक्ष्य
यतो वसूपमानस्य कुबेरोपमस्य । 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति च क्षय इत्ये-
दुर्योधनस्य गुणैर्दयादाक्षिण्यादिभिरुपस्तुताः प्राविता मेदिनीपेक्ष्यौ च भवत

‘वसु तोये धने मणौ’ इति वैजयन्ती । स्वयं प्रदुग्धे । अक्लेशेन दुह्यत इत्यर्थः । दुहेः कर्मकर्तरि लट् । ‘न दुहस्नुनमां यक्किणौ’ इति यक्प्रतिषेधः । यथा केनचिद्विदग्धेन नवप्रसूता रक्षिता च गौः स्वयं प्रदुग्धे तद्वदिति भावः । अलङ्कारस्तु-‘विशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः’ इति सर्वस्वकारः । अत्र प्रतीयमानया गवा सह प्रकृताङ्गया मेदिन्या भेदेऽभेदलक्षणातिशयोक्तिवशाद्दोह्यत्वेनोक्तिरिति संक्षेपः ॥ १८ ॥

वीरभट्टानुकूल्यमाह—

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः ।
नसंहतास्तस्य नभिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् १९

महौजस इति ॥ महौजसो महाबलाः । अन्यथा दुर्बलानामनुपकारित्वादिति भावः । मानः कुलशीलाद्यभिमान एव धनं येषां ते मानधनाः । अन्यथा कदाचिद्वलदर्पाद्विकुर्वीरन्निति भावः । धनार्चिताः धनैरर्चिताः सत्कृताः, अन्यथा दारिद्र्यादेनं जह्युरिति भावः । संयति सङ्ग्रामे लब्धकीर्तयः । बहुयशस इत्यर्थः । अन्यथा कदाचिन्मुह्येयुरिति भावः । संहता मिथः संगताः स्वार्थनिष्ठा न भवन्तीति नसंहताः । नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । भिन्नवृत्तयो मिथो विरोधात्स्वामिकार्यकरा न भवन्तीति नभिन्नवृत्तयः । पूर्ववत्समासः । अन्यथा स्वामिकार्यविधातकतया स्वामिद्रोहिणः स्युरित्युभयत्रापि तात्पर्यार्थः । धनुर्भृतो धानुष्काः । आयुधीयमात्रोपलक्षणमेतत् प्राधान्याद्धनुर्ग्रहणम् । तस्य दुर्योधनस्यासुभिः प्राणैः प्रियाणि समीहितुं कर्तुं वाञ्छन्ति । आनृण्यार्थं प्राणान्दातुमिच्छन्ति । अन्यथा दोषस्मरणादिति भावः । अत्र महौजसादिपदार्थानां प्राणदानकर्तव्यतां प्रति विशेषणगत्या हेतुत्वाभिधानात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः । लक्षणं तूक्तम् । तथा साभिप्रायविशेषणत्वात्परिकरालङ्कार इति द्वयोस्तिलतण्डुलवद्विभक्ततया स्फुरणात्संसृष्टिः ॥ १९ ॥

संप्रति स्वराष्ट्रवत्परराष्ट्रवृत्तान्तमपि वेत्तीत्याह—

महीभृतां सच्चरितैश्चरैः क्रियाः स वेद निःशेषमशेषितक्रियः ।
महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभिः प्रतीयते धातुरिवेहितं फलैः ॥२०॥

महीभृतामिति ॥ अशेषितक्रियः समापितकृत्यः । आफलोदयकर्मैत्यर्थः । स दुर्योधनः । सच्चरितैः शुद्धचरितैः । अवञ्चकैरित्यर्थः । चरन्तीति चरास्तैश्चरैः प्रणिधिभिः । पचाद्यच् । महीभृतां क्रियाः प्रारम्भान्निःशेषं वेद वेत्ति । ‘विदो लटो वा’ इति णलादेशः । स्वरहस्यं तु न कश्चिद्वेदेत्याह—महोदयैरिति । धातुरिव तस्य दुर्योधनस्य । ईहितमुद्योगो महोदयैर्महावृद्धिभिः । हितमनुबन्धन्यनुरुन्धन्तीति हितानुबन्धिभिः । स्वन्तैरित्यर्थः । फलैः कार्यसिद्धिभिः प्रतीयते ज्ञायते । फलानुमेयास्तस्य प्रारम्भा इत्यर्थः ॥२०॥

मित्रबलमाह—

यज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः कृतं न वा कोपविजिह्वमाननम् ।
शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम् ॥२१॥

क्वचित्कुत्रापि । सह ज्यया मौर्व्या सज्यम् । ‘मौर्वी ज्या

शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । धनुर्नोद्यतं नोर्ध्वीकृतम् । आननं वा कोपविजिह्वं कोपकुटिलं न कृतम् । यस्य कोप एव नोदेति कुतस्तस्य युद्धप्रसक्तिरिति भावः । कथं तर्ह्याज्ञां कारयति राज्ञ इत्यत्राह— गुणेति । गुणेषु दयादाक्षिण्यादिष्वनुरागेण प्रेम्णा । माल्यपक्षे सूत्रानुषङ्गेण । यद्वा सौरभ्यगुणलोभेन । नराधिपैरस्य शासनमाज्ञा । मालैव माल्यं तदिव । 'चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्' इति क्षीरस्वामी । शिरोभिरुह्यते धार्यते । 'वचि-स्वपियजादीनां किति' इति यकि संप्रसारणम् । अत्रोपमा स्फुटैव ॥ २१ ॥

संप्रत्यस्य धार्मिकत्वमाह—

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं निधाय दुःशासनमिद्वशासनः ।

मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम् २२

स इति ॥ इद्वशासनोऽप्रतिहताज्ञः स दुर्योधनो नवयौवनोद्धतं प्रग-
ल्भम् । धुरंधरमित्यर्थः । दुःखेन शास्यत इति दुःशासनस्तम् । 'भाषायां शासि-
युधि-' इत्यादिना खलर्थे युचप्रत्ययः । यौवराज्ये युवराजकर्मणि । ब्राह्मणादि-
त्वात्ष्यञ् । निधाय । नियुज्येत्यर्थः । पुरोधसा पुरोहितेनानुमतोऽनुज्ञातः ।
तस्मिन्त्याजके सतीत्यर्थः । तदुल्लङ्घने दोषस्मरणादिति भावः । 'निष्ठा' इति भूतार्थे
क्तः । न तु 'मतिबुद्धि-' इत्यादिना वर्तमानार्थे । अन्यथा 'पुरोधसा' इत्यत्र 'क्तस्य
च वर्तमाने' इति षष्ठी स्यात् । अखिन्नोऽनलसो मखेषु क्रतुषु हव्येन हविषा ।
हिरण्यं रेतो यस्य तं हिरण्यरेतसमनलं धिनोति प्रीणयति । धिन्वेः प्रीणना-
र्थात् 'धिन्विकृण्वोर च' इत्युप्रत्ययः । अकारश्चान्तादेशः ॥ २२ ॥

न चैतावता निरुद्योगैर्भाव्यमित्याशङ्क्याशां दर्शयति—

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः ।

स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ॥२३॥

प्रलीनेति ॥ स दुर्योधनः । प्रलीनभूपालम् । निःसपत्नमित्यर्थः । स्थिरा-
यति । चिरस्थायीत्यर्थः । भुवो मण्डलमा वारिधिभ्य आवारिधि । 'आङ्ग-
र्यादाभिविध्योः' इत्यव्ययीभावः । प्रशासदाज्ञापयन्नपि । 'जक्षित्यादयः षट्'
इत्यभ्यस्तसंज्ञा । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमागमप्रतिषेधः । त्वत्त्वत्त एष्यतीराग-
मिष्यतीः । धातूनामनेकार्थत्वादुक्तार्थसिद्धिः । अथवाऽऽङ्पूर्वः पाठः । 'एत्येधत्यू-
त्सु' इति वृद्धिः । 'लटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः । 'उगितश्च' इति डीप् । 'आच्छी-
नघोर्नुम्' इति विकल्पान्त्रुमभावः । भियो भयहेतून् । विपद इत्यर्थः । चिन्त-
यत्यालोचयत्येव । स एवाह—अहो बलवद्विरोधिता दुरन्ता दुष्टा वासना ।
सार्वभौमस्यापि प्रबलैः सह वैरायमाणत्वमनर्थपर्यवसाय्येवेति तात्पर्यम् । सामा-
न्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २३ ॥

ननु गृहाकारेङ्गितस्य तस्य भयं त्वया कथं निरधारीत्यत्राह—

कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः ।

तत्राभिधानाद्यथते नताननः सुदुःसहान्मन्त्रपदादिवोग्ग

कथेति ॥ कथाप्रसङ्गेन गोष्ठीवचनेन जनैः; अन्यत्र

येन । 'कथाप्रसङ्गो वार्तायां विषवैद्येऽपि वाच्यवत्' इति विश्वः । एकवचनस्यात-
 त्त्रत्वाज्जनविशेषणम् । उदाहृतादुच्चारितात्तवाभिधानान्नामधेयात्स्मारकाद्धेतोः ।
 'हेतौ' इति पञ्चमी । 'आख्याह्ने अभिधानं च नामधेयं च नाम च' इत्यमरः ।
 अन्यत्र तवाभिधानात् । 'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्' इति न्यायात् तश्च
 चश्च तवौ ताक्ष्यवासुकी तयोरभिधानं यस्मिन्पदे तस्मात् । यद्वा कथाप्रसङ्ग इनाश्च
 ते जनाश्चेत्येकं पदम् । अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः स्मृतार्जुनपराक्रमः
 सुदुःसहादतिदुःसहान्मन्त्रपदान्मन्त्रशब्दात्स्मारकारद्धेतोः । आखण्डलसूनुरि-
 न्द्रानुजः । उपेन्द्रो विष्णुरिति यावत् । 'सूनुः पुत्रेऽनुजे रवौ' इति विश्वः । तस्य
 विः पक्षी । गरुड इत्यर्थः । तस्य क्रमः पादविक्षेपः । सोऽनुस्मृतो येन स तथोक्तः,
 स्मृतगरुडमहिमा । उरग इव । नताननः सन् । व्यथते दुःखायते । 'पीडा
 बाधा व्यथा दुःखम्' इत्यमरः । अत्युत्कटभयदोषादिविकारा दुर्वारा इति भावः ।
 'सर्वतो जयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' इति न्यायादर्जुनोत्कर्षकथनं युधिष्ठि-
 रस्य भूषणमेवेति सर्वमवदातम् ॥ २४ ॥

निगमयति—

तदाशु कर्तुं त्वयि जिह्वमुद्यते विधीयतां तत्र विधेयमुत्तरम् ।

परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः २५

तदिति ॥ तत्तस्मात् त्वयि जिह्वं कपटं कर्तुमुद्यते । त्वां जिघांसावित्यर्थः ।
 तत्र तस्मिन्दुर्योधने विधेयं कर्तव्यमुत्तरं प्रतिक्रियाशु विधीयतां क्रियताम् ।
 ननु कर्तव्यमपि त्वयैवोच्यतामिति चेत्तत्राह—परेति । परप्रणीतानि परोक्तानि
 वचांसि चिन्वतां गवेषयतां मादृशाम् । वार्ताहारिणामित्यर्थः । गिरः प्रवृ-
 त्तिसारा वार्तामात्रसाराः खलु । 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः । वार्तामात्र-
 वादिनो वयम्, न तु कर्तव्यार्थोपदेशसमर्थाः । अतस्त्वयैव निर्धार्य कार्यमिति
 भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यासः ॥ २५ ॥

इतीरयित्वा गिरमात्तसत्क्रिये गतेऽथ पत्यौ वनसंनिवासिनाम् ।

प्रविश्य कृष्णासदनं महीभुजा तदाचक्षेऽनुजसंनिधौ वचः ॥२६॥

इतीति ॥ वनसंनिवासिनां पत्यौ वनेचराधिप इति गिरमीरयित्वो-
 क्त्वात्तसत्क्रिये गृहीतपारितोषिके गते सति । 'तुष्टिदानमेव चाराणां हि वेत-
 नम् । ते हि तल्लोभात्स्वामिकार्येष्वतीव त्वरयन्ते' इति नीतिवाक्यामृते । अथ
 महीभुजा राज्ञा कृष्णासदनं द्रौपदीभवनं प्रविश्यानुजसंनिधौ तद्वनेचरोक्तं
 वचो वाक्यमाचक्ष आख्यातम् । अथवा कृष्णेति पदच्छेदः । सदनं प्रविश्या-
 नुजसंनिधौ तद्वचः कृष्णाचक्ष आख्याता । चक्षिडो दुहादेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने
 कर्मणि लिट् ॥ २६ ॥

निशम्य सिद्धिं द्विषतामपाकृतीस्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षमा ।

मन्युव्यवसायदीपिनीरुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः ॥२७॥

अथ द्रुपदात्मजा द्रौपदी द्विषतां सिद्धिं बुद्धिरूपां निशम्य
 यारतो द्विषन् आगतास्ततस्त्याः । 'अव्ययात्त्यप्' इति त्यप् ।

अपाकृतीर्निकारान् विनियन्तुं निरोद्धुमक्षमा सती नृपस्य युधिष्ठिरस्य मन्यु-
व्यवसाययोः क्रोधोद्योगयोर्दीपिनीः संवर्धिनीर्गिरो वाक्यान्युदाजहार ।
जगादेत्यर्थः ॥ २७ ॥

भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम् ।

तथापि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां निरस्तनारीसमया दुराधयः २८

भवादृशेष्विति ॥ भवादृशो भवद्विधाः । पण्डिता इत्यर्थः । तेषु विषये ।
'त्यदादिषु-' इत्यादिना कञ् । 'आ सर्वनाम्नः' इत्याकारादेशः । प्रमदाजनोदितं
स्त्रीजनोक्तम् । वदेः क्तः । 'वचिस्वपि-' इत्यादिना संप्रसारणम् । अनुशासनं
नियोगवचनम् । अधिक्षेपस्तिरस्कार इव भवति । अतो न युक्तं वक्तुमित्यर्थः ।
तथापि वक्तुमनुचितत्वेऽपि निरस्तनारीसमयास्त्याजितशालीनतारूपस्त्री-
समाचाराः । 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । दुराधयः
समयोल्लङ्घनहेतुत्वादुष्टा मनोव्यथाः । 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः । मां
वक्तुं व्यवसाययन्ति प्रेरयन्ति । न किञ्चिदयुक्तं दुःखिनामिति भावः ॥ २८ ॥

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभिश्चिरं धृता भूपतिभिः स्ववंशजैः ।

त्वयात्महस्तेन मही मदच्युता मतङ्गजेन स्रगिवापवर्जिता ॥ २९ ॥

अखण्डमिति ॥ आखण्डलतुल्यधामभिरिन्द्रतुल्यप्रभावैः । स्ववंशजैः
भूपतिभिर्भरतादिभिः चिरमखण्डमविच्छिन्नं धृता मही । त्वया । मदं च्योत-
तीति मदच्युत् । क्विप् । तेन मदस्त्राविणा मतङ्गजेन स्रगिवात्महस्तेन स्वक-
रेण । स्वचापलेनेत्यर्थः । अपवर्जिता परिहृता त्यक्ता । स्वदोषादेवायमनर्थागम
इत्यर्थः ॥ २९ ॥

'स्वदोषादेवायमनर्थागम' इत्युक्तम्, स च दोषः कुटिलेष्वकौटिल्यमेवेत्याह-
व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।

प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः ३०

व्रजन्तीति ॥ मूढधियो निर्विवेकबुद्धयः ते पराभवं व्रजन्ति ये माया-
विषु मायावत्सु विषये । 'अस्मायामेधा-' इत्यादिना विनिप्रत्ययः । मायिनो
मायावन्तः । व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः । न भवन्ति । अत्रैवार्थान्तरं न्यस्यति—
प्रविश्येति । शठा अपकारिणो धूर्ताः । तथाविधानकुटिलान् । असंवृताङ्गान-
चर्मितशरीरान् निशिता तीक्ष्णा इषव इव प्रविश्य प्रवेशं कृत्वात्मीया भूत्वा
घ्नन्ति हि । 'आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः' इति भावः ॥ ३० ॥

न च लक्ष्मीचाञ्चल्यादयमनर्थागमः, किंतु स्वोपेक्षादोषमूलत्वादित्याशयेनाह—
गुणानुरक्तमनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नैराधिपः ।

परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम् ॥ ३१

गुणेति ॥ अनुरक्तसाधनोऽनुकूलसहायवान् । उक्तं च काम-
'उद्योगादनिवृत्तस्य ससहायस्य धीमतः । छायेवानुगता तस्य

१ 'निघ्नन्ति' इति पाठः. २ 'जनाधिपः' इति पाठः.

चारिणी ॥' इति । कुलाभिमानी क्षत्रियत्वाभिमानी कुलीनत्वाभिमानी च त्वदन्यस्त्वत्तोऽन्यः । 'अन्यारात्-' इत्यादिना पञ्चमी । क इव नराधिपो गुणैः संध्यादिभिः सौन्दर्यादिभिश्चानुरक्तामनुरागिणीं कुलजां कुलक्रमादागतां कुलीनां च मनोरमां श्रियमात्मवधूमिव स्वभार्यामिव । 'वधूर्जाया स्तुपा स्त्री च' इत्यमरः । परैः शत्रुभिरन्यैश्चापहारयेत् । स्वयमेवापहारं कारयेदित्यर्थः । कलत्रापहारवल्लक्ष्म्यपहारोऽपि राज्ञा मानहानिकरत्वादनुपेक्षणीय इति भावः ॥३१॥

अथ दशभिः कोपोद्दीपनं करोति—

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्तमानं नरदेव वर्त्मनि ।

कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः ३२

भवन्तमिति ॥ हे नरदेव नरेन्द्र, एतर्हीदानीम् । अस्मिन्नापत्कालेऽपीत्यर्थः । 'एतर्हि संप्रतीदानीमधुना सांप्रतं तथा' इत्यमरः । 'इदमोर्हिल्' इति हिल्प्रत्ययः । 'एतेतौ रथोः' इत्येतादेशः । आपदमेवाह—मनस्विगर्हिते शूरजनजुगुप्सिते वर्त्मनि मार्गं विवर्तमानम् । शत्रुकृतां दुर्दशामनुभवन्तमित्यर्थः । भवन्तं त्वामुदीरित उद्दीपितो मन्युः क्रोधः । शुष्कं नीरसम् । 'शुषः कः' इति निष्ठातकारस्य ककारः । शमी चासौ तरुश्चेति विशेषणसमासः । तम् । शमीग्रहणं शीघ्रज्वलनस्वभावात्कृतम् । उच्छिख उद्गतज्वालः । 'घृणिज्वाले अपि शिखे' इत्यमरः । अग्निः वह्निरिव । कथं न ज्वलयति । ज्वलयितुमुचितमित्यर्थः । 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः ॥ ३२ ॥

नन्वन्तःशत्रुत्वादयं क्रोधस्त्याज्य एवेत्याशङ्क्याह—

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।

अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥३३॥

अवन्ध्येति ॥ अवन्ध्यः कोपो यस्य तस्यावन्ध्यकोपस्य, अत एवापदां विहन्तुः । निग्रहानुग्रहसमर्थस्येत्यर्थः । पुंस इति शेषः । देहिनो जन्तवः स्वयमेव वश्या वशंगता भवन्ति । 'वशं गतः' इति यत्प्रत्ययः । अतस्त्वया कोपिना भवितव्यमित्यर्थः । व्यतिरेके त्वनिष्ठमाचष्टे—अमर्षशून्येन निःकोपेन जन्तुना । कन्यया शोक इतिवत् 'हेतौ' इति तृतीया । हृदयस्य कर्म हार्दं स्नेहः । 'प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः' इत्यमरः । युवादित्वादण् । 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' इति हृदादेशः । जातहार्देन जातस्नेहेन सता जनस्यादरो न । विद्विषा द्विषता च सता आदरो न । अमर्षहीनस्य रागद्वेषावकिञ्चित्करत्वादगण्यावित्यर्थः । अथवा,—विद्विषा सता दरो भयं न । 'दरोऽस्त्रियां भये शब्दे' इत्यमरः । एतस्मिन्नेव प्रयोगे संधिवशाद्धिधा पदच्छेदः । पुंवाक्येषु न दोषः । अतः स्थाने कोपः कार्यः, त्याज्यस्त्वस्थाने कोप इति भावः ॥ ३३ ॥

मिश्रमँल्लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूपितः ।

सत्यधनस्य मानसं दुनोति नो कचिदयं षुकोदरः ॥ ३४ ॥

लोहितचन्दनोचित उचितलोहितचन्दनः । 'बाहिता-

'य' इति पाठः. ३ 'चन्दनान्वितः' इति पाठः.

भ्यादिषु' इति साधुः । अभ्यस्तरक्तचन्दन इत्यर्थः । 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इति यादवः । महारथो रथचारी । उभयत्रापि प्रागिति शेषः । अद्य तु रेणु-
रूपितो धूलिच्छुरितः पादाभ्यामतति गच्छतीति पदातिः पादचारी । 'अज्य-
तिभ्यां च' इत्यनुवृत्तौ 'पादे च' इत्याणादिक इणप्रत्ययः । 'पादस्य पदाज्याति-
गोपहतेषु' इति पदादेशः । अन्तर्गिरि गिरिष्वन्तः । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः ।
'गिरेश्च सेनकस्य' इति विकल्पात्समासान्ताभावः । परिभ्रमन्नयं वृकोद्रो
भीमः । सत्यधनस्येति सोल्लुण्ठनवचनम् । अद्यापि त्वया सत्यमेव रक्ष्यते, न
तु भ्रातर इति भावः । तवेति शेषः । मानसं नो दुनोति कच्चिन्न परितापयति
किम् । 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः । स्वाभिप्रायाविष्करणं कामप्रवेदनम् ॥ ३४ ॥

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान्कुरुनकुप्यं वसु वासवोपमः ।

स बल्कवासांसि तवाधुनाहरन्करोति मन्युं न कथं धनंजयः ३५

विजित्येति ॥ वासव इन्द्र उपमा उपमानं यस्य स वासवोपम इन्द्रतुल्यो
यो धनंजयः । उत्तरान्कुरुनमेरोरुत्तरान्मानुषान्देशविशेषान् विजित्य प्राज्यं
प्रभूतम् । 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' इत्यमरः । कुप्यादन्यदकुप्यं हेमरूप्यात्मकम् ।
'स्यात्कोशश्च हिरण्यं च हेमरूप्ये कृताकृते । ताभ्यां यदन्यत्तत्कुप्यम्' इत्यमरः ।
वसु धनमयच्छदुत्तवान् । 'पात्रा-' इत्यादिना दाणो यच्छादेशः । स धनं
जयतीति धनंजयोऽर्जुनः । 'संज्ञायां भृत्वृजि-' इत्यादिना खच्प्रत्ययः । 'अरु-
द्विषत्-' इत्यादिना सुमागमः । अधुनास्मिन्काले । 'अधुना' इति निपातना-
त्साधुः । तव बल्कवासांस्याहरन् कथं तव मन्युं क्रोधं दुःखं वा न
करोति ॥ ३५ ॥

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ ।

कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम् ३६

वनान्तेति ॥ वनान्तो वनभूमिरेव शय्या तथा कठिनीकृताकृती कठिनी-
कृतदेहौ । 'आकारो देह आकृतिः' इति वैजयन्ती । विष्वक् समन्तात् । 'सम-
न्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमरः । कचाचितौ कचव्याप्तौ । विशी-
र्णकेशावित्यर्थः । अत एवागजौ गिरिसंभवौ गजाविव स्थितावेतौ यमौ
युग्मजातौ । माद्रीपुत्रावित्यर्थः । 'यमो दण्डधरे ध्वाङ्के संयमे यमजेऽपि च'
इति विश्वः । विलोकयंस्त्वं कथं धृतिसंयमौ संतोषनियमौ । 'धृतिर्योगा-
न्तरे धैर्ये धारणाध्वरतुष्टिषु' इति विश्वः । बाधितुं नोत्सहसे न प्रवर्तसे ।
'शकधृष-' इत्यादिना तुमुन् । अहो ते महद्वैर्यमिति भावः ॥ ३६ ॥

अथ राज्ञो दुर्दशां दर्शयितुमुपोद्घातमाह । प्रकृतार्थं वर्णयितुमर्थान्तरवर्णन-
मुपोद्घातः—

इमामहं वेद न तावकीं धियं विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः ।

विचिन्तयन्त्या भवदापदं परां रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाध

इमामिति ॥ इमां वर्तमानाम् । तवेमां तावकीं त्वदीयां
इत्यणप्रत्ययः । 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः । वि-
चित्तवृत्तिमहं न वेद कीदृशी वा न वेद्मि । परब्रह्म

‘विदो लटो वा’ इति लटो णलादेशः । न चात्मदृष्टान्तेनापन्नत्वाद्दुःखित्वमनु-
मातुं शक्यते । धीरादिष्वनैकान्तिकत्वादित्याशयेनाह—चित्तवृत्तयो विचित्र-
रूपा धीराधीराद्यनेकप्रकाराः खलु । किंतु परामुत्कृष्टां भवदापदं विचिन्त-
यन्त्या भावयन्त्या मम चेतश्चित्तम् । आधयो मनोव्यथाः । ‘उपसर्गे घोः
क्रिः’ इति किमप्रत्ययः । प्रसभं प्रसद्य रुजन्ति भञ्जन्ति । ‘रुजो भङ्गे’ इति
धातोर्लट् । पश्यतामपि दुःसहा दुःखजननी त्वद्विपत्तिरनुभवितारं त्वां न विक-
रोतीति महच्चित्रमित्यर्थः । चेत इति ‘रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः’ इति षष्ठी
न भवति । तत्र शेषाधिकाराच्छेषत्वस्य विवक्षितत्वादिति ॥ ३७ ॥

तदापदमेव श्लोकत्रयेणाह—

पुराधिरूढः शयनं महाधनं विवोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः ।

अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः ३८

पुरेति ॥ यस्त्वं महाधनं बहुमूल्यं श्रेष्ठम् । ‘महाधनं महामूल्ये’ इति
विश्वः । शयनं शय्यामधिरूढः सन् । स्तुतयो गीतयश्च ता एव मङ्गलानि
तैः करणभूतैः पुरा विवोध्यसे, वैतालिकैरिति शेषः । पूर्वं बोधित इत्यर्थः । ‘पुरि
लुङ् चास्मे’ इति भूतार्थे लट् । स त्वम् । अदभ्रदर्भा बहुकुशाम् । ‘अस्त्री कुशं
कुथो दर्भः’ इति । ‘अदभ्रं बहुलं बहु’ इति चामरः । स्थलीमकृत्रिमभूमिम् ।
‘जानपद—’ इत्यादिना कृत्रिमार्थं ङीप् । एतेन दुःसहस्पर्शत्वमुक्तम् । ‘अधिशीङ्-
स्थासां कर्म’ इति कर्मत्वम् । अधिशय्य शयित्वा । ‘अयङ्गि कृति’ इत्यय-
ङादेशः । अशिवैरमङ्गलैः शिवारुतैः क्रोष्ट्वाशितैः । ‘शिवा हरीतकी क्रोष्टी
शमी नद्यामलक्युभे’ इति वैजयन्ती । निद्रां जहासि । अद्येति शेषः ॥ ३८ ॥

पुरोपनीतं नृप रामणीयकं द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा ।

तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं परैति काश्यं यशसा समं वपुः ॥३९॥

पुरेति ॥ हे नृप, यदेतत् पुरोवर्ति वपुः पुरा द्विजातिशेषेण द्विजमुक्ताव-
शिष्टेन । अन्धसाऽन्नेन । ‘भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नम्’ इत्यमरः । रामणीयस्य भावो
रामणीयकं मनोहरत्वम् । उपनीतं प्रापितम् । नयतेर्द्विकर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि
क्तः । ‘प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्’ इति वचनात् । अद्य वन्य-
फलाशिनस्ते तव तद्वपुर्यशसा समं परमतिमात्रं काश्यं परैति प्राप्नोति ।
उभयमपि क्षीयत इत्यर्थः । अत्र सहोक्तिरलंकारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—‘सा
सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्’ इति ॥ ३९ ॥

अनारतं यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिरःस्रजां रजः ।

निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते मृगाद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम् ॥ ४० ॥

पुरेति ॥ अनारतमजस्रं मणिपीठशायिनौ मणिमयपादपीठस्था-
राजशिरःस्रजां नमःरूपालमौलिस्रजां रजः परागोऽरञ्जयत्
गौर्द्विजैश्च तपस्विभिरालूनशिखेषु छिन्नाग्नेषु बर्हिषां
‘शयोः’ इति विश्वः । वनेषु निषीदतस्तिष्ठतः ॥ ४० ॥

ननु सर्वप्राणिसाधारण्यामापदि का परिदेवनेत्यत्राह—

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः ।
परैरपर्यासितवीर्यसंपदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम् ॥ ४१ ॥

द्विषदिति ॥ यद्यतः कारणादियं दशाऽवस्था । 'दशा वर्ताववस्थायाम्' इति विश्वः । द्विषन्तो निमित्तं यस्याः सा । 'द्विषोऽमित्रे' इति शत्रुप्रत्ययः । ततो मे मनः समूलं साश्रयमुन्मूलयतीवोत्पाटयतीव । दैविकी त्वापन्न दुःखायेत्याह—परैरिति । परैः शत्रुभिः । अपर्यासिताऽपर्यावर्तिता वीर्यसंपद्येषां तेषां मानिनां पराभवो विपदप्युत्सव एवेति वैधर्म्येणार्थान्तरन्यासः । मानहानिर्दुःसहा, न त्वापदिति भावः ॥ ४१ ॥

विहाय शान्तिं नृप धाम तत्पुनः प्रसीद संघेहि वधाय विद्विषाम् ।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः ४२

विहायेति ॥ हे नृप, शान्तिं विधाय तत् प्रसिद्धं धाम तेजो विद्विषां वधाय पुनः संघेह्यङ्गीकुरु प्रसीद । प्रार्थनायां लोट् । ननु शमेन कार्यसिद्धौ किं क्रोधेनेत्यत्राह—व्रजन्तीति । निःस्पृहा मुनयः शत्रूनवधूय निर्जित्य शमेन क्रोधवर्जनेन सिद्धिं व्रजन्ति । भूभृतस्तु न । कैवल्यकार्यवद्राजकार्यं न शान्तिसाध्यमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

पुरःसरा धामवतां यशोधनाः सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम् ।
भवाद्दशाश्चेदधिकुर्वते रतिं निराश्रया हन्त हता मनस्विता ॥ ४३ ॥

पुर इति ॥ किंच धामवतां तेजस्विनाम् । परनिकारासहिष्णूनामित्यर्थः । पुरः सरन्तीति पुरःसरा अग्रेसराः । 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः' इति टप्रत्ययः । यशोधना भवाद्दशाः सुदुःसहमतिदुःसहम्, ईदृशमुक्तप्रकारं निकारं पराभवं प्राप्य रतिं संतोषमधिकुर्वते स्त्रीकुर्वते चेत्तर्हि । हन्त इति खेदे । मनस्विताभिमानिता निराश्रया सती हता । तेजस्विजनैकशरणत्वान्मनस्विताया इत्यर्थः । अतः पराक्रमितव्यमिति भावः । यद्यप्यत्र प्रसहनस्यासङ्गतेरधिपूर्वाद् करोतेः 'अधेः प्रसहने' इत्यात्मनेपदं न भवति, 'प्रसहनं परिभवः' इति काशिका, तथाप्यस्याः कर्त्रभिप्रायविवक्षायामेव प्रयोजकत्वात्कर्त्रभिप्राये 'स्वरितजितः—' इत्यात्मनेपदं प्रसिद्धम् ॥ ४३ ॥

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम् ।

विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम् ॥ ४४ ॥

अथेति ॥ अथ पक्षान्तरे । निरस्तविक्रमः सन् । चिराय चिरकाले क्षमां क्षान्तिमेव । 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमा' इत्यमरः । सुखस्य साधनं वगच्छसि तर्हि लक्ष्मीपतिलक्ष्म राजचिह्नं कार्मुकं विहाय जटाधरः । पचायच् । जटानां धरो जटाधरः सञ्जुहु वीह पावके होमं कुर्वित्यर्थः । अधिकरणे कर्मत्वोपचारः 'हुसक्त्यो हेर्भिः' ॥ ४४ ॥

अथ समयोल्लङ्घनाद्विभेषि चेत् तदपि न किञ्चिदित्याह—

न समयपरिरक्षणं क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः ।

अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि संधिदूषणानि॥

नेति ॥ परेषु शत्रुषु । निकृतिः परं प्रधानं येषु तेषु तथोक्तेष्वपकारतत्परेषु सत्सु भूरिधाम्नो महाजसः प्रतीकारक्षमस्य ते तव समयस्त्रयोदशसंवत्सरान्वने वत्स्यामीत्येवंरूपा संवित् । 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । तस्य परिरक्षणं प्रतीक्षणं न क्षमं न युक्तम् । 'युक्ते क्षमं शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः । हि यस्माद्विजयार्थिनो विजिगीषवः क्षितीशा अरिषु विषये सोपधि सकपटं यथा तथा । 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोऽधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः । संधिदूषणानि विदधति कुर्वते, केनचिद्वाजेन दोषमापाद्य संधिं दूषयन्ति । विघटयन्तीत्यर्थः । शक्तस्य हि विजिगीषोः सर्वथा कार्यसाधनं प्रधानम्, अन्यत्समयरक्षणादिकमशक्तस्येति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ४५ ॥

उक्तमर्थमाशीर्वादपूर्वकमुपसंहरति—

विधिसमयनियोगादीप्तिसंहारजिह्वं

शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ ।

रिपुतिमिरमुदस्योदीर्यमानं दिनादौ

दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः ॥ ४६ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये प्रथमः सर्गः ।

विधीति ॥ विधिर्देवम्, 'विधिर्विधाने देवे च' इत्यमरः । समयः कालस्तयोर्नियोगान्निधमनाद्धेतोः । तयोर्दुरतिक्रमत्वादिति भावः । अगाधे दुस्तरे । आपत्पयोधिरिवेत्युपमितसमासः । दिनकृतमिवेति वक्ष्यमाणानुसारात्तस्मिन्नापत्पयोधौ मग्नम् । 'सूर्योऽपि सायं सागरे मज्जति, परेद्युरुन्मज्जती'त्यागमः । दीप्तिः प्रताप आतपश्च तस्याः संहारेण जिह्वमप्रसन्नम् । शिथिलवसुं शिथिलधनम्, अन्यत्र शिथिलरश्मिम् । 'वसुर्देवेऽग्नौ रश्मौ च वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती । 'शिथिलवलम्' इति पाठे तूभयत्रापि शिथिलशक्तिकमित्यर्थः । रिपुस्तिमिरमिवेति रिपुतिमिरमुदस्य निरस्य । उदीर्यमानमुद्यन्तम् । 'ईङ् गतौ' इति धातोर्देवादिकात्कर्तरि शानच् । त्वां दिनादौ दिनकृतमिव लक्ष्मीर्भूयः समभ्येतु भजतु । 'आशिषि लिङ् लोटौ' इति लोट् । चमत्कारकारितया मङ्गलाचरणरूपतया च सर्गान्त्यश्लोकेषु 'लक्ष्मी'शब्दप्रयोगः । यथाह भगवान्भाष्यकारः—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथयन्ते वीरपुरुषकाण्ययुष्मत्पुरुषकाणि च अन्येष्वप्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति' इति । पूर्णोपमेयम् । मालिनी वृत्तम् । सर्गान्त्यश्लोकेऽपि । यथाह दण्डी—'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसंधिभिः । चान्तेरुपेतं लोकरञ्जकम् ॥' इति ॥ ४६ ॥

चान्तेरुपेतं लोकरञ्जकम् ॥ इति ॥ ४६ ॥

चान्तेरुपेतं लोकरञ्जकम् ॥ इति ॥ ४६ ॥

चान्तेरुपेतं लोकरञ्जकम् ॥ इति ॥ ४६ ॥

चान्तेरुपेतं लोकरञ्जकम् ॥ इति ॥ ४६ ॥

चान्तेरुपेतं लोकरञ्जकम् ॥ इति ॥ ४६ ॥

चान्तेरुपेतं लोकरञ्जकम् ॥ इति ॥ ४६ ॥

चान्तेरुपेतं लोकरञ्जकम् ॥ इति ॥ ४६ ॥

महच्छब्देन लक्षणसंपत्तिः सूचिता । किरातार्जुनीय इति काव्यवर्णनीययोः कथनम् । प्रथमः सर्गः । समाप्त इति शेषः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । किरातार्जुनावधिकृत्य कृतो ग्रन्थः किरातार्जुनीयम् । 'शिशुकन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः' इति द्वन्द्वाच्छप्रत्ययः । राघवपाण्डवीयमितिवत् । तथा ह्यर्जुन एवान्न नायकः । किरातस्तु तदुत्कर्षाय प्रतिभटतया वर्णितः । यथाह दण्डी—'वंशवीर्यप्रतापादि वर्णयित्वा रिपोरपि । तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः ॥' इति । अथात्र संग्रहः—'नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशजस्तस्योत्कर्षकृते त्ववर्ण्यततरां दिव्यः किरातः पुनः । शृङ्गारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरः प्रधानो रसः शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम् ॥' इति ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-
काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां प्रथमः सर्गः समाप्तः ।

द्वितीयः सर्गः ।

विहितां प्रियया मनःप्रियामथ निश्चित्य गिरं गरीयसीम् ।

उपपत्तिमदूर्जिताश्रयं नृपमूचे वचनं वृकोदरः ॥ १ ॥

विहितामिति ॥ अथ वृकोदरो भीमः प्रियया द्रौपद्या । प्रियाग्रहणमस्या हितोपदेशतात्पर्यसूचनार्थम् । विहिताम् । अभिहितामित्यर्थः । विपूर्वस्य दधातेः क्रियासामान्यवाचिनो योग्यविशेषपर्यवसानात् । मनःप्रियामभिमतार्थयोगान्मनोहराम् । विशेषणद्वयेनापि गिरो ग्राह्यत्वमुक्तम् । गिरं गरीयसीं सारवत्तरां निश्चित्य नृपं धर्मराजम्, उपपत्तिमद्युक्तियुक्तम् । ऊर्जिताश्रयमुदारार्थं वचनमूचे उक्तवान् । कर्तरि लिट् । 'ब्रुवो वचिरादेशः । 'ब्रुविशासि-' इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् । 'अकथितं च' इति नृपस्य कर्मत्वम् ॥ १ ॥

किं तद्वचनं तदाह—

यद्वोचत वीक्ष्य मानिनी परितः स्नेहमयेन चक्षुषा ।

अपि वागधिपस्य दुर्वचं वचनं तद्विदधीत विस्मयम् ॥ २ ॥

यदिति ॥ मानिनी क्षत्रियकुलाभिमानवती द्रौपदी स्नेहमयेन स्नेहप्रचुरेण । 'तत्प्रकृतवचने मयद्' । चक्षुषा ज्ञानचक्षुषा । एतेनासत्त्वमुक्तम् । परितो वीक्ष्य समन्ततो विविच्य यद्वचनमवोचत । ब्रुवो वक्तेर्वा लुङ् । 'वच उम्' इत्युमागमः । वागधिपस्य बृहस्पतेरपि दुर्वचं वक्तुमशक्यम् । शेषे षष्ठीयान् कृद्योगलक्षणा । अतो 'न लोक-' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधो नास्ति । विस्मयं विदधीत । सर्वस्यापीति शेषः । अथवा,—वागधिपस्य विदधीतेति संबन्धः । दुर्वचम् । केनापीति शेषः । यतः स्नेहप्रचुरेण हितं चानुब्रूयाति । अतो विस्मयकरं ब्राह्मं चैतद्वच-

विस्मयकरत्वे हेतुमाह—

विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः ।

स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः ॥ ३ ॥

विषम इति ॥ विषमोऽपि दुर्बोधोऽपि । अन्यत्र दुःप्रवेशोऽपि । नयो नीति-
शास्त्रम् । पयसामाशयो हृद इव । कृततीर्थः कृताभ्यासाद्युपायः सन् ।
'तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु' इति विश्वः । अन्यत्र, कृतजलावतारः
सन् । 'तीर्थं योनौ जलावतारे च' इति हलायुधः । विगाह्यते गृह्यते प्रविश्यते
च । किंतु तत्र नये जलाशये च स तादृशः पुरुषो विशेषदुर्लभोऽत्यन्तदुर्लभो
यः कृत्यं संधिविग्रहादि कार्यं स्नानादिकं च तस्य वर्त्म सत् साधु देशकालाद्य-
विरुद्धं यथा तथा । अन्यत्र गतेग्राहपापाणादिरहितं यथा तथा उपन्यस्यत्युदाह-
रति । 'उपन्यासस्तु वाञ्छुखम् । उपोद्धात उदाहारः' इत्यमरः । यथा केनचि-
त्कृततीर्थं पयसि गम्भीरेऽपि प्रवेष्टारः सन्ति, तीर्थकरस्तु विरलः; तद्वन्नीतावपि
गूढमपि तत्त्वं वक्तरि सति बोद्धारः सन्ति, वक्ता तु न सुलभः । अत इयमप-
ठितापि साधु वक्तीति युज्यते विस्मय इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अथ ग्राह्यत्वे हेतुमाह—

परिणामसुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन्वचसि क्षतौजसाम् ।

अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः ॥ ४ ॥

परिणामेति ॥ परिणामः फलकालः परिपाकावस्था च, तत्र सुखे हिते ।
'शस्तं चाथ त्रिषु द्रव्ये पापं पुण्यं सुखादि च' इति सुखशब्दस्य विशेष्यलिङ्ग-
त्वम् । गरीयसि भूयिष्ठे श्रेष्ठे च । क्षतौजसामुभयत्रापि क्षीणशक्तीनां व्यथके
युद्धोपोद्धलकत्वाद्भयंकरे, अन्यत्रादौ संशयादिदुःखजनके । अल्पीयस्यल्पाक्षरेऽल्प-
मात्रे च । उक्तं च—'स्वल्पा च मात्रा बहुलो गुणश्च' इति । अस्मिन्वचसि
द्रौपदीवाक्ये । अतिवीर्यवत्यत्यन्तसामर्थ्यवति भेषजे औषध इव । 'भेषजौ-
षधभैषज्यानि' इत्यमरः । बहुरनेको गुणो मानत्राणराज्यलाभादिरारोग्यबल-
पोषादिश्च दृश्यते, अतो ग्राह्यमस्या वचनमिति भावः ॥ ४ ॥

सत्यमेवं तथापि मह्यं न रोचते, किं करोमीत्यत्राह—

इयमिष्टगुणाय रोचतां रुचिरार्था भवतेऽपि भारती ।

ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः ॥ ५ ॥

इयमिति ॥ रुचिरार्था महिमार्थसंपन्नेति रुचिहेतूक्तिः । इयं भारती द्रौप-
दीवाक्यम् । इष्टगुणाय । गुणग्राहिण इत्यर्थः । भवते तुभ्यमपि । 'रुच्यर्थानां
'गुणः' इति संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । रोचतां स्वदताम् । विध्यर्थे लोट् । हित-
व्यप्रीच्छां कुर्यादौषधवदिति भावः । तथापि क्लेशे वचसि का श्रद्धा
गुणानां गृह्या गुणगृह्याः । गुणपक्षपातिन इत्यर्थः । 'पदास्वै-
ग्रहेः क्यप् । विपश्चितो विद्वांसः । 'विद्वान्विपश्चितो-
प्ये वक्तृविशेषे स्त्रीपुंसादिलक्षणे निःस्पृहा ननु
गुणितं ग्राह्यम्' इति न्यायादिति भावः ॥ ५ ॥

संप्रति स्वयमुपालभते—

चतसृष्वपि ते विवेकिनी नृप विद्यासु निरूढिमागता ।

कथमेत्य मतिर्विपर्ययं करिणी पङ्कमिवावसीदति ॥ ६ ॥

चतसृष्विति ॥ हे नृप, चतसृष्वपि विद्यास्वान्वीक्षिक्यादिषु । ‘आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती । विद्याश्चैताश्चतस्रस्तु लोकसंस्थिति-हेतवः ॥’ इति कामन्दकः । निरूढिमागता प्रसिद्धिं गता । अत एव विवेकिनी सदसद्विवेकवती । यथाह मनुः—‘आन्वीक्षिक्यां तु विज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ । अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानर्थौ ॥’ इति । ते मतिः कथं करिणी पङ्कमिव विपर्ययं वैपरीत्यमविवेकरूपमेत्यावसीदति नश्यति । तन्न युक्तमिति भावः ॥ ६ ॥

किं नश्छिन्नमिदानीं येनेत्थमुपालभ्येमहीत्यत्राह—

विधुरं किमतः परं परैरवगीतां गमिते दशामिमाम् ।

अवसीदति यत्सुरैरपि त्वयि संभावितवृत्ति पौरुषम् ॥ ७ ॥

विधुरमिति ॥ त्वयि परैः शत्रुभिरिमामीदृशीमवगीतां गर्हिताम् । ‘अवगीतं तु निर्वादे मुहुर्दृष्टे च गर्हिते’ इति विश्वः । दशां गमिते प्रापिते सति । सुरैरपि संभावितवृत्ति बहुकृतप्रसारम् । अथवा,—निश्चितसद्भावम् । पौरुषं पुरुषकारः । युवादिवाद्दण्प्रत्ययः । अवसीदति नश्यतीति यत् । अतःपरं अतोऽन्यदधिकं किं विधुरं किं कष्टम् । न किञ्चिदित्यर्थः । ‘विधुरं प्रत्यवाये स्यात्कष्टविश्लेषयोरपि’ इति वैजयन्ती । अस्तीति शेषः । ‘अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्ति’ इति भाष्यकारः । भवन्तीति लटः पूर्वाचार्याणां संज्ञा । यद्वा,—पुरुषाधिकारस्य दुर्दशा सा च शत्रुकृतेति महत्कष्टं, तच्च त्वयोपेक्ष्यत इत्युपालभ्यस इत्यर्थः ॥ ७ ॥

अथोपेक्षाकालत्वादियमुपेक्षेत्याशङ्क्य नायमुपेक्षाकाल इति वक्तुं तदेव तावच्छ्लोकद्वयेन विविनक्ति—

द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुरस्वन्तरः सुमर्षणः ।

न महानपि भूतिमिच्छता फलसंपत्प्रवणः परिक्षयः ॥ ८ ॥

द्विषतामिति ॥ भूतिमुदयम् । इच्छता । शोभना मेधा यस्य तेन सुमेधसा सुधिया । ‘नित्यमसिचप्रजामेधयोः’ इत्यसिचप्रत्ययः । गुरुर्महानपि । अस्वन्ततरोऽत्यन्तदुरन्तः । क्षयोन्मुख इत्यर्थः । द्विषतामुदयो बुद्धिः । सुखेन मृष्यत इति सुमर्षणः सुसहः । उपेक्ष्य इत्यर्थः । स्वन्तश्चेदुर्मर्षण इति भावः । ‘भाषायां शासि-’ इत्यादिना खलर्थे युच्यते । महानपि फलसंपत्प्रवणः फलसंपदुन्मुखः । ‘प्रनिरन्तर’ इत्यादिना णत्वम् । परिक्षयो न सुमर्षणः । नोपेक्ष्य इत्यर्थः । अन्यथा तूपेक्ष्य इति भावः । नष्टुदय एव प्रतीकार्यः, न च क्षय इत्येवोपेक्ष्यः । किंतु स्वन्तत्वास्वन्तत्वाभ्यामुभावपि प्रतीकार्यावुपेक्ष्यौ च भवत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथोभयोरपि मध्य एकतरस्योदयक्षययोगतिमुक्त्वेदानीं युगपत्परिक्षयागमे गतिमाह—

अचिरेण परस्य भूयसीं विपरीतां विगणय्य चात्मनः ।

क्षययुक्तिमुपेक्षते कृती कुरुते तत्प्रतिकारमन्यथा ॥ ९ ॥

अचिरेणेति ॥ कृतमनेनेति कृती । कुशल इत्यर्थः । 'इष्टादिभ्यश्च' इतीति-प्रत्ययः । परस्य शत्रोः क्षययुक्तिं क्षययोगम् । अचिरेणाशुभाविनीं भूयसीं दुरन्तां च, तथात्मनः क्षययुक्तिं विपरीतां चिरभाविनीमल्पीयसीं च विगणय्य विचार्य । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्यादेशः । उपेक्षते । अन्यथोक्तवैपरीत्ये । परस्य क्षययुक्तावल्पीयस्याम्, स्वस्य भूयस्यां च सत्यामित्यर्थः । तत्प्रतिकारं तस्याः क्षययुक्तेः प्रतिकारम् । अचिरेणाशु कुरुते । एवं सति यदा शत्रोरभ्युदयः स्वस्य चातिपरिक्षयो यथास्माकं तदा किं वक्तव्यम् । सद्यः प्रतिकुरुत इत्यर्थात्सिद्धमनुसंधेयम् ॥ ९ ॥

तथाप्युपेक्षायामनिष्टमाचष्टे—

अनुपालयतामुदेष्यतीं प्रभुशक्तिं द्विषतामनीहया ।

अपयान्त्यचिरान्महीभुजां जननिर्वादभयादिव श्रियः ॥ १० ॥

अनुपालयतामिति ॥ उदेष्यतीं वर्धिष्यमाणाम् । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पानुमभावः । द्विषतां प्रभुशक्तिं कोशदण्डजं तेजः । 'स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः । अनीहयानुत्साहेन अनुपालयतामुपेक्षमाणानां महीभुजां श्रियः संपदो जननिर्वादभयान्निकृष्टपुरुषानुरागोत्थलोकापवादभयादिवेति हेतूत्प्रेक्षा । अचिरादपयान्त्यपसरन्ति । यथाह कामन्दकः— 'स्त्रीभिः षण्ठ इव श्रीभिरलसः परिभूयते' इति । अतः पराक्रमितव्यमित्यर्थः ॥ १० ॥

ननु परिक्षीणः कथं प्रबलेनाभियुज्यत इत्यत्राह—

क्षययुक्तमपि स्वभावजं दधतं धाम शिवं समृद्धये ।

प्रणमन्त्यनपार्यमुत्थितं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम् ॥ ११ ॥

क्षयेति ॥ क्षययुक्तमपि तथा क्षीणमपि सन्तं स्वभावजं सहजम् । अनपार्यं शिवं सर्वलोकाह्लादकं धाम क्षान्त्रं तेजः प्रकाशं च दधतं समृद्धये वृद्ध्यर्थमुत्थितमुद्युक्तम् । वर्धिष्णुमित्यर्थः । नृपं प्रजाः । प्रतिपच्चन्द्रं द्वितीयाचन्द्रमित्यर्थः । प्रतिपच्छब्देन द्वितीयाग्रहणम् । प्रतिपदि तस्यादृश्यत्वादिति । प्रणमन्ति । प्रह्वीभावेन वर्तन्त इति भावः । चन्द्रं तु नमस्कुर्वन्ति । क्षीणस्याप्युत्साहः कार्यसिद्धेर्निदानमित्यर्थः । 'जयं हि सततोत्साही दुर्बलोऽपि समभुते' इति कामन्दकः ॥ ११ ॥

ननु प्रभुशक्तिशून्यस्योत्साहः कुत्रोपयुज्यत इत्यत्राह—

प्रभवः खलु कोशदण्डयोः कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नयः ।

स विधेयपदेषु दक्षतां नियतिं लोक इवानुरुध्यते ॥ १२ ॥

प्रभव इति ॥ कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसंपत्, देशकालविभागः, विनिपात-

१ 'विवृद्धये' इति पाठः. २ 'उच्छिन्नम्' इति पाठः.

प्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गानि । यथाह कामन्दकः—‘सहायाः साधुनोपाया विभागो देशकालयोः । विनिपातप्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमिष्यते ॥’ इति । पञ्चानामङ्गानां विनिर्णयः पञ्चाङ्गविनिर्णयः । ‘तद्वितार्थ—’ इत्यादिनोत्तरपदसमासः । कृतः पञ्चाङ्गविनिर्णयो यस्य येन वा स तथोक्तः । नयो नीतिः । मन्त्र इति यावत् । कोशोऽर्थराशिः । ‘कोशोऽस्त्री कुञ्जले खड्गपिधानेऽथौघदिव्ययोः’ इत्यमरः । दण्डश्चतुरङ्गसैन्यम् । ‘दण्डोऽस्त्री शासने राज्ञां हिंसायां लघुडे यमे । यात्राज्ञायां सैन्यभेदे’ इति वैजयन्ती । तयोः कोशदण्डयोः । प्रभुशक्तेरित्यर्थः । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम् । ‘ऋदोरप्’ । स नयो विधेयपदेषु कार्यवस्तुषु । ‘पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्षमाङ्गिवस्तुषु’ इत्यमरः । दक्षतां क्षिप्रकारित्वम् । उत्साहमित्यर्थः । लोकः कृष्यादिप्रवृत्तो जनः । नियतिं दैवमिव । ‘नियतिर्नियमे दैवे’ इति विश्वः । अनुरुध्यतेऽनुसरति । रुधेर्देवादिकात्कर्तरि लट् । मन्त्रस्यापि मूलमुत्साहस्तन्मूलायाः प्रभुशक्तेर्मूलमिति किमु वक्तव्यम् । अतः स एवाश्रयणीयः । यतो नक्तं दिवं मन्त्रयतस्तस्यापि प्रभोर्निरुत्साहस्य न किञ्चित्सिञ्चतीति ॥ १२ ॥

ननु सोत्साहस्यासहायस्य कथमर्थसिद्धिरित्यत्राह—

अभिमानवतो मनस्विनः प्रियमुच्चैः पदमारुरुक्षतः ।

विनिपातनिवर्तनक्षमं मतमालम्बनमात्मपौरुषम् ॥ १३ ॥

अभिमानवत इति ॥ अभिमानवतो मानधनस्य प्रियमिष्टम् । उच्चैरुन्नतं पदं स्थानं राज्यादिकम् आरुरुक्षत आरोढुमिच्छतः प्राप्तुकामस्य मनस्विनो धीरस्य आत्मपौरुषं स्वपुरुषकार एव विनिपातनिवर्तनक्षममनर्थप्रतीकारसमर्थमालम्बनं सहकारि मतमिष्टम् । यथा कस्यचित्तुङ्गमारोहतः किञ्चित्पतनप्रतिबन्धकमनुचरहस्तादिकमालम्बनं तद्वदिति ध्वनिः । किं पौरुषादन्यैः सहायैः झूराणामिति भावः ॥ १३ ॥

पौरुषानङ्गीकारे दोषमाह—

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः ।

नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः ॥ १४ ॥

विपद इति ॥ अविक्रमं पौरुषहीनं विपदोऽभिभवन्त्याक्रामन्ति । आपदुपेतं विपन्नम् । आयतिरुत्तरकालः । ‘उत्तरः काल आयतिः’ इत्यमरः । रहयति त्यजति । निरायतेः । आसन्नक्षयस्येत्यर्थः । लघुताऽगौरवं नियताऽवश्यं भाविनी । न कश्चिदेनमाद्रियत इत्यर्थः । अगरीयांलघीयान् नृपश्रियो राजलक्ष्म्याः पदमास्पदं न भवति । यद्वा,—नृपेति पदच्छेदः । तस्मात्पौरुषं कर्तव्यमेवेत्यर्थः । अत्र पूर्वपूर्वस्याविक्रमत्वादेरुत्तरोत्तरविपदादिकं प्रति कारणत्वात्कारणमालाख्योऽलङ्कारः । तथा च सूत्रम्—‘पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला’ इति ॥ १४ ॥

फलितमाह—

तदलं प्रतिपक्षमुन्नतेरवलम्ब्य व्यवसायवन्ध्यताम् ।

निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः ॥ १५ ॥

तदिति ॥ तत्तस्मात् । उपेक्षायां दोषसंभवादित्यर्थः । उन्नतेरभ्युदयस्य

प्रतिपक्षमन्तरायं व्यवसायवन्ध्यतामुद्योगशून्यताम् । अवलम्ब्यालम् ।
अवलम्बनेनालमित्यर्थः । 'अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' इति क्त्वाप्रत्ययः ।
तस्य ल्यबादेशः । तथा हि—पराक्रम आश्रयः करणं यासां तास्तथोक्ताः समृ-
द्धयः संपदो विषादेन सममनुत्साहेन सह न निवसन्ति । पौरुषसाध्याः
संपदो नानुत्साहसाध्याः । उभयोः सहावस्थानविरोधादित्यर्थः । वैधर्म्येण
कार्यकारणरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १५ ॥

ननु समयः प्रतीक्ष्यते, किं वेगेनेत्यत्राह—

अथ चेदवधिः प्रतीक्ष्यते कथमाविष्कृतजिह्ववृत्तिना ।

धृतराष्ट्रसुतेन सुत्यजाश्चिरमास्वाद्य नरेन्द्रसंपदः ॥ १६ ॥

अथेति ॥ अथावधिः कालः प्रतीक्ष्यते चेत् । 'अवधिस्त्ववधाने स्यात्सीम्नि
काले विलेऽपि च' इति विश्वः । आविष्कृतजिह्ववृत्तिना प्रकटितकपटव्यवहा-
रेण धृतराष्ट्रसुतेन दुर्योधनेन नरेन्द्रसंपदो राज्यसंपदः । 'नरेन्द्र' इति वा पद-
च्छेदः । चिरं चतुर्दशवर्षाणि । आस्वाद्यानुभूय कथं सुत्यजाः । ज्ञातास्वादेन तेन
पश्चादपि सुखेन युद्धक्लेशं विना न त्यक्ष्यन्त एवेत्यवधिप्रतीक्षणं व्यर्थमित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथवा तदा दैववशात्स्वयमेव संपदो दास्यति चेत्तथापि तत्कथं रोचयेमहीत्याह—

द्विषता विहितं त्वयाथवा यदि लब्धा पुनरात्मनः पदम् ।

जननाथ तवानुजन्मनां कृतमाविष्कृतपौरुषैर्भुजैः ॥ १७ ॥

द्विषतेति ॥ अथवा द्विषता विहितं पुनः प्रत्यर्पितमात्मनः पदं राज्यं
त्वया लब्धा लप्स्यते यदि । लभेः कर्मणि लुट् । हे जननाथ, तवानुज-
न्मनामनुजानाम् । आविष्कृतपौरुषैः प्रकटितपराक्रमैर्भुजैः कृतमलम् । अस्म-
द्भुजैर्न किञ्चित्साध्यमित्यर्थः । राज्यदानादानयोर्द्विषतामेव स्वातन्त्र्येऽस्मद्भुजवैफ-
ल्यात् । 'क्षत्रियस्य विजेतव्यम्' इति शास्त्रात्क्षेत्रेणैव राज्यं ग्राह्यमिति भावः ।
कृतमिति प्रतिषेधार्थमव्ययं चादिषु पठ्यते । 'कृतमिति निवारणनिषेधयोः' इति
गणव्याख्याने । भुजैरिति गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीया । उक्तं
च न्यासोद्द्योते—'न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया निमित्तं कारकभावस्यापि तु गम्य-
मानापि' इति ॥ १७ ॥

ननु सास्त्रैव कार्यसिद्धौ किं क्षात्रेण । यथाह मनुः—'सास्त्रा दानेन भेदेन सम-
स्तैरथवा पृथक् । विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥' इति । तत्किमाग्रहेणे-
त्याशङ्क्याह—

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः ।

लघयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः ॥ १८ ॥

मदेति ॥ मृगाधिपः सिंहो मदसिक्तमुखैः । मदवर्षिभिरित्यर्थः । स्वयं
स्वनेव हतैः करिभिर्वर्तयते वृत्तिं करोति । तैरेव जीवतीत्यर्थः । चौरादिकाङ्क-
तेर्लट् । भौवादिकस्य तु 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' इति परस्मैपदानियमा-
दिति । तथा हि—तेजसा प्रभावेण । 'तेजो बले प्रभावे च ज्योतिष्यर्चिषि रेतसि'

इति वैजयन्ती । जगत् । लघयन् लघूकुर्वन् महांस्तेजस्व्यन्यतोऽन्यस्मात्पुरुषा-
द्भूतिं वृद्धिं नेच्छति खलु । नहि तेजस्विनः परायत्तवृत्तित्वं युक्तम् । मनुवचनं
त्वशूरविषयमिति भावः । विशेषेण वक्ष्यमाणसामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तर-
न्यासः ॥ १८ ॥

ननु युद्धात्पाक्षिको लाभः, उपायान्तरैस्तु न तथेत्याशङ्क्याह—

अभिमानधनस्य गत्वैरसुभिः स्थास्तु यशश्चिचीषतः ।

अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मीः फलमानुषङ्गिकम् ॥ १९ ॥

अभिमानेति ॥ अभिमानधनस्य वैरनिर्यातनमात्रनिष्ठस्य । भत एव गत्वैरै-
र्गमनशीलैरस्थिरैः । 'गत्वरश्च' इति करबन्तो निपातः । असुभिः प्राणैः, करणैः ।
'पुंसि भूङ्ग्यसवः प्राणाः' इत्यमरः । स्थास्तु स्थिरम् । 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्तुः' इति ।
ग्स्तुप्रत्ययः । यशश्चिचीषतश्चेतुं संग्रहीतुमिच्छतः । चिनोतेः सन्नन्ताच्छतृप्र-
त्ययः । अचिरमंशवो यस्याः साऽचिरांशुर्विद्युत्तस्या विलासः स्फुरणं तद्वत् च-
ञ्चला । क्षणिकेत्यर्थः । लक्ष्मीः संपत् । अनुषङ्गादागतमानुषङ्गिकमन्वाचयशिष्ट-
मल्पं फलम् । मानत्राणजं यश एव मुख्यं फलम्, अभ्युच्चयस्तु लक्ष्मीरिति मानि-
नामिदमेव श्लाघ्यमित्यर्थः । अत्रास्थिरप्राणत्यागेन स्थिरयशःस्वीकाराभिधानाद्यू-
नाधिकविनिमयाख्यः परिवृत्त्यलङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'परिवृत्तिर्विनिमयो
योऽर्थानां स्यात्समासमैः' इति ॥ १९ ॥

नन्वल्पस्य मानस्य हेतोः कथं प्राणत्यागः शक्यते कर्तुम्, यतः—'जीवन्नरो
भद्रशतानि पश्येत्' इत्याशङ्क्याह—

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः ।

अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्जन्ति न धाम मानिनः ॥ २० ॥

ज्वलितमिति ॥ जनो भस्मनां चयं पुञ्जम् । आस्कन्दति पादादिनाक्रामति ।
अदाहकत्वादिति भावः । ज्वलितं ज्वलन्तम् । कर्तरि क्तः । 'मतिबुद्धि-'
इत्यादिसूत्रे चकाराद्वर्तमानार्थत्वम् । हिरण्यं रेतो यस्य तं हिरण्यरेतसमग्निं
नास्कन्दति । दाहकत्वादिति भावः । अतो हेतोर्मानिनोऽभिभूतिभयात् प्राण-
लाभेन तेजस्त्यागे परिभवो भविष्यतीति भयात् । असूनेव सुखमक्लिष्टमुज्जन्ति
त्यजन्ति । धाम तेजस्तु नोज्जन्ति । मानहानिकराज्जीवनात् स्वतेजसा मरणमेव
वरमित्यर्थः । पूर्वतरश्लोकवदर्थान्तरन्यासः ॥ २० ॥

अथवा किमत्र प्रयोजनचिन्तया, किंतु तेजस्विनामयं स्वभाव एव यज्जिगीषु-
त्वमित्याशयेनाह—

किमपेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः ।

प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया ॥ २१ ॥

किमिति ॥ मृगाधिपः सिंहः किं फलं प्रयोजनमपेक्ष्य ध्वनतो गर्जतः ।
धरन्तीति धराः । पचाद्यच् । पयसां धरास्तान् पयोधरान् मेघान् प्रार्थयते-
ऽभियाति । 'याज्यायामभिधाने च प्रार्थना कथ्यते बुधैः' इति केशवः । यद्वा,—
अवरुणद्धीत्यर्थः । प्रा अर्थयते । 'प्रा स्याद्याज्जावरोधयोः' इत्यभिधानात्प्रा अव-
रोधेन । प्रा इति तृतीयान्तम् । आकारान्तस्य प्राशब्दस्य योगविभागात् 'आतो

१ 'अवेक्ष्य' इति पाठः.

धातोः' इत्यालोपः । तथा हि—महीयसो महत्तरस्य सा प्रकृतिः खलु यया प्रकृत्याऽन्यसमुन्नतिं परवृद्धिं न सहते । महतः परभङ्गनमेव पुरुषार्थ इत्यर्थः । पूर्ववदलङ्कारः ॥ २१ ॥

संप्रति उक्तप्रयोजनं निगमयति—उक्तार्थोपसंहरणं निगम उच्यते,—

कुरु तन्मतिमेव विक्रमे नृप निर्धूय तमः प्रमादजम् ।

ध्रुवमेतदवेहि विद्विषां त्वदनुत्साहहता विपत्तयः ॥ २२ ॥

कुरु तदिति ॥ हे नृप, तत् तस्मादुक्तरीत्या पराक्रमोत्साहयोर्हेतुत्वाद्धेतोः । 'यत्तद्यतस्ततो हेतौ' इत्यमरः । प्रमादजं तमो मोहं निर्धूय निरस्य विक्रमे पौरुष एव मतिं कुरु । विक्रममेवाङ्गीकुरु, न तूपायान्तरमित्यर्थः । न च विक्रम-वैफल्यशङ्का कार्येत्याह—ध्रुवमिति । विद्विषां विपत्तयस्त्वदनुत्साहहता-स्तवानुत्साहेनाव्यवसायेन हताः प्रतिबद्धाः । अन्यथा प्रागेव विपद्येरन्निति भावः । इत्येतद्भ्रुवं निश्चितमवेहि विद्धि । 'ध्रुवं नित्ये निश्चिते च' इति शाश्वतः ॥ २२ ॥

न च नः पराजयशङ्का कार्येत्याह—

द्विरदानिव दिग्विभावितांश्चतुरस्तोयनिधीनिवायतः ।

प्रसहेत रणे तवानुजान् द्विषतां कः शतमन्युतेजसः ॥ २३ ॥

द्विरदानिति ॥ दिग्विभावितान् दिक्षु प्रसिद्धांस्तान् । आयत आगच्छतः, आङ्-पूर्वादिण्धातोः शतृप्रत्ययः । चतुरो द्विरदान् दिग्गजानिव, तथोक्तविशेषणांश्चतुर-स्तोयनिधीनिव, रण आयतो दिग्विभावितान् शतमन्युतेजस इन्द्रविक्रमां-श्चतुरस्तवानुजान् द्विषतां मध्ये कः प्रसहेत । सोढुं शक्नुयादित्यर्थः । 'शक्ति-लिङ् च' इति शक्यार्थे लिङ् । अतो निःशङ्कं प्रवर्तस्वेति भावः ॥ २३ ॥

आशीर्वादव्याजेन फलितमाह—

ज्वलतस्तव जातवेदसः सततं वैरिकृतस्य चेतसि ।

विदधातु शमं शिवेतरा रिपुनारीनयनाम्बुसंततिः ॥ २४ ॥

ज्वलत इति ॥ तव चेतसि सततं ज्वलतो वैरिकृतस्य जातवेदसः । क्रोधामेरित्यर्थः । शिवेतराऽशिवाऽमङ्गला । वैधव्यदुःखजनकत्वादिति भावः । रिपुनारीनयनाम्बुसंततिवैरिवनिताश्रुप्रवाहः शमं विदधातु । वैरिकृतस्य क्रोधस्य वैरिवधमन्तरेण शान्त्यसंभवादवश्यं तद्वधस्त्वया कर्तव्य इत्यर्थः । क्रोधस्य विषयस्य निगरणेन विषयिणो जातवेदस एवोपनिबन्धादतिशयोक्तिर-लङ्कारः । तदुक्तम्—'विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते । यत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कवेः प्रौढोक्तिर्जीविता ॥' इति । तन्नापि क्रोधस्य जातवेदसो भेदेऽप्यभेदा-ध्यवसायाद्भेदेऽभेदरूपा । तत एवाम्बुनिर्वाप्यत्वोक्तिश्च घटते । तथा च यथाम्बु-सेकेनाग्निः शाम्यति तथा शत्रुवधेन क्रोध इत्यौपम्यं गम्यते ॥ २४ ॥

इति दर्शितविक्रियं सुतं मरुतः कोपपरीतमानसम् ।

उपसान्त्वयितुं महीपतिर्द्विरदं दुष्टमिवोपचक्रमे ॥ २५ ॥

इतीति ॥ इति उक्तरीत्या दर्शिता विक्रिया विकारो वागारम्भात्मको येन

१ 'एवम्' इति पाठः.

तं कोपपरीतमानसं कोपाक्रान्तचित्तम् । इदं विशेषणद्वयं द्विरदेऽपि योज्यम् । मरुतः सुतं भीमं महीपतिर्युधिष्ठिरो दुष्टं द्विरदमिव । एतेन भीमस्य शौर्यमेव, न बुद्धिरस्तीति गम्यते । उपसान्त्वयितुमनुनेतुमुपचक्रमे प्रवृत्तः । 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' इत्यात्मनेपदम् । राज्ञा तावदुपकारविशेषापेक्षया कथंचिदवशो जनः शनैर्द्विरदवद्वशीकरणीयः, न तु त्याज्य इति भावः ॥ २५ ॥

प्रथमं तावत्स्तुत्यादिभिः प्रसादयति—

अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे ।

विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिदृश्यते ॥ २६ ॥

अपवर्जितेति ॥ विप्लवः प्रमाणबाधः । अन्यत्र, बाह्यमलसंक्रमः । सोऽपवर्जितो यस्य तस्मिन् अपवर्जितविप्लवे । शुचौ । सौशब्दं लोहशुद्धिश्च शुचित्वम् । तद्वतीत्यर्थः । अत एव हृदयग्राहिणि मनोरमे मङ्गलास्पदे । एकत्र हितार्थप्रतिपादकत्वात्, अन्यत्र मङ्गलवस्तुत्वाच्च श्रेयस्करे । 'रोचनं चन्दनं हेम मृदङ्गं दर्पणं मणिम् । गुरून्मणिं तथा सूर्यं प्रातः पश्येत्सदा बुधः ॥' इति पुराणवचनात् । तव गिरां विस्तरे वाक्प्रपञ्चे । 'प्रथमे वावशब्दे' इति घञ्प्रतिषेधात् 'ऋदोरप्' इत्यप् । अत एव 'विस्तारो विग्रहो व्यासः स च शब्दस्य विस्तरः' इत्यमरः । मतिस्त्वद्बुद्धिरादर्शो दर्पण इव । 'दर्पणे मुकुरादर्शौ' इत्यमरः । विमला विशदाभिदृश्यते । वावैशद्यादेव मतिवैशद्यमनुमीयते । तत्पूर्वकत्वात्तस्येत्यर्थः ॥ २६ ॥

अथ युग्मेनाह—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् ।

रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ॥ २७ ॥

स्फुटतेति ॥ पदैः सुसिद्धन्तशब्दैः स्फुटता विशदार्थता नापाकृता न त्यक्ता । अर्थगौरवमर्थभूयस्त्वं च न न स्वीकृतम् । स्वीकृतमेवेत्यर्थः । वैशद्यप्रसक्तार्थगौरवाभावनिवर्तनार्थं नञ्द्वयम् । 'संभाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति वामनः । गिरां पदानामवान्तरवाक्यानां च पृथगर्थता भिन्नार्थता । अपुनरुक्तार्थतेति यावत् । रचिता कृता । तथा क्वचिदपि सामर्थ्यं गिरामन्योन्यसाकाङ्क्षत्वं नापोहितं न वर्जितम् । अन्यथा दशदाडिमादिशब्दवदेकवाक्यता न स्यात् । यथाहुः—'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं सापेक्षं चेद्विभागे स्यात्' इति । नन्वर्थगौरवमित्यत्र कथं षष्ठीसमासः । 'पूरणगुण—' इत्यादिना प्रतिषेधात् । नैष दोषः । ये शुक्लादयः शब्दा गुणे गुणिनि च वर्तन्ते । यथा पटस्य शौक्यं, शुकुः पट इति च तेषामेवात्र निषेधात् । ये पुनः स्वतो गुणमात्रवचना यथा गौरवं प्राधान्यं रसो गन्धः स्पर्श इत्येवमादयः तेषामनिषेधात्, तथा 'तत्स्थैश्च गुणैः षष्ठी समस्यते' इति वचनाद्बहुलमभियुक्तप्रयोगदर्शनाच्च । बलाकायाः शौक्यमित्यादौ तु भाष्यकारवचनादसमासः । अत एवाह वामनः—'पञ्चपीतिमादिषु गुणवचनसमासो बालिश्यात्' इति ॥ २७ ॥

उपपत्तिरुदाहृता बलादनुमानेन न चागमः क्षतः ।

इदमीदृगनीदृगाशयः प्रसभं वक्तुमुपक्रमेत कः ॥ २८ ॥

उपपत्तिरिति ॥ किञ्च, बलाद्बलमाश्रित्य । कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी वक्तव्या ।

उपपत्तिर्युक्तिरुदाहृता । पराक्रमपक्ष एव श्रेयानिति युक्तिरुक्तेत्यर्थः । उचितं चैतन्महावीरस्येति भावः । तथानुमानेन युक्त्यागमः शास्त्रं च न क्षतो न हतः किंत्वागमाविरुद्धमेवोक्तम् । अन्यथा तद्विरोधादनुमानस्यैव प्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गादिति भावः । ईदृगित्थं क्षात्रयुक्तमिदं वचनमविद्यमान ईदृगाशय इत्थं क्षात्रयुक्ताभिप्रायो यस्य सोऽनीदृगाशयः । 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' इत्यमरः । कः प्रसभं हठाद्वक्तुमुपक्रमेत । न कोऽपीत्यर्थः । इत्थं वक्तुमुपक्रमितैव नास्ति, वक्ता तु दूरापास्त एवेति भावः । केचिदेतच्छ्लोकत्रयं निन्दापरत्वेनापि योजयन्ति । तदसत् । हितोपदेशमात्रतत्परस्यातिवत्सलस्य राज्ञो मत्सरिण इव महावीरे भ्रातरि विधेये सर्वानर्थमूलभूतनिन्दातात्पर्यकल्पनानौचित्यादिति ॥ २८ ॥

यदि साधूक्तं तर्हि तथैव क्रियतामित्याशङ्क्याह—

अवितृप्ततया तथापि मे हृदयं निर्णयमेव धावति ।

अवसाययितुं क्षमाः सुखं न विधेयेषु विशेषसंपदः ॥ २९ ॥

अवितृप्ततयेति ॥ तथापि त्वया सम्यङ्निर्णीतेऽपि मे हृदयमवितृप्ततयाऽसन्तुष्टतया । अद्यापि संशयगतत्वेनेत्यर्थः । निर्णयमेव धावत्यनुसरति । अपेक्षत इति यावत् । अद्यापि निर्णयस्यानुदयादिति भावः । निर्णयानुदये हेतुमाह— अवेति । विधेयेषु संधिविग्रहादिकर्तव्यार्थेषु या विशेषसंपदोऽवान्तरभेदभूमानस्ताः सुखमक्लेशेन । अवसाययितुम् । पुरुषान्प्रत्यानुकूलेन स्वस्वरूपं स्वयमेव शीघ्रं प्रत्याययितुमित्यर्थः । स्यतेपर्यन्तादणि कर्मकर्तृकात्तुमुन् । 'णेरणावि'ति सूत्रस्यायं विषयः । क्षमन्त इति क्षमाः । पचाद्यच् । शक्ता न भवन्ति । 'क्षमं शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः । विधेयमात्रस्य सुगमत्वेऽपि तद्विशेषाणां सौक्ष्म्याद्वाहुल्याच्च दुर्ज्ञेयत्वादद्यापि निर्णयाकाङ्क्षेति तात्पर्यार्थः । अत्र निर्णयधावनं प्रत्युत्तरवाक्यार्थस्य हेतुत्वाभिधानाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः । तदुक्तं—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति ॥ २९ ॥

वस्तुविशेषावधारणमन्तरेणैव प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।

वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥३०॥

सहसेति ॥ क्रियत इति क्रियां कार्यं सहसा । अविमृश्येत्यर्थः । 'सहसेत्याकस्मिकाविमर्शयोः' इति गणव्याख्याने स्वरादिपाठादव्ययम् । न विदधीत न कुर्वीत । कुतः । अविवेकोऽविमृश्यकारित्वं परमत्यन्तमापदां पदं स्थानम् । कारणमित्यर्थः । व्यतिरेकेणोक्तमर्थमन्वयेनाह—वृणत इति । गुणलुब्धा गुणगृह्णव इति स्वयंवरहेतुक्तिः । संपदः श्रियः । विमृश्य करोतीति विमृश्यकारी । 'उपपदमतिङ्' इति समासः । तं स्वयमेव वृणते भजन्ते हि । 'वृङ् संभक्तौ' इति धातुः । तस्माद्विमृश्यैव प्रवर्तितव्यमित्यर्थः । अत्र सहसा विधाननिषेधलब्धविमृश्यकारित्वरूपकारणस्यापद्रूपव्यतिरककार्येण समर्थनाद्वैधर्म्येणार्थान्तरन्यासः । द्वितीयार्थेन च स एव साधर्म्येणेति ज्ञेयम् ॥ ३० ॥

ननु साहसिकस्यापि फलसिद्धिर्दृश्यत एव, तत्किं विवेकेनेत्यत्राह—

अभिवर्षति योऽनुपालयन् विधिबीजानि विवेकवारिणा ।

स सदा फलशालिनीं क्रियां शरदं लोक इवाधितिष्ठति ॥३१॥

अभीति ॥ यः पुमान् । विधीयन्त इति विधयः कृत्यवस्तूनि बीजानीवेत्युपमितसमासः । शरदं लोक इवेति वाक्यगतोपमानुसारात् । तानि विधिबीजानि । विवेको वारीव तेन विवेकवारिणा । पूर्ववत्समासः । अनुपालयन् प्रतीक्षमाणः संरक्षन् अभिवर्षति सिञ्चति । स पुमान् । फलं साधननिष्पाद्योऽर्थः, सस्यं च । 'सस्ये हेतुकृते फलम्' इत्युभयत्राप्यमरः । तच्छालिनीं क्रियां कर्म लोको जनः । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । शरदमिव सदा नित्यमधितिष्ठति सदा क्रियाफलं प्राप्नोत्येव । न कदाचिद्भ्रमिचरतीत्यर्थः । साहसिकस्य काकतालीयन्यायेन फलसिद्धिः, विवेकिनस्तु नियतेति भावः । अत्र फलशब्देन सस्यहेतुकृतयोरर्थयोरभेदाध्यवसायाच्छेषमूलातिशयोक्तिस्तदनुगृहीता चोपमेत्यनुसंधेयम् ॥ ३१ ॥

'नियता विवेकिनः फलसिद्धिः' इत्युक्तम्, संप्रति तामेव रुच्यर्थं स्तौति—

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया ।

प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः ॥ ३२ ॥

शुचीति ॥ शुचि संप्रदायशुद्धं श्रुतं शास्त्रश्रवणं कर्तुं वपुर्भूषयति । अन्यथा विद्वान्पुरुषः शोच्य इति भावः । तस्य श्रुतस्य प्रशमः क्रोधोपशान्तिरलंक्रिया भूषणं भवति । अन्यथा श्रुतवैफल्यादिति भावः । पराक्रमः सत्यवसरे शौर्यं प्रशमस्याभरणं भवति । अन्यथा सर्वैः परिभूयत इति भावः । स पराक्रमः । नयापादिता नीतिसंपादिता । विवेकपूर्विकेति यावत् । सा चासौ सिद्धिश्च सैव भूषणं यस्य स तथोक्तः । अन्यथा साहसिकस्य सिद्धिः काकतालीयत्वेन पक्षे पराक्रमवैयर्थ्यं स्यादिति भावः । 'वपुषो भूष्यतैवात्र सिद्धेर्भूषणतैव तु । उभयं मध्यमानां तु तेषां पूर्वोत्तरेच्छया ॥' इति विवेकः । एवं विशिष्टसिद्धेरनन्यभूषिताया एव भूषणत्वोक्त्या सर्वोत्तरतया स्तुतिर्गम्यते । अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणत्वादेकावलयलंकारः । तदुक्तम्—'यत्र विशेषणभावं पूर्वं पूर्वं प्रति क्रमेणैव । भजति परं परमेषालंकारेकावली कथिता ॥' इति ॥ ३२ ॥

'विमृश्य कुर्यात्' इति स्थितम्, तत्र विमर्शोपायः क इत्युक्ते शास्त्रमेवेत्याह—

मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम् ।

सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम् ॥ ३३ ॥

मतीति ॥ मतिभेदः कार्यविप्रतिपत्तिः । मतिभेदस्तम इवेत्युपमितसमासः । दीप इवेत्युपमानुसारात् । तेन तिरोहित आच्छन्नेऽत एव गहने दुरवगाहे कृत्यविधौ कार्यानुष्ठाने विवेकिनां सुकृतः स्वभ्यस्तोऽत एव परिशुद्धो निश्चितः, अन्यत्र, सुविहितः प्रवातादिदोषरहितश्च । आगमः शास्त्रं । 'आगमः शास्त्र आज्ञाये' इति विश्वः । दीप इवार्थदर्शनं कार्यज्ञानं वस्तुप्रतिभासनं च कुरुते ॥ ३३ ॥

एवं विमृश्य कुर्वतो देवादनथांगमोऽपि न कश्चिदपराध इत्याह—

स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिश्चरिते वर्त्मनि यच्छतां मनः ।

विधिहेतुरहेतुरागसां विनिपातोऽपि समः समुन्नतेः ॥ ३४ ॥

स्पृहणीयेति ॥ स्पृहणीयगुणैर्लोकश्लाध्यगुणैः महात्मभिः सज्जनैश्चरितेऽ-
नुष्ठिते वर्त्मन्याचारे मनो यच्छतां निदधताम् । सन्मार्गेण व्यवहरतामित्यर्थः ।
विधिहेतुर्देवनिमित्तकः । 'विधिविधाने देवे च' इत्यमरः । अत एव, आगसाम-
पराधानामहेतुर्विनिपातो देविकानर्थोऽपि । 'विनिपातोऽवपाते स्याद्देवादिव्य-
सनेऽपि च' इति विश्वः । समुन्नतेरतिवृद्धेः समस्तुल्यः । दैविकेषु पुरुषस्यानु-
पालभ्यत्वादिति भावः । यथाह कामन्दकः—'यत्तु सम्यगुपक्रान्तं कार्यमेति विप-
र्ययम् । पुरुषस्त्वनुपालभ्यो देवान्तरितपौरुषः ॥' इति ॥ ३४ ॥

संप्रति यद्विमृश्यं तदाह—

शिवमौपयिकं गरीयसीं फलनिष्पत्तिमदूषितायतिम् ।

विगणय्य नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया जिगीषवः ॥ ३५ ॥

शिवमिति ॥ जिगीषवो विजयेच्छवो नृपा विजितक्रोधरया जितक्रोध-
वेगाः सन्तो गरीयसीं प्रभूताम् । अदूषितायतिमक्षतोत्तरकालाम् । स्वन्तामि-
त्यर्थः । फलनिष्पत्तिं फलसिद्धिं विगणय्य । फलवत्त्वं निश्चित्येत्यर्थः । पौरुषं
पुरुषकारं शिवमनुकूलमौपयिकमुपायम् । विनयादित्वात्स्वार्थे ठक् । उपायाङ्ग-
स्वत्वं च । नयन्ति प्रापयन्ति । पौरुषमुपायेन योजयन्तीत्यर्थः । नानिश्चितफलं
कर्म कुर्वत इति भावः । यथाह कामन्दकः—'निष्फलं क्लेशबहुलं संदिग्धफलमेव
च । न कर्म कुर्यान्मतिमान् सदा वैरानुबन्धि च ॥' इति । नयतिः प्रापणार्थं द्विक-
र्मकः । अत्र पौरुषस्य कर्तृस्थकर्मत्वेऽप्युपायस्यातथात्वात् क्रोधं विनयत इत्यादिवत्
'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यात्मनेपदं न भवति ॥ ३५ ॥

यदुक्तं 'विजितक्रोधरया' इति तदावश्यकमित्याह—

अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः ।

अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताप्युदीयते ॥ ३६ ॥

अपनेयमिति ॥ उदेतुमभ्युदेतुमिच्छता राज्ञा पुरः प्रथमं रोषमयं रोषादा-
गतम् । 'मयद् च' इति मयद् । तिमिरमज्ञानं धिया विवेकबुद्ध्या करणेनाप-
नेयमपनोद्यम् । तथा हि—अंशुमतापि कर्त्रा प्रभया तेजसा करणेन निशा-
कृतं तमो ध्वान्तमविभिद्य नोदीयते । किंतु विभिद्यैवेत्यर्थः । सूर्यस्याप्येवं
किमुतान्येषामित्यपिशब्दार्थः । इणो भावे लट् ॥ ३६ ॥

ननु दुर्बलस्यैवमस्तु, बलीयसस्तु क्रोधादेव कार्यसिद्धिरित्यत आह—

बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रुणाद्धि यः ।

क्षयपक्ष इवैन्दवीः कलाः सकला हन्ति स शक्तिसंपदः ॥३७॥

बलवानिति ॥ बलवान् शूरोऽपि यः कोपाज्जन्म यस्य तस्य कोपजन्मनः ।
'अवज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः' इति वामनः । तमसो मोहस्य ।

१ 'अदूषितायतीम्' इति पाठः.

कृद्योगात्कर्तरि षष्ठी । अभिभवमाक्रान्तिं न रुणद्धि न निवारयति । स नृपः । क्षयस्य पक्षः क्षयपक्षः कृष्णपक्ष एन्दवीरिन्दुसंबन्धिनीः कला इव । 'कला तु षोडशो भागः' इत्यमरः । सकलाः समग्राः शक्तिसंपदः प्रभुमन्त्रोत्साहशक्ती-
स्तिस्रोऽपि हन्ति नाशयति । अन्धस्य जङ्घाबलमिव क्रोधान्धस्य लोकोत्तरमपि सामर्थ्यं व्यर्थमेवेत्यर्थः । अत्र कालस्य सर्वकारणत्वात् क्षयपक्षस्य कलाक्षयकारि-
त्वमस्त्येव । तमसस्तु तत्कालविजृम्भणात्तथा व्यपदेशः ॥ ३७ ॥

विमृश्य कुर्वतः क्रियाप्रकारमाह—

समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम् ।

अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः ॥ ३८ ॥

समेति ॥ यः समा नातिमृदुर्नातितिग्मा वृत्तिर्यस्य स समवृत्तिः सन् समये सत्यवसरे मार्दवं मृदुवृत्तिवमुपैति, तिग्मतां तीक्ष्णवृत्तिव च तनोति । स मेदिनीपतिर्विवस्वानिव ओजसा तेजसा लोकमधितिष्ठत्याक्रामति । सूर्योऽपि ऋतुभेदेन प्रातःकालादिना च समवृत्तिरित्यादि योज्यम् ॥ ३८ ॥

उक्तान्यथाकरणेऽनिष्टमाह—

क्व चिराय परिग्रहः श्रियां क्व च दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता ।

शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैरसुरक्षा हि बहुच्छलाः श्रियः ॥ ३९ ॥

क्वेति ॥ श्रियां संपदां चिराय बहुकालं परिग्रहः स्वायत्तीकरणं क्व । इन्द्रियाणि वाजिन इवेति समासः । दुष्टानाममार्गधाविनामिन्द्रियवाजिनां वश्यो वशंगतस्तस्य भावस्तत्ता क्व । नोभयमेकत्र तिष्ठतीत्यर्थः । कुतः । हि यस्मात् शरदभ्रवच्चलाश्चञ्चलाः । किंच, बहुच्छला बहुव्याजाः । बहुरन्ध्रा इति यावत् । 'छलं तु स्वलिते व्याजे' इति विश्वः । श्रियः संपदः । चलेन्द्रियैरजितेन्द्रियैः । असुरक्षा रक्षितुमशक्याः । कथंचित्प्राप्ता अपि श्रियो नाविनीतेषु तिष्ठन्तीत्यर्थः । वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः ॥ ३९ ॥

क्रोधस्य दुष्टतामुक्त्वा तस्य त्यागमुपदिशति—

किमसामयिकं वितन्वता मनसः क्षोभमुपात्तरंहसः ।

क्रियते पतिरुच्चकैरपां भवता धीरतयाधरीकृतः ॥ ४० ॥

किमिति ॥ उपात्तरंहसः प्राप्तत्वरस्य मनसः । समयोऽस्य प्राप्तः सामयिकः । 'समयस्तदस्य प्राप्तम्' इति ठञ् । स न भवतीत्यसामयिकस्तमप्राप्तकालं क्षोभं वितन्वता भवता धीरतया धैर्यगुणेन । 'मनसो निर्विकारत्वं धैर्यं सत्स्वपि हेतुषु' इति रसिकाः । अधरीकृतस्तिरस्कृतः । प्रागिति शेषः । अपां पतिः समुद्रः किं किमर्थमुच्चकैरधिकः क्रियते । न पराजितं पुनरुच्चकैः कुर्यादिति भावः । अत्र 'वितन्वता' इति भीमविशेषणत्वेन अपांपतिपदार्थस्योच्चैःकरणे हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलंकारः ॥ ४० ॥

श्रुतमप्यधिगम्य ये रिपून् विनयन्ते न शरीरजन्मनः ।

जनयन्त्यचिराय संपदामयशस्ते खलु चापलाश्रयम् ॥ ४१ ॥

श्रुतमिति ॥ किंच, ये श्रुतं शास्त्रमधिगम्यापि शरीरजन्मनः शरीरप्रभ-

वान् रिपून् कामक्रोधादीन् न विनयन्ते न नियच्छन्ति । 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि'
इत्यात्मनेपदम् । ते खल्वचिराय संपदां चापलाश्रयमस्थैर्यनिबन्धनम् । अय-
शो दुष्कीर्तिं जनयन्ति । आश्रयदोषादस्थैर्यं संपदां न स्वदोषादित्यर्थः । अजि-
तारिषद्भृगस्य कुतः संपद इति भावः ॥ ४१ ॥

तथा क्रोधात् कार्यहानिरित्याशयेनाह—

अतिपातितकालसाधना स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी ।

जनवन्न भवन्तमक्षमा नयसिद्धेरपनेतुमर्हति ॥ ४२ ॥

अतिपातितेति ॥ अतिपातितान्यतिक्रान्तानि कालः समयोऽनुरूपः साध-
नानि सहायादीनि यथा सा तथोक्ता । तापयतीति तापनी । कर्तरि ल्युट् । टित्वा
न्डीप् । स्वस्य यत् शरीरमिन्द्रियवर्गश्च तयोस्तापनी । अक्षमा क्रोधो भवन्तं
जनवत् पृथग्जनमिव । 'तेन तुल्यं—' इति वतिप्रत्ययः । तेनेवार्थो लक्ष्यते ।
'तद्वितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययम् । नयसिद्धेर्नयसाध्यफलादपनेतुं पृथक्कर्तुं
नार्हति । असमयक्रोधस्यात्मसंतापातिरिक्तं फलं नास्तीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

'दुष्टः क्रोधः' इत्युक्तम् ; अथ क्षमाया गुणानाह—

उपकारकमायतेर्भृशं प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः ।

अनपायि निवर्हणं द्विषां न तितिक्षासममस्ति साधनम् ॥४३॥

उपकारकमिति ॥ आयतेरुत्तरकालस्य भृशमत्यन्तमुपकारकम् । स्थिरफल-
हेतुरित्यर्थः । भूरिणः प्रभूतस्य कर्मफलस्य । प्रसूयतेऽनेनेति प्रसवः कारणम् ।
अपायि न भवतीत्यनपायि स्वयमविनश्यदेव द्विषां निवर्हणं विनाशकमेवं-
गुणकं साधनं तितिक्षासमं क्षमातुल्यं नास्ति । 'क्षान्तिः क्षमा तितिक्षा च'
इत्यमरः । 'तिज निशाने' इति धातोः 'गुप्तिञ्जिञ्च्यः सन्' इति क्षमार्थे सन्प्रत्ययः ।
तितिक्षासममित्यनुक्तोपमेया समास आर्थी लुप्तोपमा, भृशायत्यनपायिशब्दैः
साधनान्तरवैलक्षण्याद्व्यतिरेकश्च व्यज्यते । भेदप्राधान्य उपमानादुपमेयस्याधिक्ये
विपर्यये च व्यतिरेकः ॥ ४३ ॥

ननु तितिक्षया कालक्षेपे दुर्योधनः सर्वान् राज्ञो वशीकुर्यादित्यत्राह—

प्रणतिप्रवणान्विहाय नः सहजस्नेहनिबद्धचेतसः ।

प्रणमन्ति सदा सुयोधनं प्रथमे मानभृतां न वृष्णयः ॥ ४४ ॥

प्रणतीति ॥ सहजस्नेहेनाकृत्रिमप्रेम्णा निबद्धचेतसोऽस्मासु गाढं लग्न-
चित्ताः । सुयोधने तु न तथेति भावः । किंच मानभृतामहंकारिणां प्रथमेऽग्र-
सराः । सुयोधनस्तु ततोऽपीति भावः । वृष्णयो यादवाः प्रणतिप्रवणान्
प्रणामपरान् । सुयोधनस्तु न तथेति भावः । नोऽस्मान् विहाय सुयोधनं सदा
न प्रणमन्ति न नमन्ति नानुसरन्ति । किंतु कार्यकाले त्यक्ष्यन्त्येवेत्यर्थः । सति
यादवविग्रहे न किंचिदस्माकमसाध्यं भवेदिति भावः । अनेकपदार्थहेतुकं काव्य-
लिङ्गमलंकारः ॥ ४४ ॥

सुहृदः सहजास्तथेतरे मतमेषां न विलङ्घयन्ति ये ।

विनयादिव यापयन्ति ते धृतराष्ट्रात्मजमात्मसिद्धये ॥ ४५ ॥

सुहृद इति ॥ किंच, एषां वृष्णीनां ये सहजाः सहजाताः । मातृपितृपक्षा इत्यर्थः । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति उपप्रत्ययः । सुहृदो मित्राणि तथेतरे कृत्रिम-सुहृदश्च मतं वृष्णिपक्षं न विलङ्घयन्ति नातिक्रामन्ति । ते द्वयेऽपि नृपाः । दुर्योधनोपजीविनोऽपीति भावः । आत्मसिद्धय आत्मजीवनार्थं धृतराष्ट्रात्मजं दुर्योधनं विनयादानुकूल्यादिव यापयन्ति कालं गमयन्ति । कार्यकाले तु वृष्णिपक्ष-प्रवेशिन एवेत्यर्थः । यातेर्ण्यन्ताल्लद । 'अर्तिही-' इत्यादिना पुगागमः ॥ ४५ ॥

किंच नायमभियोगकाल इत्याशयेनाह—

अभियोग इमान्महीभुजो भवता तस्य कृतः कृतावधेः ।

प्रविघाटयिता समुत्पतन् हरिदश्वः कमलाकरानिव ॥ ४६ ॥

अभियोग इति ॥ कृतावधेः परिभाषितकालस्य । 'अवधिस्त्ववधाने स्यात्सीम्नि काले विलेऽपि च' इति विश्वः । तस्य सुयोधनस्य । कर्मणि षष्ठी । भवता कृतः । अवधित इति शेषः । अभियोगः । आर्द्राभिभव इति यावत् । 'अभियोगस्तु शपथे स्यादाद्रं च पराभवे' इति विश्वः । इमान् पूर्वोक्तान् महीभुजो राज्ञो हरिदश्व उष्णरश्मिः कमलाकरानिव समुत्पतन्नुद्यन्नेव प्रविघाटयिता भेत्यति । घाटयतेश्चौरादिकाल्लद । भौवादिकस्य तु 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वं स्यात् ॥ ४६ ॥

अथ न ये वृष्णिपक्षास्तान्प्रत्याह—

उपजापसहान्विलङ्घयन् स विधाता नृपतीन्मदोद्धतः ।

सहते न जनोऽप्यधःक्रियां किमु लोकाधिकधाम राजकम् ॥ ४७ ॥

उपजापेति ॥ मदोद्धतः स दुर्योधनो नृपतीन्न्यावृषान् विलङ्घयन् मदा-दवमानयन् । सहन्त इति सहाः । पचाद्यच् । उपजापस्य सहान् भेदयोग्यान् । 'समौ भेदोपजापौ' इत्यमरः(?) । विधाता विधास्यति । दधातेर्लुङ् । अवमानितो जनः सुभेद्य इति भावः । न च ते सहिष्णव इत्याह—जनः प्राकृतोऽप्यधःक्रि-यामपमानं न सहते । लोकाधिकधाम लोकोत्तरप्रतापं राजकं राजसमूहः । 'गोत्रोक्षोष्ट्र-' इत्यादिना वुञ्प्रत्ययः । किमु । न सहत इति किं वक्तव्यमित्यर्थः । तथा सति कृत्स्नमेव राजमण्डलमस्मानेवावलम्बिष्यत इति भावः ॥ ४७ ॥

ननु 'सखीनिव' इत्यादिवनेचरोक्त्या तस्य मदसंभावनापि कथमित्यत्राह—

असमापितकृत्यसंपदां हतवेगं विनयेन तावता ।

प्रभवन्त्यभिमानशालिनां मदमुत्तम्भयितुं विभूतयः ॥ ४८ ॥

असमापितेति ॥ असमापितकृत्यसंपदामकृतकृत्यानामतोऽभिमानशा-लिनामहंकारिणां विभूतयः संपद एव तावता स्वल्पेन विनयेन । कार्यवशा-दारोपितेनेति शेषः । हतवेगं प्रतिबद्धवेगं न तु स्वरूपतो हतं मदमुत्तम्भयितुं वर्धयितुं प्रभवन्ति । सर्वथा दुर्जनसंपदो विकारयन्तीति भावः ॥ ४८ ॥

अथ मदस्यानर्थहेतुतां युग्मेनाह—

मदमानसमुद्धतं नृपं न वियुङ्क्ते नियमेन मूढता ।

अतिमूढ उदस्यते नयान्नयहीनादपरज्यते जनः ॥ ४९ ॥

मदेति ॥ मदमानाभ्यां दर्पाहंकाराभ्यां समुद्धतं नृपं मूढता कार्याकार्या-
परिज्ञानं नियमेनावश्यं न वियुङ्क्ते न वियुञ्चति । अतिमूढो नयान्नीतिमार्गा-
दुदस्यत उदस्यते । कर्मकर्तरि लट् । नयहीनाज्जनोऽपरज्यतेऽपरक्तो भ-
वति । 'स्वरितजित-' इत्यादिनात्मनेपदम् ॥ ४९ ॥

अपरागसमीरणेरितः क्रमशीर्णाकुलमूलसंततिः ।

सुकरस्तरुवत्सहिष्णुना रिपुरुन्मूलयितुं महानपि ॥ ५० ॥

अपरागेति ॥ अपरागोऽप्रीतिः । द्वेष इति यावत् । समीरण इव । तेने-
रितश्चोदितः । अत एव क्रमेण शीर्णा शीर्णाभूताकुला, चला च मूलसंततिः
प्रकृत्यादिस्वजनवर्गः, शिफासंघातश्च यस्य स तथोक्तः । 'मूलं वशीकृते स्वीये
शिफातारान्तिकादिषु' इति वैजयन्ती । रिपुर्महानपि तरुवद्बृक्ष इव सहि-
ष्णुना क्षमावतोन्मूलयितुमुद्धर्तुं सुकरः सुसाध्यः । सुकरोन्मूलन इत्यर्थः ।
अत्र मदादेः पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वात् कारणमाला, तरुवदित्युपमा चेति
द्वयोः संसृष्टिः ॥ ५० ॥

नन्वन्तर्भेदमात्रेण कथं सुसाध्यस्तत्राह—

अणुरप्युपहन्ति विग्रहः प्रभुमन्तःप्रकृतिप्रकोपजः ।

अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखान्तनिघर्षजोऽनलः ॥ ५१ ॥

अणुरिति ॥ अणुरल्पोऽप्यन्तःप्रकृतिप्रकोपजोऽन्तरङ्गामात्याद्यपरागस-
मुत्थः । 'प्रकृतिः पञ्चभूतेषु स्वभावे मूलकारणे । छन्दःकारणगुह्येषु जन्त्वमात्या-
दिकेष्वपि ॥' इति वैजयन्ती । विग्रहो वैरं प्रभुमुपहन्ति नाशयति । अत्र दृष्टा-
न्तमाह—तरुशाखान्तानां निघर्षो घर्षणं तज्जोऽनलोऽग्निः भूधरं गिरि-
मखिलं साकल्येन हिनस्ति हि । दहतीत्यर्थः । अत्रोपमानोपमेयसमानधर्माणां
प्रतिबिम्बतया निर्देशेन दृष्टान्तालंकारः ॥ ५१ ॥

तथापि कथं वर्धमानं शत्रुमुपेक्षेतेत्याशङ्क्य दुर्विनीतत्वादित्याह—

मतिमान्विनयप्रमाथिनः समुपेक्षेत समुन्नतिं द्विषः ।

सुजयः खलु तादृगन्तरे विपदन्ता ह्यविनीतसंपदः ॥ ५२ ॥

मतिमानिति ॥ मतिमान् प्राज्ञः । विनयं प्रमथातीति विनयप्रमाथिनो
दुर्विनीतस्य द्विषः समुन्नतिं वृद्धिं समुपेक्षेत । उपेक्षायाः फलमाह—तादृ-
गविनीतोऽन्तरे क्वचिद्वन्धे सुजयः सुखेन जेतुं शक्यः खलु । हि यस्मादवि-
नीतसंपदो विपदन्ता विपन्नमर्यादकाः । अनर्थोदका इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

१ 'नृपमन्तः' इति पाठः.

कथं दुर्विनीतस्य शत्रोः सुजयत्वमित्याशङ्क्य भेदजर्जरितत्वादित्याह—

लघुवृत्तितया भिदां गतं बहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलम् ।

अभिभूय हरत्यनन्तरः शिथिलं कूलमिवापगारयः ॥ ५३ ॥

लघ्विति ॥ लघुवृत्तितया स्वस्य दुर्वृत्तरूपतया बहिर्मित्रादिजनपदेषु ।
अन्तरमात्यादिषु च भिदां भेदं गतम् । 'षिद्धिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः ।
नृपस्य मण्डलं राष्ट्रमनन्तरः संनिहितो जिगीपुरापगारयो नदीवेगः शिथि-
लमन्तर्भेदजर्जरं कूलमिवाभिभूयाकम्य हरति ॥ ५३ ॥

अनुशासतमित्यनाकुलं नयवर्त्माकुलमर्जुनाग्रजम् ।

स्वयमर्थं इवाभिवाञ्छितस्तमभीयाय पराशरात्मजः ॥ ५४ ॥

अन्विति ॥ इतीत्थम् । आकुलमरिनिकारस्मरणात् क्षुभितमर्जुनाग्रजं भीम-
सेनं नयवर्त्म नीतिमार्गमनाकुलमसंकीर्णं यथा तथानुशासतमुपदिशन्तम् ।
'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्ताच्छतुर्नुमभावः । तं युधिष्ठिरं पराशरात्मजो वेद-
व्यासः । स्वयमभिवाञ्छितोऽर्थ इव । साक्षान्मनोरथ इवेत्युत्प्रेक्षा । अभी-
याय प्राप्तः ॥ ५४ ॥

अथ युग्मेवाह—

मधुरैरवशानि लम्भयन्नपि तिर्यञ्चि शमं निरीक्षितैः ।

परितः पटु बिभ्रदेनसां दहनं धाम विलोकनक्षमम् ॥ ५५ ॥

मधुरैरिति ॥ मधुरैः शान्तैः निरीक्षितैरवलोकनैः । नपुंसके भावे क्तः । न
विद्यते वशमायत्तत्वं येषां तान्यवशानि प्रतिकूलानि । 'वशमायत्ततायां च'
इति विश्वः । तिर्यञ्चि मृगपक्ष्यादीनि शमं शान्तिं लम्भयन् प्रापयन् । 'लभेश्च'
इति नुमागमः । 'गत्यर्थ—' इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् । परितः पटुञ्ज्वलमेन-
साम् । दह्यतेऽनेनेति दहनं निवर्तकं तथाऽपि विलोकनक्षमं दर्शनीयम् ।
बह्यादिविलक्षणमिति भावः । धाम तेजो बिभ्रत् ॥ ५५ ॥

सहसोपगतः सविस्मयं तपसां सूतिरसूतिरपदाम् ।

ददृशे जगतीभुजा मुनिः स वपुष्मानिव पुण्यसंचयः ॥ ५६ ॥

सहसेति ॥ पुनः सहसोपगतोऽकस्मादागतस्तपसां सूतिः प्रभव आप-
दामसूतिरप्रभवः । निवर्तक इति यावत् । स मुनिर्व्यासो वपुष्मान् देहधारी
पुण्यसंचयः पुण्यराशिरिवेत्युत्प्रेक्षा । जगतीभुजा राज्ञा सविस्मयं ददृशे
दृष्टः ॥ ५६ ॥

अथोच्चकैरासनतः परार्ध्यादुद्यन्स धूतारुणवल्कलाग्रः ।

रराज कीर्णाकपिशांशुजालः शृङ्गात्सुमेरोरिव तिग्मरश्मिः ॥ ५७ ॥

अथेति ॥ अथ दर्शनानन्तरम् । उच्चकैरुन्नतात् परार्ध्याच्छ्रेष्ठात् । 'अर्धाद्यत्' ।
'परावराधमोत्तमपूर्वाच्च' इति यत्प्रत्ययः । आसनतः सिंहासनात् । उद्यन्नुत्तिष्ठन्नत

१ 'अनाविलं' इति पाठः. २ 'समीक्षितैः' इति पाठः. ३ 'एनसाम्' इति पाठः.
४ 'सुधौतारुण' इति पाठः. ५ 'धर्मरश्मिः' इति पाठः.

एव धूतानि कम्पितान्यरुणानि वल्कलाग्राणि यस्य स तथोक्तः । स नृपः कीर्ण
विस्वृतमाकपिशमंशुजालं यस्य स तथोक्तः । सुमेरोः शृङ्गादुद्यंस्तिग्म-
रश्मिरिव रराज ॥ ५७ ॥

अवहितहृदयो विधाय सोऽर्हामृषिवदृषिप्रवरे गुरूपदिष्टाम् ।

तदनुमतमलंचकार पश्चात् प्रशम इव श्रुतमासनं नरेन्द्रः ॥ ५८ ॥

अवहितेति ॥ स नरेन्द्रोऽवहितहृदयोऽप्रमत्तचित्तः सन् । ऋषिप्रवरे
मुनिश्रेष्ठे । ऋषिवदृष्यर्हाम् । अर्हार्थे वतिप्रत्ययः । गुरूपदिष्टाम् । शास्त्रीया-
मित्यर्थः । अर्हां पूजाम् । 'गुरोश्च हलः' इत्यकारप्रत्ययः । विधाय पश्चादनन्तरं
तदनुमतं तेनानुज्ञातमासनम् । प्रशमः शान्तिः श्रुतं शास्त्रश्रवणमिव ।
अलंचकार । उक्तं च—'प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया' इति । मुन्याज्ञयोपविष्ट-
वानित्यर्थः ॥ ५८ ॥

व्यक्तोदितस्मितमयूखविर्भासितोष्ठ-

स्तिष्ठन्मुनेरभिमुखं स विकीर्णधाम्नः ।

तन्वन्तमिद्धमभितो गुरुमंशुजालं

लक्ष्मीमुवाह सकलस्य शशाङ्कमूर्तेः ॥ ५९ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये द्वितीयः सर्गः ।

व्यक्तेति ॥ व्यक्तोदितैः स्फुटोद्गतैः स्मितमयूखैर्विभासितावोष्ठौ यस्य स
तथोक्तः । विकीर्णधाम्नो विस्तीर्णतेजसो मुनेरभिमुखं तिष्ठन् स नृपः ।
इद्धं दीप्तमंशुजालं तन्वन्तं गुरुं गीष्पतिम् । 'गुरुर्गीष्पतिपित्रादौ' इत्यमरः ।
'अभितःपरित-' इत्यादिना द्वितीया । अभितोऽभिमुखम् । तिष्ठत इति शेषः ।
सकलस्य संपूर्णस्य शशाङ्का मूर्तिर्यस्य तस्येन्दोर्लक्ष्मीमुवाह वहति स्म ।
अत्रोपमेयस्य राज्ञ उपमानेन्दुधर्मेण लक्ष्म्याः साक्षात्संबन्धासंभवात्तत्सदृशीं ल-
क्ष्मीमिवेति प्रतिबिम्बकरणाक्षेपादसंभवद्वस्तुसंबन्धात् पदार्थवृत्तिनिर्दर्शनालंकारः ।
तदुक्तम्—'प्रतिबिम्बस्याकरणं संभवता यत्र वस्तुयोगेन । तत्साम्यमसंभवता
निर्दर्शना सा द्विधाभिमता ॥' इति ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-

काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां द्वितीयः सर्गः समाप्तः ।

तृतीयः सर्गः ।

अथ त्रिभिर्मुनिं विशिषंश्चतुर्भिः कलापकमाह । तदुक्तम्—'द्वाभ्यां युग्ममिति
प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् । कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥'
इति,—

ततः शरच्चन्द्रकराभिरामैरुत्सर्पिभिः प्रांशुमिवांशुजालैः ।

त्रिश्राणमानीलरुचं पिशङ्गीर्जटास्तडिच्च्वन्तमिवाम्बुवाहम् ॥ १ ॥

तत इति ॥ तत उपवेशानन्तरं धर्मात्मजो युधिष्ठिरः शरच्चन्द्रकराभि-

१ 'पूजा' इति पाठः. २ 'विकासितोष्ठः' इति पाठः. ३ 'सृगाङ्कमूर्तेः' इति पाठः.

रामैः । आह्लादकैरित्यर्थः । उत्सर्पिभिरूर्ध्वं प्रसारिभिः । अंशुजालैः प्रांशुमुन्नत-
मिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा । पुनरानीलरुचं कृष्णवर्णं पिशङ्गीः पिङ्गलवर्णाः ।
गौरादित्वान्डीपं । जटा बिभ्राणं धारयन्तमत एव तडित्त्वन्तं विद्युद्युक्तमम्बु-
वाहमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा ॥ १ ॥

प्रसादलक्ष्मीं दधतं समग्रां वपुःप्रकर्षेण जनातिगेन ।

प्रसह्य चेतःसु समासजन्तमसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम् ॥ २ ॥

प्रसादेति ॥ पुनः समग्रां संपूर्णां प्रसादः सौम्यता तस्य लक्ष्मीं संपदं
दधतम् । अत एव जनमतिगच्छतीति जनातिगेन लोकातिशायिना । 'अन्ये-
ष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः । वपुःप्रकर्षेणाकारसंपदा असंस्तुतानामपरि-
चितानामपि । व्यासोऽयमित्यजानतामपीत्यर्थः । 'संस्तवः स्यात्परिचयः' इत्य-
मरः । चेतःसु चित्तेष्वार्द्रं स्नेहार्द्रं भावमभिप्रायं प्रसह्य बलात् समास-
जन्तम् । लगयन्तमिति यावत् । 'दंशसञ्जस्वजां शपि' इत्युपधाया लोपः ।
प्रसन्नाकारेषु सर्वोऽपि स्निह्यतीति भावः ॥ २ ॥

अनुद्धताकारतया विविक्तां तन्वन्तमन्तःकरणस्य वृत्तिम् ।

माधुर्यविस्रम्भविशेषभाजा कृतोपसंभाषमिवेक्षितेन ॥ ३ ॥

अनुद्धतेति ॥ पुनः, अनुद्धताकारतया शान्ताकारत्वेन लिङ्गेनान्तःकरणस्य
वृत्तिं विविक्तां पूताम् । शान्तामिति यावत् । 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः ।
तन्वन्तं प्रकटयन्तम् । आकृतिरेवास्य चित्तशुद्धिं कथयतीत्यर्थः । पुनः, माधुर्यं
निसर्गसौम्यता विस्रम्भो विश्वासः । 'समौ विस्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः ।
तयोर्विशेषमतिशयं भजतीति तथोक्तेनेक्षितेन दर्शनेनैव कृतोपसंभाषा संभा-
षणं येन तमिवेत्युत्प्रेक्षा । दृष्टिविशेषषणैवोपसंभाषमाणमिव स्थितमित्यर्थः ।
काशिकायां तु 'उपसंभाषणमुपसान्वनम्' इति भासनादिसूत्रे ॥ ३ ॥

धर्मात्मजो धर्मनिबन्धिनीनां प्रसूतिमेनःप्रणुदां श्रुतीनाम् ।

हेतुं तदभ्यागमने परीप्सुः सुखोपविष्टं मुनिमावभाषे ॥ ४ ॥

धर्मेति ॥ पुनर्धर्मं निबन्धन्तीति धर्मनिबन्धिनीनामग्निहोत्रादिधर्मप्रतिपादि-
कानाम् । एनःप्रणुदामघच्छिदाम् । क्विप् । श्रुतीनां वेदानाम् । 'श्रुतिः स्त्री वेद
आम्नायः' इत्यमरः । प्रसूतिं प्रभवं सुखेनोपविष्टं मुनिं तदभ्यागमने तस्य
मुनेरागमने हेतुं परीप्सुर्जिज्ञासुः । आप्नोतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । 'आप्ञ्जप्यधामीत्'
इतीकारः । अत्र 'लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः । आवभाषे उवाच ॥ ४ ॥

अनाप्तपुण्योपचयैर्दुरापा फलस्य निर्धूतरजाः सवित्री ।

तुल्या भवदर्शनसंपदेषा वृष्टेर्दिवो वीतबलाहकायाः ॥ ५ ॥

अनाप्तेति ॥ अनाप्तपुण्योपचयैरकृतपुण्यसंग्रहैः । दुरापा दुर्लभा । फलस्य
सवित्री श्रेयस्करी निर्धूतरजा हतरजोगुणा । अन्यत्र, निरस्तधूलिः । 'रजो रजो-
गुणे धूलौ परागार्तवयोरपि' इति शाश्वतः । एषा भवदर्शनसंपत् संपत्तिः ।
लाभ इति यावत् । संपदादिभ्यः क्विपो भावार्थत्वात् । वीतबलाहकाया गत-
मैवाया दिव आकाशस्य संबन्धिन्या वृष्टेस्तुल्येत्युपमालंकारः । अनुभवृष्टिवद-

तर्कितोपनतं भवदर्शनं सर्वथा कस्यचिच्छ्रेयसो निदानमित्यर्थः । वारि वहतीति बलाहकः । पृषोदरादित्वात् साधुः ॥ ५ ॥

अद्य क्रियाः कामदुघाः ऋतूनां सत्याशिषः संप्रति भूमिदेवाः ।

आ संसृतेरस्मि जगत्सु जातस्त्वय्यागते यद्बहुमानपात्रम् ॥ ६ ॥

अद्येति ॥ अद्य ऋतूनां क्रिया अनुष्ठानानि । कामान् दुहन्तीति कामदुघाः । फलदा इत्यर्थः । 'दुहः कव्यश्च' इति कप्प्रत्ययो घादेशश्च । संप्रत्यद्य भूमिदेवा ब्राह्मणाः । 'द्विजात्यग्रजन्मभूदेववाडवाः । विप्रश्च ब्राह्मणः' इत्यमरः । सत्याशिषो जाताः, ब्राह्मणाशिषोऽद्य फलिता इत्यर्थः । यत् यतः कारणात् । त्वय्यागते सति । त्वदागमनेन निमित्तेनेत्यर्थः । अस्मीत्यहमर्थेऽव्ययम् । 'अस्मीत्यस्म-दर्थानुवादेऽहमर्थेऽपि' इति गणव्याख्याने । 'दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां पादप्रहार इति सुन्दरि नास्मि दूये' इति प्रयोगाच्च । आ संसृतेरा संसारात् । यावत्संसारमित्यर्थः । अभिविधावाङ् । विकल्पादसमासः । जगत्सु बहुमानपात्रं बहुयोग्यताभाजनं जातः । सकलसत्कर्मफलभूतं त्वदागमनं ज्ञेन मे जगन्मान्यतेति भावः ॥ ६ ॥

श्रियं विकर्षत्यपहन्त्यघानि श्रेयः परिस्रौति तनोति कीर्तिम् ।

संदर्शनं लोकगुरोरमोघं तवात्मयोनेरिव किं न धत्ते ॥ ७ ॥

श्रियमिति ॥ आत्मयोनेर्ब्रह्मण इव लोकगुरोस्तवामोघमविफलं संदर्शनं श्रियं विकर्षत्याकर्षति । अघानि दुःखान्यपहन्ति । 'अंहोदुःखव्यसने-त्वघम्' इत्यमरः । श्रेयः पुरुषार्थं परिस्रौति स्रवति । कीर्तिं च तनोति । किं बहुना, किं न धत्ते किं न करोति । सर्वं करोतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

श्रयोतन्मयूखेऽपि हिमद्युतौ मे ननिर्वृतं निर्वृतिमेति चक्षुः ।

समुज्झितज्ञातिवियोगखेदं त्वत्संनिधावुच्छ्वसितीव चेतः ॥ ८ ॥

श्रयोतदिति ॥ हे भगवन्, श्रयोतन्मयूखे सुधास्त्राविकरे हिमद्युताविन्दावपि विषये ननिर्वृतम् । नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । मे चक्षुस्त्वत्संनिधौ निर्वृतिं सुखमेति । तथा चेतश्च समुज्झितज्ञातिवियोगखेदं त्यक्तबन्धुविरहदुःखं समुच्छ्वसितीवानुपरोधेन प्राणितीवेत्युत्प्रेक्षा । पूर्वार्धे तु निर्वृतिकारणे सत्यपीन्दावनिर्वृतिकथनाद्विशेषोक्तिः । तदुक्तम्—'तत्सामग्र्यामनिर्वृत्तिर्विशेषोक्तिर्निगद्यते' इति ॥ ८ ॥

निरास्पदं प्रश्नकुतूहलित्वमस्मास्वधीनं किमु निःस्पृहाणाम् ।

तथापि कल्याणकरीं गिरं ते मां श्रोतुमिच्छा मुखरीकरोति ॥ ९ ॥

निरास्पदमिति ॥ प्रश्नकुतूहलित्वं निरास्पदम् । त्वदागमनप्रयोजनप्रश्नो-निरास्पद इत्यर्थः । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । प्रश्नानवकाशे हेतुमाह-निःस्पृहाणाम् । युष्मादशामित्यर्थः । अस्मासु । अधीनमायत्तं किमु । न किञ्चिदस्सत्तो लभ्यमित्यर्थः । आधारत्वविवक्षायां सप्तमी । तथापि कल्याणकरीम् । अस्मद्वितैकहेतुमित्यर्थः । निःस्पृहवृत्तेः पारार्थ्यादिति भावः । 'कृजो

हेतु-’ इति टप्रत्यये डीप् । अतस्ते गिरं श्रोतुमिच्छा माम् । मुखं वागस्या-
स्तीति मुखरो निरन्तरभाषी । ‘रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्’ इति रः ।
‘दुर्मुखे मुखराबद्धमुखौ’ इत्यमरः । ततश्चिप्रत्ययः । मुखरीकरोति । व्याहार-
यतीत्यर्थः । निःस्पृहस्यापि ते वाक्यमस्मद्धितकरत्वाच्छ्रोतव्यमिति भावः ॥ ९ ॥

इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यं मनः समाधाय जयोपपत्तौ ।

उदारचेता गिरमित्युदारां द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः ॥ १० ॥

इतीति ॥ इतीत्युक्तिविशेषरम्यमुक्तिवैचित्र्यचारु यथा तथोक्तवान् ।
उदारचेता महामना नरेन्द्रो द्वैपायनेन व्यासेन । द्वीपमयनं स्थानं जन्मभूमि-
र्यस्य स द्वीपायनः, स एव द्वैपायनस्तेन । ‘प्रज्ञादिभ्यश्च’ इति स्वार्थेऽणप्रत्ययः, नाप-
त्यर्थे । ‘नडादिभ्यः फक्’ । तेष्वेव पाठाद्वाधितार्थत्वाच्च । जयोपपत्तौ मनः समा-
धाय । जयसिद्धिमपेक्षेत्यर्थः । इति वक्ष्यमाणप्रकारामुदारामर्थवतीं गिरमभि-
दध उक्तः । दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि लिट् । ‘प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्वि-
कर्मणाम् । अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः ॥’ इति वचनात् ॥ १० ॥

आदौ तावत्तस्य माध्यस्थ्यभङ्गदोषं युग्मेन परिहरति—

चिचीषतां जन्मवतामलघ्वीं यशोवतं सामुभयत्र भूतिम् ।

अभ्यर्हिता बन्धुषु तुल्यरूपा वृत्तिर्विशेषेण तपोधनानाम् ॥ ११ ॥

चिचीषतामिति ॥ अलघ्वीं गुर्वीम् । ‘वोतो गुणवचनात्’ इति डीप् । यशो-
वतंसां कीर्तिभूषणाम् । उभयत्रेह चासुत्रं च भूतिं श्रेयश्चिचीषतां चेतुं संग्र-
हीतुमिच्छताम् । विनोतेः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः । जन्मवतां शरीरिणां बन्धुषु
विषये तुल्यरूपैकविधा वृत्तिर्व्यवहारोऽभ्यर्हितोचिता, तपोधनानां त्वस-
त्सदृशां विशेषेण नियमेनाभ्यर्हिता ॥ ११ ॥

तथापि निघ्नं नृप तावकीनैः प्रह्वीकृतं मे हृदयं गुणौघैः ।

वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः १२

तथापीति ॥ तथापि तुल्यवृत्तौ चित्तेऽपि । हे नृप, तावकीनैस्त्वदीयैः ।
‘युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्ज’ इति खञ्प्रत्ययः । ‘तवकममकावेकवचने’ इति तव-
कादेशः । गुणौघैः प्रह्वीकृतमावर्जितं मे हृदयं निघ्नं त्वदायत्तम् । ‘अधीनो
निघ्न आयत्तः’ इत्यमरः । ननु निःस्पृहस्य कोऽयं पक्षपात इत्यत्राह—वीतेति ।
वीतस्पृहाणां विरक्तानां मुक्तिभाजाम् । सुमुख्यणामपीत्यर्थः । भवन्तीति
भव्याः साधवः । ‘भव्यगेय-’ इत्यादिना कर्तरि निपातः । तेषु पक्षपाताः स्नेहा
भवन्ति । न तु साध्वनुग्रहो महतां माध्यस्थ्यभङ्गक इति भावः ॥ १२ ॥

• अथ नृपस्य गुणवत्तां प्रकटयितुं धतराष्ट्रस्य दुश्चेष्टामुद्घाटयति—

सुता न यूयं किमु तस्य राज्ञः सुयोधनं वा न गुणैरतीताः ।

यस्त्यक्तवान् वः स वृथा बलाद्वा मोहं विधत्ते विषयाभिलाषः १३

सुता इति ॥ यूयं तस्य राज्ञो धतराष्ट्रस्य सुताः पुत्रा न किमु । अपि तु
सुता एवेत्यर्थः । गुणैः शान्तिदानदाक्षिण्यादिभिः । सुयोधनं नातीता नाति-
क्रान्ता वा । अतीता एवेत्यर्थः । कर्तरि क्तः । असुतत्वमगुणत्वं च त्यागे हेतुः ।

युष्मासु तन्नास्तीत्यर्थः । उपालम्भे कारणमाह—य इति । यो धृतराष्ट्रो वो युष्मान्
वृथा निष्कारणमेव त्यक्तवान् । यदि वयं सुता गुणाधिकाश्च तर्हि कथमत्या-
क्षीत्तत्राह—बलादिति । स विषयाभिलाषो भोगवृष्णा बलाद्वा बलादिव ।
'वा स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थेऽपि समुच्चये' इति विश्वः । मोहमविवेकं विधत्ते ।
विषयाभिलाषातिरिक्तो न कश्चिद्युष्मत्यागहेतुरस्तीत्यर्थः । अत्र कार्यकारणसमर्थ-
नरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १३ ॥

अथ राज्ञ उत्साहवर्धनाय शत्रोर्हानिं सूचयति—

जहातु नैनं कथमर्थसिद्धिः संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः ।

असाधुयोगा हि जयान्तरायाः प्रमाथिनीनां विपदां पदानि ॥१४॥

जहात्विति ॥ एनं धृतराष्ट्रमर्थसिद्धिः कथं न जहातु । जहात्वेवेत्यर्थः ।
'प्राप्तिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' इति प्राप्तकाले लोद । तस्य हानिकालः प्राप्त
इत्यर्थः । कुतः । यो धृतराष्ट्रः संशय्य संदिह्य कर्णादिषु तिष्ठते । कर्णादीन्
दुर्मन्त्रिणः संदिग्धार्थं निर्णेतृत्वेनावलम्बत इत्यर्थः । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इति
स्थेयाख्यायामात्मनेपदम् । तिष्ठतेऽस्मिन्निति स्थेयो विवादपदनिर्णेत । तथा हि—
असाधुयोगां दुर्जनसंसर्गा जयान्तराया जयविघातकाः । किंच, प्रमाथि-
नीनामुन्मूलनशीलानां विपदां पदानि स्थानानि । 'पदं व्यवसितत्राणस्थान-
लक्षमाङ्गिवस्तुषु' इत्यमरः । न केवलं जयघातिनः किंत्वनर्थकारिणश्चेत्यर्थः । धृत-
राष्ट्रोऽपि दुर्जनविधेयत्वाद्दिनङ्घ्रयतीति भावः ॥ १४ ॥

एवं शत्रोरनर्थं सूचयित्वा राज्ञोऽर्थसिद्धिं सूचयति—

पथश्च्युतायां समितौ रिपूणां धर्म्यां दधानेन धुरं चिराय ।

त्वया विपत्स्वप्यविपत्तिरम्यमाविष्कृतं प्रेम परं गुणेषु ॥ १५ ॥

पथ इति ॥ रिपूणां समितौ सभायाम् । 'सभासमितिसंसदः' इत्यमरः ।
पथश्च्युतायां मार्गाद्भ्रष्टायाम् । दुरात्मनो दुःशासनस्य स्त्रीग्रहणसाहसमङ्गीकृत-
वत्यामित्यर्थः । चिराय धर्म्यां धर्मादनपेताम् । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति
यत्प्रत्ययः । धुरं भारं दधानेन । कृच्छ्रेष्वपि धर्मादचलतेत्यर्थः । त्वया विप-
त्स्वपि । अविपत्त्यविनाश्यत एव रम्यं गुणेषु शान्त्यादिषु विषये परमुत्कृष्टं
प्रेमाविष्कृतं प्रकटीकृतम् । दुःसहमपि सोढवता त्वया साधु कृतमिति भावः ॥ १५ ॥

विधाय विध्वंसमनात्मनीनं शमैकवृत्तेर्भवतश्छलेन ।

प्रकाशितत्वन्मतिशीलसाराः कृतोपकारा इव विद्विषस्ते ॥ १६ ॥

विधायेति ॥ किंच, शम एवैका मुख्या वृत्तिर्यस्य तस्यापरोपतापिनो भव-
तश्छलेन कपटेन । आत्मने हित आत्मनीनः, स न भवतीत्यनात्मनीनः ।
स्वस्यैवानर्थहेतुरित्यर्थः । तम् । 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् स्वः' इति स्वप्रत्ययः ।
विध्वंसमपकारं विधाय कृत्वा । प्रकाशितः प्रख्यापितस्त्वन्मतिशीलयोस्तव
प्रज्ञासद्वृत्तयोः सारः प्रकर्षो यैस्ते तथोक्ताः । ते तव विद्विषः कृतोपकारा
इवोपकृतवन्त इव । अपकारोऽप्युपकारायैव संवृत्तः । यदेषां दौर्जन्यं युष्मत्सौ-
जन्यं च जगति सुव्यक्तमासीदित्यर्थः । विद्यमानस्यापि सुजनस्य चन्दनदारुण इव
गुणाः परिभव इव प्रचुरीभवन्तीति भावः ॥ १६ ॥

अथ प्रयोजनान्तरमाह—

लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रवलैर्विपक्षः ।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतत्रा हि रणे जयश्रीः ॥ १७ ॥

लभ्येति ॥ तव । त्वयेत्यर्थः । 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी । धरित्री विक्रमेण लभ्या प्राप्तव्या । न च सुलभ्या तं विनेत्याह—विपक्षश्च शत्रुरपि । वीर्यं शौर्यमस्त्राप्याग्नेयादीनि बलानि सैन्यानि तैर्ज्यायान् प्रशस्यतरः । अधिकतर इति यावत् । ज्येष्ठस्य 'ज्यादादीयसः' इति ज्यादेशः । अतः प्रकर्षाया-धिक्याय विधिरूपायो विधेयः कर्तव्यः । कुतः । हि यस्मात् । रणे जयश्रीः प्रकर्षतत्रा प्रकर्षप्रधाना । प्रकर्षायत्तेत्यर्थः । 'तत्र प्रधाने सिद्धान्ते' इत्यमरः । बलिन एव जयः, न तु दुर्बलस्येति भावः ॥ १७ ॥

अथ 'त्रिः-' इत्यादिना श्लोकचतुष्टयेन विपक्षज्यायस्त्वं वर्णयति—

त्रिःसप्तकृत्वो जगतीपतीनां हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्न्यः ।
वीर्यावधूतः स्म तदा विवेद प्रकर्षमाधारवशं गुणानाम् ॥ १८ ॥

त्रिःसप्तेति ॥ त्रिरावृत्तान्सप्तवारान् त्रिःसप्तकृत्वः । एकविंशतिकृत्व इत्यर्थः । त्रिःसप्तशब्दयोः सुप्सुपेति समासः । 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' इति कृत्वसुच्प्रत्ययः । जगतीपतीनां महीपतीनां हन्ता नाशको गुरुरस्त्रवेदोप-देष्टा सः । प्रसिद्ध इत्यर्थः । अत एव यच्छब्दानपेक्षत्वम् । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते' इति । जमद-ग्नेरप्रत्यं पुमान् जामदग्न्यः । 'गर्गादिभ्यो-यञ्' इति यञ्प्रत्ययः । यस्य भीष्मस्य वीर्यावधूतो विक्रमाभिभूतः । अम्बिकास्वयंवर इत्यर्थः । तदा भङ्गप्राप्तिसमये गुणानां शौर्यादीनां प्रकर्षमतिशयमाधारवशमाश्रयाधीनं विवेद जज्ञे स्म । स्वविद्यायाः स्वशिष्ये भीष्मे स्वस्मादपि प्रकर्षाधानदर्शनादिति भावः । 'स्म पाद-पूरणे भूतेऽर्थे च' इति विश्वः ॥ १८ ॥

यस्मिन्ननैश्वर्यकृतव्यलीकः पराभवं प्राप्त इवान्तकोऽपि ।
धुन्वन्धनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवणं स भीष्मः ॥ १९ ॥

यस्मिन्निति ॥ यस्मिन् भीष्मे विषये । अनीश्वरस्य भावोऽनैश्वर्यमस्वाम-र्थम् । 'नजः शुचीश्वरक्षेत्रजकुशलनिपुणानाम्' इति विकल्पान्नजः पूर्वपदवृद्ध्य-भावः । तेन कृतव्यलीको जनितवैलक्ष्यः । 'दुःखे वैलक्ष्ये व्यलीकम्' इति यादवः । अन्तकोऽपि यमोऽपि पराभवं प्राप्त इव । भीष्मस्येच्छामरणत्वाद्-न्तकोऽपि पराजित इवास्ते, किमुतान्य इति भावः । स भीष्मो रणे धनुर्धुन्वन् कम्पयन् कस्य मनो भयैकप्रवणं भय एकप्रवणमेकोन्मुखम् । शिवभागवतवत् समासः । न कुर्यात् । सर्वस्यापि मनसि भयं कुर्यादेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

सृजन्तमाजाविषुसंहतीर्वः सहेत कोपज्वलितं गुरुं कः ।
परिस्फुरल्लोलशिखाग्रजिह्वं जगज्जिघत्सन्तमिवान्तवह्निम् ॥ २० ॥

सृजन्तमिति ॥ आजौ रण इषुसंहतीर्बाणसङ्घान् सृजन्तं वर्षन्तं कोपज्व-लितमत एव परिस्फुरन्त्यो लोलाश्च शिखाग्राण्येव जिह्वा यस्य तं तथोक्तं ।

१ 'परिभ्रमत्' इति पाठः.

जगत् लोकं जिघ्रत्सन्तमत्तुमिच्छन्तम् । अदेः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः । 'लुइसनो-
र्धस्लु' इति घस्लुदेशः । अन्तवह्निं कालाग्निमिव स्थितं गुरुं द्रोणं वो युष्माकं
मध्ये कः सहेत सोढुं शक्यात् । न कोऽपीत्यर्थः । 'शक्ति लिङ् च' इति
शक्यार्थे लिङ् ॥ २० ॥

निरीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम् ।

असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु जायेत मृत्योरपि पक्षपातः ॥ २१ ॥

निरीक्ष्येति ॥ संरम्भेण क्रोधेन निरस्तं त्याजितं धैर्यं निर्विकारचित्तत्वं येन
तं तथोक्तम् । आटोपेनैव परधैर्यापहारिणमित्यर्थः । आराधितजामदग्न्यं शुश्रू-
षितभार्गवम् । जामदग्न्यादधिगतास्त्रहस्यमित्यर्थः । राधेयं राधासुतं कर्णम् ।
'स्त्रीभ्यो ढक्' । निरीक्ष्य मृत्योरप्यसंस्तुतेष्वपरिचितेषु । 'संस्तवः स्यात्परि-
चयः' इत्यमरः । भयेषु प्रसभं पक्षपातः परिचयो जायेत । मृत्युरप्यस्माद्धि-
भीयात्, किमुतान्य इति भावः । संभावनायां लिङ् । अत्र जनिक्रियापेक्षया
समानकर्तृकत्वाभावेऽपि पक्षपातक्रियापेक्षया तत्संभवान्निरीक्ष्येति ल्यङ्निर्देशः
समर्थनीयः । 'प्रधानोपसर्जनभावस्वप्रयोजकः' इति व्यक्तिविवेककारः । अत्र
भयसंबन्धरहितस्य मृत्योर्भयसंबन्धाभिधानादसंबन्धे संबन्धरूपातिशयोक्ति-
रलङ्कारः ॥ २१ ॥

अथानन्तरं करणीयमागमनप्रयोजनं च युग्मेनाह—

यया समासादितसाधनेन सुदुश्चरामाचरता तपस्याम् ।

एते दुरापं समवाप्य वीर्यमुन्मूलितारः कपिकेतनेन ॥ २२ ॥

ययेति ॥ यया विद्यया करणेन सुदुश्चरामतिदुष्करां तपस्यां तपश्चर्याम् ।
'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः' इति क्यङ् । 'अ प्रत्ययात्' इति स्त्रियामप्र-
त्ययः । आचरता । पशुपतिं प्रति तपः कुर्वतेत्यर्थः । अत एव समासादितं
प्राप्तं साधनं पाशुपतास्त्ररूपं येन तेन । कपिर्हनुमान् केतनं चिह्नं यस्य तेन ।
अर्जुनेनेत्यर्थः । दुरापमन्यस्य दुर्लभं वीर्यं तेजः समवाप्य । एते पूर्वोक्ता
भीष्मादय उन्मूलितार उन्मूलयिष्यन्ते । उन्मूलयतेर्ष्यन्तात् कर्मणि ल्युट् ।
अत्र चिष्वदिडागमेऽपि तस्य 'असिद्धवदत्राभात्' इत्यसिद्धत्वात् 'णेरनिटि' इति
णिलोपः । तन्निमित्तस्यैव 'अनिटि' इति निषेधात् । उक्तं च—'चिष्वद्वृद्धिर्युक्च
हन्तेश्च घत्वं दीर्घश्चोक्तो यो मितं वा चिणीति' । इद् चासिद्धस्तेन मे लुप्यते
णिर्नित्यश्चायं वह्निमित्तो विघाती ॥' इति ॥ २२ ॥

महत्त्वयोगाय महामहिम्नामाराधनीं तां नृप देवतानाम् ।

दातुं प्रदानोचित भूरिधाम्नीमुपागतः सिद्धिमिवास्मि विद्याम् २३

महत्त्वेति ॥ हे नृप, महत्त्वयोगाय प्रकर्षलाभाय महामहिम्नां महानुभा-
वानां देवतानामिन्द्रादीनाम् । आराध्यतेऽनयेत्याराधनी ताम् । प्रसादयित्री-
मित्यर्थः । करणे ल्युट् । ङीप् । भूरिधाम्नीं महाप्रभावाम् । 'धाम देशे गृहे
रश्मौ स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति विश्वः । 'अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्' इति
वा ङीप् । तां विद्यामिन्द्रमन्त्ररूपां सिद्धिं साक्षात्कार्यसिद्धिमिवेति विद्याया
अमोघत्वोक्तिः । हे प्रदानोचित दानपात्रभूत । फलभोक्तृत्वादस्य पात्रत्वोक्तिः ।
दातुमुपागतोऽस्मि ॥ २३ ॥

इत्युक्तवन्तं ब्रज साधयेति प्रमाणयन् वाक्यमजातशत्रोः ।

प्रसेदिवांसं तमुपाससाद वसन्निवान्ते विनयेन जिष्णुः ॥ २४ ॥

इतीति ॥ इत्युक्तवन्तं प्रसेदिवांसं प्रसन्नम् । 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति कसुः । तं मुनिं जिष्णुर्जयनशीलोऽर्जुनः । 'गलाजिस्थश्च-' इति ग्लुप्रत्ययः । ब्रज साधयानुतिष्ठ । इत्येवंरूपम् । अजातशत्रोर्धर्मराजस्य । स्वयमविद्वेषण-शीलत्वादियं संज्ञा । वाक्यं प्रमाणयन् । तदादिष्टः सन्नित्यर्थः । अन्ते वसन् छात्र इव । 'छात्रान्तेवासिनौ शिष्ये' इत्यमरः । विनयेनानौद्धत्येन । उपाससाद समीपं प्राप ॥ २४ ॥

निर्याय विद्याथ दिनादिरम्याद्विम्बादिवार्कस्य मुखान्महर्षेः ।

पार्थाननं वह्निकणावदाता दीप्तिः स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे ॥ २५ ॥

निर्यायेति ॥ अथ वह्निकणावदाता स्फुलिङ्गवदुज्ज्वला । देवतासान्निध्या-दिति भावः । विद्येन्द्रमन्नरूपां । दिनादिरम्यादर्कस्य प्रभातभास्करस्य विम्बा-दिव महर्षेर्व्यासस्य मुखान्निर्याय निर्गत्य । समासेऽनन्पूर्वे क्त्वो ल्यप् । दीप्ति-रर्कदीधितिः । स्फुरद्विकसत् पद्ममिव । पार्थाननमर्जुनस्य मुखमभिपेदे प्रविष्टा ॥ २५ ॥

योगं च तं योग्यतमाय तस्मै तपःप्रभावाद्विततार सद्यः ।

येनास्य तत्त्वेषु कृतेऽवभासे समुन्मिमीलेव चिराय चक्षुः ॥ २६ ॥

योगं चेति ॥ योग्यतमायार्हतमाय तस्मै पार्थाय तं वक्ष्यमाणमहिमानं योगं ध्यानविधिं च । 'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इत्यमरः । तपः-प्रभावात् सद्यो विततार ददौ । चिरकालग्राह्यमपीति भावः । येन योगेन तत्त्वेषु प्रकृतिमहदादिषु । तथा च,—'मूलप्रकृतिर्महानहङ्कारो मनश्च पञ्च तन्मा-त्राणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानीति चतुर्विंशति-तत्त्वानि' तत्रावभासे साक्षात्कारे कृते सति, अस्यार्जुनस्य चक्षुरक्षि चिराय समुन्मिमीलेवोन्मिषितमिवेत्युत्प्रेक्षा । तदा तस्य कोऽपि महानखिलाज्ञानभङ्ग-नस्तत्त्वावभासश्चिरादन्धस्य दृष्टिलाभ इवाभवदिति भावः ॥ २६ ॥

आकारमाशंसितभूरिलाभं दधानमन्तःकरणानुरूपम् ।

नियोजयिष्यन् विजयोदये तं तपःसमाधौ मुनिरित्युवाच ॥ २७ ॥

आकारमिति ॥ आशंसित आख्यातो भूरिलाभोऽनेकश्रेयःप्राप्तिर्येन तं तथो-क्तम् । महाभाग्यसूचकमित्यर्थः । अन्तःकरणशब्देन तद्वृत्तिरुत्साहो लक्ष्यते । तदनु रूपं तदनुकूलम् । उत्साहानुगुणव्यापारक्षममित्यर्थः । आकारं मूर्तिं दधानं तमर्जुनं मुनिर्विजयोदये विजयफलके तपःसमाधौ तपोनियमे । 'समाधि-नियमे ध्याने नीवाके च समर्थने' इति विश्वः । नियोजयिष्यन् । नियोजयि-तुमिच्छन्नित्यर्थः । 'लृट् शेषे च' इति लृट् । 'लृटः सद्वा' इति सप्तम्ययः । इति वक्ष्यमाणमुवाच ॥ २७ ॥

अनेन योगेन विवृद्धतेजा निजां परस्मै पदवीमयच्छन् ।

समाचराचारमुपात्तशस्त्रो जपोपवासाभिषवैर्मुनीनाम् ॥ २८ ॥

अनेनेति ॥ अनेन स्वोपदिष्टेन योगेन विवृद्धतेजा निजां पदवीं परस्मा
अयच्छन् । परस्य प्रवेशमयच्छन्नित्यर्थः । उपात्तशस्त्रो गृहीतायुधः सन् ।
जपोपवासाभिषवैः स्वाध्यायानशनस्नानैर्मुनीनामाचारं समाचरानुतिष्ठ २८
क्षेत्रविशेषे तपःसिद्धिरित्याशयेन तं निर्दर्शयन्नाह—

करिष्यसे यत्र सुदुश्चराणि प्रसत्तये गोत्रभिदस्तपांसि ।

शिलोच्चयं चारुशिलोच्चयं तमेष क्षणान्नेष्यति गुह्यकस्त्वाम् ॥ २९ ॥

करिष्यस इति ॥ यत्र शिलोच्चये गोत्रभिद इन्द्रस्य प्रसत्तये प्रसादाय
सुदुश्चराणि तपांसि करिष्यसे । चारुशिलोच्चयं रम्यशिखरं तं शिलोच्चयं
गिरिमिन्द्रकीलरूपम् । ‘अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः’ इत्यमरः ।
त्वामेष गुह्यको यक्षः । अनन्तरमेवास्य पुरःप्रादुर्भावादेश इति निर्देशः ।
क्षणान्नेष्यति प्रापयिष्यति ॥ २९ ॥

इति ब्रुवाणेन महेन्द्रसूनुं महर्षिणा तेन तिरोबभूवे ।

तं राजराजानुचरोऽस्य साक्षात्प्रदेशमादेशमिवाधितष्टौ ॥ ३० ॥

इतीति ॥ इतीत्थं महेन्द्रसूनुमर्जुनं ब्रुवाणेनोक्तवता । ‘वर्तमानसामीप्ये’
इति भूते वर्तमानवत्प्रत्ययस्तिरोधानस्याविलम्बसूचनार्थः । तेन महर्षिणा
व्यासेन तिरोबभूवेऽन्तर्दधे । भावे लिट् । राजराजो यक्षराजः । ‘राजा प्रभौ
नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयोः’ इति विश्वः । तस्यानुचरः पूर्वोक्तयक्षोऽस्य मुने-
रादेशं साक्षादिव तं प्रदेशमर्जुनाधिष्ठितस्थानमधितष्टौ । प्राप्त इत्यर्थः ।
‘स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य’ इति षत्वम् ॥ ३० ॥

कृतानतिव्याहृतसान्त्ववादे जातस्पृहः पुण्यजनः स जिष्णौ ।

इयाय सख्याविव संप्रसादं विश्वासयत्याशु सतां हि योगः ॥ ३१ ॥

कृतेति ॥ स पुण्यजनो यक्षः कृतानतिः कृतप्रणामः सन् व्याहृतसा-
न्त्ववादे उक्तप्रियवचने । ‘व्याहार उक्तिर्लपितम्’ इत्यमरः । जिष्णावर्जुने जात-
स्पृहो जातानुरागः सन् । सख्यौ सुहृदीव । ‘अथ मित्रं सखा सुहृत्’ इत्यमरः ।
संप्रसादं विश्रम्भमियाय प्राप । तथा हि—सतां साधूनां योगः संगतिराशु
विश्वासयति विश्वासं जनयति हि । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तर-
न्यासः ॥ ३१ ॥

अथोष्णभासेव सुमेरुकुञ्जान् विहीयमानानुदयाय तेन ।

बृहद्दयुतीन् दुःखकृतात्मलाभं तमः शनैः पाण्डुसुतान् प्रपेदे ॥ ३२ ॥

अथेति ॥ अथोष्णभासा सूर्येणोदयाय पुनरुद्गमाय विहीयमानान् त्यज्य-
मानानिति तमःप्राप्तिकारणोक्तिः । बृहद्दयुतीन् । सौवर्णत्वादीप्यमानानित्यर्थः ।
इति तमसः संकोचकारणोक्तिः । सुमेरुकुञ्जानिव । अत्र ‘सुमेरु’ग्रहणं कुञ्जानां

१ ‘समृद्धतेजाः’ इति पाठः. २ ‘सुदुष्कराणि’ इति पाठः. ३ ‘नरेन्द्रसूनुम्’ इति
पाठः. ४ ‘सद्यः’ इति पाठः.

सौवर्णत्वद्योतनार्थम् । तेनार्जुनेनोदयाय श्रेयसे विहीयमानान् बृहद्बुतीन-
नेकबुद्धिप्रकाशान् । पूर्ववद्विशेषणद्वयप्रयोजनमनुसंधेयम् । पाण्डुसुतान् ।
चतुर इति शेषः । दुःखेन कृच्छ्रेण कृत उपपादित आत्मलाभ उत्पत्तिर्यस्य
तत्तथोक्तम् । तेषां विवेकित्वात् कथंचिल्लब्धोदयमित्यर्थः । तमः शोकोऽन्धकारश्च ।
'तमोऽन्धकारे स्वर्भानौ तमः शोके गुणान्तरे' इत्युभयत्रापि विश्वः । शनैर्मन्दं
प्रपेदे । तेषां विवेकित्वाद्गीतभीतमिवेति भावः । अत्र 'तमः'शब्दस्य श्लिष्टत्वा-
च्छेषानुप्राणितेयमुपमा ॥ ३२ ॥

असंशयालोचितकार्यनुन्नः प्रेम्णा समानीय विभज्यमानः ।

तुल्याद्विभागादिव तन्मनोभिर्दुःखातिभारोऽपि लघुः स मेने-३३

असंशयेति ॥ असंशयमसंदिग्धं यथा तथालोचितं विवेचितं यत् कार्यं तेन
नुन्नो निरस्त इति लघुत्वहेतुक्तिः । 'नुदविदोन्दत्राग्राहीभ्योऽन्यतरस्याम्' इति
निष्ठानत्वम् । कार्यगौरवमालोच्य निरस्त इत्यर्थः । तथापि प्रेम्णा भ्रातृवात्सल्येन
कर्त्रा समानीय पुनराकृष्य विभज्यमानः समशोकभागी क्रियमाणः । तुल्येन
प्रेम्णा तुल्यदुःखत्वं भवतीति भावः । स पूर्वोक्तो दुःखमेवातिभारोऽपि । अति-
भारभूतमपि दुःखमित्यर्थः । तन्मनोभिस्तेषां चतुर्णां पार्थानां मनोभिस्तुल्या-
द्विभागादिव । पूर्वोक्तात्प्रेमकृतात् समविभागादिवेत्यर्थः । वस्तुतस्तु विवेकादेवेति
भावः । पुनर्विभागग्रहणं तस्य हेतुत्वोत्प्रेक्षार्थमनुवादाददोषः । लघुर्मने मतः ।
ग्रथैकोऽनेकधा विभज्यं बहुभिरुह्यमानो महानपि भारो लघुर्मन्यते तद्वदित्यर्थः ३३

अथैवं प्रेम्णाऽऽकृष्यमाणमपि शोकं विवेको निर्जिगायेत्याह—

धैर्येण विश्वास्यतया महर्षेस्तीव्रादरातिप्रभवाच्च मन्योः ।

वीर्यं च विद्वत्सु सुते मघोनः स तेषु न स्थानमवाप शोकः ॥३४॥

धैर्येणेति ॥ धैर्येण तेषां निसर्गतो निर्विकारचित्तत्वेन तथा महर्षेर्व्यासस्य ।
प्रवर्तकस्येति शेषः । विश्वास्यतया । श्रद्धेयवचनत्वेनेत्यर्थः । अरातिप्रभवा-
दरातिहेतुकात् । तीव्राहुःसहान्मन्योः क्रोधाद्धेतोस्तथार्जुनप्रभावपरिज्ञानाच्चेति ।
हेत्वन्तरं विशेषणमुखेनाह—मघोनः सुतेऽर्जुने वीर्यं च । 'न लोक-' इत्या-
दिना षष्ठीप्रतिषेधः । विद्वत्सु । ज्ञातवत्स्विति यावत् । 'विदेः शतुर्वसुः'
इति वैकल्पिको वस्वादेशः । तेषु पार्थेषु स शोकः स्थानं स्थितिं नावाप
न प्राप ॥ ३४ ॥

तान्भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि दूरं विहाय यामानिव वासरस्य ।

एकौघभूतं तदशर्म कृष्णां विभावरीं ध्वान्तमिव प्रपेदे ॥ ३५ ॥

तानिति ॥ तत् पार्थास्त्यक्तवत् । शर्म सुखम् । 'शर्मशातसुखानि च' इत्य-
मरः । तद्विरुद्धमशर्म दुःखम् । 'नञ्' इति नञ्समासः । भूरिधाम्नोऽतितेज-
स्विन इति हानिहेतुत्वोक्तिः । चतुरस्तान् पार्थानपि वासरस्य भूरिधाम्नश्चतुरो
यामान् प्रहरानिव । दूरं विहाय त्यक्त्वा । एकौघभूतमेकराशिभूतं सत् ।
'श्रेण्यादयः कृतादिभिः' इत्यर्थे कर्मधारयः । 'श्रेण्यादिराकृतिगणः' इति शाकटा-

यनः । कृष्णां विभावरीं कृष्णपक्षरात्रिं ध्वान्तमिव । कृष्णां द्रौपदीं प्रपेदे प्राप ॥ ३५ ॥

तुषारलेखाकुलितोत्पलाभे पर्यश्रुणी मङ्गलभङ्गभीरुः ।

अगूढभावापि विलोकने सा न लोचने मीलयितुं विषेहे ॥ ३६ ॥

तुषारेति ॥ सा द्रौपदी विलोकनेऽर्जुनावलोकने । अगूढभावाऽगूढाभि-
प्रायापि । स्फुटाभिलाषिणीति यावत् । 'भावो लीलाक्रियाचेष्टाभूत्यभिप्रायजन्तुषु'
इति वैजयन्ती । मङ्गलभङ्गभीरुर्मङ्गलहानेभीता सती । पर्यश्रुणी परिगता-
श्रुके । बाष्पावृते इत्यर्थः । अत एव तुषारलेखाकुलितोत्पलाभे हिमबन्धुस-
हितेन्दौवरसंनिभे इत्युपमालङ्कारः । लोचने मीलयितुं न विषेहे न शशाक ।
अश्रुणोर्दृष्ट्यावरकत्वेऽपि तन्निपातस्यामङ्गलत्वात्तन्निर्वर्तकं निमीलनं सा न चका-
रेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

अकृत्रिमप्रेमरसाभिरामं रामार्पितं दृष्टिविलोभि दृष्टम् ।

मनःप्रसादाञ्जलिना निकामं जग्राह पाथेयमिवेन्द्रसूनुः ॥ ३७ ॥

अकृत्रिमेति ॥ इन्द्रसूनुरर्जुनः । क्रियया निर्वृत्तः कृत्रिमः । 'द्वितः क्रिः' इति
क्रिः । 'क्रेर्मन्नित्यम्' इति मम्प्रत्ययः । तद्विरुद्धम् । प्रेमैव रसः । अकृत्रिमेण
प्रेमरसेनाभिरामम् । अन्यत्र, प्रेमरसेन मधुरादिना चाभिरामम् । रामया
रमण्यार्पितम् । दृष्टिं विलोभयतीति दृष्टिविलोभि । दृष्टिप्रियमित्यर्थः । दृष्टं
दर्शनम् । नपुंसके भावे क्तः । मनःप्रसादः । प्रसन्नं मन इत्यर्थः । सोऽञ्जलिरि-
वेत्युपमितसमासः । तेन मनःप्रसादाञ्जलिना । पथि साधु पाथेयं शम्बल-
मिव । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्द्वय' । निकाममतिशयेन जग्राह । रामार्पितं
पाथेयं पथि क्षेमाय भवतीत्यागमः ॥ ३७ ॥

धैर्यावसादेन हतप्रसादा वन्यद्विपेनेव निदाघसिन्धुः ।

निरुद्धवाष्पोदयसन्नकण्ठमुवाच कृच्छ्रादिति राजपुत्री ॥ ३८ ॥

धैर्येति ॥ वन्यद्विपेन । 'वन्य'ग्रहणमुच्छृङ्खलत्वद्योतनार्थम् । निदाघसिन्धु-
र्ग्रीष्मनदीव । 'निदाघ'ग्रहणं दौर्बल्यद्योतनार्थम् । धैर्यावसादेन धैर्यभ्रंशेन कर्त्रा
हतप्रसादा हतनैर्मल्या । क्षोभं गमितेत्यर्थः । राजपुत्री क्षत्रियसुता द्रौपदी ।
अतः क्षात्रयुक्तमेव वक्ष्यतीति भावः । निरुद्धवाष्पोदयं संरुद्धरोदनं सन्नकण्ठं
हीनस्वरम् । अथ तयोरुभयोः कृतबहुव्रीह्योः क्रियाविशेषणयोर्विशेषणसमासः ।
कृच्छ्रात् कथंचिदिति वक्ष्यमाणमुवाच ॥ ३८ ॥

मग्नां द्विषच्छन्नानि पङ्कभूते संभावनां भूतिमिवोद्धरिष्यन् ।

आधिद्विषामा तपसां प्रसिद्धेरस्मद्विना मा भृशमुन्मनीभूः ॥ ३९ ॥

मग्नामिति ॥ पङ्कभूते पङ्कोपमिते । 'भूतं क्षमादौ पिशाचादौ न्याय्ये सत्यो-
पमानयोः' इति विश्वः । द्विषच्छन्नानि शत्रुकपटे मग्नाम् । दुरुद्धरामित्यर्थः ।
संभावनां योग्यताम् । गौरवमिति यावत् । भूतिं संपदमिव । 'भूतिर्भस्मनि
संपदि' इत्यमरः । उद्धरिष्यन् । उद्धारकस्त्वमिति शेषः । आधिद्विषां दुःख-

च्छिदां तपसामा प्रसिद्धेः सम्यक्सिद्धिपर्यन्तम् । अस्सद्धिना । अस्माभिर्वि-
नेत्यर्थः । 'पृथग्विना-' इत्यादिना विकल्पात् पञ्चमी । भृशं मोन्मनीभूः । अस्स-
द्विरहादुर्मना मा भूरित्यर्थः । दौर्मनस्यस्य तपःपरिपन्थित्वादिति भावः । 'माडि-'
इत्याशीरर्थे लुङ् । 'न माड्योगे' इत्यङ्गमप्रतिषेधः । अनुन्मना उन्मनाः संप-
द्यमान उन्मनी । अभूततद्भावे च्विः । 'अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च' इति
सकारलोपः । 'अस्य च्वौ' इतीकारः ॥ ३९ ॥

अथानौत्सुक्यदाढ्यार्थं तस्य सर्वार्थसिद्धिनिदानत्वमाह—

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्गमुपैति सिद्धिः ॥ ४० ॥

यश इति ॥ यशोऽधिगन्तुम् । कीर्तिं लब्धुमित्यर्थः । सुखस्य लिप्सया
लब्धुमिच्छया वा मनुष्यसंख्यां मनुष्यगणनामतिवर्तितुमतिक्रमितुं वा । अमा-
नुषं कर्म कर्तुं वेत्यर्थः । अभियोगभाजामभिनवेशवतां निरुत्सुकानामनुत्सु-
कानाम् । अदुर्मनायमानानामित्यर्थः । सिद्धिः पूर्वोक्तं यशः सुखाद्यर्थसिद्धिश्च ।
समुत्सुकेवानुरक्तकान्तेव । अङ्गमुत्सङ्गमन्तिकं चोपैति । तस्मादस्माद्विरह-
दुःखमातपःसिद्धेः सोढव्यमिति भावः ॥ ४० ॥

अथास्य मन्यूद्दीपनद्वारा तपःप्रवृत्तिं प्रथयितुमरिनिकारं तावच्चतुर्भिरुद्घाटयति-

लोकं विधात्रा विहितस्य गोमुं क्षत्रस्य मुष्णन्वसु जैत्रमोजः ।
तेजस्विताया विजयैकवृत्तेर्निघ्नन्प्रियं प्राणमिवाभिमानम् ॥ ४१ ॥

लोकमिति ॥ विधात्रा ब्रह्मणा लोकं गोमुं विहितस्य सृष्टस्य क्षत्रस्य क्षत्रि-
यजातेः संबन्धि । जयनशीलं जेतृ, तदेव जैत्रम् । जेतृशब्दात्तन्नन्तात् 'प्रज्ञा-
दिभ्यश्च' इति स्वार्थेऽणप्रत्ययः । ओजो बलं दीप्तिर्वा । 'ओनो बले च दीप्तौ च'
इति विश्वः । तदेव वसु धनमिति रूपकालङ्कारः । मुष्णन् अपहरन् । अरिनि-
राकृतस्य कुतः क्षात्रं तेज इति भावः । किंच, विजयैकवृत्तेर्विजयैकजीवितायाः ।
'क्षत्रियस्य विजितव्यम्' इति स्मरणादिति भावः । 'वृत्तिर्वर्तनजीवने' इत्यमरः ।
तेजस्वितायाः । तेजस्विनामित्यर्थः । तेजःप्राधान्यद्योतनार्थं भावप्रधानो
निर्देशः । प्रियं प्राणमिव । प्राणसममित्यर्थः । अभिमानमहङ्कारं निघ्नन्
खण्डयन् । तेजस्विनां प्राणहानिप्राया मानहानिरिति भावः ॥ ४१ ॥

अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणाल्येष्वपि न त्याज्यमित्याह—

व्रीडानतैराप्तजनोपनीतः संशय्य कृच्छ्रेण नृपैः प्रपन्नः ।
वितानभूतं विततं पृथिव्यां यशः समूहन्निव दिग्विकीर्णम् ॥४२॥

व्रीडेति ॥ पुनश्च, आप्तजनेनोपनीतः साधितः । प्रापित इत्यर्थः । तथापि
संशय्य संदिह्य । असंभावितबुद्ध्येति भावः । व्रीडानतैः । जुगुप्सितवृत्तान्त-
श्रवणादिति भावः । नृपैर्देशान्तरस्थैः कृच्छ्रेण प्रपन्नः । आसोक्तत्वात् कथंचि-
द्विश्वस्त इत्यर्थः । यः शृण्वतामपि दुःसहः किमुतानुभवतामिति भावः । इत्येषा
पूर्वेषां व्याख्या । अन्यथा च व्याख्यायते—आप्तजनोपनीतो ज्ञातिकृतः
संशय्य कथमिदमन्याय्यमुपेक्ष्यमिति विचार्य व्रीडानतैः । जुगुप्सितकर्मदर्श-
नादिति भावः । नृपैस्तत्रैः कृच्छ्रेण प्रपन्नोऽङ्गीकृतः । गोत्रकलहेषु मध्यस्थै-

रुदासितव्यमिति बुद्धोपेक्षित इत्यर्थः । पक्षद्वयेऽपि प्रपन्न इत्यत्रासजनोपनीत-
न्वस्य पदार्थभूतस्य विशेषणगत्या हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलङ्कारः । पृथिव्यां
वितानभूतमुल्लोचोपमितम् । यद्वा,—वितानभूतं वितानसमम् । उल्लोचतुल्यमिति
यावत् । 'युक्ते क्षमादावृते भूतं प्राण्यतीते समं त्रिषु' इत्यमरः । 'अस्त्री वितानमु-
ल्लोचः' इत्यमरः । दिग्विकीर्णं दिगन्तलघ्नम् । वितानमपि दिगन्तलघ्नमिति
भावः । विततं प्रथितं यशः समूहन्निव संकोचयन्निवेत्युत्प्रेक्षा । अरातिपरि-
भूतस्य कुतः कीर्तिरिति भावः ॥ ४२ ॥

वीर्यावदानेषु कृतावमर्षस्तन्वन्नभूतामिव संप्रतीतिम् ।

कुर्वन्प्रयामक्षयमायतीनामर्कत्वपामह इवावशेषः ॥ ४३ ॥

वीर्येति ॥ पुनश्च, वीर्याण्येवावदानानि तेषु कृतावमर्षः कृतास्कन्दनः ।
पुराकृतपराक्रमजातान्यपि प्रमृजन्नित्यर्थः । 'अवदानं कर्म वृत्तम्' इत्यमरः । अत
एव संप्रतीतिं ख्यातिम् । 'प्रतीते प्रथितख्यातवित्तविज्ञातविश्रुताः' इत्यमरः ।
अभूतामविद्यमानामिवेत्युत्प्रेक्षा । सतोऽप्यसत्त्वमुत्प्रेक्ष्यते—तन्वन् कुर्वन् ।
पुनश्चाहोऽवशेषो दिनान्तोऽर्कत्वपामिवायतीनामुत्तरकालानां प्रयाम-
क्षयं दूर्ध्वनाशं कुर्वन्निति श्रौती पूर्णोपमा । अरिनिराकृतस्य कुतश्चिरावस्थान-
मिति भावः ॥ ४३ ॥

प्रसह्य योऽस्मासु परैः प्रयुक्तः स्मर्तुं न शक्यः किमुताधिकर्तुम् ।

नवीकरिष्यत्युपशुष्यदार्द्रः स त्वद्विना मे हृदयं निकारः ॥ ४४ ॥

प्रसह्येति ॥ पुनश्च, परैः शत्रुभिरस्मासु प्रसह्य प्रयुक्त आचरितो यो निकारः
परिभवः केशाकर्षणरूपः स्मर्तुं न शक्यः । अधिकर्तुमनुभवितुं किमुत ।
यस्य स्मरणमपि दुःसहम्, अनुभवस्तु दुःसह इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । स
निकारस्त्वद्विना त्वया विना । 'पृथग्विना—' इत्यादिना पञ्चमी । आर्द्रः सन्
कुतश्चिदभिभूतात् पुराणप्रहार इव । त्वद्विरहदुःखात्पुनर्नवीकरिष्यति । नवीभवि-
ष्यतीत्यर्थः । उपशुष्यत् । त्वया विना शुष्कमिति भावः । दुःखस्तम्भनं शोषप-
दार्थो मे हृदयं नवीकरिष्यत्यार्द्रीकरिष्यति । व्रणमिवेति भावः । दुःखितस्य
पुनर्दुःखोपचयः प्रशान्तप्रायमपि दुःखहेतुं पुनरुद्धाटयतीत्यर्थः । अत्र शोषादिवि-
शेषणसाम्याद्गणाद्यप्रस्तुतार्थप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ४४ ॥

पुनः प्रकारान्तरेण मन्युमुद्दीपयति 'प्राप्तः' इत्यादिभिस्त्रिभिः; तत्र वक्ष्यमाण-
प्रत्यभिज्ञानहेतुभिर्धनंजयं विशिनष्टि—

प्राप्तोऽभिमानव्यसनादसह्यं दन्तीव दन्तव्यसनाद्विकारम् ।

द्विपत्प्रतापान्तरितोरुतेजाः शरद्वनाकीर्ण इवादिरहः ॥ ४५ ॥

प्राप्त इति ॥ अभिमानस्य व्यसनाद्भ्रंशात् । 'व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे काम-
जकोपजे' इत्यमरः । दन्तव्यसनादन्तभङ्गादन्तीवासह्यं विकारं वैरूप्यं
प्राप्तः । अतो न प्रत्यभिज्ञायत इति भावः । एवमुत्तरत्राप्यनुसंधेयम् । पुनश्च,
द्विपत्प्रतापेन शत्रुतेजसाऽन्तरितं तिरस्कृतमुरु तेजः प्रतापो यस्य स तथोक्तः ।

१ 'कृताभिमर्शः' इति पाठः. २ 'वकुम्' इति पाठः. ३ 'प्रभाव' इति पाठः.

अत एव शरद्धनाकीर्णः शरन्मेघच्छन्नोऽह्ण आदिः प्रत्युष इव स्थितः । तद्-
देवाप्रत्यभिज्ञायमान इत्यर्थः । मध्याह्नस्तु मेघावरणेऽपि कथंचित्प्रत्यभिज्ञायत
एवेत्याशयेनोक्तम्—आदिरिति ॥ ४५ ॥

सत्रीडमन्दैरिव निष्क्रियत्वान्नात्यर्थमस्त्रैरवभासमानः ।

यशःक्षयक्षीणजलार्णवाभस्त्वमन्यमाकारमिवाभिपन्नः ॥ ४६ ॥

सत्रीडेति ॥ पुनश्च, निष्क्रियत्वादर्थक्रियाशून्यत्वात् सत्रीडमन्दैरिव
सत्रीडैरत एव मन्दैरपटुभिरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । ‘मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दाः’
इत्यमरः । अस्त्रैरत्यर्थं नावभासमानो न प्रकाशमानः । पूर्वं तु नैवमिति
भावः । किंतु यशःक्षयाद्धेतोः क्षीणजलो योऽर्णवस्तदाभस्तत्सदृशः । त्वम-
न्यमाकारमभिपन्नः प्राप्त इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा । तस्य क्षीणजलार्णवाभ इत्यु-
पमासंसृष्टिः ॥ ४६ ॥

दुःशासनामर्षरजोविकीर्णैरेभिर्विनाथैरिव भाग्यनाथैः ।

केशैः कदर्थीकृतवीर्यसारः कच्चित्स एवासि धनंजयस्त्वम् ॥ ४७ ॥

दुःशासनेति ॥ पुनश्च, दुःशासनस्य कर्तुरामर्ष आमर्षणमाकर्षणं स एव
रजो धूलिः । मालिन्यहेतुत्वादिति भावः । तेन विकीर्णैर्विक्षिप्तैरत एव विना-
थैरिव स्थितवतां युष्माकमसत्त्वप्रायत्वाद्दनाथैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा
कथमियं दुर्दशेति भावः । किंतु भाग्यनाथैर्देवमात्रशरणैः । अन्यथा स्वरूपमपि
लुप्येतेति भावः । एभिः परिदृश्यमानैः । असंयमितैरिति भावः । केशैः शिरो-
रुहैः कुत्सितोऽर्थो वस्तु कदर्थः । ‘अर्थोऽभिधेयैरेवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु’ इत्यमरः ।
‘कोः कत्तत्पुरुषेऽचि’ इति कुशब्दस्य कदादेशः । कदर्थीकृतौ गार्ह्यार्थीकृतौ
वीर्यसारौ शौर्यबले यस्य स तथोक्तः । इत्थं पूर्वविलक्षणस्त्वं स एव धनंज-
योऽसि कच्चित् । ‘कच्चित् कामप्रवेदने’ इत्यमरः । स एव चेत्त्वं नैवमस्मानुपे-
क्षस इति भावः ॥ ४७ ॥

अथाप्युपेक्षणे दोषमाह—

स क्षत्रियस्त्राणसहः सतां यस्तत्कार्मुकं कर्मसु यस्य शक्तिः ।

वहन् द्रयीं यद्यफलेऽर्थजाते करोत्यसंस्कारहतामिवोक्तिम् ॥४८॥

स इति ॥ क्षतात्रायंत इति क्षत्रं क्षत्रियकुलम् । ‘सुपि’ इति योगविभागा-
कप्रत्ययः । पृषोदरादित्वात् पूर्वपदस्यान्त्यलोपः । अथवा क्षदिति क्विबन्तोपपदात्
कप्रत्ययः । क्षत्रे जातः क्षत्रियः । ‘क्षत्राद्धः’ इति घप्रत्ययः । कर्मणे प्रभवतीति
कार्मुकम् । ‘कर्मण उक्त्वा’ इत्युक्त्वाप्रत्ययः । एवं स्थिते वाक्यार्थः कथ्यते—यः
सतां साधूनाम् । सहत इति सहः । पचाद्यच् । यस्त्राणस्य सहस्त्राणसहो रक्ष-
णक्षमः स एव क्षत्रियशब्दवाच्यः । तथा यस्य कार्मुकस्य कर्मसु रणक्रियासु
शक्तिः । अस्तीति शेषः । तदेव कार्मुकशब्दवाच्यम् । अत्रैवैतौ शब्दौ मुख्यौ ।
नान्यत्रेत्यर्थः । एवं स्थिते द्रयीं द्विविधामुक्तिम् । द्वाविमौ क्षत्रिय-कार्मुक-
शब्दावित्यर्थः । अफले पूर्वोक्तावयवार्थशून्ये, अर्थजाते । स्वाभिधेयसामान्य-
जातिमात्र इत्यर्थः । ‘जातं जात्योघजन्मसु’ इति विश्वः । वहन् वर्तयन् । असं-

१ ‘अस्त्रैः’ इति पाठः. २ ‘क्षयात्’ इति पाठः. ३ ‘अपि’ इति पाठः.

स्कारहतामव्युत्पत्तिदूषितामिव करोतीत्युत्प्रेक्षा । तस्मात्त्वमस्मद्रक्षणेनोक्त-
दोषादात्मानं मोचयस्वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

अथ त्वद्गुणा अपि नोजीवयेयुरित्याह—

वीतौजसः संनिधिमात्रशेषा भवत्कृतां भूतिर्मपेक्षमाणाः ।

समानदुःखा इव नस्त्वदीयाः सरूपतां पार्थ गुणा भजन्ते ॥४९॥

वीतेति ॥ हे पार्थ, वीतौजसो निष्प्रभाः संनिधिमात्रशेषाः सत्तामात्रा-
वशिष्टा भवत्कृतां भवता करिष्यमाणाम् । ‘आशंसायां भूतवच्च’ इति भूतव-
त्प्रत्ययः । भूतिमभ्युदयम् । अपेक्षमाणास्त्वदीया गुणाः समानदुःखाः
समदुःखभाज इव नोऽस्माकं सरूपतां वीतौजस्त्वादिसाधर्म्यं भजन्त इत्यु-
पमा । सा च समानदुःखा इवेत्युत्प्रेक्षया वीतौजस्त्वादिसंभावितयानुप्राणिते-
त्यनुसंधेयम् ॥ ४९ ॥

तथापि ममैव कोऽयं भार इत्यत आह—

आक्षिप्यमाणं रिपुभिः प्रमादान्नागैरिवालूनसटं मृगेन्द्रम् ।

त्वां धूरियं योग्यतयाधिरूढा दीप्त्या दिनश्रीरिव तिग्मरश्मिम् ५०

आक्षिप्येति ॥ प्रमादात् प्रज्ञाहीनत्वात् । न तु दौर्बल्यादिति भावः । रिपु-
भिराक्षिप्यमाणमभिक्षिप्यमाणमत एव प्रमादात् । नागैर्गजैः । ‘ग्रहेभाहिगजा
नागाः’ इति वैजयन्ती । आलूनसटमाक्षिप्तकेसरम् । ‘सटा जटाकेसरयोः’
इत्यमरः । मृगेन्द्रं सिंहमिव स्थितम् । त्वामियं धूः कार्यभारः । तिग्मरश्मि
सूर्यं दीप्त्या दिनश्रीरिव योग्यतया निर्वाहकतया । अधिरूढारूढवती ।
कर्तारि क्तः । त्वदधीनेत्यर्थः ॥ ५० ॥

पूर्वं निर्व्यवसायस्य ‘स क्षत्रियः’ (४८) इत्यादिना दोष उक्तः । संप्रति व्यव-
सायिनो गुणमाह—

करोति योऽशेषजनातिरिक्तां संभावनामर्थवतीं क्रियाभिः ।

संसत्सु जाते पुरुषाधिकारे न पूरणी तं समुपैति संख्या ॥ ५१ ॥

करोतीति ॥ यः पुमान् । अशेषजनादितरजनादतिरिक्तामधिकाम् । सर्वाति-
शायिनीमित्यर्थः । संभावनां योग्यतां क्रियाभिश्चरितैरर्थवतीं सफलां करोति
तं पुमांसं संसत्सु सभासु । ‘सभासमितिसंसदः’ इत्यमरः । पुरुषाधिकारे
योग्यपुरुषगणनाप्रस्तावे जाते सति । पूर्यतेऽनयेति पूरणी संख्या द्वित्वादि-
संख्या । न समुपैति न गच्छति । अद्वितीयो भवतीत्यर्थः । तस्मादसाधारण-
लाभाय त्वयापि महानुत्साह आस्थेय इति भावः ॥ ५१ ॥

अथ द्वाभ्यां सुलभविपक्षस्य प्रोषितस्यार्जुनस्य कर्तव्यमुपदिशति—

प्रियेषु यैः पार्थ विनोर्पपत्तेर्विचिन्त्यमानैः क्लममेति चेतः ।

तव प्रयातस्य जयाय तेषां क्रियादधानां मघवा विघातम् ॥ ५२ ॥

प्रियेष्विति ॥ हे पार्थ, प्रियेष्वस्मासु विषय उपपत्तेः कारणाद्विनैव
विचिन्त्यमानैरकस्मादेवाशङ्क्यमानैर्यैरघैश्चेतः क्लमं खेदमेति । जयाय प्रया-

१ ‘अवेक्ष्यमाणाः’ इति पाठः. २ ‘सामान्यदुःखाः’ इति पाठः. ३ ‘समन्तात्’ इति
पाठः. ४ ‘घमैरश्मिम्’ इति पाठः. ५ ‘सर्वजन’ इति पाठः. ६ ‘उपपत्त्या’ इति पाठः.

तस्य तव संबन्धिनां तेषामघानां व्यसनानाम् । 'दुःखैर्नोव्यसनेष्वघम्' इत्य-
मरः । मघवेन्द्रः । योऽस्माभिरुपास्यत इति भावः । विघातं निवारणं क्रियात्
करोतु । आशिषि लिङ् । तस्मादस्मच्चिन्तया न चेतः खेदयितव्यं जयार्थिना
त्वया । अन्यथा तदसंभवादिति भावः ॥ ५२ ॥

मा गाश्चिरायैकचरः प्रमादं वसन्नसंबाधशिवेऽपि देशे ।

मात्सर्यरागोपहतात्मनां हि स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि ॥५३॥

मा गा इति ॥ असंबाधोऽसंकटः । विजन इत्यर्थः । 'संकटं ना तु संबाधः'
इत्यमरः । शिवो निर्बाधः । द्वयोरन्यतरस्य विशेष्यत्वविवक्षायां विशेषणसमासः ।
अस्मिन्नसंबाधशिवेऽपि देशे चिराय चिरमेकश्चासौ चरश्चेत्येकचर एकाकी
वसन् प्रमादं दौर्बल्यं मा गाः । 'इणो गा लुङि' इति गादेशः । ननु निःस्पृ-
हस्य ममाकिंचित्करः प्रमाद इति वाच्यमित्याशङ्क्याह—मात्सर्येति । मत्सर एव
मात्सर्यं द्वेषो रागः स्नेहस्ताभ्यामुपहतात्मनां रागद्वेषदूषितस्वभावानां मान-
सानि मनांसि साधुषु सज्जनेष्वपि विषये स्खलन्ति विकुर्वते हि । अत्र
प्रमादनिषेधलब्धाप्रमादरूपकारणेनार्थप्राप्तिरूपकार्यस्य व्यतिरेककारणसमर्थना-
द्वैधर्म्येण कार्यकारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५३ ॥

उक्तार्थं निगमयति—

तदाशु कुर्वन्वचनं महर्षेर्मनोरथान्नः सफलीकुरुष्व ।

प्रत्यागतं त्वास्मि कृतार्थमेव स्तनोपपीडं परिरब्धुकामा ॥ ५४ ॥

तदिति ॥ तत् तस्मात्कारणात् । आशु शीघ्रं महर्षेर्वचनं कुर्वन् । तपस्य-
न्नित्यर्थः । नोऽस्माकं मनोरथान् सफलीकुरुष्व । अरिनिर्यातनेनास्मान्
प्रतिष्ठापयेत्यर्थः । प्रार्थनायां लोट् । किंच, कृतार्थं कृतकृत्यं प्रत्यागतमेव त्वा
त्वाम् । 'त्वामौ द्वितीयायाः' इति त्वादेशः । स्तनयोरुपपीड्य स्तनोपपीडम् ।
'सप्तम्यां चोपपीडरुधकर्षः' इति णमुल् । परिरब्धुं कामो यस्याः सा परिरब्धु-
कामाऽस्मि । आलिङ्गितुमिच्छामीत्यर्थः । 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः ।
प्राक्कार्यसिद्धेः प्रमदालिङ्गनमपि न प्रीतिदमिति भावः ॥ ५४ ॥

उदीरितां तामिति याज्ञसेन्या नवीकृतोद्गाहितविप्रकाराम् ।

आसाद्य वाचं स भृशं दिदीपे काष्ठामुदीचीमिव तिग्मरश्मिः ॥५५॥

उदीरितामिति ॥ सोऽर्जुन इतीत्थं यज्ञसेनस्यापत्येन स्त्रिया याज्ञसेन्या द्वौ-
पद्या । उदीरितामुक्ताम् । नवीकृतः पुनरुद्घाटनेन तथा प्रत्यायितोऽत एवो-
द्गाहितो मनसि निधापितश्च विप्रकारः परिभवो यया सा तां वाचमासाद्य ।
आकर्ण्येत्यर्थः । उदीचीं काष्ठां दिशम् । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च
ताः' इत्यमरः । तिग्मरश्मिः । भृशं दिदीपे जज्वाल । चुक्रोधेत्यर्थः ॥५५॥

अथाभिपश्यन्निव विद्विषः पुरः पुरोधसारोपितहेतिसंहतिः ।

बभार रम्योऽपि वपुः स भीषणं गतः क्रियां मन्त्र इवाभिचारिकीम्

अथेति ॥ अथ विद्विषः शत्रून् पुरोऽभिपश्यन्निव स्थितस्तथा पुरोधसा धौम्येनारोपिता समन्नमाहिता हेतिसंहतिरायुधकलापो यस्य स तथोक्तः । 'हेतिर्ज्वालाङ्कुरायुधे' इति वैजयन्ती । सोऽर्जुनो रम्यः सौम्यः सन्नपि । अभिचारः परहिंसा प्रयोजनं यस्याः साभिचारिकी । 'प्रयोजनम्' इति ठञ् । तां क्रियां गतः । अभिचारकर्मणि नियुक्त इत्यर्थः । मन्त्र इव रम्यः प्रकृत्या रमणीयः । भीषयत इति भीषणम् । नन्द्यादित्वाह्युप्रत्ययः । वपुर्बभार । प्रशान्तो मन्त्रः प्रयोगभेदादिव सोऽप्यवस्थाभेदान्भीषणो बभूवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

उक्तमायुधारोपणं विवृण्वन् प्रस्थानमाह त्रिभिः—

अविलङ्घ्य विकर्षणं परैः प्रथितज्यारवकर्म कार्मुकम् ।

अगतावरिदृष्टिगोचरं शितनिस्त्रिंशयुजौ महेषुधी ॥ ५७ ॥

अविलङ्घ्येति ॥ परैः शत्रुभिरविलङ्घ्यमनतिक्रमणीयं विकर्षणं यस्य तत् । अमोघाकर्षणमित्यर्थः । किञ्च, प्रथितो ज्यारवो गुणध्वनिः कर्म बाणमोक्षणादिकं च यस्य तत् कार्मुकं चोद्धहन्नित्यन्वयः । तथाऽरीणां दृष्टिगोचरं दृष्टिपथमगतौ । आहवेष्वनिवर्तित्वादस्येति भावः । निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खङ्गः । उप्रत्यये संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानात्समासान्तः । तेन शितेन तीक्ष्णेन युङ्क्त इति शितनिस्त्रिंशयुजौ । 'सत्सूद्विष-' इत्यादिना क्विप् । महेषुधी महानिषङ्गौ । इषवो धीयन्तेऽनयोरिति विग्रहः । 'कर्मण्यधिकरणे च' इति क्विप्रत्ययः । 'तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः । तूण्यां खङ्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहससिरिष्टयः ॥' इत्यमरः ॥ ५७ ॥

यशसेव तिरोद्धन्मुहुर्महसा गोत्रभिदायुधक्षतीः ।

कवचं च सरत्नमुद्धहञ्ज्वलितज्योतिरिवान्तरं दिवः ॥ ५८ ॥

यशसेवेति ॥ किञ्च, गोत्रभिद् इन्द्रस्यायुधक्षतीर्वज्रप्रहाररन्ध्राणि । खाण्डवदाहसंभवादिति भावः । महसा स्वकान्त्या यशसेव मूर्तया कीर्त्यैव मुहुस्तिरोद्धदाच्छादयन् । सरत्नं रत्नसहितमत एव ज्वलितज्योतिर्दीप्ततारकम् । 'ज्योतिस्ताराग्निभाज्वालाद्वक्पुत्रात्मधरात्मसु' इति वैजयन्ती । दिवोऽन्तरं नभोमध्यमिवावस्थितम् । 'अन्तरं परिधानीये बाह्ये स्वीयेऽन्तरात्मनि । क्लीबे मध्ये प्रकाशे च' इति वैजयन्ती । कवचं चोद्धहन् ॥ ५८ ॥

अलकाधिपभृत्यदर्शितं शिवमुर्वीधरवर्त्म संप्रयान् ।

हृदयानि समाविवेश स क्षणमुद्गाष्पदृशां तपोभृताम् ॥ ५९ ॥

अलकेति ॥ सोऽर्जुनोऽलकाधिपभृत्येन यक्षेण दर्शितम् । अतः शिवं निर्बाधमुर्वीधरवर्त्म हिमवन्मार्गं प्रति संप्रयान् गच्छन् । क्षणमुद्गाष्पदृशां वियोगदुःखात् साश्रुनेत्राणां तपोभृतां द्वैतवननिवासिनां तपस्विनां हृदयानि समाविवेश । खेदयामासेत्यर्थः ॥ ५९ ॥

अनुजगुरथं दिव्यं दुन्दुभिध्वानमाशाः
 सुरकुसुमनिपातैर्व्योम्नि लक्ष्मीवितेने ।
 प्रियमिव कथयिष्यन्नालिलिङ्ग स्फुरन्तीं
 भुवमनिभृतवेलावीचिवाहुः पयोधिः ॥ ६० ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये तृतीयः सर्गः ।

अनुजगुरिति ॥ अथाशा दिशः । दिवि भवं दिव्यम् । 'द्युप्रागप्रागुदक्प्रतीचो यत्' । दुन्दुभिध्वानमनुजगुरनुदध्वनुः । गायतेर्लिङ् । व्योम्नि सुरकुसुमनिपातैर्लक्ष्मीवितेने । पुष्पवृष्टिश्चाजनिष्टेत्यर्थः । किंच, अनिभृताश्चञ्चला वेलायां क्ले या वीचयस्ता एव बाहवो यस्य स तथोक्तः । 'वेला कूलविकारयोः' इति शाश्वतः । पयोधिः स्फुरन्तीमुल्लसन्तीं हर्षात्स्पन्दमानां च भुवं प्रियमिष्टं भारवतारणरूपं कथयिष्यन्निव । कथयितुमिवेत्यर्थः । 'लृट् शेषे च' इति चकारात् क्रियार्थायां क्रियायां लृट् । आलिलिङ्ग । सर्वं चेदं शिवं दैवकार्यप्रवृत्तत्वादस्येति भावः । अत्र विशेषणमात्रसाभ्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वात् समासोक्तिरलङ्कारः । तत्र चाप्रस्तुतयोर्भूमिसमुद्रयोः प्रतिपन्नाभ्यां नायकाभ्यां भेदेऽभेदलक्षणातिशयोक्तिवशादालिङ्गनोक्तिरिति रहस्यम् । एवमतिशयोक्त्यनुप्राणिता समासोक्तिः । प्रियकथनात्स्नेहमुज्जीवयति तदङ्गभावं भजत इत्युभयोरङ्गाङ्गिभावेन संकर इति विवेचनीयम् ॥ ६० ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-
 काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां तृतीयः सर्गः समाप्तः ।

चतुर्थः सर्गः ।

ततः स कूजत्कलहंसमेखलां सपाकसस्याहितपाण्डुतागुणाम् ।
 उपाससादोपजनं जनप्रियः प्रियामिवासादितयौवनां भुवम् ॥ १ ॥

तत इति ॥ ततः प्रस्थानानन्तरं जनप्रियः सोऽर्जुनः । कलहंसा मेखला इवेत्युपमितसमासः । अन्यत्र, -कलहंसा इव मेखलेति विशेषणसमासः । कूजन्ती कलहंसमेखला यस्यास्ताम् । सह पाकेन वर्तन्त इति सपाकानि सस्यानि तैः सस्यैराहितः संपादितः पाण्डुतैव गुणो यस्यास्तां भुवमासादितयौवनां प्रासयौवनां प्रियामिव । उपजनं जनसमीपे । अन्यत्र, -सखीसमक्षम् । समीपार्थेऽव्ययीभावः । उपाससादोपगतवान् । उपमालङ्कारः ॥ १ ॥

विनम्रशालिप्रसवौघशालिनीरपेतपङ्काः ससरोरुहाम्भसः ।

ननन्द पश्यन्नुपसीम स स्थलीरुपायनीभूतशरद्गुणश्रियः ॥ २ ॥

विनम्रेति ॥ सोऽर्जुनो विनम्रशालिप्रसवौघशालिनीरवनतशालिफल-
 स्तोमशोभिनीरपेतपङ्का निष्पङ्काः ससरोरुहाण्यम्भांसि यासु तास्तथोक्ताः ।
 उपायनीभूता अर्जुनं प्रत्युपहारीभूताः शरद्गुणश्रियः पूर्वोक्ताः शरद्गुणसंपदो

यासु ताः । उपसीम ग्रामसीमासु । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । समासान्त-
विधेरनित्यत्वात् 'अनश्च' इति समासान्तो न भवति । केचित्तु—'अप्यन्येषां
कठिनवपुषां दुर्गमे ग्रामसीमि' इत्यादौ नपुंसकप्रयोगदर्शनात् 'नपुंसकादन्यतर-
स्याम्' इति विकल्पात् साधुरित्याहुः । स्थलीरकृत्रिमा भुवः । 'जानपद—'इत्या-
दिना अकृत्रिमार्थे ङीप् । पश्यन्ननन्द जहर्ष । अत्र शरद्गुणेषु तादात्म्येनारो-
प्यमाणस्योपायनस्य प्रकृते नन्दनक्रियोपयोगित्वात् परिणामालङ्कारः ॥ २ ॥

निरीक्ष्यमाणा इव विस्मयाकुलैः पयोभिरुन्मीलितपद्मलोचनैः ।

हृतप्रियादृष्टिविलासविभ्रमा मनोऽस्य जह्रुः शफरीविवृत्तयः ॥ ३ ॥

निरीक्ष्यमाणा इति ॥ विस्मयाकुलैराश्चर्यरसाविष्टैरत एवोन्मीलितानि
पद्मानीव लोचनानि येषां तैः पयोभिरम्भोभिर्निरीक्ष्यमाणा इव स्थिताः ।
हृतः प्रियादृष्टिविलासानां विभ्रमः शोभा याभिस्तास्तथोक्ता इति मनो-
हरणे हेतुक्तिः । 'विभ्रमः संशये भ्रान्तौ शोभायां च' इति वैजयन्ती । शफ-
रीविवृत्तयो मत्स्वीस्फुरितानि । अस्यार्जुनस्य मनो जह्रुः ॥ ३ ॥

तुतोप पश्यन् कलमस्य सोऽधिकं सवारिजे वारिणि रामणीयकम् ।
सुदुर्लभे नार्हति कोऽभिनन्दितुं प्रकर्षलक्ष्मीमनुरूपसंगमे ॥ ४ ॥

तुतोपेति ॥ सोऽर्जुनः सवारिजे साम्बुजे वारिणि कलमस्य शालिवि-
शेषस्य । 'शालयः कलमाद्याश्च पष्टिकाद्याश्च पुंस्यमी' इत्यमरः । रामणीयस्य
भावो रामणीयकम् । 'योपधाद्गुरुपोत्तमाद्गुञ्' तत् पश्यन्नधिकं तुतोप ।
अनुरूपसंगमादिति भावः । तथा हि—सुदुर्लभेऽनुरूपसंगमे योग्यसमागमे
लब्धे सतीति शेषः । प्रकर्षलक्ष्मीं योग्यसमागमननिमित्तामुत्कर्षसम्पदमभि-
नन्दितुं स्तोतुं को नार्हति । सर्वोऽप्यभिनन्दत्येवेत्यर्थः । सामान्येन विशेष-
समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४ ॥

नुनोद तस्य स्थलपद्मिनीगतं वितर्कमाविष्कृतफेनसंतति ।

अवाप्तकिञ्जल्कविभेदमुच्चकैर्विवृत्तपाठीनपराहतं पयः ॥ ५ ॥

नुनोदेति ॥ आविष्कृता प्रकटीकृता फेनसंततिर्दिण्डीरसमूहो यस्य तत्त-
थोक्तम् । 'दिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः' इत्यमरः । अवाप्तः किञ्जल्कविभेदः
केसरोपगमो येन तत्तथोक्तम् । कुतः । उच्चकैरुच्चकं यथा तथा विवृत्तेन
लुठितेन पाठीनेन मत्स्यविशेषेण पराहतं ताडितम्, 'सहस्रदंष्ट्रः पाठीनः'
इत्यमरः । पयः कर्तुं तस्यार्जुनस्य स्थलपद्मिनीगतम् । तद्गोचरमित्यर्थः ।
वितर्कं संशयं नुनोद चिच्छेद । पाठीनपराहत्या किञ्जल्कापायेन जलदर्शनात्
स्थलपद्मिनीशङ्का निवृत्तेत्यर्थः । अत्र निश्चयोत्तरसंदेहालङ्कारः ॥ ५ ॥

कृतोर्मिरेखं शिथिलत्वमायता शनैः शनैः शान्तरयेण वारिणा ।

निरीक्ष्य रेमे स समुद्रयोषितां तरङ्गितक्षौमविपाण्डु सैकतम् ॥ ६ ॥

कृतेति ॥ सोऽर्जुनः शिथिलत्वमायता गच्छता । दिने दिने क्षीयमाणे-

१ 'सरोमिः' इति पाठः. २ 'संहतिः' इति पाठः. ३ 'लेखम्' इति पाठः.
४ 'तरङ्गितम्' इति पाठः.

नेत्यर्थः । अत एव शनैः शनैः शान्तरयेण । अन्यथोमिरेखानुदयादिति भावः । वारिणा कृता ऊर्मयः पर्वाण्येव रेखा राजयो यस्य तत्तथोक्तम् । तरङ्गा अस्य संजातास्तरङ्गितं भङ्गितम् । 'तदस्य संजातं' इतीतच् । यत् क्षौमं दुकूलं तद्वद्विपाण्डु शुभ्रमित्युपमालङ्कारः । समुद्रयोपितां नदीनाम् । सिकतास्यास्तीति सैकतं पुलिनम् । 'सिकताशर्कराभ्यां च' इत्यणप्रत्ययः । 'तोयो-
त्थितं तत्पुलिनं सैकतं सिकतामयम्' इत्यमरः । निरीक्ष्य रेमे तुतोष ॥ ६ ॥

ततस्त्रिभिः शालिगोप्त्रीं वर्णयति—

मनोरमं प्रापितमन्तरं भ्रुवोरलंकृतं केसररेणुनाणुना ।

अलक्तताम्राधरपल्लवश्रिया समानयन्तीमिव बन्धुजीवकम् ॥ ७ ॥

मनोरममिति ॥ अणुना सूक्ष्मेण केसरेषु किञ्जल्केषु । 'किञ्जल्कः केस-
रोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । यो रेणुः परागस्तेनालंकृतमत एव मनो रमयतीति
मनोरमम् । 'कर्मण्यण्' इत्यण् । भ्रुवोरन्तरं प्रापितं भ्रूमध्ये निवेशितं
बन्धुजीवकं बन्धूकपुष्पम् । 'बन्धूको बन्धुजीवकः' इत्यमरः । अलक्तताम्रस्य
लाक्षारगरक्तस्याधरपल्लवस्य श्रिया शोभया समानयन्तीं समीकुर्वतीमिव ।
साम्यपरीक्षां कुर्वतीमिवेत्यर्थः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ७ ॥

नवातपालोहितमाहितं मुहुर्महानिवेशौ परितः पयोधरौ ।

चकासयन्तीमरविन्दजं रजः परिश्रमाम्भःपुलकेन सर्पता ॥ ८ ॥

नवेति ॥ महान् निवेशः स्थानं ययोस्तौ महानिवेशौ । पीवरावित्यर्थः । पयो-
धरौ परितः । स्तनयोः समन्तादित्यर्थः । 'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रति-
योगेऽपि' इति द्वितीया । मुहुराहितं नवातपालोहितं बालातपताम्रमरवि-
न्दजं रजः परागं सर्पता प्रसरता परिश्रमाम्भःपुलकेन स्वेदोद्भेदेन चका-
सयन्तीं शोभयन्तीम् । चकास्तेर्ण्यन्ताच्छतरि ङीप् । अलङ्करणं कुर्वतीम् ।
तत्रापि विकृततेति भावः ॥ ८ ॥

कपोलसंश्लेषि विलोचनत्विषा विभूषयन्तीमवतंसकोत्पलम् ।

सुतेन पाण्डोः कलमस्य गोपिकां निरीक्ष्य मेने शरदः कृतार्थता ॥ ९ ॥

कपोलेति ॥ पुनः, कपोलसंश्लेषि यदवतंसकोत्पलं कर्णोत्पलं तद्विलो-
चनत्विषा विभूषयन्तीम् । आभरणस्याप्याभरणमिति भावः । कलमं गोपा-
यतीति गोपिकां शालिगोप्त्रीम् । ण्वुल्प्रत्ययः । निरीक्ष्य पाण्डोः सुतेना-
र्जुनेन । शरदः कृतार्थाया भावः कृतार्थता साफल्यम् । शरदः स्वगुणसंप-
त्सिद्धिनियोगलाभादिति भावः । 'त्वतलोर्गुणवचनस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः' । मेनेऽ-
मालि । मन्यतेः कर्मणि लिट् ॥ ९ ॥

उपारताः पश्चिमरात्रिगोचरादपारयन्तः पतितुं जवेन गाम् ।

तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्सुकं गवां गणाः प्रस्रुतपीवरौधसः ॥ १० ॥

उपारता इति ॥ पश्चिमा चासौ रात्रिश्रेति विशेषणसमासः । अपररात्र

इत्यर्थः । 'पूर्वा दिक्पश्चिमं नभः' इत्यादिवदेकदेशिशब्दस्यैकदेशशब्दसामाना-
धिकरण्यादेकदेशे पर्यवसानम्, नतु पश्चिमं रात्रेरित्येकदेशिसमासः । तद्विधायके
पूर्वापरादिसूत्रे पश्चिमशब्दाग्रहणात् । अत एव 'अहःसर्वैकदेश-' इत्यादिना न
समासान्तोऽपि, तस्यापि पूर्वापरादिसूत्रोक्तसमासविषयत्वादिति । प्रकाशवर्षस्तु
एकदेशिसमासमेवाश्रित्य समासान्तमाह, -तन्मृग्यम् । गावश्चरन्त्यत्रेति गोचरो
गवां जग्धिस्थानं वनम् । पश्चिमरात्रौ यो गोचरस्तस्मादुपारताः संनिवृत्ता
जवेन गां भुवं पतितुं धावितुमपारयन्तोऽशक्नुवन्तः प्रस्फुतपीवरौधसो
वत्सस्तरणात् स्रवत्पीनापीनाः । 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः । 'ऊधसोऽनङ्'
इति स्त्रीग्रहणं कर्तव्यमिति नियमान्नानडादेशः । उत्सुका वत्सेषूत्कण्ठिता गवां
गणास्तमर्जुनमवेक्षणोत्सुकं दर्शनलालसं चक्रुः । 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्केत्र-
घृणिभूजले । लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः' इत्युभयत्राप्यमरः । अत्र स्वभावो-
क्तिरलङ्कारः—'स्वभावोक्तिरलङ्कारो यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ॥ १० ॥

परीतमुक्षावजये जयश्रिया नदन्तमुच्चैः क्षतसिन्धुरोधसम् ।

ददर्श पुष्टिं दधतं स शारदीं सविग्रहं दर्पमिवाधिपं गवाम् ॥११॥

परीतमिति ॥ सोऽर्जुन उक्षावजय उक्षान्तरभङ्गे सति जयश्रिया परीतं
वेष्टितमुच्चैर्नदन्तं क्षतसिन्धुरोधसं रुग्णसरित्तटं शरदि भवां शारदीं पुष्टि-
मवयवोपचयं दधतं गवामधिपं महोक्षं सविग्रहं मूर्तिमन्तम् । 'कायो देहः
क्लीबपुंसोः शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः । दर्पमिवेत्युत्प्रेक्षा । ददर्श ॥ ११ ॥
विमुच्यमानैरपि तस्य मन्थरं गवां हिमानीविशदैः कदम्बकैः ।

शरन्नदीनां पुलिनैः कुतूहलं गलहुकूलैर्जघनैरिवादधे ॥ १२ ॥

विमुच्यमानैरिति ॥ हिमानीविशदैर्हिमसंघातशुभ्रैः । 'हिमानी हिमसंहतिः'
इत्यमरः । 'इन्द्रवरुण-' इत्यादिना ङीप् । तत्संनियोगादानुगागमश्च । गवां कद-
म्बकैः कर्तृभिः । 'कदम्बकं समूहे श्रीफले पुष्पविशेषके' इत्यमरः । मन्थरं
मन्दं विमुच्यमानैरपि किमुताविमुच्यमानैरिति भावः । शरन्नदीनां संब-
न्धिभिः । शरद्ग्रहणं प्रावृष्णिवृत्त्यर्थं, तत्र पुलिनादर्शनादिति भावः । पुलिनैः
कर्तृभिः गलहुकूलैर्जघनैरिव तस्यार्जुनस्य कुतूहलं कौतुकमादध आहितम् १२

गतान्पशूनां सहजन्मवन्धुतां गृहाश्रयं प्रेम वनेषु विभ्रतः ।

ददर्श गोपानुपधेनु पाण्डवः कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे ॥१३॥

गतानिति ॥ पाण्डवोऽर्जुनः पशूनां गवाम् । सह जन्म येषां ते सहज-
न्मानः सोदरास्त एव बन्धवस्तेषां भावस्तत्ता तां गतान् । पशुषु सोदराभि-
मानवत इत्यर्थः । गृहाश्रयं गृहविषयं प्रेम वनेषु विभ्रतः । वनेषु गृहा-
भिमानी इत्यर्थः । आर्जवे विधेयत्वे । गोभिः पशुभिः कृतानुकाराननु-
कृतानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा । ततो विधेयानित्यर्थः । गाः- पान्तीति गोपा
गोपालकाः । 'आंतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । तान्, उपधेनु धेनुसमीपे ।
समीपार्थेऽव्ययीभावः । ददर्श । अत्रोत्प्रेक्षानुप्राणिता स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्भिर्बलवीर्नर्तकीसाम्येन वर्णयति—

परिभ्रमन्मूर्धजपट्टपदाकुलैः स्मितोदयादर्शितदन्तकेसरैः ।

मुखैश्चलत्कुण्डलरश्मिरञ्जितैर्नवातपामृष्टसरोजचारुभिः ॥ १४ ॥

परिभ्रमदिति ॥ मूर्धजाः पट्टपदा इवेत्युपमितसमासः । सरोजचारुभिरित्युप-
मानुसारात् । परिभ्रमद्भिश्चलद्भिर्मूर्धजैः पट्टपदैराकुलानि तैः । दन्ताः
केसरा इवेति-पूर्ववत्समासः । स्मितोदयेनादर्शिता ईषत्प्रकाशिता दन्तके-
सरा येषां तैस्तथोक्तैः । चलत्कुण्डलरश्मिरञ्जितैश्चलकनककर्णवेष्टनप्रभानु-
लितैरत एव नवातपामृष्टं बालातपस्पृष्टं यत् सरोजं तद्वच्चारुभिर्मुखैरुप-
लक्षिताः ॥ १४ ॥

निबद्धनिःश्वासविकम्पिताधारा लता इव प्रस्फुरितैकपल्लवाः ।

व्यपोढपाश्वैरपवर्तितत्रिका विकर्षणैः पाणिविहारहारिभिः ॥ १५ ॥

निबद्धेति ॥ निबद्धेनानुरुद्धेन निःश्वासेन विकम्पिता अधारा यासां
तास्तथोक्ताः । अत एव प्रस्फुरितैकपल्लवाः । प्रचलितैकपल्लवा इत्यर्थः ।
'कचित्संख्याशब्दस्य वृत्तिविषये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिवत्' इति कैयटः । लता
इव स्थिताः । दैवादेकपल्लवस्फुरणस्यापि लोके संभवादुपमैवेयं नोत्प्रेक्षा । किंच,
व्यपोढानि विपरीतानि पाश्वानि येषु तैः पाणिविहारहारिभिः पाणिवि-
क्षेपमनोहरैः । 'अङ्गहारोऽङ्गविक्षेपः' इत्यमरः । विकर्षणैर्मन्थगुणाकर्षणैः ।
अपवर्तितत्रिकाः संचलितनितम्बाः । यद्यपि 'पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्' इत्यमरः,
तथाप्यत्र नितम्बो लक्ष्यते तन्नैकव्यादिति भावः ॥ १५ ॥

घ्रजाजिरेष्वम्बुदनादशङ्किनीः शिखण्डिनामुन्मदयत्सु योषितः ।

मुहुः प्रणुन्नेषु मथां विवर्तनैर्नदत्सु कुम्भेषु मृदङ्गमन्थरम् ॥ १६ ॥

व्रजेति ॥ व्रजाजिरेषु गोष्ठप्राङ्गणेषु । अधिकरणे सप्तमी । 'व्रजो गोष्ठा-
ध्ववृन्देषु' इति विश्वः । अम्बुदनादशङ्किनीर्गर्जितभ्रमवतीरिति भ्रान्तिमद-
लङ्कारः । शिखण्डिनां योषितो मयूरीः । योषिद्ग्रहणं मौग्ध्यातिशयार्थम् ।
उन्मदयत्सूनमदाः कुर्वत्सु । 'तत्करोति-' इति ण्यन्ताच्छतृप्रत्ययः । मथां
मन्थनदण्डानाम् । 'वैशाखमन्थमन्थानमन्थानो मन्थदण्डके' इत्यमरः । विव-
र्तनैः परिभ्रमणैर्मुहुः प्रणुन्नेषु कम्पितेष्विति स्वभावोक्तिः । कुम्भेषु कलशेषु
मृदङ्गवन्मन्थरं मन्दं नदत्सु सत्स्विति वाद्यसाम्योक्तिः । भावलक्षणे सप्त-
मीयम् ॥ १६ ॥

स मन्थरावलिगतपीवरस्तनीः परिश्रमक्लान्तविलोचनोत्पलाः ।

निरीक्षितुं नोपरराम बल्लवीरभिप्रनृत्ता इव वारयोषितः ॥ १७ ॥

स इति ॥ मन्थरं मन्दमावलिगताश्चञ्चलाः पीवराः स्तना यासां तास्त-
थोक्ताः । 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' इति ङीष् । परिश्रमेण क्लान्तानि
ग्लानानि विलोचनोत्पलानि यासां तास्तथोक्ता बल्लवीर्गोपीः । 'गोपे गोपा-
ल्लगोसंख्यगोधुगाभीरबल्लवाः' इत्यमरः । अभिप्रनृत्ता नृत्यन्तीः । 'गत्यर्था-

कर्मक-’ इत्यादिना कर्तरि क्तः । ‘मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च इति चकाराद्वर्तेमानार्थ-
त्वम् । वारयोषितो वेश्या इव । ‘वारस्त्री गणिका वेश्या’ इत्यमरः । सोऽर्जुनो
निरीक्षितुम् । ईक्षतेस्तुमुन् । नोपरराम न विरमति स्म । ‘उपाच्च’ । ‘विभाषा-
कर्मकात्’ इति परस्मैपदम् । अत्र चतुःश्लोक्यामुपमास्त्रभावोक्तयोः संसृष्टिः ॥ १७ ॥

पपात पूर्वा जहतो विजिह्वतां वृषोपभुक्तान्तिकसस्यसंपदः ।

रथाङ्गसीमन्तितसान्द्रकर्दमान् प्रसक्तसंपातपृथकृतान्पथः ॥ १८ ॥

पपातेति ॥ सोऽर्जुनः पूर्वा प्रावृषेण्यां विजिह्वतां वक्रतां जहतस्त्यजतः ।
शरदि निष्पङ्कस्वेन समरेखस्यैव सुगमत्वादिति भावः । जहातेः शतृप्रत्ययः । वृषो-
पभुक्तान्तिकसस्यसंपदो वृषभचर्वितप्रान्तसस्यसमृद्धीन् । ‘सुकृते वृषभे वृषः’
इत्यमरः । सीमन्ता इव सीमन्ताश्चक्राङ्गपद्धतयः सीमन्तवन्तः कृताः सीम-
न्तिताः । मत्वन्तात् ‘तत्करोति—’ इति णिच् चित् । णाविष्टवद्भावान्मतुपो
लुक् । रथाङ्गैश्चक्रैः सीमन्तिताः सान्द्राः कर्दमा घनीभूताः पङ्का येषु तान्
प्रसक्तसंपातेन संततसंचारेण पृथकृतान् पथो मार्गान् पपात जगामेति
स्वभावोक्तिः ॥ १८ ॥

जनैरुपग्राममनिन्द्यकर्मभिर्विविक्तभावेङ्गितभूषणैर्वृताः ।

भृशं ददर्शाश्रममण्डपोपमाः सपुष्पहासाः स निवेशवीरुधः ॥ १९ ॥

जनैरिति ॥ सोऽर्जुन उपग्रामं ग्रामेषु । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अनिन्द्य-
कर्मभिरनिषिद्धवृत्तिभिः । वृत्तिश्चैकत्र कृष्यादिः, अन्यत्र, -शिलोञ्छादिः । विवि-
क्तान्येकाग्राणि भावोऽभिप्राय इङ्गितं चेष्टा भूषणमलङ्कारश्च येषां तैस्तथोक्तैर्ज-
नैर्वृताः । अधिष्ठिता इत्यर्थः । अत एवाश्रमेषु सुनिस्थानेषु ये मण्डपास्तदु-
पमाः । ‘मण्डपोऽस्त्री जनाश्रयः’ इत्यमरः । सपुष्पहासाः पुष्पविकासस-
हिताः । ‘तेन सह—’ इत्यादिना बहुव्रीहिः । निवेशवीरुधो गृहगुल्मिनीः ।
‘वीरुधौ बह्लिगुल्मिन्यौ’ इति वैजयन्ती । भृशं सादरं ददर्श । उपमालङ्कारः ॥ १९ ॥

ततः स संप्रेक्ष्य शरद्गुणश्रियं शरद्गुणालोकनलोलचक्षुषम् ।

उवाच यक्षस्तमचोदितोऽपि गां न हीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदति २० ॥

तत इति ॥ ततः स पूर्वोक्तो यक्षः शरद्गुणश्रियं संप्रेक्ष्य । दर्शनीयां वर्ण-
नीयां च विचार्येत्यर्थः । शरद्गुणालोकने लोलचक्षुषं सतृष्णदृष्टिम् । ‘लोल-
श्चलसतृष्णयोः’ इत्यमरः । तमर्जुनमचोदितोऽप्यपृष्टोऽपि गां वाचमुवाच ।
तथा हि—इङ्गितज्ञो भावज्ञः, ‘इङ्गितं हृद्गतो भावः’ इति विश्वः । अवसर
उक्तियोग्ये काले नावसीदति न वाचं यच्छति । ‘नापृष्टः कस्यचिद्भूयात्’ इति
निषेधस्त्वनाकाङ्क्षितोक्तिविषय इति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्था-
न्तरन्यासः ॥ २० ॥

इयं शिवाया नियतेरिवायतिः कृतार्थयन्ती जगतः फलैः क्रियाः ।

जयश्रियं पार्थ पृथूकरोतु ते शरत्प्रसन्नाम्बुरनम्बुवारिदा ॥ २१ ॥

इयमिति ॥ हे पार्थ, शिवायाः कल्याणकारिण्या नियतेः ‘दैवं दिष्टं भाग-

धेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः, शुभावहदैवस्य आयतिः फलदानकालः सैव जगतः क्रिया कृप्यादिकर्माणि फलैर्लाभैः । 'लाभो निष्पत्तियोगेषु बीजभावे धने फलम्' इति वैजयन्ती । कृतार्थयन्ती सफलयन्ती प्रसन्नाम्बुनिर्मलोदका । अनम्बुवारिदा निर्जलमेघा । अनेन विशेषणद्वयेन द्यावापृथिव्योरानुकूल्यं सूचयति । इयं शरत्ते जयश्रियं पृथूकरोतु । आशीरर्थं लोद ॥ २१ ॥

उपैति सस्यं परिणामरम्यता नदीरनौद्धत्यमपङ्कतां मही ।

नवैर्गुणैः संप्रति संस्तवस्थिरं तिरोहितं प्रेम घनागमश्रियः ॥ २२ ॥

उपैतीति ॥ सस्यं ब्रीह्यादिकं परिणामेन परिपाकेन या रम्यता सोपैति । नदीरनौद्धत्यं रम्यरूपत्वमुपैति । मही चापङ्कतां निष्पङ्कत्वमुपैति । तथा हि—संप्रति नवैर्गुणैः पूर्वोक्तैः शरद्धर्मैः संस्तवेन परिचयेन स्थिरं दृढमपि घनागमश्रियः प्रावृद्धलक्ष्याः संबन्धि । तद्विषयमित्यर्थः । प्रेम तिरोहितम् । निरर्थकं कृतमित्यर्थः । गुणतन्त्राः प्रेमाणो न परिचयतन्त्रा इति भावः । वास्तवालङ्कारः ॥ २२ ॥

पतन्ति नास्मिन्विशदाः पतत्रिणो धृतेन्द्रचापा न पयोदपङ्कयः ।

तथापि पुष्पाति नभः श्रियं परां न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम् २३

पतन्तीति ॥ अस्मिन्नभसि विशदाः पतत्रिणो बलाका न पतन्ति न प्रसरन्ति । धृतेन्द्रचापाः पयोदपङ्कयश्च न पतन्ति । तथापि श्रीकारणाभावेऽपि नभः परां श्रियं शोभां पुष्पाति । तथा हि—रम्यं स्वभावसुन्दरं वस्त्वाहार्यमारोप्यमाणं गुणं नापेक्षते । तत्र स्वभावस्यैव समर्थत्वादिति भावः । अर्थान्तरन्यासः ॥ २३ ॥

विपाण्डुभिर्म्लानतया पयोधरैश्च्युताचिराभागुणहेमदामभिः ।

इयं कदम्बानिलभर्तुरत्यये न दिग्बधूनां कृशता न राजते ॥ २४ ॥

विपाण्डुभिरिति ॥ 'कदम्बानिल'शब्देन वर्षर्तुरूपलक्ष्यते । स एव भर्ता तस्यात्यये विरहे म्लानतया निर्जलतया दुर्बलतया च विपाण्डुभिश्च्युतानि रहितान्यचिराभागुणा विद्युलता एव हेमदामानि सुवर्णसूत्राभरणानि येभ्यस्तैः पयोधरैरम्भोदैः, अन्यत्र, -स्तनैः । उपलक्षितानाम् । 'स्तनाम्भोदौ-पयोधरौ' इति वैजयन्ती । दिश एव बध्वस्तासामियं कृशता न राजत इति न । किंतु राजत एव वियुक्तत्वात् । 'आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा' इति स्मरणादिति भावः । सामान्यतः प्रसक्तमराजनं कार्श्यस्यैकेन नजा संभाव्य द्वितीयेन निषेधति । यथाह वामनः—'संभाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति । अत्र रूपकालङ्कारः स्फुट एव ॥ २४ ॥

विहाय वाञ्छामुदिते मदात्ययादरक्तकण्ठस्य रुते शिखण्डिनः ।

श्रुतिः श्रयत्युन्मदहंसनिःस्वनं गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः २५ ॥

विहायेति ॥ मदात्ययान्मदक्षयात् अरक्तकण्ठस्याश्राव्यस्वरस्य । 'कण्ठ'-

शब्देनात्र तद्गतः स्वरो लक्ष्यते । शिखण्डिनो मयूरस्य संबन्धिनि । उदित उच्च-
स्तरे रुते कृजिते वाञ्छां विहाय । श्रुतिः श्रोत्रम् । 'कर्णशब्दग्रहो श्रोत्रं
श्रुतिः स्त्री श्रवणं श्रवः' इत्यमरः । उन्मदहंसनिःस्वनं मत्तमरालकृजितं श्रयति
भजते । नन्वकाण्डे परिचितपरिहारेणापरिचिते कथं प्रीत्युदय इत्याशङ्क्यार्थान्तरं
न्यस्यति—गुणा इति । प्रीणातीति प्रियः । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्र-
त्ययः । प्रियत्वे प्रीतिकरत्वे गुणा अधिकृता नियुक्ताः । संस्तवः परिचयो
नाधिकृतो न समर्थः । प्रेमाधाने गुणवत्त्वं प्रयोजकं, न परिचय इत्यर्थः ॥ २५ ॥

अमी पृथुस्तम्बभृतः पिशङ्गतां गता विपाकेन फलस्य शालयः ।
विकासि वप्राम्भसि गन्धसूचितं नमन्ति निघ्रातुमिवासितोत्पलम् २६

अमी इति ॥ अमी पृथुन् स्तम्बान् गुच्छान् विभ्रतीति पृथुस्तम्बभृतः ।
'स्तम्बो गुच्छस्तृणादिनः' इत्यमरः । फलस्य प्रसवस्य विपाकेन परिणामेन
पिशङ्गतां गताः शालयो व्रीहिविशेषाः । वप्राम्भसि केदारोदके । 'पुनपुंस-
कयोर्वप्रः केदारः क्षेत्रम्' इत्यमरः । विकसतीति विकासि विकसितं गन्धेन
सूचितं ज्ञापितमसितोत्पलं निघ्रातुमाघ्रातुमिव नमन्ति । 'निघ्रातुमिव'
इति पाठे द्रष्टुमित्यर्थः । निर्वर्णयितुं वा । 'निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्ष-
णम्' इत्यमरः । अत्र फलभारात्तमनस्य निघ्राणफलकत्वमुत्प्रेक्ष्यत इति फलो-
त्प्रेक्षा ॥ २६ ॥

अथ चतुर्भिः कलापकमाह—

मृणालिनीनामनुरञ्जितं त्विषा विभिन्नसम्भोजपलाशशोभया ।
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं द्रुतं धनुष्वण्डमिवाहिविद्विषः २७

मृणालिनीनामिति ॥ मृणालिनीनां पद्मिनीनां त्विषा हरिद्वर्णनानुरञ्जि-
तम् । तद्वर्णतामापादितमित्यर्थः । तथा, अम्भोजपलाशशोभया पद्मदल-
कान्त्या । आरुण्येनेत्यर्थः । विभिन्नं मिश्रितम् । तथा, स्फुरच्छालिशिखा-
पिशङ्गितं स्फुरद्भिः कलमात्रैः पिङ्गलीकृतमित्यर्थं नानावर्णत्वाद्द्रुतं पलायितमहि-
विद्विषो वृत्रशत्रोरिन्द्रस्य । 'सर्पे वृत्रासुरेऽप्यहिः' इति वैजयन्ती । धनुष्व-
ण्डमिव । स्थितम् । 'नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य' इति विसर्जनीयस्य षत्वम् ।
पयो वप्राम्भोऽपदिश्य व्याजीकृत्य धावतामित्यागामिना संबन्धः । अत्र धनु-
ष्वण्डस्य द्रुतस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वादुत्प्रेक्ष्यं नोपमा ॥ २७ ॥

विपाण्डु संव्यानमिवानिलोद्धतं निरुन्धतीः सप्तपलाशजं रजः ।
अनाविलोन्मीलितत्राणचक्षुषः सपुष्पहासा वनराजियोषितः २८

विपाण्डु इति ॥ विपाण्डु शुभ्रमनिलोद्धतमनिलोत्क्षिप्तम् । सप्त सप्त पला-
शानि पत्राणि पर्वसु येषां ते वृक्षाः सप्तपलाशाः । 'कचित्संख्याशब्दस्य वृत्तिवि-
षये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिव'दित्युक्तम् । तेषां पुष्पाणि सप्तपलाशानि । 'द्विहीनं
प्रसवे सर्वम्' इत्यमरः । 'फले लुक्' इत्यणो लुक् । तेषु जातं सप्तपलाशजं
रजः परागं संव्यानमुत्तरीयमिव । 'संव्यानमुत्तरीयं च' इत्यमरः । निरुन्ध-
तीर्निवारयन्तीः । प्रावृत्तवतीरिति यावत् । अनाविलान्यकलुशाण्युन्मीलितानि

च बाणानि नीलसैरेयकाणि चक्षुंषीव यासां तास्तथोक्ताः । 'नीलस्त्वर्थगलो दासी बाण ओदनपाक्यपि' इति ध्रुवन्तरिः । पुष्पाणि हासा इव तैः सह वर्तन्त इति सपुष्पहासाः । वनराजयो योषित इव वनराजियोषितः । ता अप- दिश्येत्यन्वयः । अत्र संव्यानमिवेत्युपमैव, अन्यत्र, -उपमितसमासे लिङ्गम् । यथा काचित् केनचित्कामुकेनाक्षिप्तं स्तनांशुकं निरुन्धे तद्वदिति भावः ॥ २८ ॥

अदीपितं वैद्युतजातवेदसा सिताम्बुदच्छेदतिरोहितातपम् ।

ततान्तरं सान्तरवारिसीकरैः शिवं नभोवर्त्म सरोजवायुभिः ॥ २९ ॥

अदीपितमिति ॥ वैद्युतजातवेदसा वैद्युताग्निनाऽदीपितमप्रकाशितम् । विद्युत्प्रकाशस्य दृष्टिविघातकत्वात्तद्वाहित्यं गुण इति भावः । सिताम्बुदानां छेदैः खण्डैः तिरोहितातपम् । न दृष्टिबाधो नाप्यातपबाध इति भावः । सान्तरवारिसीकरैर्विरलाम्बुकणैः । ततान्तरं व्यासमध्यं सरोजवायुभिः शिवं रम्यं नभोवर्त्म चापदिश्येति । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ २९ ॥

सितच्छदानामपदिश्य धावतां रुतैरमीषां ग्रथिताः पतत्रिणाम् ।

प्रकुर्वते वारिदरोधनिर्गताः परस्परालापमिवामला दिशः ॥ ३० ॥

सितेति ॥ अपदिश्य 'धावताम्' इति पूर्वश्लोकत्रयोक्तं पयःप्रभृतिकमुद्दिश्य, धावतांममीषां सितच्छदानां पतत्रिणां हंसानाम् । 'हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकसः' इत्यमरः । रुतैः शब्दैर्ग्रथिता दृग्धाः । 'ग्रथितं गुम्फितं दृग्धम्' इत्यमरः । वारिदरोधनिर्गता मेघोपरोधनिर्मुक्ता अत एवामलाः प्रसन्ना दिशः परस्परालापं प्रकुर्वत इव । दिष्ट्या मेघोपरोधनिर्मुक्ताश्चिरादुच्छ्वसिता इति हंसकृजितव्याजेन परस्परमालपन्तीवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ३० ॥

विहारभूमेरभिघोषमुत्सुकाः शरीरजेभ्यश्च्युतयूथपङ्क्तयः ।

असक्तमूधांसि पयः क्षरन्त्यमरूपायनानीव नयन्ति धेनवः ॥ ३१ ॥

विहारेति ॥ विहारभूमेः । अपररात्रगोचरादित्यर्थः । आगच्छन्त्य इति शेषः । अभिघोषमुत्सुका व्रजं प्रत्युत्कण्ठिताः । वत्सप्रेम्णेति भावः । 'घोष आभीरपल्ली स्यात्' इत्यमरः । च्युता वृष्टिता यूथानां कुलानां पङ्क्तिः श्रेणी- बन्धो यासां तास्तथोक्ताः । 'सजातीयैः कुलं यूथम्' इत्यमरः । 'अमूः धेनवो- ऽसक्तमप्रतिबन्धं पयः क्षीरं क्षरन्ति स्रवन्ति । वत्सस्मरणात् प्रस्रवन्तीत्यर्थः । क्षरतेः शत्रुप्रत्ययः । ऊधांसि शरीरजेभ्योऽपत्येभ्य उपायनानीव अतितोष- कारीणीवेत्युत्प्रेक्षा । नयन्ति प्रापयन्ति । यथा लोके कुतश्चित्प्रवासादेत्य मातरः किञ्चित्खाद्यमानयन्ति तद्वदिति भावः ॥ ३१ ॥

जगत्प्रसूतिर्जगदेकपावनी व्रजोपकण्ठं तनयैरुपेयुषी ।

द्युतिं समग्रां समितिर्गवामसावुपैति मन्त्रैरिव संहिताहुतिः ॥ ३२ ॥

जगदिति ॥ जगत्प्रसूतिर्जगत्कारणम् । आज्यादिहविर्द्वारिणेति भावः । जग- तामेकपावनी मुख्यशोधनी व्रजोपकण्ठं गोष्ठान्तिकम् । 'दूरान्तिकार्थेभ्यो

१ 'रवैः' इति पाठः. २ 'पालिनी' इति पाठः.

द्वितीया च' इति द्वितीया । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्राः' इत्यमरः । तनयैर्वसैः । उपेयुषी संगता । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति कसुप्रत्ययान्तो निपातः । 'उगितश्च' इति ङीप् । असौ गवां समितिः संहतिः । मन्त्रैर्ऋग्यजुषादिभिः । 'मन्त्रो ऋगादिगुह्योक्तिः-' इति वैजयन्ती । संहिता योजिता आहुतिरिव समग्रां द्युतिमुपैति । आहुतिरपि जगत्प्रसूतिर्जगदेकपावनी च । 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिवृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' इति स्मरणादिति भावः ॥ ३२ ॥

कृतावधानं जितबर्हिणध्वनौ सुरक्तगोपीजनगीतनिःस्वने ।

इदं जिघत्सामपहाय भूयसीं न सस्यमभ्येति मृगीकदम्बकम् ॥३३॥

कृतेति ॥ जितबर्हिणध्वनौ । केकानुकारिणीत्यर्थः । एतेन षड्जस्वरप्रायं गायन्तीति गम्यते । यथाह मातङ्गः—'षड्जं मयूरो वदति' इति । गाः पांन्तीति गोपाः, तेषां भार्या गोप्यः । 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीष् । ता एव जनः । सुरक्तो मधुरकण्ठो यो गोपीजनो बलवीजनस्तस्य गीतनिःस्वने गाने कृतावधानमेकाग्रचित्तम् । इदं पुरोवर्ति मृगीकदम्बकं कर्तुं भूयसीमतिमहतीं जिघत्सामत्तुमिच्छाम् । अदेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । 'लुङ्सनोर्धस्लृ' इति घस्लृदेशः । अपहाय हित्वा सस्यं नाभ्येति नोपैति । गीतासक्त्या क्षुधामपि न गणयतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

असावनास्थापरयावधीरितः सरोरुहिण्या शिरसा नमन्नपि ।

उपैति शुष्यन्कलमः सहाम्भसा मनोभुवा तप्त इवाभिपाण्डुताम् ॥३४॥

असाविति ॥ शिरसाग्र्येण मूर्ध्ना च नमन् प्रणमन्नपि । अनास्थापरयानादरपरया सरोरुहिण्यावधीरितोऽवज्ञातः । अम्भसा सह । शरभूतेनेति भावः । शुष्यन्नसौ कलमः शालिविशेषः । मनोभुवा तप्त इव कामार्तं इव । अभिपाण्डुतामुपैति । अत्र 'अनास्थापरया' इति प्रकृतसरोरुहिणीविशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिः । उत्तिष्ठमानायाः सरोरुहिण्याः प्रतीयमानया नायिकया शुद्धभेदेऽप्यभेदलक्षणातिशयोक्तिमहिम्नावधीरणक्रियासंबन्धान्निर्वहन्ती मनोभुवा तप्त इवेत्युत्प्रेक्षानिर्वाहिकेत्यतिशयोक्त्यनुप्राणितसमासोक्त्युपमयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ ३४ ॥

अमी समुद्धूतसरोजरेणुना हता हतासारकणेन वायुना ।

उपागमे दुश्चरिता इवापदां गतिं न निश्चेतुमलं शिलीमुखाः ॥३५॥

अमी इति ॥ समुद्धूतसरोजरेणुनेति सौरभ्योक्तिः । हतासारकणेनोपात्ताम्बुकणेनेति शैल्योक्तिः । 'धारासंपात भासारः' इत्यमरः । वायुना हता आकृष्टा अमी शिलीमुखा शृङ्गाः । आपदामुपागमे राजादिभयागमे दुश्चरिता दुष्टकर्माणश्चौरादय इव । गम्यत इति गतिं गन्तव्यदेशम् । 'वेशोपायगमे गतिः' इति वैजयन्ती । निश्चेतुं नालं न समर्थाः । एकत्र वायोः सार्वत्रिकत्वेनोपादानादनिश्चयात्, अन्यत्र,—भयान्धत्वादिति भावः ॥ ३५ ॥

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः शिखाः पिशङ्गीः कलमस्य विभ्रती ।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ३६

मुखैरिति ॥ विद्रुमभङ्गलोहितैर्मुखैः पिशङ्गीः पिशङ्गवर्णाः कलमस्य
शिखाः शाल्यप्राणि विभ्रती व्यक्तशिरीषकोमला विकसितशिरीषसव-
र्णाऽसौ शुकावलिर्गोत्रभिद इन्द्रस्य धनुषः श्रियमनुगच्छत्यनुकरोति ।
नानावर्णत्वादिन्द्रधनुरिवाभातीत्युपमालंकारः ॥ ३६ ॥

इति कथयति तत्र नातिदूरादथ ददृशे पिहितोष्णरश्मिबिम्बः ।

विगलितजलभारशुक्लभासां निचय इवाम्बुमुचां नगाधिराजः ॥ ३७ ॥

इतीति ॥ तत्र तस्मिन्पूर्वोक्ते । यक्ष इतीत्यं कथयति सति नातिदूराद्-
नतिदूरात् । ईषदूर इत्यर्थः । नञर्थस्य 'न'शब्दस्य सुप्सुपेति समासः । पिहितो-
ष्णरश्मिबिम्बस्तिरोहितार्कमण्डल इत्यौन्नत्योक्तिः । नगाधिराजो हिमाद्रि-
विगलितो जलभारो येषां ते तथोक्ताः । अत एव शुक्लभासः । द्वयोरन्यतरस्य
विशेष्यत्वविवक्षया विशेषणसमासः । तेषां विगलितजलभारशुक्लभासां
शुभ्राणाम्बुमुचां निचय इव मेघवृन्दमिव ददृशे दृष्टः ॥ ३७ ॥

तमतनुवनराजि श्यामितोपत्यकान्तं

नगमुपरि हिमानीगौरमासाद्य जिष्णुः ।

व्यपगतमदरागस्यानुसस्सार लक्ष्मी-

मसितमधरवासो विभ्रतः सीरपाणेः ॥ ३८ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये चतुर्थः सर्गः ।

तमिति ॥ जिष्णुरर्जुनोऽतनुभिर्महतीभिर्वनराजिभिः श्यामिताः श्यामला
उपत्यकान्ता आसन्नभूमिप्रदेशा यस्य तं तथोक्तम् । 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमि-
रूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन्प्रत्ययः ।
उपरि हिमानीभिर्हिमसंघातैर्गौरं शुभ्रं नगं हिमाद्रिमासाद्य । व्यपगतो
निवृत्तो मदरागो यस्य तस्य । असितं नीलमधरं वास उत्तरीयं विभ्रतो
धृतवतः । सीरं हलं पाणौ यस्य तस्य सीरपाणेर्हलायुधस्य । 'हलायुधः । नीला-
म्बरो रौहिणेयस्तालाङ्को मुसली हली । संकर्षणः सीरपाणिः' इत्यमरः । 'सप्तमी-
विशेषणे-' इति ज्ञापकाच्चधिकरणपदो बहुव्रीहिः । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठा-
सप्तम्यौ स्तः' इति सप्तम्याः परनिपातः । लक्ष्मीं शोभामनुसस्सार स्मृतवान् ।
अत्र सदृशदर्शनेन सदृशान्तरस्य स्मरणात् स्मरणालङ्कारः । 'सदृशं सदृशानुभवाद्यत्र
स्मर्येत तत्स्मरणम्' इति विद्याधरः ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-
काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां चतुर्थः सर्गः समाप्तः ॥

पञ्चमः सर्गः ।

अथ हिमवद्वर्णनमारभते; तत्र पञ्चदशभिः कुलकमाह—

अथ जयाय नु मेरुमहीभृतो रभसया नु दिगन्तदिदक्षया ।

अभिययौ स हिमाचलमुच्छ्रितं समुदितं नु विलङ्घयितुं नभः ॥१॥

अथेति ॥ अथानन्तरं सोऽर्जुनो मेरुमहीभृतो हेमाद्रेर्जयाय नु जयार्थं वा । 'नु'शब्दोऽत्र वितर्के । 'नु पृच्छायां वितर्के च' इत्यमरः । रभसो वेगः । 'रभसो वेगहर्षयोः' इति वैजयन्तीविश्वप्रकाशौ । तद्वत्या रभसया । अतीवोत्कण्ठयेति यावत् । अर्शआदित्वादचप्रत्ययः । दिगन्तानां दिदक्षया नु द्रष्टुमिच्छया वा । नभोऽन्तरिक्षं विलङ्घयितुं नु अतिक्रमितुं वा । समुदितम् । समुत्पतितमिव स्थितमित्यर्थः । कुतः । उच्छ्रितमुन्नतं हिमस्याचलं हिमाचलमभिययौ । अत्र निर्धारितानेकफल औन्नत्यगुणनिमित्तोदितादिक्रियोत्प्रेक्षा । सा च व्यञ्जकाप्रयोगात् प्रतीयमानेति संक्षेपः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम्—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

तपनमण्डलदीपितमेकतः सततनैशतमोवृतमन्यतः ।

हसितभिन्नतमिस्रचयं पुरः शिवमिवानुगतं गजचर्मणा ॥ २ ॥

तपनेति ॥ पुनः, एकत एकस्मिन्भागे । सार्वविभक्तिकस्तसिः । तपनमण्डलेन दीपितं प्रकाशितम् । अन्यतोऽन्यस्मिन्भागे सततेनानिषिद्धेन नैशेन निशिभवेन तमसा वृतम् । एकत्राहा, रात्र्या चान्यत्र संगतमित्यर्थः । अत एव पुरोऽग्रे हसितेनादृहासेन भिन्नतमिस्रचयं निरस्ततमस्तोमं तथा गजचर्मणाऽनुगतं पश्चाद्भासम् । 'पश्चात्सादृश्ययोरनु' इत्यमरः । शिवमिव स्थितम् । तपनतेजःप्रसारोऽप्यस्य कण इव कुत्रचित्परिसमाप्यत इति महत्वातिशयोक्तिः ॥ २ ॥

क्षितिनभःसुरलोकनिवासिभिः कृतनिकेतमदृष्टपरस्परैः ।

प्रथयितुं विभुतामभिनिर्मितं प्रतिनिधिं जगतामिव शंभुना ॥ ३ ॥

क्षितितीति ॥ परस्परैऽन्योन्ये । 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे भवतः' इति वक्तव्यात् 'पर'शब्दस्य द्विर्भावः । 'समासवच्च बहुलं यदा न समासवत्प्रथमैकवचनं तदा पूर्वपदस्य' इति वक्तव्यात्प्रथमैकवचनम् । सुद् । कस्कादित्वाद्विसर्जनीयस्य सत्त्वं बहुवचनं चान्योन्यशब्दवत् । यथा माघे—'अन्योन्येषां पुष्करैरामृशन्तः' इति । अदृष्टाः परस्परै यैस्तेऽदृष्टपरस्परास्तैस्तथोक्तैः । क्षितौ नभसि सुरलोके च निवसन्तीति तैस्तथोक्तैः । भूर्भुवःस्वर्लोकवासिभिरित्यर्थः । कृतनिकेतं कृतास्पदम् । अत एव शंभुना विभुतां स्वसामर्थ्यं प्रथयितुमभिनिर्मितं जगतां प्रतिनिधिं प्रतिकृतिमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा । 'प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिरूपमोपमानं स्यात्' इत्यमरः । त्रैलोक्यश्लाघ्योपमपरिच्छेद्यं चेति भावः ॥ ३ ॥

भुजगराजसितेन नभःश्रिता कनकराजिविराजितसानुना ।

समुदितं निचयेन तडिच्वतीं लघयता शरदम्बुदसंहतिम् ॥ ४ ॥

भुजगेति ॥ पुनश्च, भुजगराजसितेन शेषाहिधवलेन नभःश्रिता गग-

स्पृशा कनकस्य राजिभी रेखाभिर्विराजिताः सानवो यस्य तेन तथोक्तेन ।
अत एव तडित्त्वतीं शरदम्बुदसंहतिं शरन्मेघचयं लघयता लघुकुर्वता ।
तत्तुल्येनेत्यर्थः । अत एवोपमालंकारः । निचयेन शिखरसमूहेन समुदितं
समुन्नतम् । निचयेनेति । यद्यपि 'निचय'शब्दः शिखरस्यावाचकस्तथापि पर्वत-
वर्णनप्रकरणोक्तत्वात् पाषाणनिचयः शृङ्गवाची भवितुमर्हति । यथा—'कूटोऽस्त्री
शिखरं शृङ्गम्' इति 'कूट'शब्दः समूहापरपर्यायः । अत एव लक्षणाश्रयणीया ।
अत एवावाच्यवचनं न दोषः ॥ ४ ॥

मणिमयूखचयांशुकभासुराः सुरवधूपरिभुक्तलतागृहाः ।

दधतमुच्चशिलान्तरपोपुराः पुर इवोदितपुष्पवना भुवः ॥ ५ ॥

मणीति ॥ पुनः, मणिमयूखचया अंशुकानीव पटकादीनीव तैर्भासुराः ।
सुरवधूभिः परिभुक्ता लता गृहा इव यासु तास्तथोक्ताः । उच्चानि शिला-
न्तराणि गोपुराणीव शिलान्तराणि शिलामध्यानि पुरद्वाराणि यासु ताः ।
उदितान्यूर्जितानि पुष्पाणां वनानि यासु ताः । अत एव पुर इव नगराणीव
स्थिताः । भुवो दधतम् ॥ ५ ॥

अविरतोज्झितवारिविपाण्डुभिर्विरहितैरचिरद्युतितेजसा ।

उदितपक्षमिवारतनिःस्वनैः पृथुनितम्बविलम्बिभिरम्बुदैः ॥ ६ ॥

अविरतेति ॥ पुनश्च, अविरतमविच्छिन्नमुज्झितवारयः । अवृष्टिमन्त इत्यर्थः ।
अत एव विपाण्डवश्च तैरविरतोज्झितवारिविपाण्डुभिः । अत एव हिम-
वत्पक्षत्वं संभवतीति भावः । अचिरद्युतितेजसा विरहितैर्विद्युत्तेजोरहितैः ।
आरतनिःस्वनैः प्रशान्तगर्जितैश्च । अन्यथा पक्षत्वहानिः स्यादिति भावः । पृथु-
नितम्बविलम्बिभिर्महाकटकसङ्गिभिः । 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेः' इत्यमरः ।
अम्बुदैरुदितपक्षं संजातपक्षमिव स्थितम् । प्राक्छिन्नपक्षस्वापि हिमाद्रेर्ध्रुवला-
म्बुदसंबन्धात् पुनः पक्षोत्थानमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ६ ॥

दधतमाकरिभिः करिभिः क्षतैः समवतारसमैरसमैस्तटैः ।

विविधकामहिता महिताम्भसः स्फुटसरोजवना जवना नदीः ॥ ७ ॥

दधतमिति ॥ पुनश्च, आकरः खनिरेषामस्ति योनित्वेनेत्याकरिभिराकरजैः ।
'खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्' इत्यमरः । करिभिर्गजैः कर्तृभिः । क्षतै र्गणैः
समवतारेषु तीर्थेषु समैरविषमैः । असमैरसदृशैः । अनुपमैरित्यर्थः । तटैरुपल-
क्षितास्तथा महिताम्भसः श्लाघ्योदका अत एव विविधेभ्यः कामेभ्योऽवगा-
हनाद्युपभोगेभ्यो हिता अनुकूलाः । 'चतुर्थी तदर्थ-' इत्यादिना समासः ।
स्फुटानि विकसितानि सरोजवनानि यासु ताः । जवना वेगवतीः । 'जुच-
ङ्कम्य-' इत्यादिना युच् । नदीर्दधतम् । यमकवृत्त्यनुप्रासभेदत्वात् स्वयमे-
वालंकारः । अर्थालंकारस्त्वभ्युच्चयः । तस्यातिदुष्करत्वाद्द्रसपोषोऽपि नाद्रियते ।
तदुक्तम्—'प्रायशो यमके चित्रे रसवृद्धिर्न मृग्यते' इति ॥ ७ ॥

नवविनिद्रजपाकुसुमत्विषां द्युतिमतां निकरेण महाश्मनाम् ।

विहितसांध्यमयूखमिव क्वचिन्निचितकाञ्चनभित्तिषु सानुषु ॥ ८ ॥

नवेति ॥ पुनश्च, नवानि विनिद्राणि विकसितानि च यानि जपाकुसुमानि ताम्रपुष्पिकाकुसुमानि तेषां त्विषं इव त्विषो येषां ते तेषाम् । 'ओण्डपुष्पं जपापुष्पं रूपिका ताम्रपुष्पिका' इति वाग्भटः । द्युतिमतां महाश्मनमणीनाम् । पद्मरागागामित्यर्थः । विशेषणसामर्थ्यात् । निकरेण समूहेन हेतुन क्वचिन्निचिताः संघटिताः काञ्चनभित्तयो येषु तेषु सानुषु विहिता सांध्याः सांध्यायां भवा मयूखा यस्मिन्मिव स्थितम् । काञ्चनभित्तिषु पद्मरागप्रभाप्रसरादुदितसांध्याराग इव भातीत्युत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

पृथुकदम्बकदम्बकराजितं ग्रथितमालतमालवनाकुलम् ।

लघुतुपारतुपारजलश्र्युतं धृतसदानसदाननदन्तिनम् ॥ ९ ॥

पृथ्विति ॥ पुनश्च, पृथुभिः कदम्बवतां कदम्बकैर्नीपकुसुमसमूहै राजितम् । 'कदम्बमाहुः सिद्धार्थे नीपे च निकुरम्बके' इत्युभयत्रापि विश्वः । ग्रथितमालैर्बद्धपङ्क्तिभिस्तमालवनैस्तापिच्छवनैराकुलमाकीर्णम् । 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः । लघुतुपारमल्पशीकरं यत्तुपारजलं हिमोदकं श्र्योतति वर्षति तं तथोक्तम् । 'तुपारां हिमसीकरौ' इति शाश्वतः । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति क्विप् । सदानाः समदाः सदाननाः शोभनाननाश्च ये दन्तिनस्ते धृता येन तं तथोक्तम् ॥ ९ ॥

रहितरत्नचयान्न शिलोच्चयानपलताभवनां न दरीभुवः ।

विपुलिनाम्बुरुहा न सरिद्धधूरकुसुमान्दधतं न महीरुहः ॥ १० ॥

रहितेति ॥ पुनश्च, रहितरत्नचयान् रहितः परित्यक्तो रत्नचयो यैस्तान् रत्नराशिरहितान् शिलोच्चयान् शिखराणि न दधतम् । अपलताभवना लतागृहरहिता दरीभुवो गुहाप्रदेशान्न दधतम् । 'दरी तु कंदरो वा स्त्री देवखातविले गुहा' इत्यमरः । विगतानि पुलिनान्यम्बुरुहाणि च यासां ताः । सरितो वध इव ताः सरिद्धधूर्नं दधतम् । अत्र सरितां वध्वौपम्यात् पुलिनानामम्बुरुहाण च वदनजघनौपम्यं गम्यते । अकुसुमान् महीरुहो वृक्षान्न दधतम्, किंतु रत्नादिसंपन्नानेव शिलोच्चयादीन् दधतमित्यर्थः । महाविभाषया नात्र नञ्समासः ॥ १० ॥

व्यथितसिन्धुमनीरशनैः शनैरमरलोकवधूजघनैर्घनैः ।

फणभृतामभितो विततं ततं दयितरम्यलताबकुलैः कुलैः ॥ ११ ॥

व्यथितेति ॥ पुनश्च, अनीरशनैरनिर्मैखलैः । सरशनैरित्यर्थः । घनैर्निबिडैः । अमरलोकवधूजघनैः शनैर्मन्दं व्यथितसिन्धुं क्षोभितनदीकम् । भयमपरः स्वर्ग इति भावः । ये रम्या लताश्च बकुलाः केसराश्च ते दयिताः प्रिया येषां तैस्तथोक्तैः । 'विशारदो मद्यगन्धो बकुलः स च केसरः' इति वैद्यके । फणभृतां सर्पाणां कुलैरभितस्ततं व्याप्तं तथा विततं विस्तृतम् ॥ ११ ॥

१ 'निहित' इति पाठः. २ 'लुतम्', 'च्युतम्' इति पाठौ. ३ 'नीरसनैः' इति पाठः.

ससुरचापमनेकमणिप्रभैरपपयोविशदं हिमपाण्डुभिः ।

अविचलं शिखरैरुपविभ्रतं ध्वनितसूचितमम्बुमुचां चयम् ॥ १२ ॥

ससुरेति ॥ अनेका विचित्रा मणिप्रभा येषां तैस्तथोक्तैः । हिमेन पाण्डुभिः शिखरैः कृत्वा ससुरचापं सेन्द्रचापम् । अपपया निर्जलोऽत एव विशदश्च तं अपपयोविशदम् । अविचलं दैवान्निश्चलम् । अतः शिखरशङ्काऽस्याभूदित्यर्थः । किंतु ध्वनितेन गर्जितेन सूचितं ज्ञापितमम्बुमुचां चयमविरतमुपविभ्रतम् । अत्र किल कल्पितसादृश्याच्छिखरमेवसंदेहो मेघनिश्चयान्तः संदेहालङ्कारः ॥ १२ ॥

विकचवारिरुहं दधतं सरः सकलहंसगणं शुचि मानसम् ।

शिवमगात्मजया च कृतेर्ष्या सकलहं सगणं शुचिमानसम् ॥ १३ ॥

विकचेति ॥ पुनश्च, विकचवारिरुहम् । नित्यविकसितारविन्दमित्यर्थः । वृत्तिसामर्थ्यात् । कलहंसगणैः सह वर्तत इति सकलहंसगणम् । 'कादम्बः कलहंसः स्यात्' इत्यमरः । यद्वा, -सकलाः सर्वे हंसगणा यस्मिन्स्तथोक्तम् । शुचि नित्यनिर्मलं मानसं मानसाख्यं सरो दधतम् । किंच, कृतेर्ष्या । कुतश्चिन्निमित्तात् कुपितयेत्यर्थः । अगात्मजया पार्वत्या सकलहं सविवादम् । सगणं सप्रमथम् । 'गणाः प्रमथसंख्यौघाः' इति वैजयन्ती । शुचिमानसमविद्याविनिर्मुक्तचित्तं शिवं च दधतम् । एतेन सकलशैलवैलक्षण्यमस्योक्तम् १३

ग्रहविमानगणानभितो दिवं ज्वलयतौपधिजेन कृशानुना ।

मुहुरनुस्मरयन्तमनुक्षपं त्रिपुरदाहमुमापतिसेविनः ॥ १४ ॥

ग्रहेति ॥ दिवमभितो दिवोऽभिमुखम् । 'अभितःपरितः—' इत्यादिना द्वितीया । ग्रहाश्चन्द्रादयो विमानानि देवयानानि च । 'व्योमयानं विमानोऽस्त्री' इत्यमरः । तेषां गणान् ज्वलयता प्रदीपयता । 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । ओषधिजेन तृणविशेषजन्येन कृशानुना वह्निना कृत्वाऽनुक्षपं प्रतिक्षपम् । वीप्सायामव्ययीभावः । उमापतिसेविनः प्रमथादीन् । 'गतिबुद्धि—' इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् । त्रयाणां पुराणां समाहारस्त्रिपुरम् । 'तद्धितार्थ—' इत्यादिना समासः । 'पान्नादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति स्त्रीलिङ्गप्रतिषेधः । तस्य दाहं त्रिपुरदाहं मुहुरनुस्मरयन्तम् । ननु 'अधीगर्थ—' इत्यादिना दाहमित्यत्र षष्ठी किं न स्यात् । तस्याः शेषार्थे विधानाच्छेषत्वस्याविवक्षितत्वात् । अत्र 'कविसंमतसादृश्यात् स्मृतिः' इति स्मरणालङ्कारः ॥ १४ ॥

विततशीकरराशिभिरुच्छ्रितैरुपलरोधविवर्तिभिरम्बुभिः ।

दधतमुन्नतसानुसमुद्धतां धृतसितव्यजनामिव जाह्नवीम् ॥ १५ ॥

विततेति ॥ विततशीकरराशिभिर्विस्तृतशीकरपुञ्जैः । उच्छ्रितैरुपतितैः । कुतः । उपलरोधेन विवर्तिभिरम्बुभिर्हेतुभिः । धृतसितव्यजनामिव गृहीतामलचामरामिव स्थितामित्युत्प्रेक्षा । उन्नतसानुषु समुद्धतां वहन्तीं जाह्नवीं गङ्गां दधतम् ॥ १५ ॥

१ 'अविरतम्' इति पाठः.

अनुचरेण धनाधिपतेरथो नगविलोकनविस्मितमानसः ।

स जगदे वचनं प्रियमादरान्मुखरताऽवसरे हि विराजते ॥ १६ ॥

अनुचरेणेति ॥ अथोऽनन्तरम् । 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः । धनाधिपतेरनुचरेण यक्षेण नगविलोकनेन विस्मितमानसः । सोऽर्जुनः । आदरात् प्रियं वचनं जगदे गदितः । गदतेर्गत्यर्थस्य दुहादित्वात् प्रधाने कर्मणि लिट् । अपृष्टपरिभाषणदोषं परिहरति—मुखरतेति । मुखरता वाचालत्वम् । अपृष्टपरिभाषित्वमिति यावत् । अवसरे श्रोतुराकाङ्क्षासमये विराजते हि । आकाङ्क्षितमपृष्टोऽपि ब्रूयादिति भावः ॥ १६ ॥

अलमेष विलोकितः प्रजानां सहसा संहतिमंहसां विहन्तुम् ।

घनवर्त्म सहस्रधेव कुर्वन् हिमगौरैरचलाधिपः शिरोभिः ॥ १७ ॥

अलमिति ॥ हिमेन गौरैः शुभ्रैः शिरोभिः शिखरैर्घनवर्त्म खं सहस्रधा कुर्वन् विपाटयन्निवेत्युत्प्रेक्षा । एषोऽचलाधिपो हिमवान् विलोकितो दृष्टमात्र एव प्रजानामंहसां संहतिं पापसंधातं सहसा विहन्तुमलं समर्थः । 'पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु' इति तुमुन् । औपच्छन्दसिकं वृत्तम्,—'पर्यन्तेर्यौ तथैव शेषमौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम्' इति स्मरणात् ॥ १७ ॥

इह दुरधिगमैः किञ्चिदेवागमैः सततमसुतरं वर्णयन्त्यन्तरम् ।

अमुमतिविपिनं वेद दिग्ब्यापिनं पुरुषमिव परं पद्मयोनिः परम् १८

इहेति ॥ इहास्मिन्पर्वते । सुतरं न भवतीत्यसुतरम् । दुस्तरमित्यर्थः । तरतेः खलप्रत्ययः । अन्तरं मध्यभागम् । पुरुषे त्वन्तरं तत्त्वम् । दुरधिगमैर्दुरारोहैः, अन्यत्र,—दुर्ग्रहैः । आगमैर्वृक्षैः, अन्यत्र,—पुराणादिभिः । 'पुराणेऽप्यागमो वृक्षे' इति रुद्रटः । किञ्चिदेव सततं वर्णयन्ति न तु कदाचित्प्रत्यक्षेणापि निःशेषं ज्ञातुमशक्यत्वादिति भावः । किंतु, अतिविपिनमतिगहनं दिग्ब्यापिनमुभयत्रापि समम् । अमुं गिरिं परं पुरुषं परमात्मानमिव परं केवलम् । 'परमव्ययमिच्छन्ति केवले' इति विश्वः । पद्मयोनिर्ब्रह्मैव वेद नान्य इत्यर्थः । 'विदो लटो वा' इति णलादेशः । अत्रोपमायमकयोः संसृष्टिः । क्षमावृत्तम्—'तुरगरसयतिर्नौ ततौ गः क्षमा' इति लक्षणात् ॥ १८ ॥

रुचिरपल्लवपुष्पलतागृहैरुपलसज्जलजैर्जलराशिभिः ।

नयति संततमुत्सुकतामयं धृतिमतीरुपकान्तमपि स्त्रियः ॥ १९ ॥

रुचिरपल्लवेति ॥ अयं गिरिः । रुचिस्रणि पल्लवानि पुष्पाणि च येषां ते तथाभूता लतागृहा येषु तैस्तथोक्तैरुपलसज्जलजैः शोभितकमलैर्जलराशिभिः सरोभिः करणैः उपकान्तं कान्तसमीपे धृतिमतीर्यैवतीरपि समीपस्थानपि प्रियान्न गणयन्तीः । मानिनीरित्यर्थः । स्त्रियः संततमुत्सुकतां नयति । तासां मानग्रन्थि शिथिलयतीत्यर्थः । अथवा,—उपकान्तं धृतिमतीरुपकान्तमपि सुरतवृक्षा अपि पुनरप्युत्सुकतां नयतीत्यर्थः । उभयत्राप्युद्गीपकत्वादतिशयोक्तिः । वृत्तमुक्तम् ॥ १९ ॥

सुलभैः सदा नयवताऽयवता निधिगुह्यकाधिपरमैः परमैः ।

अमुना धनैः क्षितिभृतातिभृता समतीत्य भाति जगती जगती २०

सुलभैरिति ॥ नयवता नीतिमताऽयवता भाग्यवता च सदा सुलभैः । नान्यैरित्यर्थः । 'अयं शुभावहो विधिः' इत्यमरः । निधीनां महापद्मादीनाम् । 'अस्त्री पद्मो महापद्मः शङ्खो मकरकच्छपौ । मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥' इत्यमरः । गुह्यकानां चाधिपं कुबेरं रमयन्तीति तथोक्तैः । 'कर्मण्यण्' । परमैरुत्कृष्टैर्धनैः करणैः । अमुना क्षितिभृता हिमाद्रिणाऽतिभृता पूर्णा सती जगती मही जगती स्वर्गपाताललोकौ समतीत्यातिक्रम्य भाति । अमानुषैरपि दुर्लभाः संपदोऽत्र संभवन्तीति भावः । अत्र धनातिभृतेति पदार्थस्य विशेषणगत्या जगदतिक्रमणहेतुत्वोक्त्याः काव्यलिङ्गम् । तस्य यमकेन संसृष्टिः । प्रमिताक्षरावृत्तम्—'प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता' इति लक्षणात् ॥ २० ॥

अखिलमिदममुष्य गौरीगुरोस्त्रिभुवनमपि नैति मन्ये तुलाम् ।

अधिवसति सदा यदेनं जनैरविदितविभवो भवानीपतिः ॥ २१ ॥

अखिलमिति ॥ अमुष्य गौरीगुरोर्हिमवत इदमखिलम् । त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनमपि । 'तद्धितार्थ-' इत्यादिना समासः । पात्रादित्वात् स्त्रीत्वप्रतिषेधः । तुलां साम्यं नैतीति मन्ये । यत् यतो जनैरविदितविभवोऽज्ञातमहिमा भवानीपतिः शिवः सदेनं गिरिमधिवसति । अस्मिन्वसतीत्यर्थः । 'उपान्वध्याङ्गुसः' इति कर्मत्वम् । अतोऽयं धर्मक्षेत्रमिति भावः । प्रभावृत्तम्—'स्वरशरविरतिर्ननौ रौ प्रभा' इति लक्षणात् ॥ २१ ॥

वीतजन्मजरसं परं शुचि ब्रह्मणः पदमुपैतुमिच्छताम् ।

आगमादिव तमोपहादितः संभवन्ति मतयो भवच्छिदः ॥ २२ ॥

वीतेति ॥ वीते निवृत्ते जन्मजरसौ यस्य तत् वीतजन्मजरसम् । 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति जरसादेशः । अत्र तदन्तविधेरिष्टत्वात् परत्वेन स्यादेशबाधकत्वाच्च । तथा हि—'ताडसिडसामिनात्स्या' इति स्यादेशबाधनात् । 'परत्वाज्जरसादेशं बभाषे भाष्यकृत्स्वयम् ॥ सूत्रकारमते यत्तु ज्ञापकात्परबाधनम् । भवेत्तदपि टाडस्योर्न पुनर्डासिं संभवि ॥ मतद्वयेऽपि तत्तुल्यं डसि यत्पूर्वबाधनम् । परत्वाज्जरसादेशस्तस्यात्स्यादेशबाधनात् ॥ ज्ञापकं यच्च टाडस्योर्यावादेशाविनादिति । ईकारदीर्घयोस्तत्र वैयर्थ्यं तत्तु तौ विना ॥ एत्वे सवर्णे दीर्घे च रूपसिद्धिर्भवेद्यतः । व्यर्थं सूत्राक्षरत्यागाद्भङ्गत्वेतज्ज्ञापकं फणी ॥ स्वातन्त्र्याज्जरसादेशं जगौ पूर्वस्य बाधनात् । समर्थनप्रपञ्चस्तु भाष्यकैयटयोः स्फुटः ॥' एवं च यदत्र जरस इति केषांचित्पाठान्तरकल्पनं तदज्ञानविजृम्भितमेव । ब्रह्मणः परमात्मनः संबन्धि परमुत्कृष्टं शुचि निष्कलङ्कम् । पद्यत इति पदं स्थानं तादात्म्यलक्षणम् । मुक्तिमित्यर्थः । उपैतुं प्राप्तुमिच्छतां मुमुक्षुणाम् । आगमाच्छास्त्रादिव । तमोऽपहन्तीति तमोपहादविद्यानिवर्तकात् । 'अपे क्लेशतमसोः' इति उप्रत्ययः । इतोऽस्माद्गिरेः । भवं छिन्दन्तीति भवच्छिदः संसारनिवर्तकाः । 'सत्सूद्विष-' इत्यादिना क्विप् । मतयस्तत्त्वज्ञानानि संभवन्त्युत्पद्यन्ते । क्षेत्रविशेषस्यापि ज्ञानोपायत्वादित्याशयः । न केवलमियं भोगभूमिः किंतु मुक्तिक्षेत्र-

मपीति तात्पर्यार्थः । रथोद्धतावृत्तम् । तल्लक्षणम्—‘रान्नराविह रथोद्धता
लगौ’ इति ॥ २२ ॥

दिव्यस्त्रीणां सचरणलाक्षारागा रागायाते निपतितपुष्पापीडाः ।

पीडाभाजः कुसुमचिताः साशंसं शंसन्त्यस्मिन्सुरतविशेषं शय्याः ॥

दिव्येति ॥ अस्मिन् गिरौ । चरणलाक्षारागैः सह वर्तन्ते तास्तथोक्ताः ।
धेनुकपुरुषायितादिबन्धेषु स्त्रियाः पादतलस्याधः स्पर्शात्तद्रागाङ्किता इत्यर्थः ।
निपतिता व्यानतकरणे स्त्रीणामधोमुखत्वाद्भ्रष्टाः पुष्पापीडाः कुसुमशेखरा
यासु तास्तथोक्ताः । ‘शिखास्त्रापीडशेखरौ’ इत्यमरः । पीडाभाजो विमर्द-
भाजः । भङ्गिमत्य इत्यर्थः । भ्रमरप्रेङ्खोलितादौ सर्वतः कटीपरिभ्रमणसंभवादिति
भावः । कुसुमैश्चिताः कुसुमव्यासाः । इभमार्जारादिकरणेषु स्तनभुजाद्यवय-
वानां शय्यातलस्थायित्वान्मर्दनाय कुसुमाचिता इत्यर्थः । दिव्यस्त्रीणां संब-
न्धिन्त्यः । शेरत आस्विति शय्यास्तल्पानि । ‘संज्ञायां समजनिषद्-’ इत्यादिना
क्यप् । रागायाते रागोद्वेके सति यः साशंसः सतृष्णः सुरतविशेषस्तम् ।
जातावेकवचनम् । सुरतविशेषानित्यर्थः । शंसन्ति सूचयन्ति । विवृण्वन्तीत्यर्थः ।
अत्र लाक्षारागादिपदार्थानां सुरतविशेषशंसनं प्रति विशेषणगत्या हेतुत्वोक्त्या
काव्यलिङ्गमलङ्कारो यमकेन संसृज्यते । जलधरमालावृत्तम्—‘म्भौ स्मौ चेत्स्या-
जलधरमाला ख्याता’ इति लक्षणात् । धेनुकादिबन्धलक्षणं तु रतिरहस्ये—‘न्यस्त-
हस्तयुगला निजे पदे योषिदेति कटिरूढवल्लभा । अग्रतो यदि शनैरधोमुखी
धेनुकं वृषवदुन्नते प्रिये ॥ स्वेच्छया भ्रमति वल्लभेऽपि या योषिदाचरति वल्ल-
भायितम् । व्यानतं रतमिदं यदि प्रिया स्यादधोमुखचतुष्पदाकृतिः ॥ तत्कटिं
समधिरुह्य वल्लभः स्यादृषादिपशुसंस्थितिस्थितः । चक्रवद्भ्रमति कुञ्चिताङ्किता
भ्रामरं न जघने समुद्गते ॥ पर्वतः कटिपरिभ्रमो यदि प्रेङ्खपूर्वमिदमुक्तमूलितम् ।
भ्रूगतस्तनयुगास्यमस्तकामुन्नतस्फिचमधोमुखीं स्त्रियम् । क्रामति स्वकरकृष्टमेहने
वल्लभे करिरतं तदुच्यते ॥’ ‘प्रसारिते पाणिपादे शय्यास्पृशि मुखोरसि । उन्नतायाः
स्त्रियाः कर्त्र्यां मार्जारकरणं विदुः ॥’ इति ग्रन्थान्तरे । ‘कान्तोत्पीडा भ्रौ स्मौ’
इत्यप्येतद्वृत्तनाम ॥ २३ ॥

गुणसंपदा समधिगम्य परं महिमानमत्र महिते जगताम् ।

नयशालिनि श्रिय इवाधिपतौ विरमन्ति न ज्वलितुमौषधयः २४

गुणेति ॥ जगतां महिते जगद्भिः पूजिते पूज्यमाने । ‘मतिबुद्धि-’ इत्या-
दिना वर्तमाने क्तः । ‘क्तस्य च वर्तमाने’ इति षष्ठी । अत्र हिमवति । औषधयस्तृण-
ज्योतीषि नयशालिन्यधिपतौ नीतिसंपन्ने राज्ञि श्रियः संपद इव गुणसं-
पदा क्षेत्रगुणसंपत्त्या । अन्यत्र,—संध्यादिगुणसंपदा । परं महिमानम् । उभय-
त्रापि प्रकाशसामर्थ्यम् । समधिगम्य ज्वलितुं प्रकाशितुं न विरमन्ति ।
अविरतं ज्वलन्तीत्यर्थः । अन्यत्र,—रात्रादावेवेति भावः ॥ २४ ॥

कुररीगणः कृतरवस्तरवः कुसुमानताः सकमलं कमलम् ।

इह सिन्धवश्च वरणावरणाः करिणां मुदे सनलदानलदाः ॥ २५ ॥

कुररीति ॥ इहाद्रौ कुररीगण उक्कोशसङ्घः । 'उक्कोशकुररौ समौ' इत्यमरः । कृतरवः कृतरवः । तरवः कुसुमैरानताः । कमलं जलं सकमलं सपद्मम् । 'कमलं जलपद्मयोः' इति विश्वः । यद्वा, -कं जलमलमत्यन्तं सपद्मं वर्तते । 'कं जले शिरसि च' इत्यमरः । किंच, वरणा द्रुमा आवरणं यासां ता वरणावरणाः । 'वरणो वरुणः सेतुस्तिक्तशाकः कुमारकः' इत्यमरः । सनलदाः सोशीराः । 'मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम् । अभयं नलदं सेव्यम्' इत्यमरः । अनलं संतापं घ्नन्ति खण्डयन्ति शमयन्तीत्यनलदाः सनलदाश्च ता अनलदाः सिन्धवो नद्यः करिणां मुदे । भवन्तीति शेषः । न कुत्राप्युक्तवैपरीत्यमिति भावः ॥२५॥

सादृश्यं गतमपनिद्रचूतगन्धै-

रामोदं मदजलसेकजं दधानः ।

एतस्मिन्मदयति कोकिलानकाले

लीनालिः सुरकरिणां कपोलकाषः ॥ २६ ॥

सादृश्यमिति ॥ एतस्मिन् पर्वते । अपनिद्रचूतगन्धैः सादृश्यं गतं फुल्ल-
अपुष्पगन्धसदृशं मदजलसेकजमामोदं परिमलं दधानो बिभ्राणः । अत एव
लीनालिः संसक्तभृङ्गः सुरकरिणाम् । कष्यतेऽनेनेति काषः । कपोलानां
काषः कषणस्थानं द्रुमस्कन्धादि । अकाले वसन्तातिरिक्ते कालेऽपि कोकिला-
मदयति । 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । अत्र वसन्तरूपकरणाभावेऽपि मदाख्य-
योत्पत्तिकथनाद्विभावनालंकारः । तदुक्तम्—'कारणेन विना कार्यस्योत्पत्तिः
द्विभावना' इति । सा च चूतगन्धैः सादृश्यमित्युपमया वामोदं दधान इति
[ार्थहेतुककाव्यलिङ्गेन चाङ्गाङ्गिभावेन संकीर्यते । किंच, कोकिलानां मदगन्धे
तगन्धभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलंकारो व्यज्यते । प्रहर्षिणीवृत्तम्—'स्रौ स्रौ गच्छिद-
यतिः प्रहर्षिणीयम्' इति लक्षणात् ॥ २६ ॥

सनाकवनितं नितम्बरुचिरं चिरं सुनिनदैर्नदैर्वृतममुम् ।

मता फणवतोऽवतो रसपरा परास्तवसुधा सुधाधिवसति ॥ २७ ॥

सनाकेति ॥ पुनश्च, सनाकवनितं साप्सरस्कं बितम्बैः कटकै रुचिरं
सुनिनदैः सुधोषैर्नदैः प्रवाहैर्वृतममुम् । अमुष्मिन्गिरावित्यर्थः । 'उपान्व-
ध्याङ्गवसः' इति कर्मत्वम् । अवतोऽधोलोकरक्षकस्य फणवतो नागराजस्य
मतेष्टा । 'मतिबुद्धि-' इत्यादिना वर्तमाने क्तः । तद्योगात्षष्ठी । रसेन स्वादेन
परोत्कृष्टा परास्तवसुधा त्यक्तभूलोका सुधामृतं चिरमधिवसति । अतोऽ-
न्यत्र भूमण्डले कुत्रापि सुधा नास्तीत्यर्थः । मेरुप्रतिभटोऽयं गिरिरिति भावः ।
अत्र प्रस्तुतविशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतमेरुप्रतीतेः समासोक्तिरलंकारः । स च
प्रमकेन संसृज्यते । जलोद्धतगतिवृत्तम्—'रसैर्जसजसा जलोद्धतगतिः' इति
लक्षणात् ॥ २७ ॥

श्रीमल्लताभवनमोषधयः प्रदीपाः

शय्या नवानि हरिचन्दनपल्लवानि ।

अस्मिन् रतिश्रमनुदश्च सरोजवाताः

स्मर्तुं दिशन्ति न दिवः सुरसुन्दरीभ्यः ॥ २८ ॥

श्रीमदिति ॥ अस्मिन्नद्रौ श्रीमत् समृद्धिमत् । लता एव भवनम् । ओष-
धयस्तृणज्योतीष्येव प्रदीपाः । नवानि हरिचन्दनपल्लवानि सुरतरुकिसल-
यान्येव शय्याः । 'हरिचन्दनमाख्यातं गोशीर्षं सुरपादपे' इति विश्वः । रति-
श्रमनुदः सुरतश्रमहारिणः सरोजवाताश्च । सुरसुन्दरीभ्यः । क्रियाग्रह-
णाच्चतुर्थी । दिवो दिवम् । 'अधीगर्थ-' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । स्मर्तुं न
दिशन्ति विस्मारयन्तीत्यर्थः । स्वर्गादप्यतिरिच्यतेऽसाविति भावः । अत्र पूर्वार्धं
रूपकत्रयं स्फुटमेव ॥ २८ ॥

ईशार्थमम्भसि चिराय तपश्चरन्त्या

यादोविलङ्घनविलोलविलोचनायाः ।

आलम्बताग्रकरमत्र भवो भवान्या-

श्रयोतन्निदाघसलिलाङ्गुलिना करेण ॥ २९ ॥

ईशार्थमिति ॥ ईशायेतीशार्थं यथा तथेति क्रियाविशेषणम् । 'अर्थेन सह
नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या' । चिराय चिरमम्भसि तपश्चरन्त्या
अत एव यादोविलङ्घनविलोलविलोचनाया जलजन्तुविघटितचक्रितेक्ष-
णायाः । तपसोऽप्यधिकं दृष्ट्यैव विलोभयन्त्येति भावः । 'यादांसि जलजन्तवः'
इत्यमरः । भवान्या भवपत्न्याः । प्रयोगकालापेक्षोऽयं निर्देशः । 'इन्द्रवरुण-
भव-' इत्यादिना ङीप् । आनुगागमश्च । करैकदेशस्यापि कर्त्वाद्ग्रश्चासौ कर-
श्चेति समानाधिकरणे समासः । अत एव वामनः—'हस्ताग्राग्रहस्तयोर्गुणगुणिनो-
भेदाभेदौ' इति । तं अग्रकरं भवः शिवः श्रयोतन्निदाघसलिलाङ्गुलिना
स्ववस्त्रेदाङ्गुलिनेति सात्त्विकोदयोक्तिः । करेणात्र गिरावालम्बत गृहीत्वान् ।
अत्राङ्गुतातीतवृत्तान्तस्य प्रत्यक्षवदभिधानाद्भाविकालंकारः—'अतीतानागते यत्र
प्रत्यक्षवदलक्षिते । अत्यङ्गुतार्थकार्यत्वाद्भाविकं तदुदाहृतम् ॥' इति लक्षणात् ।
वसन्ततिलकावृत्तम्—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् २९

येनापविद्धसलिलः स्फुटनागसन्ना

देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे ।

व्यावर्तनैरहिपतेरयमाहिताङ्कः

खं व्यालिखन्निव विभाति स मन्दराद्रिः ॥ ३० ॥

येनेति ॥ देवाश्चासुराश्च तैर्देवासुरैः । 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' इति
नैकवद्भावः । येषां यतः कार्यत एव विरोधो न गोव्याघ्रादिवच्छाश्वतिक इत्याहुः ।
येन मन्दराद्रिणा । मन्थदण्डीकृतेनेति भावः । अपविद्धसलिलः क्षिप्तजलोऽत-

एव स्फुटं नागसन्न पातालं यस्मिन् सोऽम्बुनिधिरमृतं ममन्थे मथितः ।
मन्थतेर्द्विकर्मकत्वाद्बुहादित्वादप्रधाने कर्मणि लिट् । अहिपतेः । मन्थगुणीकृतस्य
वासुकेरित्यर्थः । 'मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम्' इति भारत-
वचनात् । व्यावर्तनैर्वेष्टनैः । आहिताङ्गः कृतचिह्नः सोऽयं मन्दराद्रिः
खमाकाशं व्यालिखन् व्यापाटयन्निव विभाति । अत्रौन्नत्यानुपादानेनैव
खलेखनोत्प्रेक्षणादनुपात्तगुणनिमित्ता क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा ॥ ३० ॥

नीतोच्छ्रायं मुहुरशिशिररश्मैरुस्रै-

रानीलाभैर्विरचितपरभागा रत्नैः ।

ज्योत्स्नाशङ्कामिह वितरति हंसश्येनी

मध्येऽप्यहः स्फटिकरजतभित्तिच्छाया ॥ ३१ ॥

नीतेति ॥ इहाद्रौ । अशिशिररश्मैरुष्णांशोरुस्रैर्मयूखैः । संक्रान्तैरित्यर्थः ।
नीतोच्छ्रायमुच्छ्रायं नीता । विस्तारितेत्यर्थः । तथा, आनीलाभैरसितप्रभै
रत्नैरिन्द्रनीलैर्विरचितपरभागा । तत्संनिधानाल्लब्धोत्कर्षेत्यर्थः । हंस इव
श्येनी श्वेतवर्णा । 'विशदश्येतपाण्डराः' इत्यमरः । 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः'
इति श्येतशब्दान्डीप् । तकारस्य च नकारः । स्फटिकानां रजतानां च भित्ति-
यस्तासां छाया कान्तिः । अहो मध्ये । मध्याह्नेऽपीत्यर्थः । मुहुर्ज्योत्स्ना-
शङ्कां ज्योत्स्नाभ्रान्ति वितरति जनयतीति भ्रान्तिमदलंकारः ॥ ३१ ॥

दधत इव विलासशालि नृत्यं मृदु पतता पवनेन कम्पितानि ।

इह ललितविलासिनीजनभ्रूगतिकुटिलेषु पयःसु पङ्कजानि ॥ ३२ ॥

दधत इति ॥ इहाद्रौ । मृदु पतता मन्दं वहता पवनेन कम्पितानि पङ्क-
जानि ललितविलासिनीजनस्य भ्रूगतिवत् कुटिलेषु । ईषत्तरङ्गितेष्वि-
त्यर्थः । पयःसु विलासशालि नृत्यं दधत इव । सविलासं नृत्यन्तीवेत्यु-
त्प्रेक्षा । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ३२ ॥

अस्मिन्नगृह्यत पिनाकभृता सलील-

माबद्धवेपथुरधीरविलोचनायाः ।

विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः

स्रस्तोरगप्रतिसरेण करेण पाणिः ॥ ३३ ॥

अस्मिन्निति ॥ अस्मिन्नद्रौ । पिनाकभृता शिवेन । अधीरविलोचनायाश्च-
कितदृष्टेः । उरगदर्शनादिति भावः । ईश्वराया गौर्याः । 'स्थेशभास-' इत्यादिना
वरच् । पुंयोगविवक्षाभावान्न ङीष् । आबद्धवेपथुः प्राप्तकम्प इति सार्वि-
कोक्तिः । 'द्वितोऽथुच्' इत्यथुच्प्रत्ययः । विन्यस्ता मङ्गलमहौषधिर्यवाङ्कुरादिर्य-
स्मिन् स पाणिः । स्रस्तो गलित उरग एव प्रतिसरः कौतुकसूत्रं यस्य तेन ।
'आहुः प्रतिसरो हस्तसूत्रे माल्ये च मण्डने' इति विश्वः । करेण सलील-

१ 'कम्पितेषु' इति पाठः.

मगृह्यतेति देवस्य पार्वतीपरिणयनवर्णनम् । ईषार्थमित्यत्र (?) त्वनुग्रहमात्रो-
क्तिरित्यपौनरुक्त्यम् । भाविकमेवालंकारः ॥ ३३ ॥

क्रामद्भिर्घनपदवीमनेकसंख्यै-

स्तेजोभिः शुचिमणिजन्मभिर्विभिन्नः ।

उस्राणां व्यभिचरतीव सप्तसप्तेः

पर्यस्यन्निव निचयः सहस्रसंख्याम् ॥ ३४ ॥

क्रामद्भिरिति ॥ घनपदवीमाकाशं क्रामद्भिर्व्यश्रवानैः । अनेकसंख्यैः ।
परःसहस्रैरित्यर्थः । क्वचित् 'अनेकवर्णैः' इति पाठस्तु ग्रामादिक एव । वैयर्थ्याद्वाघा-
ताच्चेति । शुचिमणिभ्यः स्फटिकेभ्यो जन्म येषां तैः । 'जन्माद्युत्तरपदो बहु-
व्रीहिव्यधिकरणोऽपीष्यते' इति वामनः । तेजोभिर्विभिन्नो मिश्रोऽत एव पर्य-
स्यन् प्रसर्पन्निहाद्रौ सप्तसप्तेः सवितुरुस्राणां किरणानां निचयो निकरः ।
सहस्रमिति संख्या सहस्रसंख्या ताम् । स्वनियतामिति शेषः । व्यभिचर-
त्यतिक्रामतीवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥

व्यधत्त यस्मिन् पुरमुच्चगोपुरं पुरां विजेतुर्धृतये धनाधिपः ।

स एष कैलास उपान्तसर्पिणः करोत्यकालास्तमयं विवस्वतः ॥ ३५ ॥

व्यधत्तेति ॥ यस्मिन् कैलासे धनाधिपः कुबेरः पुरां विजेतुः शिवस्य
धृतये संतोषाय । उच्चगोपुरमुन्नतपुरद्वारम् । 'पुरद्वारं तु गोपुरम्' इत्यमरः ।
पुरमलकाख्यां पुरीं व्यधत्त निर्मितवान् । तत्सखित्वादिति भावः । स एष
कैलास उपान्तसर्पिणः प्रान्तचारिणो विवस्वतः सूर्यस्य । अकाले प्रसिद्धेतर-
कालेऽस्तमयं करोतीवेत्युत्प्रेक्षा । वस्तुतस्तु तत्कारणाभावाद्भक्तकाप्रयोगाद्ग-
म्योत्प्रेक्षा । सा चोपान्तवर्तितयाऽसंबन्धे संबन्धलक्षणातिशयोक्त्युत्थापितेति
विवेकः । 'अस्तम्' इति मकारान्तमव्ययम् । तस्य पचाद्यजन्तेन 'अय'शब्देन
षष्ठीसमासः । वृत्तमुक्तम् ॥ ३५ ॥

नानारत्नज्योतिषां संनिपातैश्छन्नेष्वन्तःसानु वप्रान्तरेषु ।

वद्भ्रां वद्भ्रां भित्तिशङ्काममुष्मिन्नावानावान्मातरिश्वा निहन्ति ॥ ३६ ॥

नानेति ॥ अमुष्मिन् कैलासेऽन्तःसानु । सानुष्वित्यर्थः । विभक्त्यर्थेऽ-
व्ययीभावः । नानारत्नज्योतिषां अनेकमणिकान्तीनां संनिपातैर्व्यतिकरै-
श्छन्नेषु छादितेषु । 'वा दान्तशान्त-' इत्यादिना निपातः । वप्रान्तरेषु कट-
कान्तरेषु वद्भ्रां वद्भ्रां मभीक्षणवद्भ्राम् । द्बोत्पादितामित्यर्थः । 'नित्यवीप्सयोः'
इति नित्यार्थे द्विर्भावः । 'नित्यमभीक्षणम्' इति काशिका । एकपदं चैतत् । भित्ति-
शङ्कां भित्तिरिति संदेहम् । आवानावानभीक्षणमापतन् । आङ्पूर्वाद्वाघातोः
शतृप्रत्ययः । द्विर्भावादि पूर्ववत् । मातर्यन्तरिक्षे श्रयति गच्छतीति मातरिश्वा
वायुः । कनिन्प्रत्ययः । 'तत्पुरुषे कृतिबहुलम्' इत्यलुक् । निहन्ति निवर्तयति ।
वायुसंचाराद्भित्त्यभावोऽवधार्यत इत्यर्थः । अतो निश्चयान्तः संदेहालङ्कारः ।
शालिनीवृत्तम् ॥ ३६ ॥

रम्या नवद्युतिरपैति न शाद्वलेभ्यः
श्यामीभवन्त्यनुदिनं नलिनीवनानि ।

अस्मिन्विचित्रकुसुमस्तवकाचितानां
शाखाभृतां परिणमन्ति न पल्लवानि ॥ ३७ ॥

रम्येति ॥ अस्मिन्नद्रौ । शादाः शष्पाणि सन्त्येष्विति शाद्वलास्तेभ्यः । 'शाद्वलः शादहरिते' इत्यमरः । 'नडशादाद् ड्वलच्' । रम्या नवा द्युतिर्नापैति । किंतु नित्येत्यर्थः । नलिनीवनान्यनुदिनं सर्वदा श्यामीभवन्ति । न कदाचित्पाण्डुरीभवन्तीत्यर्थः । विचित्रकुसुमस्तवकैराचितानां व्याप्तानां शाखाभृतां तरूणां पल्लवानि न परिणमन्ति । न जीर्णानि भवन्तीत्यर्थः । सर्वदा नूतनमेव सर्वं वर्तत इत्यर्थः । अत्र प्रस्तुतस्यैव तत्तद्वस्तुगतकान्तिस्थैर्यरूपकार्यस्य वर्णनात् प्रस्तुतमिव कारणं कश्चिदसाधारणः कैलासस्य महिमावगम्यत इति पर्यायोक्तिरलङ्कारः । तदुक्तम्—'कारणं गम्यते यत्र प्रस्तुतं कार्यवर्णनात् । प्रस्तुतत्वेन संबन्धस्तत्पर्यायोक्तमुच्यते ॥' इति ॥ ३७ ॥

परिसरविषयेषु लीढमुक्ता हरिततृणोद्गमशङ्कया मृगीभिः ।

इह नवशुककोमला मणीनां रविकरसंवलिताः फलन्ति भासः ३८

परिसरेति ॥ इहाद्रौ परिसरविषयेषु पर्यन्तदेशेषु । 'विषयो देशे' इति निपातः । मृगीभिर्हरिततृणोद्गमशङ्कया नीलतृणाङ्कुरभ्रान्त्येति भ्रान्तिमदलङ्कारः । लीढाः पूर्वमास्त्रादिताः पश्चान्मुक्ता लीढमुक्ताः । दग्धप्ररूढ इत्यादिवत् 'पूर्वकाल-' इत्यादिना समानाधिकरणसमासः । नवशुककोमलाः शुकसवर्णा मणीनां मरकतमणीनां भासो रविकरैः संवलिता मिश्रिताः सत्यः फलन्ति संमूर्च्छन्ते । वर्धन्त इति यावत् ॥ ३८ ॥

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मा-

दुद्धूतः सरसिजसंभवः परागः ।

वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्ता-

दाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् ॥ ३९ ॥

उत्फुल्लेति ॥ अस्मिन्नद्रौ वात्याभिर्वातसमूहैः । 'वातादिभ्यो यत्' इति यत्प्रत्ययः । अमुष्माद्द्रव्यमानादुत्फुल्लस्थलनलिनीवनात् । जलपतितस्य परागस्योत्थानासंभवात् 'स्थल'ग्रहणम् । उत्फुल्लसंफुल्लयोरुपसंख्यानाग्निष्ठानत्वम् । उद्धूत उत्थापितो वियति समन्ताद्विवर्तितः परिमण्डलितः । अन्तराले तु दण्डायमान एवेति भावः । सरसिजसंभवः पद्मोद्भवः परागः । रूढ्यभिप्रायेणात्र 'सरसिज'शब्दप्रयोगो द्रष्टव्यः । कनकमयातपत्रलक्ष्मीमाधत्तेऽनुकरोति । अत्र परागस्यातपत्रलक्ष्मीसंबन्धासंभवात्तत्सदृशी लक्ष्मीमिति प्रतिबिम्बेनाक्षेपाद्-

१ 'प्रथम' इति पाठः. २ 'शिशुशुक' इति पाठः. ३ 'संमिलिताः' इति पाठः.

४ 'उद्धूतः' इति पाठः.

संभविधर्मसंबन्धेयं निदर्शना । तदुक्तम्—‘असंभवद्धर्मयोगादुपमानोपमेययोः । प्रतिबिम्बक्रिया गम्या यत्र सा स्यान्निदर्शना ॥’ इति ॥ ३९ ॥

इह सनियमयोः सुरापगायामुषसि सयावकसव्यपादरेखा ।
कथयति शिवयोः शरीरयोगं विषमपदा पदवी विवर्तनेषु ॥ ४० ॥

इहेति ॥ इहाद्रौ । उषसि प्रभाते सुरापगायां लक्षणया तत्कूले सयावका सालक्तका सव्यपादस्य रेखा वामचरणमुद्रा यस्यां सा । ‘यावोऽलक्तो द्रुमामयः’ इत्यमरः । तथा विषमाणि महदल्पानि पदानि यस्यां सा विवर्तनेषु प्रदक्षिणक्रियासु पदवी । शिवयोः प्रदक्षिणपद्धतिरित्यर्थः । सनियमयोः । संध्यायां प्रणमतोरित्यर्थः । शिवा च शिवश्च तयोः शिवयोरुमाशंकरयोः । ‘पुमान्छिया’ इत्येकशेषः । शरीरयोगमर्धाङ्गसंघटनारूपं कथयति । सनियमयोरिति नियमविषयेऽपि विरहासहाविह विहरतः शिवाविति भावः । अत्र पदवीविशेषणपदार्थयोः कथनं प्रति हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४० ॥

संमूर्च्छतां रजतभित्तिमयूखजालै-
रालोलपादपलतान्तरनिर्गतानाम् ।

घर्मद्युतेरिह मुहुः पटलानि धाम्ना-
मादर्शमण्डलनिभानि समुल्लसन्ति ॥ ४१ ॥

संमूर्च्छतामिति ॥ इहाद्रौ रजतभित्तिमयूखजालैः संमूर्च्छतां बहुली-
भवतामालोलानां पादपलतानां तरुशाखानामन्तरेषु रन्ध्रेषु निर्गतानां
प्रसृतानां घर्मद्युतेरुष्णांशोर्धाम्नां तेजसामादर्शमण्डलनिभानि दर्पणबिम्ब-
सदृशानीत्युपमालङ्कारः । पटलानि मण्डलानि मुहुर्वारंवारं समुल्लसन्ति
पुनःपुनः स्फुरन्ति न तु सातत्येन, लतानामालोलत्वाभावात् । तच्च नान्यत्र मृत्पा-
षाणादिप्राये संभवतीति भावः ॥ ४१ ॥

शुक्लैर्मयूखनिचयैः परिवीतमूर्ति-
र्वप्राभिघातपरिमण्डलितोरुदेहः ।

शृङ्गाण्यमुष्य भजते गणभर्तुरुक्षा
कुर्वन् वधूजनमनःसु शशाङ्कशङ्काम् ॥ ४२ ॥

शुक्लैरिति ॥ शुक्लैर्मयूखनिचयैः शुभ्रकिरणसमूहैः परिवीतमूर्तिर्व्याप्तदेहः ।
वप्राभिघातेन वप्रक्रीडया परिमण्डलितो वर्तुलीकृत उरुदेहो बृहच्छरीरं
यस्य तथोक्तो गणभर्तुः प्रमथनाथस्य उक्षा वृषभः । ‘उक्षानङ्गान्बलीवर्द
ऋषभो वृषभो वृषः’ इत्यमरः । वधूजनमनःसु शशाङ्कशङ्कां चन्द्रभ्रान्ति
कुर्वन् । तेषां मौग्ध्यादिति भावः । अमुष्याद्रेः शृङ्गाणि भजते सेवते ।
अत्र ‘शङ्का’शब्दस्य संदेहार्थत्वे संदेहालङ्कारः । भ्रान्तिपरत्वे भ्रान्तिमदलङ्कारः ।
यथेच्छसि तथास्तु । नवोक्षविशेषणोत्थेन काव्यलिङ्गेनाङ्गाङ्गिभावेन संकीर्यते ॥ ४२ ॥

१ ‘लेखा’ इति पाठः. २ ‘विवर्तितेषु’ इति पाठः.

संप्रति लब्धजन्म शनकैः कथमपि लघुनि
क्षीणपयस्युपेयुषि भिदां जलधरपटले ।

खण्डितविग्रहं बलभिदो धनुरिह विविधाः

पूरयितुं भवन्ति विभवः शिखरमणिरुचः ॥ ४३ ॥

संप्रतीति ॥ इहाद्रौ । विविधा नानावर्णाः । शिखरमणिरुचः संप्रति । शरदीत्यर्थः । लघुन्यगुरुणि । कुतः । क्षीणपयसि । अत एव भिदां भेदम् । 'षिद्धिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः । उपेयुषि गते जलधरपटले मेघमण्डले कथमपि शनकैर्लब्धजन्म । उत्पन्नमित्यर्थः । अत एव खण्डितविग्रहं छिन्न-स्वरूपं बलभिद् इन्द्रस्य धनुः पूरयितुं विभवः समर्था भवन्ति । अत्रेन्द्र-धनुषो मणिरुचीनामसंबन्धे संबन्धकथनादतिशयोक्तिरलङ्कारः । वंशपत्रपतितं वृत्तम्—'दिङ्मुनि वंशपत्रपतितं भरनभरलगैः' इति लक्षणात् ॥ ४३ ॥

स्रपितनवलतातरुप्रवालै-

रमृतलवस्रुतिशालिभिर्मयूखैः ।

सततमसितयामिनीषु शंभो-

रमलयतीह वनान्तमिन्दुलेखा ॥ ४४ ॥

स्रपितेति ॥ इहाद्रौ । शंभोरिन्दुलेखा । स्रपितानि सिक्तानि नवानि लतानां तरुणां च प्रवालानि यैस्तैः । अमृतलवस्रुत्याऽमृतविन्दुनिःस्यन्देन शालन्ते ये तैर्मयूखैः सततं सर्वकालमसितयामिनीषु कृष्णपक्षरात्रिष्वपि वनान्तममलयति धवलयति । अन्यत्र,—नैतदस्तीति व्यतिरेको व्यज्यते ॥४४॥

क्षिपति योऽनुवनं विततां बृहद्बृहतिकामिव रौचनीकां रुचम् ।

अयमनेकहिरण्मयकन्दरस्तव पितुर्दयितो जगतीधरः ॥ ४५ ॥

क्षिपतीति ॥ अथ योऽद्विरनुवनं विततां रौचनीकां रुचम् । सौवर्णीं कान्तिमित्यर्थः । रोचनया रक्तां रौचनीकाम् । 'लाक्षारोचनशकलकर्दमाटुक' इति ठक् । 'टिड्ढाणञ्-' इत्यादिना डीप् । उत्प्रेक्षते—बृहती चासौ बृहतिका च तां महोत्तरासङ्गमिव । 'द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा' इत्यमरः । क्षिपति प्रसारयति । अनेका हिरण्मय्यः कन्दरा यस्य सः । 'हिरण्मय'शब्दो 'दाण्डिनायन-' इत्यादिना निपातनात् साधुः । अयम् । पुरोवर्ती गिरिरित्यर्थः । तव पितुरिन्द्रस्य दयितः प्रियः । जगत्या धरो जगतीधरः । यस्ते गन्तव्य इन्द्रकीलाख्य इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

सक्तिं जवादपनयत्यनिले लतानां

वैरोचनैर्द्विगुणिताः सहसा मयूखैः ।

रोधोभुवां मुहुरमुत्र हिरण्मयीनां

भासस्तडिद्विलसितानि विडम्बयन्ति ॥ ४६ ॥

सक्तिमिति ॥ अमुत्रामुष्मिन्नद्रौ । अनिले जवात् स्रपिति लतानां सक्तिम-

न्योन्यसङ्गमपनयति सति सहसा हठात् । वैरोचनैः सावित्रैर्मयूखैर्द्विगुणा
द्विरावृत्ताः कृता इति द्विगुणिताः । 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिष्विन्द्रियामुख्यतन्तुषु'
इति वैजयन्ती । हिरण्मयीनां हिरण्यविकाराणाम् । 'दाण्डिनायन-' इत्यादिना
निपातनात् साधुः । रोधोभुवां तटभुवां भासो मुहुस्तंडिद्विलसितानि
विडम्बयन्ति । अनुकुर्वन्तीत्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ ४६ ॥

कषणकम्पनिरस्तमहाहिभिः क्षणविमत्तमतङ्गजवर्जितैः ।

इह मदस्त्रपितैरनुमीयते सुरगजस्य गतं हरिचन्दनैः ॥ ४७ ॥

कषणेति ॥ इहाद्रौ । कषणेन कण्डूयनेन यः कम्पस्तेन निरस्ता महाहयो
महासर्पा येभ्यस्तैः । क्षणं विमत्तमतङ्गजवर्जितैर्मत्तमतङ्गजरहितैः । कुतः ।
मदस्त्रपितैः । ऐरावतमदसिक्तैरित्यर्थः । 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । हरिच-
न्दनैश्चन्दनद्रुमैः सुरगजस्यैरावतस्य गतं प्राप्तिरनुमीयते । हरिचन्दनविशे-
षणैः काव्यलिङ्गमुच्चेयम् ॥ ४७ ॥

जलदजालघनैरसिताश्मनामुपहतप्रचयेह मरीचिभिः ।

भवति दीप्तिरदीपितकन्दरा तिमिरसंवलितेव विवस्वतः ॥ ४८ ॥

जलदेति ॥ इहास्मिन्नद्रौ । जलदजालघनैर्मेघवृन्दसान्द्रैरसिताश्मनामि-
न्द्रनीलानां मरीचिभिर्दीधितिभिः । 'भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोर्दीधितिः
स्त्रियाम्' इत्यमरः । उपहतप्रचया विघटितसंघाता अत एव, अदीपितकन्दरा
अप्रकाशितगह्वरा विवस्वतो दीप्तिस्तिमिरैः संवलिता संहता व्यामिश्रितेव
भवतीत्युत्प्रेक्षा ॥ ४८ ॥

भव्यो भवन्नपि मुनेरिह शासनेन

क्षात्रे स्थितः पथि तपस्य हतप्रमादः ।

प्रायेण सत्यपि हितार्थकरे विधौ हि

श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनान्तरायैः ॥ ४९ ॥

भव्य इति ॥ इहाद्रौ । भव्यः शान्तो भवन्नपि मुनेर्व्यासस्य शासनेने-
न्द्राराधनरूपेण क्षात्रे पथि क्षत्रियमार्गे स्थितः । गृहीतशस्त्र एवेत्यर्थः । हत-
प्रमादोऽप्रमत्तः सन् । तपस्य तपश्चर्यां कुरु । तपस्येति 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां
वर्तिचरोः' इति क्यङ् । तदन्ताद्धातोर्लोङ् । न च सर्वभूतहितकारिणो मे प्रमादः
किं करिष्यतीति विश्वसितव्यमित्यर्थान्तरन्यासेनाह—हि यस्मात् प्रायेण बाहु-
ल्येन । 'प्रायो वयस्यनशने मृतौ बाहुल्यतुल्ययोः' इति हेमचन्द्रः । 'हितमर्थं
करोतीति हितार्थकरे विधौ व्यापारे सति । अन्तरायैर्विघ्नैर्विना श्रेयांसि
लब्धुमसुखानि । अशक्यानीत्यर्थः । अत एव 'शकष्टव-' इत्यादिना समान-
कर्तृकेषु तुमुन् । अकारणवैरिणः सर्वत्र सर्वस्यापि सन्तीति भावः ॥ ४९ ॥

मा भूवन्नपथहेतस्तवेन्द्रियाश्वाः
संतापे दिशतु शिवः शिवां प्रसक्तिम् ।
रक्षन्तस्तपसि बलं च लोकपालाः

कल्याणीमधिकफलां क्रियां क्रियासुः ॥ ५० ॥

मा भूवन्निति ॥ तवेन्द्रियाण्येव अश्वास्ते । अपथेन हरन्तीत्यपथहतो मा भूवन् । स्वामपथं मा निनीपुरित्यर्थः । 'माडि लुइ' इत्याशीरर्थे लुइ । संतापे तपःकेशे सति शिवः शिवां साधीयसीं प्रसक्तिं प्रवृत्तिमुत्साहं दिशतु । किंचेति चार्थः । लोकपाला इन्द्रादयस्तपसि विषये बलं शक्तिं रक्षन्तो वर्धयन्तः सन्तः कल्याणीं साध्वीं क्रियामनुष्ठानमधिकफलां क्रियासुः कुर्वन्तु । करोतेराशिषि लोद ॥ ५० ॥

इत्युक्त्वा सपदि हितं प्रियं प्रियार्हे
धाम स्वं गतवति राजराजभृत्ये ।
सोत्कण्ठं किमपि पृथासुतः प्रदध्यौ
संधत्ते भृशमरतिं हि सद्वियोगः ॥ ५१ ॥

इतीति ॥ प्रियार्हे राजराजभृत्य इति पूर्वोक्तम् । हितं प्रियं । वचनमिति शेषः । उक्त्वा सपदि स्वं स्वकीयं धाम स्थानं गतवति सति । पृथासुतोऽर्जुनः सोत्कण्ठं सौत्सुक्यं किमपि प्रदध्यौ चिन्तयामास । तथा हि—सद्वियोगः सुजनवियोगो भृशमरतिं व्यथां संधत्ते । करोतीत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ५१ ॥

तमनतिशयनीयं सर्वतः सारयोगा-
दविरहितमनेकेनाङ्कभाजा फलेन ।
अकृशमकृशलक्ष्मीश्चेतसाशंसितं स
स्वमिव पुरुषकारं शैलमभ्याससाद ॥ ५२ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये पञ्चमः सर्गः ।

तमिति ॥ अकृशाः पूर्णा लक्ष्म्यः शोभा यस्य सोऽकृशलक्ष्मीरिति बहुवचनाश्रितो बहुव्रीहिः । एवं च 'उरःप्रभृतिभ्यः-' इति कप्प्रत्ययानवकाशः । तत्र 'लक्ष्मी'शब्दस्यैकवचनान्तस्यैव पाठोऽस्ति । नापि 'नद्युतश्च' इत्यस्यावकाशः । उरःप्रभृतिपाठसामर्थ्यादेव शैषिकस्तु वैभाषिक इत्यविरोधः । सोऽर्जुनः सर्वतः सर्वत्र सारयोगादुत्कृष्टबलप्रयोगात् । 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु' इत्युभयत्राप्यमरः । अनतिशयनीयमनतिक्रमणीयम् । अनेकेन बहुनाऽङ्कभाजा समीपं गतेन । शीघ्रभाविनेति यावत् । फलेन कार्यसिद्ध्याऽविरहितमशून्यम् । कार्यसिद्धेरवश्यं साधकमित्यर्थः । अकृशमतनुं चेतसाशंसितं

प्राप्तुमिष्टं शैलमिन्द्रकीलं स्वमात्मीयम् । पुरुषस्य कारः कर्म तं पुरुषकारमुक्त-
विशेषणविशिष्टं पौरुषमिवाभ्याससाद् प्राप्तवान् । मालिनीवृत्तम् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-
काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां पञ्चमः सर्गः समाप्तः ।

षष्ठः सर्गः ।

रुचिराकृतिः कनकसानुमथो परमः पुमानिव पतिं पतताम् ।

धृतसत्पथस्त्रिपथगामभितः स तमारुरोह पुरुहूतसुतः ॥ १ ॥

रुचिराकृतिरिति ॥ अथो आसादनानन्तरं रुचिराकृतिः सौम्यविग्रहो धृत-
सत्पथोऽवलम्बितसन्मार्गः । आकारानुरूपगुणवानित्यर्थः । 'यत्राकृतिस्त्र गुणा
वसन्ति' इति सामुद्रिकाः । उपमानेऽपि समानमेतत् । स पुरुहूतसुतोऽर्जुनः ।
कनकस्य विकाराः सानवो यस्य तं कनकसानुम् । गरुडसावर्ण्यार्थं विशेषणमे-
तत् । 'समुदाये विकारषष्ठोश्च' इति बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च । तं इन्द्रकीलम् ।
परमः पुमान् विष्णुः पततां पक्षिणां पतिं गरुडमिव । त्रिभिः पथिभिर्ग-
च्छतीति त्रिपथगा भागीरथी । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः । उपपदस-
मास उत्तरपदसमासश्च । ताम्, अभितोऽभिमुखमारुरोह । 'समीपोभयतःशी-
घ्रसाकल्याभिमुखेऽभितः' इत्यमरः । प्रमिताक्षरावृत्तम्—'प्रमिताक्षरा सजससै-
रुदिता' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अथास्य कार्यसिद्धिनिमित्तानि सूचयन् मार्गं वर्णयति—

तमनिन्द्यबन्दिन इवेन्द्रसुतं विहितालिनिक्वणजयध्वनयः ।

पवनेरिताकुलविजिह्वाशिखा जगतीरुहोऽवचकरुः कुसुमैः ॥ २ ॥

तमिति ॥ विहिता अलिनिक्वणा जयध्वनय इव यैस्ते तथोक्ताः पवनेन
वायुनेरिता नुन्ना अत एव आकुला लोला विजिह्वा वक्राश्च शिखाः शाखाग्राणि
येषां ते तथोक्ताः । 'शिखा ज्वाला केकिमौल्योः शिखाशाखाग्रमौलिषु' इति
वैजयन्ती । जगतीरुहो भूरुहः । क्विप् । अनिन्द्या अनवद्या ये बन्दिनः स्तुति-
पाठकास्त इव । तमिन्द्रसुतमर्जुनं कुसुमैरवचकरुः । अभिववृषुरित्यर्थः ।
'ऋच्छत्यताम्' इति गुणः । अत्र किरतेवृथ्यर्थत्वात् कुसुमानां करणत्वम् । विक्षेपार्थत्वे
तु कर्मत्वमेव । यथा 'कटाक्षान्वामा किरति' इति । दृश्यते च धातूनामर्थभेदात्
कारकव्यत्ययः । यथा सिञ्चतेः क्षरणार्दीकरणयोरर्थयोर्द्रवद्रव्यस्य कर्मत्वकरणत्वे ।
यथा—'मेघोऽमृतं सिञ्चति गौः पयश्च', 'सिञ्चतीवामृतैर्बपुः' इति च । अत्र
वाक्ये समासगतयोरुपमयोः साध्यसाधनभावादङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ २ ॥

अवधृतपङ्कजपरागकणास्तनुजाह्वीसलिलवीचिभिदः ।

परिरेभिरेऽभिमुखमेत्य सुखाः सुहृदः सखायमिव तं मरुतः ॥ ३ ॥

अवधूतेति ॥ अवधृताः पङ्कजपरागकणा यैस्ते तथोक्ता इति सौरभ्योक्तिः ।
तनुर्जाह्वव्याः सलिलवीचीभिन्दन्तीति तथोक्ता इति शैत्योक्तिः । सुखय-

न्तीति सुखाः । पचाद्यच् । सुखस्पर्शा इति मान्द्योक्तिः । मरुतो वाताः । तमर्जुनं सुहृदः सखायमिवाभिमुखमेत्यागत्य परिरेभिर आलिङ्गितवन्तः ३ उदितोपलस्खलनसंवलिताः स्फुटहंससारसविरावयुजः ।

मुदमस्य माङ्गलिकतूर्यकृतां ध्वनयः प्रतेनुरनुवप्रमपाम् ॥ ४ ॥

उदितेति ॥ उदितोपलेपूत्रतपाषाणेषु स्खलनेन प्रतिघातेन संवलिताश्चूर्णिताः । अतस्तूर्यघोष इव घुमघुमायमाना इत्यर्थः । स्फुटैर्हंसानां सारसानां च विरावैर्युज्यन्त इति तथोक्ताः । क्विप् । अनुवप्रमपाम् । अन्तः पतन्तीनामिति शेषः । ध्वनयोऽस्यार्जुनस्य मङ्गलं प्रयोजनमेषां ते माङ्गलिकाः । 'प्रयोजनम्' इति ठञ् । तैः, तूर्यैः कृतां मुदं हर्षं प्रतेनुः । अत्रान्यस्यान्यकार्यकारणसंभवात्तूर्यकृतमुत्सदृशीं मुदमिति प्रतिबिम्बेनाक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः ॥ ४ ॥

अवरुणतुङ्गसुरदारुतरौ निचये पुरः सुरसरित्पयसाम् ।

स ददर्श वेतसवनाचरितां प्रणतिं बलीयसि समृद्धिकरीम् ॥ ५ ॥

अवरुणेति ॥ सोऽर्जुनः पुरोऽग्रे । अवरुणतुङ्गसुरदारुतरौ भद्रोन्नतदेवदारुद्रुमे बलीयसि बलवत्तरे । मत्वन्तादीयसुनि मतुपो लुक् । सुरसरित्पयसां निचये पूरे विषये वेतसवनेन वानीरवनेनाचरिताम् । 'अथ वेतसे । रथा-अपुष्पविदुलशीतवानीरवञ्जुलाः' इत्यमरः । समृद्धिकरीं श्रेयस्करीम् । लोके यथादृष्टामित्यर्थः । प्रणतिं ददर्श । या सर्वलोकदृष्टान्तभूतेति भावः ॥ ५ ॥

प्रबभूव नालमवलोकयितुं परितः सरोजरजसारुणितम् ।

सरिदुत्तरीयमिव संहतिमत्स तरङ्गरङ्गि कलहंसकुलम् ॥ ६ ॥

प्रबभूवेति ॥ सोऽर्जुनः । परितः सरोजरजसा कमलरेणुनारुणितं पाटलितम् । उत्तरीयं च कुसुमादिनारुणितं भवति । संहतिमन्नीरन्ध्रं तरङ्गरङ्गि वारितरङ्गशोभि सरिदुत्तरीयं स्तनांशुकमिव स्थितं कलहंसकुलं कादम्बकुलमवलोकयितुमलमत्यर्थं न प्रबभूव न शशाक । तत्सौन्दर्योद्वेगत्वादिति भावः ॥ ६ ॥

दधति क्षतीः परिणतद्विरदे मुदितालियोषिति मदञ्च्युतिभिः ।

अधिकां स रोधसि बबन्ध धृतिं महते रुजन्नपि गुणाय महान् ७

दधतीति ॥ सोऽर्जुनः क्षतीः क्षतानि दधति धारयति । कुतः । परिणतास्तिर्यग्दन्तप्रहारिणो द्विरदा यस्मिस्तस्मिन् । 'तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः' इति हलायुधः । मदञ्च्युतिभिर्मुदितालियोषिति रोधस्यधिकां धृतिं प्रीतिं बबन्ध । निश्चलीकृतवानित्यर्थः । तथा हि—महान् रुजन् पीडयन्नपि महते गुणायोत्कर्षाय भवति । महत्कृता पीडापि शुभावहैवेत्यर्थः । तद्युक्तं गजरुणस्यापि रोधसः प्रीतिकरत्वमिति भावः ॥ ७ ॥

१ 'विबुद्धिकरीम्' इति पाठः. २ 'विबभूव' इति पाठः. ३ 'तरङ्गभङ्गि' इति पाठः.
४ 'च्युतिभिः' इति पाठः.

अनुहेमवप्रमरुणैः समतां गतमूर्मिभिः सहचरं पृथुभिः ।

स रथाङ्गनामवनितां करुणैरनुबध्नीमभिननन्द रुतैः ॥ ८ ॥

अन्विति ॥ सोऽर्जुनोऽनुहेमवप्रं कनकसानुसमीपे । समीपार्थेऽव्ययीभावः । अरुणैः । कनककान्त्युपरञ्जनादिति भावः । पृथुभिरूर्मिभिः समतां तुल्यरूपतां गतम् । सादृश्याद्दुर्विवेच्यमित्यर्थः । सह भूतं सहचरं प्रियम् । 'सह'शब्दस्य पचाद्यजन्तेन 'चर'शब्देन समासः । करुणैर्दीनै रुतैः कृजितैरनुबध्नीमभिननन्तीं रथाङ्गनामवनितां चक्रवाकीमभिननन्द । प्रकृष्टप्रेमदर्शनात् कस्य नानन्द इति भावः । अत्र तावदूर्मीणां स्वधावल्यत्यागो नारुण्यस्वीकारात्तदुणालङ्कारः—'तदुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाश्रयात्' इति लक्षणात् । तन्मूला चेयं चक्रवाक्याः स्वकान्ते तरङ्गभ्रान्तिरिति तदुणभ्रान्तिमतोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ ८ ॥

सितवाजिने निजगदू रुचयश्चलवीचिरागरचनापटवः ।

मणिजालमम्भसि निमग्नमपि स्फुरितं मनोगतमिवाकृतयः ॥ ९ ॥

सितवाजिन इति ॥ चलवीचीनां रागो रञ्जनं वर्णान्तरापादनं तस्य रचना क्रिया तत्र पटवः समर्था रुचयः प्रभाः । अम्भसि निमग्नमपि मणिजालं । स्वाश्रयभूतमिति भावः । मनोगतं स्फुरितं रोषादिविकारम् । आकृतयो भ्रूमङ्गादिबाह्यविकारा इव । सितवाजिनेऽर्जुनाय निजगदुः । ज्ञापयामासुरित्यर्थः । भाकृत्या हि मनोगतं विचक्षणा जानन्तीति भावः ॥ ९ ॥

उपलाहतोद्धततरङ्गधृतं जविना विधूतविततं मरुता ।

स ददर्श केतकशिखाविशदं सरितः प्रहासमिव फेनमपाम् ॥ १० ॥

उपलेति ॥ उपलैराहता अत एव उद्धताश्च ये तरङ्गास्तैर्धृतम् । निर्गमरोधादित्यर्थः । जविना वेगवता मरुता वातेन विधूतं विततं च केतकस्य शिखाऽग्रं तद्वद्विशदमपां फेनं दिण्डीरम् । 'दिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः' इत्यमरः । सरितः प्रहासमदृहासमिवेत्युत्प्रेक्षा । सोऽर्जुनो ददर्श ॥ १० ॥

बहु बर्हिचन्द्रकनिभं विदधे धृतिमस्य दानपयसां पटलम् ।

अवगाढमीक्षितुमिवेभपतिं विकसद्विलोचनशतं सरितः ॥ ११ ॥

बह्विति ॥ बर्हिचन्द्रकनिभं मयूरमेचकसदृशम् । 'समौ चन्द्रकमेचकौ' इत्यमरः । बहु अनेकधा दानपयसां पटलम् । जातावेकवचनम् । बहवो मदाम्बुबिन्दव इत्यर्थः । अवगाढमन्तःप्रविष्टम् । गाहेः कर्तरि क्तः । इभपतिमीक्षितुं विकसदुन्मिषत् सरितो विलोचनशतमिवेत्युत्प्रेक्षा । अस्यार्जुनस्य धृतिं प्रीतिं विदधे चकार ॥ ११ ॥

प्रतिबोधजृम्भणविभिन्नमुखी पुलिने सरोरुहदृशा ददृशे ।

पतदच्छमौक्तिकमणिप्रकरा गलदश्रुबिन्दुरिव शुक्तिवधूः ॥ १२ ॥

प्रतिबोधेति ॥ प्रतिबोधः स्फुटनं निद्रापगमश्च तत्र यज्जृम्भणसुच्छूनता

जृम्भा च तेन विभिन्नमुखी विश्लिष्टाग्रा विवृतास्या च । अत एव पतन् प्रस-
रन्नच्छो मौक्तिकमणीनां प्रकरः स्तोमो यस्याः सा तथोक्ता । अत एव गल-
दश्रुविन्दुरिव स्थितेत्युत्प्रेक्षा । शुक्तिर्वधूरिव शुक्तिवधूः । पुलिने । शयनीय
इवेति भावः । सरोरुहदृशाऽर्जुनेन ददृशे दृष्टा । अत्र प्रतिबोधादिश्लिष्टपदोपा-
त्तानां प्रकृतानां शुक्तिवध्वोश्चोपमारूपकयोः साधकबाधकाभावात् संदेहालंकारः ।
तत्सापेक्षा चाश्रुगलनोत्प्रेक्षेति तयोरङ्गाङ्गिभावः ॥ १२ ॥

शुचिरप्सु विद्रुमलताविटपस्तनुसान्द्रफेनलवसंवलितः ।

स्मरदायिनः स्मरयति स्म भृशं दयिताधरस्य दशनांशुभृतः ॥ १३ ॥

शुचिरिति ॥ अप्सु शुचिः स्वच्छस्तनुना सान्द्रेण च फेनस्य लवेन
शकलेन संवलितः संगतो विद्रुमलताया विटपः पल्लवः । 'विटपः पल्लवे
पिङ्गे विस्तारे स्तम्बशाखयोः' इति विश्वः । स्मरदायिनः कामोद्दीपकस्य दश-
नांशुभृतो दन्तकान्तिकलितस्य । दयिताधरस्य । 'अधीगर्थ-' इत्यादिना षष्ठी ।
भृशं स्मरयति स्म । 'लद स्मे' इति भूतार्थे लद । 'मितां हस्वः' इति हस्वः ।
स्मरणालंकारः ॥ १३ ॥

उपलभ्य चञ्चलतरङ्गधृतं मदगन्धमुत्थितवतां पयसः ।

प्रतिदन्तिनामिव स संबुबुधे करियादसामभिमुखान् करिणः ॥ १४ ॥

उपलभ्येति ॥ सोऽर्जुनः । चञ्चलतरङ्गैर्धृतम् । तत्संक्रान्तमित्यर्थः । मद-
गन्धमुपलभ्याघ्राय पयस उत्थितवताम् । रोषादिति शेषः । कर्याकाराणां
यादसाम् । शाकपार्थिवादिषु द्रष्टव्यः । प्रतिदन्तिनामिवाभिमुखान् ।
अभियातानित्यर्थः । करिणो गजान् । संबुबुधे । ददर्शेत्यर्थः ॥ १४ ॥

स जगाम विस्मयमुदीक्ष्यं पुरः सहसा समुत्पिपतिषोः फणिनः ।

प्रहितं दिवि प्रजविभिः श्वसितैः शरदभ्रविभ्रममपां पटलम् ॥ १५ ॥

स इति ॥ सोऽर्जुनः । पुरोऽग्रे सहसा समुत्पिपतिषोः समुत्पित्तु-
मिच्छोः । पतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । 'तनिपतिदरिद्रातिभ्यः सन इङ्गा वक्तव्यः'
इति विकल्पादिडागमः । फणिनः सर्पस्य प्रजविभिरतिवेगवद्भिः श्वसितैः
फूत्कारैर्दिवि आकाशे प्रहितं प्रेरितं शरदभ्रस्य विभ्रम इव विभ्रमः सौन्दर्यं
यस्य तत् । शुभ्रमभ्रव्यापकं चेत्यर्थः । अपां पटलं पुर उदीक्ष्यं विस्मयं
जगाम । अत्रोपमानुप्राणिता स्वभावोक्तिरलंकारः ॥ १५ ॥

स ततारं सैकतवतीरभितः शफरीपरिस्फुरितचारुदृशः ।

ललिताः सखीरिव बृहज्जघनाः सुरनिम्नगामुपयतीः सरितः ॥ १६ ॥

स इति ॥ सोऽर्जुनः । सैकतवतीः पुलिनवतीरभितः शफरीणां मत्स्थीनां
परिस्फुरितान्येव चारवो दृशो यासां ताः । सुरनिम्नगां गङ्गामुपयती-
र्भजन्तीः । इणः शतुसगिस्वान्डीप् । अत एव बृहज्जघना ललिताः सखीरिव
स्थिताः सरितस्ततारातिचक्रमे ॥ १६ ॥

अधिरुह्य पुष्पभरनम्रशिश्वैः परितः परिष्कृततलां तरुभिः ।

मनसः प्रसत्तिमिव मूर्ध्नि गिरेः शुचिमाससाद् स वनान्तभुवम् १७

अधिरुह्येति ॥ सोऽर्जुनोऽधिरुह्य । अर्थाद्विरिमिति शेषः । पुष्पभरेण नम्र-
शिश्वैर्नताग्रैस्तरुभिः परितः परिष्कृततलां भूषितस्वरूपाम् । 'अधःस्वरू-
पयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः । 'संपर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे' इति सुडागमः । शुचिं
शुद्धाम् । अत एव मनसः प्रसत्तिमिव मूर्तं मनःप्रसादमिव स्थिताम् । तद्धेतौ
तद्भावोऽपेक्षा । गिरेर्मूर्ध्नि वनान्तभुवमाससाद् । 'अन्तः'शब्दः स्वरूप-
वचनः । 'अन्तोऽध्यवसिते मृत्यौ स्वरूपे निश्चयेऽन्तिके' इति वैजयन्ती ॥ १७ ॥

अनुसानु पुष्पितलताविततिः फलितोरुभूरुहविविक्तवनः ।

धृतिमाततान तनयस्य हरेस्तपसेऽधिवस्तुमचलामचलः ॥ १८ ॥

अनुमान्विति ॥ अनुसानु प्रतिसानु । वीप्सार्थेऽव्ययीभावः । पुष्पिताः
संजातपुष्पा लताविततयो यस्मिन् सः । फलिता उरवो भूरुहा येषु तानि
विविक्तानि विजनानि पूतानि वा वनानि यस्मिन् स तथोक्तः । 'विविक्तौ
पूतविजनौ' इत्यमरः । अचल इन्द्रकीलो हरेस्तनयस्यार्जुनस्य तपसे तपश्चर्या-
थम् । अधिवस्तुमधिष्ठानम् । तनिक्रियापेक्षया समानकर्तृकत्वात्तुमुन् । अचलां
धृतिमुत्साहमाततान । अत्राचलविशेषणपदार्थस्य धृतिकरणहेतुत्वात् काव्य-
लिङ्गमलंकारः ॥ १८ ॥

प्रणिधाय तत्र विधिनाऽथ धियं दधतः पुरातनमुनेर्मुनिताम् ।

श्रममादधावसुकरं न तपः किमिवावसादकरंमात्मवताम् ॥ १९ ॥

प्रणिधायेति ॥ अथ तत्राद्रौ विधिना योगशास्त्रानुसारेण धियं चित्तवृत्तिं
प्रणिधाय ध्येयविषये धियं नियम्य । 'नेर्गद-' इत्यादिना णत्वम् । मुनितां
दधतः । तपस्यत इत्यर्थः । पुरातनमुनेः । अर्जुनस्येत्यर्थः । असुकरं दुष्करं
तपः श्रमं खेदं नादधौ न चकार । तथा हि—आत्मवतां मनस्विनामवसा-
दकरमशान्तिजनकं किमिव । न किञ्चिदित्यर्थः । 'इव'शब्दो वाक्यालंकारे १९

शमयन्धृतेन्द्रियशमैकसुखः शुचिभिर्गुणैरघमयं स तमः ।

प्रतिवासरं सुकृतिभिर्वृधे विमलः कलाभिरिव शीतरुचिः ॥ २० ॥

शमयन्निति ॥ धृतमिन्द्रियशमो विषयव्यावृत्तिरेव एकं मुख्यं सुखं येन स
तथोक्तः । आत्माराम इत्यर्थः । अन्यत्र,—धृत इन्द्रियाणां शमः संतापनिवर्तनमे-
कमद्वितीयं सुखमाह्लादश्च येन स तथोक्तः । शुचिभिर्निर्मलैः । गुणैर्भैरव्यादिभिः ।
अन्यत्र,—कान्त्यादिभिः । अघमयं पापरूपं तमोऽज्ञानम् । अन्यत्र,—अन्धकारं
च । शमयन् निवर्तयन् । विमलोऽमलिनः पापरहितः । शुभ्रोऽन्यत्र । सोऽर्जुनः

प्रतिवासरं सुकृतिभिः सुकृतैः । तपोभिरित्यर्थः । स्त्रियां क्तिन् । कलाभिः
शीतरुचिश्चन्द्र इव । ववृधे ॥ २० ॥

अधरीचकार च विवेकगुणादगुणेषु तस्य धियमस्तवतः ।

प्रतिघातिनीं विषयसङ्गरतिं निरुपप्लवः शमसुखानुभवः ॥ २१ ॥

अधरीचकारेति ॥ किंचेति चार्थः । विवेकस्तत्त्वावधारणं स एव गुणस्तस्मात् ।
तेन हेतुनेत्यर्थः । 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' इति पञ्चमी । अगुणेषु कामक्रोधा-
दिदोषेषु विषये । तद्विरोधेन नञ्समासः । धियं चित्तवृत्तिम् । अस्तवतो निवारि-
तवतः । तस्यार्जुनस्य निरुपप्लवो निर्बाधः शमसुखानुभवः शान्त्यानन्दानु-
भवः प्रतिघातिनीं सोपप्लवां विषयसङ्गरतिं शब्दाद्युपभोगरुचिम् । अधरीच-
कार । विषयनिःस्पृहं चकारेत्यर्थः । उत्कृष्टसुखलाभस्य प्रकृष्टवैराग्यहेतुत्वादिति
भावः ॥ २१ ॥

मनसा जपैः प्रणतिभिः प्रयतः समुपेयिवानधिपतिं स दिवः ।

सहजेतरौ जयशमौ दधती विभरांबभूव युगपन्महसी ॥ २२ ॥

मनसेति ॥ प्रयतोऽहिंसादिनिरतो मनसा ध्यानेन जपैर्विशिष्टमन्त्राभ्यासैः
प्रणतिभिर्नमस्कारैः । एवं मनोवाक्कायकर्मभिर्दिवोऽधिपतिमिन्द्रं समुपेयि-
वानुपसेदिवान् सोऽर्जुनः सहजेतरौ नैसर्गिकागन्तुकौ । जीयतेऽनेनेति जयो
वीररसः । 'एरच्' इत्यच् । शम्यतेऽनेनेति शमः । जयशमौ वीरशान्तिरसौ
दधती पुष्णती महसी तेजसी युगपद्विभरांबभूव बभार । 'भीहीभृहुवाम्'-
इति विकल्पादाग्रप्रत्ययः । अत्र युगपद्वीरशान्ताधिकरणत्वाभिधानादस्य लोकाहु-
तमहिमत्वं व्यज्यते ॥ २२ ॥

शिरसा हरिन्मणिनिभः स वहन् कृतजन्मनोऽभिषवणेन जटाः ।

उपमां ययावरुणदीधितिभिः परिमृष्टमूर्धनि तमालतरौ ॥ २३ ॥

शिरसेति ॥ हरिन्मणिनिभो मरकतमणिश्यामोऽभिषवणेन स्नानेन कृत-
जन्मनो जनिताः । अतः पिशङ्गीरिति भावः । जटाः शिरसा वहन् सोऽ-
र्जुनोऽरुणस्यानूरोर्दीधितिभिः परिमृष्टमूर्धनि व्यासशिरसि तमालतराबु-
पमां तमालतरोः सादृश्यं ययावित्थार्थीयमुपमा । तरोरौपम्याधिकरणत्वात्तदपे-
क्षया सप्तमी ॥ २३ ॥

धृतहेतिरप्यधृतजिह्वमतिश्चरितैर्मुनीनधरयञ्शुचिभिः ।

रजयांचकार विरजाः स मृगान् कमिवेशते रमयितुं न गुणाः ॥ २४ ॥

धृतेति ॥ धृतहेतिर्धृतायुधोऽप्यधृता जिह्वा मतिः कुटिलमतिर्येन सः ।
शुचिभिश्चरितैर्मुनीनधरयंस्तिरस्कुर्वन् । वेवेणैव भीषणो न तु कर्मणेति
भावः । कुतः । विरजा रजोगुणरहितः सोऽर्जुनो मृगान् रजयांचकार रम-
यामास । 'रज्जैर्णो मृगरमणे नलोपो वक्तव्यः' इति नलोपः । तथा हि—गुणा
दयादयः कमिव रमयितुं नेशते । कं वा वशीकर्तुं न शक्नुवन्तीति भावः । शुद्धि-
रेव हि परं विश्वासबीजं परस्व न वेषो नापि संस्तव इति भावः ॥ २४ ॥

१ 'जन्मनक्यभिषवणे' इति पाठः. २ 'गुरुन्' इति पाठः. ३ 'गुरुभिः' इति पाठः.

अथास्य त्रिभिस्तपःसिद्धिमाह—अनुकूलेत्यादिना ॥

अनुकूलपातिनमचण्डगतिं किरता सुगन्धिमभितः पवनम् ।
अवधीरितार्तवगुणं सुखतां नयता रुचां निचयमंशुमतः ॥ २५ ॥

अनुकूलेति ॥ अनुकूलपातिनं न तु प्रतिकूलपातिनमचण्डगतिं मन्दगामिनं सुगन्धिमम् । गन्धस्येकत्वे तदेकान्तग्रहणेऽपि कवीनां निरङ्कुशत्वात् समासान्तः । अथवा केचिदागन्तुकत्वेऽप्येकवचनेन समासान्तमिच्छन्ति । पवनमभितः किरता । प्रवर्तयतेत्यर्थः । ऋतुरस्य प्राप्त आर्तवः । 'ऋतोरण्' इत्यणप्रत्ययः । स चासौ गुणस्तिग्मत्वरूपः सोऽवधीरितस्तिरस्कृतो यस्य तम् । अंशुमतो रुचां निचयं सुखतां सुखस्पर्शतां नयता प्रापयता । नयतेर्द्विकर्मकत्वम् ॥ २५ ॥

नवपल्लवाञ्जलिभृतः प्रचये बृहतस्तरून्गमयतावनतिम् ।
स्तृणता तृणैः प्रतिनिशं मृदुभिः शयनीयतामुपयतीं वसुधाम् ॥ २६ ॥

नवेति ॥ प्रचये पुष्पावचयप्रसङ्गे नवपल्लवा एव अञ्जलयस्तान् विभ्रतीति तथोक्तान् बृहत उच्चांस्तरून्वनतिं नम्रतां गमयता । 'गतिबुद्धि-' इत्यादिना तरूणां कर्मत्वम् । प्रतिनिशं निशि शयनीयतामुपयतीम् । शयनस्थानभूतामित्यर्थः । वसुधां मृदुभिस्तृणैः स्तृणताच्छादयता ॥ २६ ॥

पतितैरपेतजलदान्नभसः पृषतैरपां शमयता च रजः ।

स दयालुनेव परिगाढकृशः परिचर्ययानुजगृहे तपसा ॥ २७ ॥

पतितैरिति ॥ अपेतजलदान्नभसः पतितैरपां पृषतैर्जलबिन्दुभी रजश्च शमयता तपसा कर्त्रा दयालुनेवेत्युत्प्रेक्षा । दयालुत्वे हेतुं सूचयति—परिगाढः कृशोऽतिक्षीणः सोऽर्जुनः परिचर्ययोक्तविधया शुश्रूषयाऽनुजगृहेऽनुगृहीतः । अनुग्रहोऽत्र सहकारित्वमेव सर्वभूतानुकूल्यलिङ्गात् पचेलिमं तपोऽस्येति भावः । अस्य श्लोकत्रयस्याप्येकवाक्यत्वाद्दुत्प्रेक्षैव प्रधानालंकारः ॥ २७ ॥

महते फलाय तदवेक्ष्य शिवं विकसन्निमित्तकुसुमं स पुरः ।

न जगाम विस्मयवशं वशिनां न निहन्ति धैर्यमनुभावगुणः ॥ २८ ॥

महत इति ॥ सोऽर्जुनो महते फलाय श्रेयसे सखाय च विकसत् पूर्वोक्तं शिवं सुखदं तन्निमित्तमेव कुसुमं पुरोऽप्रेऽवेक्ष्य विस्मयवशं न जगाम । तथा हि—वशिनामनुभाव एव गुणः स च धैर्यं न निहन्ति । विस्मयादिविकारं न जनयतीत्यर्थः । जनने वा तपः क्षीयेत । 'तपः क्षरति विस्मयात्' इति स्मरणादिति भावः ॥ २८ ॥

तदभूरिवासरकृतं सुकृतैरुपलभ्य वैभवमनन्यभवम् ।

उपतस्थुरास्थितविषादधियः शतयज्वनो वनचरा वसतिम् ॥ २९ ॥

तदिति ॥ सुकृतैस्तपोभिः करणैः अभूरिभिः कतिपयैरेव वासरैः कृतं तत् पूर्वोक्तं वैभवमतोऽन्यस्य न भवतीत्यनन्यभवम् । अन्यस्यासंभवतीत्यर्थः । पचा-

१ 'अनुलोम' इति पाठः. २ 'हि हन्ति' इति पाठः. ३ 'आहित' इति पाठः.

द्यजन्तोत्तरपदेन नन्समासः । उपलभ्य निश्चित्य । आस्थितविषादाः प्राप्तखेदा
धियो येषां ते वनचराः । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति बहुलग्रहणाद्बुक् ।
शतेन शतस्य वा मखानां यज्वनः शतक्रतोः । अत्र संख्येयविशेषलाभो यजि-
संनिधानादवगन्तव्यः । 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः । 'सुयजोर्ङनिप्' ।
वसतिमुपतस्थुः प्रापुः ॥ २९ ॥

विदिताः प्रविश्य विहितानतयः शिथिलीकृतेऽधिकृतकृत्यविधौ ।
अनपेतकालमभिरामकथाः कथयांबभूवुरिति गोत्रभिदे ॥ ३० ॥

विदिता इति ॥ वनचरा इत्यनुवर्तनीयम् । विदिता ज्ञाताः । अनुमतप्रवेशाः
सन्त इत्यर्थः । प्रविश्य । विहितानतयः कृतप्रणामा अधिकृतकृत्यस्य नियुक्त-
कर्मणः शैलरक्षणात्मकस्य विधावनुष्ठाने शिथिलीकृते सति । अनपेतकाल-
मनतिक्रान्तकालं यथा तथा गोत्रभिदे शक्राय । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण ।
अभिरामकथाः श्राव्यवाचः । 'चिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चश्च' इत्यङ्प्रत्ययः ।
कथयांबभूवुः ॥ ३० ॥

शुचिवल्कवीतर्तनुरन्यतमस्तिमिरच्छिदामिव गिरौ भवतः ।

महते जयाय मघवन्ननघः पुरुषस्तपस्यति तपञ्जगतीम् ॥ ३१ ॥

शुचीति ॥ शुचिना वल्केन वल्कलेन वीताच्छादिता तनुर्यस्य सः । तिमि-
रच्छिदां सूर्यादीनामन्यतम इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा । अनघः पुरुषः । मघ-
वन्, भवतो गिराविन्द्रकीले जगतीं भुवं तपन् तापयन् । महते जयाय
तपस्यति तपश्चरति । 'कर्मणो रोमन्थ-' इत्यादिना क्यङि लट् ॥ ३१ ॥

'जयाय तपस्यति' (६।३।१) इत्युक्तम्; तत्र हेतुमाहुः—

स विभर्ति भीषणभुजंगभुजः पृथु विद्विषां भयविधायि धनुः ।

अमलेन तस्य धृतसच्चरिताश्चरितेन चातिशयिता मुनयः ॥ ३२ ॥

स इति ॥ भीषयेते इति भीषणौ । नन्द्यादित्वाह्युप्रत्ययः । तौ च तौ भुजङ्गौ
च ताविव भुजौ यस्य । स तथोक्तः पुरुषो विद्विषां भयविधायि पृथु धनु-
र्विभर्ति । अतो जयार्थीत्यर्थः । अमलेन तस्य पुरुषस्य चरितेन धृतानि सच्च-
रितानि यैस्ते मुनयोऽतिशयिता अतिक्रान्ताः ॥ ३२ ॥

अथास्य तपःसिद्धिं वर्णयति—

मरुतः शिवा नवतृणा जगती विमलं नभो रजसि वृष्टिरपाम् ।

गुणसंपदानुगुणतां गमितः कुरुतेऽस्य भक्तिमिव भूतगणः ॥ ३३ ॥

मरुत इत्यादिना ॥ मरुतो वाताः शिवाः सुखाः । जगती पृथ्वी नव-
तृणा । शयनासनाद्यनुकूलेत्यर्थः । नभो विमलं नीहारादिरहितम् । रजसि
सति अपां वृष्टिः । भवतीति शेषः । किं बहुना,—अस्य पुरुषस्य गुणसंपदा
भूतहितादिगुणसंपत्त्या । अनुगुणतामनुकूलतां गमितः । वशीकृत इत्यर्थः ।
भूतगणः पृथिव्यादिपञ्चकं भक्तिं सेवां कुरुत इवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ३३ ॥

इतरेतरानभिभवेन मृगास्तमुपासते गुरुमिवान्तसदः ।

विनमन्ति चास्य तरवः प्रचये परवान् स तेन भवतेव नगः ॥३४॥

इतरेतरेति ॥ किंच, मृगाः पशवस्तम् । अन्तेऽन्तिके सीदन्तीत्यन्तसदोऽन्तेवासिनः । 'सत्सूद्विष-' इति क्विप् । गुरुमिवेतरेतरेषामनभिभवेनाद्रोहेण । उपासते सेवन्ते । प्रचये पुष्पावचये तरवोऽस्य विनमन्ति । करप्रचेया भवन्तीत्यर्थः । तस्येति संबन्धसामान्ये षष्ठी । किं बहुना,—स नग इन्द्रकीलो भवतेव तेन पुरुषेण परवान् पराधीनः । सात्त्विकस्यापि तवेव तस्यातिशयो वर्तत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

उरु सत्त्वमाह विपरिश्रमता परमं वपुः प्रथयतीव जयम् ।

शमिनोऽपि तस्य नवसंगमने विभुतानुषङ्गि भयमेति जनः ॥३५॥

उर्विति ॥ किंच, विपरिश्रमता आयासेऽपि श्रमराहित्यमुरु महत् सत्त्वमन्तः-सारमाह । दुर्बलस्य श्रमजयासंभवादिति भावः । परममुत्तमं वपुर्जयं प्रथयतीव । आकारेणैव जिष्णुत्वं गम्यत इत्यर्थः । शमिनः शान्तस्यापि तस्य नवसंगमनेऽपूर्वप्राप्तौ जनो विभुतायाः प्रभावस्यानुषङ्गि व्यापकम् । न तु हिंस्रकत्वानुषङ्गीति भावः । भयमेति । शान्तोद्भवं प्रभावं गमयतीति भावः ॥३५॥

अथेदृशोऽसौ क इति चेत्तन्न विद्म इत्याहुः—

ऋषिवंशजः स यदि दैत्यकुले यदि वान्वये महति भूमिभृताम् ।

चरतस्तपस्तव वनेषु सहा न वयं निरूपयितुमस्य गतिम् ॥ ३६ ॥

ऋषीति ॥ स पुरुषः । ऋषिवंशजः । वेति शेषः । काकुर्वा । यदि वा दैत्यकुले । जात इति शेषः । यदि वा महति भूमिभृतामन्वये जातः । तव वनेषु तपश्चरतोऽस्य गतिं स्वरूपं निरूपयितुं वयम् । सहन्त इति सहाः । पचाद्यच् । न सहाः स्स इति शेषः ॥ ३६ ॥

अपृष्टपरिभाषणापराधं परिहरन्ति—

विगणय्य कारणमनेकगुणं निजयाऽथवा कथितमल्पतया ।

असदप्यदः सहितुमर्हसि नः क्व वनेचराः क्व निपुणा यतयः ॥३७॥

विगणय्येति ॥ अनेकगुणं बहुफलम् । इन्द्रत्वाद्यनेकफलसाधकत्वेन योग्यमित्यर्थः । कारणं तपोरूपं विगणय्य विचार्य । अथवा निजया नैसर्गिक्याऽल्पतया बालिश्येनाज्ञानत्वेन वा कथितं नोऽस्माकम् । अद इदम् । वचनमित्यर्थः । असदसाध्वपि सहितुं सोढुम् । 'तीषसह-' इत्यादिना विकल्पादिडागमः । अर्हसि योग्योऽसि । तर्हि सदेव किं नोक्तं तत्राहुः—वनेचराः क्व । निपुणा यतयो विवेकबुद्धयः क्व । नोभयं संगच्छत इत्यर्थः । अज्ञानं नापराध्यतीति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ३७ ॥

अधिगम्य गुह्यकगणादिति तन्मनसः प्रियं प्रियसुतस्य तपः ।

निजुगोप हर्षमुदितं मघवा नयवर्त्मगाः प्रभवतां हि धियः ॥३८॥

अधिगम्येति ॥ मघवेन्द्र इति पूर्वोक्तं गुह्यकगणात्तन्मनसः प्रियं प्रिय-

१ 'भूमिमुजाम्' इति पाठः. २ 'उपलभ्य' इति पाठः.

सुतस्यार्जुनस्य तपोऽधिगम्य ज्ञात्वा । गुह्यपेक्षया समानकर्तृकत्वात् क्त्वानि-
र्देशः । उदितं तत्तपसो देवकार्यार्थत्वादुत्पन्नं हर्षं निजुगोप गोपयामास । तथा
हि—प्रभवतां प्रभूणां धियो नयवर्त्मगा नीतिमार्गानुसारिण्यो हि । अन्यथा
मन्त्रभेदे कार्यहानिः स्यादिति भावः ॥ ३८ ॥

प्रणिधाय चित्तमथ भक्ततया विदितेऽप्यपूर्वं इव तत्र हरिः ।

उपलब्धुमस्य नियमस्थिरतां सुरसुन्दरीरिति वचोऽभिदधे ॥ ३९ ॥

प्रणिधायेति ॥ अथ हरिरिन्द्रश्चित्तं प्रणिधाय विषयान्तरपरिहारेणात्मन्य-
वस्थाप्य । तत्र तस्मिन्नर्जुने भक्ततया विदिते सत्यपि । उपलक्षणे तृतीया ।
अपूर्वं इव । अविदित इवेत्यर्थः । 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति विकल्पान्न
स्मिन्नादेशः । अस्यार्जुनस्य नियमस्थिरतां दार्ढ्यमुपलब्धुम् । परीक्षितुमि-
त्यर्थः । लोकप्रतीत्यर्थमिति भावः । सुरसुन्दरीः । इति वक्ष्यमाणप्रकारं वचो-
ऽभिदधे ॥ ३९ ॥

सुकुमारमेकमणु मर्मभिदामतिदूरगं युतममोघतया ।

अविपक्षमस्रमपरं कतमद्विजयाय यूयमिव चित्तभुवः ॥ ४० ॥

सुकुमारमिति ॥ मर्मभिदां मर्मच्छेदिनाम् । अस्त्रान्तराणां मध्य इत्यर्थः ।
'यतश्च निर्धारणम्' इति षष्ठी । अपरमन्यत् कतमत् । 'वा बहूनां जातिपरि-
प्रश्ने डतमच्' । यूयमिव सुकुमारं कोमलं, न तु कठिनम् । अन्यत्तु कठिनं
भवति । तथा, एकं न बहु । तत्त्वनेकं भवति । तथाऽणु सूक्ष्मं, न स्थूलम् ।
अलक्ष्यलक्ष्यप्रवेशित्वादिति भावः । यत्तु लक्ष्यलक्ष्यप्रवेशि तत्तु समीपलक्ष्यभेदि ।
तथाऽतिदूरगं दूरलक्ष्यभेदि । तथाऽमोघतयाऽमोघत्वगुणेन युतं युक्तम् । न
कदाचिद्व्यभिचरतीति भावः । अन्यत्तु कदाचिदपि लक्ष्यादपराध्यति । तथाऽ-
विपक्षमसत्प्रतीकारम् । अन्यत्तु विद्यमानप्रतीकारम् । चित्तभुवः कामस्य ।
कर्तारि षष्ठी । विजयाय । एतद्विशेषणविशिष्टमस्रमस्तीति शेषः । न किञ्चिदस्ती-
त्यर्थः । अत्रोपमालङ्कारः । साभिप्रायविशेषणत्वात् परिकरालङ्कारश्च । तयोरुभ-
योरङ्गारङ्गिभावेन संकरः ॥ ४० ॥

असामर्थ्यशङ्कां परिहरति—

भववीतये हतबृहत्तमसामवबोधवारि रजसः शमनम् ।

परिपीयमाणमिव वोऽसकलैरवसादमेति नयनाञ्जलिभिः ॥ ४१ ॥

भवेति ॥ भववीतये संसारनिवृत्तये हतबृहत्तमसां मिरस्तमहामोहानां
योगिनां संबन्धि रजो गुणः । रजो धूलिरिति श्लिष्टरूपकम् । तस्य शमनं निवर्तक-
मवबोधस्तत्त्वज्ञानमेव वारि तत् । वो युष्माकम् । असकलैरसमग्रैर्नयनान्येवा-
ञ्जलयस्तैः परिपीयमाणमिवेत्युत्प्रेक्षा । अवसादं क्षयमेति । मुक्तानपि बध्-
न्तीनां वः कथमसामर्थ्यमिति भावः । अत्रोत्प्रेक्षारूपकयोः संकरः ॥ ४१ ॥

बहुधा गतां जगति भूतसृजा कमनीयतां समभिहत्य पुरा ।

उपपादिता विदधता भवतीः सुरसन्नयानसुमुखी जनता ॥ ४२ ॥

बहुधेति ॥ किञ्च, पुरा जगति बहुधा गतां नानामुखेन विप्रकीर्णां कम-

नीयतां चन्द्राद्युपमानद्रव्यगतलावण्यं समभिहत्य संगृह्य भवतीर्विदधता
सृजता भूतसृजा ब्रह्मणा जनता जनसमूहः । 'ग्रामजन-' इत्यादिना तत् ।
सुरसन्नयानसुमुखी स्वर्लोकयात्राप्रवणा । उपपादिता कृता । स्वर्गस्यापि
यत्प्रसादात् सर्वलोकश्लाघ्यत्वम्, तासां वः कथमसामर्थ्यमिति भावः । अत्राप्सरसां
प्रकीर्णलावण्यसंग्रहासंबन्धेऽपि तत्संबन्धाभिधानादतिशयोक्तिः ॥ ४२ ॥

अथ कार्याशमाह—

तदुपेत्य विघ्नयत तस्य तपः कृतिभिः कलासु सहिताः सचिवैः ।
हतवीतरागमनसां ननु वः सुखसङ्गिनं प्रति सुखार्वजितिः ॥ ४३ ॥

तदिति ॥ तत् तस्मात्समर्थत्वात् कलासु गीतवाद्यादिषु कृतिभिः कुशलैः
सचिवैर्गन्धर्वैः सहिता उपेत्य गत्वा तस्य पुरुषस्य तपो विघ्नयत विघ्नव-
त्कुरुत । विहतेत्यर्थः । विघ्नवच्छब्दान्मत्वन्तात् 'तत्करोति-' इति णिचि लोट् ।
णाविष्टवद्भावान्मतुपो लुक् । न चात्रासामर्थ्यशङ्का कार्यैत्यर्थान्तरन्यासेनाह—
हतेति । ननु संबोधने । हे अप्सरसः, हतानि वशीकृतानि वीतरागाणां निःस्पृ-
हाणां मुमुक्षूणां मनांसि चित्तानि याभिस्तासां वो युष्माकमप्सरसां सुखसङ्गिनं
पुरुषं प्रति सुखाभिलाषिणं प्रति अवजितिर्विजयः सुखा सुखाध्या, न तु
दुष्करा खलु । एतेनायं सुखार्थी न मुमुक्षुरित्युक्तम् । अर्थान्तरन्यासः ॥ ४३ ॥

अथ सुखसङ्गित्वलिङ्गमाह—

अविमृष्यमेतदभिलष्यति स द्विषतां वधेन विषयाभिरतिम् ।
भववीतये न हि तथा स विधिः क्व शरासनं क्व च विमुक्तिपथः ४४

अविमृष्यमिति ॥ हे अप्सरसः, स पुरुषो द्विषतां शत्रूणां वधेन शत्रुहननद्वारा
विषयाभिरतिं विषयसुखमभिलष्यति वाञ्छति । 'वा आश-' इत्यादिना
इयन्प्रत्ययः । एतत् विषयासक्तत्वम् । अविमृष्यमविचार्यम् । अविमृष्यमसंदिग्ध-
व्यमिति । 'ऋदुपधाच्चाकृपिचृतेः' इति क्यप् । भवतीभिर्न संदिग्धव्यमित्यर्थः । हि
यस्मात् स विधिः 'स विभर्ति भीषणभुजङ्गभुजः' (६।३२) इत्यादिश्लोकोक्तो-
ऽनुष्ठानप्रकारो भववीतये संसारमुक्तये न भवति । कुत इत्याह—शरासनं धनुः
क्व, विमुक्तेः पन्थाश्च क्व । द्वयं परस्परं विरुद्धमित्यर्थः । न खलु हिंसासाध्या
मुक्तिरिति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ४४ ॥

न च शापभयमपि संभाव्यमस्मादित्याह—

पृथुधाम्नि तत्र परिवोधि च मा भवतीभिरन्यमुनिवद्विकृतिः ।
स्वयशांसि विक्रमवतामवतां न वधूष्वघानि विमृषन्ति धियः ॥ ४५ ॥

पृथ्विति ॥ पृथुधाम्नि महातेजसि तत्र तस्मिन्पुरुषविषयेऽन्यमुनिवदन्य-
स्मिन्मुनाविव । 'तत्र तस्यैव' इति वतिप्रत्ययः । विकृतिः कोपविकारश्च भव-
तीभिर्मा परिवोधि मा विज्ञायि । मा शङ्कीति यावत् । बुध्यतेः कर्मणि लुङ् ।
माङ्गयोगादाशीरर्थेऽङ्गागमाभावश्च । तथा हि—स्वयशांस्यवतां रक्षताम् ।
यशोधनानामित्यर्थः । विक्रमवतां धियश्चित्तानि वधूषु स्त्रीविषयेषु । अघानि

व्यसनानि । 'दुःखैर्नोव्यसनेष्वघम्' इति वैजयन्ती । न विमृषन्ति । अर्थान्तर-
न्यासः । स्त्रीहिंसायाः शूराणां यशोहानिकरत्वान्न सर्वथा वो हिनस्ति स
इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

आशंसितापचितिचारु पुरः सुराणा-
मादेशमित्यभिमुखं समवाप्य भर्तुः ।

लेभे परां द्युतिममर्त्यवधूसमूहः

संभावना ह्यधिकृतस्य तनोति तेजः ॥ ४६ ॥

आशंसितेति ॥ अमर्त्यवधूसमूहोऽप्सरसां गणः सुराणां पुरोऽग्र आशं-
सितापचितिभिरपेक्षितसंभावनाभिश्चारु यथा तथा । 'क्षयाच्योरपचितिः'
इत्यमरः । अभिमुखं समक्षं भर्तुः स्वामिन इति पूर्वोक्तमादेशं नियोगं सम-
वाप्य परां द्युतिं लेभे । तथा हि—अधिकृतस्य क्वचिदधिकारे नियुक्तस्य
संभावना स्वामिकृता पूजा तेजः कान्तिं तनोति ॥ ४६ ॥

प्रणतिमथ विधाय प्रस्थिताः सन्नस्ताः

स्तनभरनमिताङ्गीरङ्गनाः प्रीतिभाजः ।

अचलनलिनलक्ष्मीहारि नालं बभूव

स्तिमितममरभर्तुर्द्रष्टुमक्षणां सहस्रम् ॥ ४७ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये षष्ठः सर्गः ।

प्रणतिमिति ॥ अथ प्रणतिं विधाय सन्नन इन्द्रभवनात् प्रस्थिताः प्रच-
लिताः स्तनभरैर्नमितान्यङ्गानि यासां ताः । 'अङ्गात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्'
इति डीष् । प्रीतिभाजः स्वामिसंभावनया संतुष्टास्ता अङ्गना अचलनलि-
नानां स्थिरकमलानां लक्ष्मीर्हरतीति तत्तथोक्तम् । तद्वन्मनोहरमित्यर्थः ।
कृतः । स्तिमितं विस्मयनिश्चलममरभर्तुरक्षणां सहस्रं कर्तुं द्रष्टुमलं समर्थं
न बभूव । तासां सौन्दर्यसागरस्योद्वेलत्वादिति भावः । अत्रोपमालङ्कारः ॥४७॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-
काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां षष्ठः सर्गः समाप्तः ॥

सप्तमः सर्गः ।

श्रीमद्भिः सरथगजैः सुराङ्गनानां गुप्तानामथ सचिवैस्त्रिलोकभर्तुः ।
संमूर्च्छन्नलघुविमानरन्ध्रभिन्नः प्रस्थानं समभिदधे मृदङ्गनादः ॥१॥

श्रीमद्भिरिति ॥ अथ प्रस्थानानन्तरं श्रीमद्भिः शोभावद्भिः । सह रथगजेन
सरथगजास्तैः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । त्रयाणां लोकानां
भर्तुस्त्रिलोकभर्तुरिन्द्रस्य । 'तद्वितार्थ-' इत्यादिनोत्तरपदसमासः । सचिवै-

गन्धर्वैर्गुप्तानां सुराङ्गनानां प्रस्थानंग मनम् । अलघुषु महत्सु विमानरन्ध्रेषु
विमानानां कुक्षिकुहरेषु भिन्नः प्रतिध्वानैरनेकीभूतोऽत एव संमूर्च्छन् व्याप्तु-
वन् मृदङ्गनादः समभिदध आचख्यौ । पौरेभ्य इति शेषः । अस्मिन्सर्गे प्रह-
र्षिणीवृत्तम्—‘ज्ञौ ज्ञौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्’ इति लक्षणात् ॥ १ ॥

सोत्कण्ठैरमरगणैरनुप्रकीर्णान्निर्याय ज्वलितरुचः पुरान्मघोनः ।

रामाणामुपरि विवस्वतः स्थितानां नासेदे चरितगुणत्वमातपत्रैः ॥२॥

सोत्कण्ठैरिति ॥ सोत्कण्ठैः । अवेक्षणोत्सुकैरित्यर्थः । अमरगणैरनुप्रकी-
र्णादाकीर्णाज्वलितरुचो दीप्तप्रभान्मघोन इन्द्रस्य पुरादमरावत्या निर्याय
निर्गत्य । यातेः क्त्वो ल्यप् । विवस्वत उपरि स्थितानां रामाणाम् । आतपा-
त्रायन्त इत्यातपत्रैः । ‘सुपि-’ इति योगविभागात् कप्रत्ययः । चरितगुणत्वं
सार्थकत्वं नासेदे न प्राप । तासां सूर्योपरिस्थितत्वादातपासंभवादिति भावः ॥२॥

धूतानामभिमुखपातिभिः समीरैरायासादविशदलोचनोत्पलानाम् ।

आनिन्ये मदर्जनितां श्रियं वधूनामुष्णांशुद्युतिजनितः कपोलरागः ३

धूतानामिति ॥ अभिमुखपातिभिः समीरैः प्रतिकूलवायुभिर्धूतानामिति
दुर्निमित्तसूचनम् । आयासाद्गतिप्रयासात् । अविशदलोचनोत्पलानां वधूना-
मुष्णांशुद्युतिजनित आतपकृतः कपोलानां रागः पाटलत्वम् । मदेन
जनितां श्रियम् । तत्सदृशीं श्रियमित्यर्थः । अत एव निदर्शनालङ्कारः । आनिन्य
आनीतवान् । वधूरिति शेषः । आङ्पूर्वान्नयतेः कर्तरि लिट् । जकारानुबन्धत्वा-
दात्मनेपदम् ॥ ३ ॥

तिष्ठद्भिः कथमपि देवतानुभावादाकृष्टैः प्रजविभिरायतं तुरङ्गैः ।

नेमीनामसति विवर्तने रथौघैरासेदे वियति विमानवत्प्रवृत्तिः ॥४॥

तिष्ठद्भिरिति ॥ कथमपि बाढम् । ‘कथमादि तथाप्यन्ते यत्ने गौरवंबाढयोः’
इति वैजयन्ती । देवतानामनुभावात् तिष्ठद्भिः । अपतद्भिरित्यर्थः । रथविशे-
षणमेतत् । प्रजविभिर्वेगवद्भिस्तुरङ्गैरायतं दूरमाकृष्टै रथौघैर्वियत्याकाशे
नेमीनां चक्रधाराणाम् । ‘चक्रधारा प्रधिर्नेमिः’ इति यादवः । विवर्तने भ्रम-
णेऽसति विमानवद्विमानानामिवेत्युपमा । ‘तत्र तस्येव’ इति वतिप्रत्ययः ।
प्रवृत्तिर्गतिः । आसेदे प्राप्ता । सदेः कर्मणि लिट् ॥ ४ ॥

कान्तानां कृतपुलकः स्तनाङ्गरागे वक्त्रेषु च्युततिलकेषु मौक्तिकाभः ।

संपेदे श्रमसलिलोद्गमो विभूषां रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति ५

कान्तानामिति ॥ कान्तानां स्तनानामङ्गरागे कृतपुलको जनितोद्भेदः ।
कृतरोमाञ्च इत्यर्थः । च्युता प्रमृष्टास्तिलका येषां तेषु वक्त्रेषु मौक्तिकाभः
श्रमसलिलोद्गमः स्वेदोद्भेदो विभूषां भूषणं संपेदे संपन्नः । कर्तरि लिट् ।
तथा हि—रम्याणां स्वभावसुन्दराणां विकृतिरपि श्रियं तनोति । अतः
स्वेदस्यापि विभूषणत्वमुपपद्यत इति भावः ॥ ५ ॥

राजद्विः पथि मरुतामभिन्नरूपैरुल्काचिःस्फुटगतिभिर्ध्वजांशुकानाम्
तेजोभिः कनकनिकापराजिगौरैरायामः क्रियत इव स्म सातिरेकः ६

राजद्विरिति ॥ मरुतां पथि आकाशे राजद्विर्दीप्यमानैरभिन्नरूपैरविच्छि-
न्नाकारैरत एव उल्कानामर्चीषीव स्फुटगतीनि दीप्तमार्गाणि येषां तैः । कन-
कस्य निकापः कपणं तस्य राजी रेखा तद्द्वारैररुणैः । 'गौरः पीतेऽरुणे श्वेते' इति
विश्वः । ध्वजांशुकानां तेजोभिः पताकाकान्तिभिरायामस्तेषामेव दैर्घ्यं
सातिरेकः सातिशयः क्रियते स्मेव कृत इव । दीर्घां ध्वजपटाः स्वतेजःप्रसा-
रेण दीर्घतमा इव लक्ष्यन्त इवेत्युत्प्रेक्षा । सा चोल्काद्युपमानुप्राणिता ॥ ६ ॥

रामाणामवजितमाल्यसौकुमार्ये संप्राप्ते वपुषि सहत्वमातपस्य ।

गन्धर्वैरधिगतविस्मयैः प्रतीये कल्याणी विधिषु विचित्रता विधातुः ७

रामाणामिति ॥ मालैव माल्यं तस्य सौकुमार्यमवजितं येन तस्मिन् । कुसु-
मादपि सुकुमार इत्यर्थः । रामाणां वपुष्यातपस्य । कृद्योगे कर्मणि षष्ठी ।
सहत इति सहः क्षमः । पचाद्यच् । तस्य भावः सहत्वम् । तत् संप्राप्ते सति,
अधिगतविस्मयैः संप्राप्ताश्चर्यैर्गन्धर्वैर्विधातुर्विधिषु सृष्टिषु कल्याणी
साधीयसी । उपकारकत्वादिति भावः । विचित्रता नानाविधत्वं प्रतीयेऽवगता
ज्ञाता । प्रतिपूर्वादिणः कर्मणि लिट् ॥ ७ ॥

सिन्दूरैः कृतरुचयः सहेमकक्ष्याः स्रोतोभिस्त्रिदशगजा मदं क्षरन्तः ।

सादृश्यं ययुररुणांशुरागभिन्नैर्वर्षद्विः स्फुरितशतहृदैः पयोदैः ॥ ८ ॥

सिन्दूरैरिति ॥ सिन्दूरैर्नागसंभवाख्यै रागद्रव्यैः । 'सिन्दूरं नागसंभवम्'
इत्यमरः । कृतरुचयः । अलंकृता इत्यर्थः । सह हेमः कक्ष्याभिर्मध्येभवन्धनैः
सहेमकक्ष्याः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । 'कक्ष्या प्रकोष्ठे
हर्म्यादेः काङ्क्षायां मध्येभवन्धने' इत्यमरः । स्रोतोभिः सप्तभिर्मदनाडीभिः ।
'करात्कटाभ्यां मेढ्राच्च नेत्राभ्यां च मदच्युतिः' इति पालकाप्ये । करात् । नासा-
रन्ध्राभ्यामित्यर्थः । मदं क्षरन्तो वर्षन्तस्त्रिदशगजा अरुणस्यार्कस्यांशूनां
रागेणारुण्येन भिन्नैः संसृष्टैर्वर्षद्विः स्फुरितशतहृदैः स्फुरिततडित्कैः
पयोदैः सादृश्यं ययुरित्युपमालङ्कारः ॥ ८ ॥

अत्यर्थं दुरुपसदादुपेत्य दूरं पर्यन्तादहिममयूखमण्डलस्य ।

आशानामुपरचितामिवैकवेणीं रम्योर्मिं त्रिदशनदीं ययुर्वलानि ॥९॥

अत्यर्थमिति ॥ बलानि सैन्यान्यत्यर्थं दुरुपसदाहुःसहादहिममयूखम-
ण्डलस्य सूर्यबिम्बस्य पर्यन्तात् समीपाद्दूरमुपेत्यागत्याशानामुपरचितां
गुम्फितामेकवेणीमिव स्थितामिवेत्युत्प्रेक्षा । रम्या ऊर्मयस्तरङ्गा भङ्गश्च
यस्यास्तां त्रिदशनदीं मन्दाकिनीं ययुः प्रापुः ॥ ९ ॥

आमत्तभ्रमरकुलाकुलानि धुन्वन्नुद्धूतग्रथितरजांसि पङ्कजानि ।

कान्तानां गगननदीतरङ्गशीतः संतापं विरमयति स्म मातरिश्वा १०

आमत्तेति ॥ आमत्तैर्भ्रमरकुलैराकुलान्युद्धूतान्युत्थापितानि ग्रथिता-

न्यन्योन्यसंबद्धानि च रजांसि येषु तानि पङ्कजानि धुन्वन् कम्पयन् । सुर-
भिरित्यर्थः । गगननदीतरङ्गैः शीतो मातरिश्वा वायुः । कान्तानां संतापं
विरमयति स्म शमयामास । मातर्यन्तरिक्षे श्वयतीति मातर्या श्वयतीति वेति
नैरुक्ताः ॥ १० ॥

संभिन्नैरिभतुरगावगाहनेन प्राप्योर्वीरनु पदवीं विमानपङ्कीः ।
तत्पूर्वं प्रतिविदधे सुरापगाया वप्रान्तस्खलितविवर्तनं पयोभिः ११

संभिन्नैरिति ॥ इभतुरगावगाहनेन हस्यश्वावलोडनेन संभिन्नैः संक्षु-
भितैः सुरापगायाः पयोभिः कर्तृभिः । पदवीमनु । पदव्यामित्यर्थः । ‘लक्ष-
णेत्थंभूत-’ इत्यादिना कर्मप्रवचनीयत्वाद्धितीया । उर्वीर्विपुला विमानपङ्कीः
प्राप्य । तदेव पूर्वं तत्पूर्वमिदं प्रथमं यथा तथा । आकाशगङ्गायास्तटाभावा-
दिति भावः । वप्रान्तेषु रोधोभूमिषु खलितानि तैर्विवर्तनं प्रत्यावृत्तिर्वप्रान्त-
स्खलितविवर्तनं तटान्तस्खलनप्रतिवर्तनम् । ‘वप्रः पितरि केदारे वप्रः प्राकार-
रोधसोः’ इति वैजयन्ती । प्रतिविदधे चक्र इत्यतिशयोक्तिः ॥ ११ ॥

क्रान्तानां ग्रहचरितात्पथो रथानामक्षाग्रक्षतसुरवेश्मवेदिकानाम् ।
निःसङ्गं प्रधिभिरुपाददे विवृत्तिः संपीडक्षुभितजलेषु तोयदेषु १२

क्रान्तानामिति ॥ ग्रहैः सूर्यादिभिश्चरितादाश्रितात् । कर्मणि क्तः । पथो
मार्गात् क्रान्तानां निष्क्रान्तानामक्षाश्चक्राधारा दारुविशेषास्तेषामग्रैः क्षता
दारिताः सुरवेश्मवेदिका यैस्तेषां रथानां प्रधिभिर्नेमिभिश्चक्रान्तैः । ‘चक्रं
रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान्’ इत्यमरः । संपीडेन नोदनेव
क्षुभितानि जलानि येषां तेषु तोयदेषु निःसङ्गमप्रतिघातं यथा तथा
विवृत्तिः परिभ्रमणमुपाददे स्त्रीकृतेत्यतिशयोक्तिः स्वभावोक्त्या संसृज्यते १२

तप्तानामुपदधिरे विषाणभिन्नाः प्रह्लादं सुरकरिणां घनाः क्षरन्तः ।
युक्तानां खलु महतां परोपकारे कल्याणी भवति रुजत्स्वपि प्रवृत्तिः १३

तप्तानामिति ॥ विषाणभिन्ना गजदन्तक्षताः । ‘विषाणं दन्तशृङ्गयोः’ इति
हलायुधः । अत एव क्षरन्तः स्रवन्तो घनास्तप्तानां सुरकरिणां प्रह्लादमु-
पदधिरे चक्रिरे । तथा हि—परोपकारे युक्तानामासक्तानां महतां सतां
रुजत्स्वपि पीडयत्स्वपि विषये कल्याणी हितकारिणी खलु प्रवृत्तिर्व्यापारो
भवतीत्यर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । ततो युक्तं मेघानां गजदन्तक्षतानामपि तदा-
ह्लादकत्वमिति भावः ॥ १३ ॥

संवाता मुहुरनिलेन नीयमाने दिव्यस्त्रीजघनवरांशुके विवृत्तिम् ।
पर्यस्यत्पृथुमणिमेखलांशुजालं संजज्ञे युतकमिवान्तरीयमूर्वोः ॥ १४ ॥

संवातेति ॥ संवाता संवहता । वातेर्गत्यर्थाच्छतृप्रत्ययः । अनिलेन । कामि-
नेवेति भावः । दिव्यस्त्रीणां जघनेषु वरं श्रेष्ठं यदंशुकं तस्मिन् विवृत्तिम-
पसारं मुहुर्नीयमाने सति पर्यस्यत् प्रसर्पत् पृथु विशालं मणिमेखलांशुजा-
लमूर्वोर्युतकं चलनाख्यमिव । ‘युतकं संश्रये युग्मे यौतके चलनेऽपि च’ इति

विश्वः । अन्तरे भवमन्तरीयमधोऽशुकम् । 'गहादिभ्यश्च' इति छप्रत्ययः । 'अन्त-
रीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोऽशुके' इत्यमरः । संजज्ञे संजातम् । जनिधातोः
कर्तरि लिट् । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ १४ ॥

प्रत्यार्द्राकृततिलकास्तुषारपातैः प्रह्लादं शमितपरिश्रमा दिशन्तः ।

कान्तानां बहुमतिमाययुः पयोदा नालपीयान्वहु सुकृतं हिनस्ति दोषः॥

प्रतीति ॥ तुषारपातैः शीकरवर्षैः । 'तुषारौ हिमशीकरौ' इति विश्वः ।
प्रत्यार्द्राकृततिलका मार्जितविशेषका अपि शमितपरिश्रमाः प्रह्लादमानन्दं
दिशन्तः पयोदाः कान्तानाम् । कर्तरि षष्ठी । बहुमतिं संमानमाययुः ।
तथा हि—अल्पीयानल्पो दोषो बहु प्रभूतं सुकृतमुपकारं न हिनस्ति न
हन्ति । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ १५ ॥

यातस्य ग्रथिततरङ्गसैकताभे विच्छेदं विपयसि वारिवाहजाले ।

आतेनुस्त्रिदशवधूजनाङ्गभाजां संधानं सुरधनुषः प्रभा मणीनाम् १६

यातस्येति ॥ ग्रथिततरङ्गं बद्धोर्मि यत्सैकतं तस्याभेवाभा यस्य तस्मिन्
विगतानि पयांसि यस्मात्तस्मिन् विपयसि निर्जले । 'शेषाद्विभाषा' इत्यादिना
विकल्पान्न समासान्तः । उरःप्रभृतिपाठस्तु 'पयः'शब्दस्यैकवचनान्तस्यैवेति न
कश्चिद्विरोधः । वारिवाहजाले मेघवृन्दे विच्छेदं त्रुटिं यातस्य सुरधनुष
इन्द्रचापस्य त्रिदशवधूजनाङ्गभाजां मणीनाम् । तरङ्गसङ्गिविभूषामणीनामि-
त्यर्थः । प्रभाः कान्तयः संधानमातेनुश्चक्रुः । अत्राभरणप्रभागामिन्द्रधनुःसं-
धानासंबन्धेऽपि संबन्धाभिधानादतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ १६ ॥

संसिद्धावितिकरणीयसंनिवद्धैरालापैः पिपतिषतां विलङ्घ्य वीथीम् ।

आसेदे दशशतलोचनध्वजिन्या जीमूतैरपिहितसानुरिन्द्रकीलः १७

संसिद्धाविति ॥ संसिद्धौ कार्यसिद्धिविषय इतीत्थं भाविना प्रकारेण । कर्त-
व्यमिति करणीयं तेन संनिवद्धैः । संयोजितैरित्यर्थः । आलापैराभाषणैरुप-
लक्षितया । 'स्यादाभाषणमालापः' इत्यमरः । दशशतानि संख्या येषु तानि
लोचनानि यस्य सः । सहस्रलोचन इत्यर्थः । तस्य ध्वजिन्या सेनया पिप-
तिषतां पक्षिणां वीथीं मार्गम् । 'पित्सन्तो नभसङ्गमाः' इत्यमरः । 'तनिपति-'
इत्यादिना विकल्पादिडागमः । विलङ्घ्य जीमूतैर्जीवस्योदकस्य मूतः पटबन्धो
येषां तैः । पृषोदरादित्वात् साधुः । अपिहितसानुराच्छादिततटः । उन्नत
इत्यर्थः । इन्द्रकील आसेदे प्राप्तः । सीदतेः कर्मणि लिट् ॥ १७ ॥

आकीर्णा मुखनलिनैर्विलासिनीनामुद्धूतस्फुटविशदातपत्रफेना ।

सा तूर्यध्वनितगभीरमापतन्ती भूर्भर्तुः शिरसि नभोनदीव रेजे ॥१८॥

आकीर्णैति ॥ विलासिनीनां मुखनलिनैः । उपमितसमासः । आकीर्णा
व्यासा उद्धूतान्यूर्ध्वमुत्क्षिप्तानि स्फुटान्यसंकुचितानि विशदातपत्राणि श्वेत-
च्छत्राणि फेना इव यस्यास्तथोक्ता तूर्यध्वनितैर्वाद्यघोषैर्गभीरं यथा स्यात्तथा
भूर्भर्तुरिन्द्रकीलस्य शिरस्यापतन्ती सा सेना नभोनदीव रेजे ॥ १८ ॥

सेतुत्वं दधति पयोमुचां विताने संरम्भादभिपततो रथाञ्जवेन ।
आनिन्युर्नियमितरश्मिभुग्नघोणाः कृच्छ्रेण क्षितिमवनामिनस्तुरङ्गाः ॥

सेतुत्वमिति ॥ पयोमुचां विताने सेतुत्वं दधति सति संरम्भादाटोपा-
ञ्जवेनाभिपततः । मेघवृन्दमधरीकृत्य धावत इत्यर्थः । तथाभूतान् रथान् । नि-
यमितैराकृष्टै रश्मिभिः प्रग्रहैर्भुग्न्या आकुञ्चिता घोणाः प्रोथा येषां तैः । 'कुञ्चितं
नतम् । आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेलितं वक्रम्' इत्यमरः । 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्य-
मरः । 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्' इत्यमरः । अवनमन्तीत्यवनामिनोऽवनतपूर्व-
कायास्तुरङ्गाः कृच्छ्रेण महता प्रयत्नेन क्षितिमानिन्युरिति स्वभावोक्तिः ॥ १९ ॥

माहेन्द्रं नगमभितः करेणुवर्याः पर्यन्तस्थितजलदा दिवः पतन्तः ।
सादृश्यं निलयननिष्प्रकम्पपक्षैराजग्मुर्जलनिधिशायिभिर्नगेन्द्रैः २०

माहेन्द्रमिति ॥ माहेन्द्रं नगमभित इन्द्रकीलाभिमुखम् । 'अभितःप-
रितः-' इत्यादिना द्वितीया । दिवोऽन्तरिक्षात् पतन्तोऽवतरन्तः पर्यन्त-
स्थिताः पार्श्वस्था जलदा येषां ते करेणुवर्याः करेणुषु वर्याः । श्रेष्ठा इत्यर्थः ।
'न निर्धारणे' इति षष्ठीसमासनिषेधात् 'सप्तमी' इति योगविभागात् सप्तमीस-
मासः । निलयने स्थाने निष्प्रकम्पपक्षैर्निश्चलपत्रैर्जलनिधिशायिभिर्नगे-
न्द्रैर्मैनाकादिभिः सादृश्यमाजगुरित्युपमा ॥ २० ॥

उत्सङ्गे समविषमे समं महाद्रेः क्रान्तानां वियदभिपातलाघवेन ।
आमूलादुपनदि सैकतेषु लेभे सामग्रीं खुरपदवी तुरङ्गमाणाम् २१

उत्सङ्ग इति ॥ महाद्रेरुत्सङ्गे मूर्ध्नि यत् समविषमं समं च विषमं च निम्नो-
न्नतं तस्मिन् । द्वन्द्वैकवद्भावः । वियदभिपातलाघवेन गगनसंचारपाटवेन
सममेकरूपम् । आरोहावरोहरहितमित्यर्थः । क्रान्तानां गच्छतां तुरङ्गमाणां
खुरपदवी खुरपङ्क्तिरुपनदि नदीसमीपे । 'अव्ययीभावश्च' इति नपुंसकत्वाद्भ्र-
स्वत्वम् । सैकतेष्वामूलात् मूलमारभ्य । आदित आरभ्येति यावत् । समग्रस्य
भावः सामग्री साकल्यम् । भावे ष्यञ् । ङीप् । लेभे । सैकतादन्यत्र निम्नेषु
गगनचारेण समखुरस्पर्शाभावाद्द्विच्छिन्ना खुरसरणिः । सैकतेषु तु सर्वत्र समत्वा-
द्विच्छिन्नेत्यर्थः ॥ २१ ॥

सध्वानं निपतितनिर्झरासु मन्द्रैः संमूर्च्छन्प्रतिनिनदैरधित्यकासु ।
उद्गीवैर्धनरवशङ्कया मयूरैः सोत्कण्ठं ध्वनिरुपशुश्रुवे रथानाम् २२

सध्वानमिति ॥ सध्वानं सशब्दं निपतिता निर्झराः प्रवाहा यासु
तासु । 'प्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः । अधित्यकासु नगोर्ध्वंभूमिषु । 'भूमि-
रूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । 'उपाधिभ्यां-' इत्यादिना त्यकन्प्रत्ययः । मन्द्रैर्ग-
म्भीरैः । 'मन्द्रस्तु गम्भीरे' इत्यमरः । प्रतिनिनदैः प्रतिध्वानैः संमूर्च्छन्
वर्धमानो रथानां ध्वनिर्धनरवशङ्कया मेघगर्जितभ्रमेणेति भ्रान्तमदलङ्कारः ।
उद्गीवैर्मयूरैः सोत्कण्ठमुपशुश्रुव उपश्रुतः । शृणोतेः कर्मणि लिट् ॥ २२ ॥

संभिन्नामविरलपातिभिर्मयूखैर्नीलानां भृशमुपमेखलं मणीनाम् ।
विच्छिन्नामिव वनिता नभोन्तराले वप्राम्भःस्रुतिमवलोकयांबभूवुः ॥

संभिन्नामिति ॥ अविरलपातिभिर्निरन्तरप्रसारिभिः । उपमेखलम् । तटे-
ष्वित्यर्थः । 'अथ मेखला । श्रोणिस्थानेऽद्विकटके कटिबन्धेऽसिबन्धने' इति
यादवः । नीलानां मणीनां मयूखैर्भृशं संभिन्नामेकीभूतामत एव नभो-
न्तराले विच्छिन्नामिव स्थितामित्युत्प्रेक्षा । वप्राम्भःस्रुतिं वप्रोदकधारां
वनिता अवलोकयांबभूवुः । वप्राम्भःस्रुतेः स्वधवलमत्यागेनेन्द्रनीलानां
नीलिमस्वीकाररूपतद्गुणोत्थापिता विच्छेदोत्प्रेक्षेति तयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः ।
तेन च नैल्यविच्छेदभ्रमरूपो भ्रान्तिमान् व्यज्यते ॥ २३ ॥

आसन्नद्विपपदवीमदानिलाय क्रुध्यन्तो धियमवमत्य धूर्गतानाम् ।
सव्याजं निजकरिणीभिरात्तचित्ताः प्रस्थानं सुरकरिणः कथंचिदीषुः ॥

आसन्नेति ॥ धुरं गतास्तेषां धूर्गतानां नियन्त्रणां धियमवमत्यावज्ञाय ।
आसन्नायां द्विपपदव्यां वनगजमार्गे यो मदानिलस्तस्मै क्रुध्यन्तस्तं प्रति
कुप्यन्तः । 'क्रुधद्रुह-' इत्यादिना संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । सव्याजं सकपटं निज-
करिणीभिरात्तचित्ता आकृष्टचित्ताः सुरकरिणो देवनागाः प्रस्थानं गमनं
कथंचित् कष्टेन । ईषुरभिलेषुः ॥ २४ ॥

नीरन्ध्रं पथिषु रजो रथाङ्गनुन्नं पर्यस्यन्नवसलिलारुणं वहन्ती ।
आतेने वनगहनानि वाहिनी सा घर्मान्तक्षुभितजलेव जह्नुकन्या २५

नीरन्ध्रमिति ॥ नीरन्ध्रं सान्द्रं पथिषु रथाङ्गैश्चक्रैर्नुन्नं प्रेरितम् । 'नुत्तनु-
न्नास्तनिष्ठयूताविद्धक्षिप्तैरिताः समाः' इत्यमरः । पर्यस्यत् प्रसर्पन्नवसलिलमि-
वारुणं रजो वहन्ती सा वाहिनी सेना । घर्मान्ते प्रावृषि क्षुभितजला ।
क्रलुषोदकेत्यर्थः । जह्नुकन्या गङ्गेव । वनानि फलकुसुमप्रधानानि, गहनानि
जीर्णारण्यानि च तानि वनगहनानि । आतेने व्यानशे । अत्र समासगतवाक्य-
गतोपमयोः सजातीययोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ २५ ॥

संभोगक्षमगहनामथोपगङ्गं विभ्राणां ज्वलितमणीनि सैकतानि ।

अध्युषुश्च्युतकुसुमाचितां सहाया वृत्रारेरविरलशाद्वलां धरित्रीम् २६

संभोगेति ॥ अथ वृत्रारेः शक्रस्य सहायाः सचिवा गन्धर्वा उपगङ्गं गङ्गा-
समीपे । अव्ययीभावस्य नपुंसकत्वाद्भ्रस्वत्वम् । संभोगक्षमगहनामुपभोग-
योग्यवनां ज्वलिता मणयो येषु तानि सैकतानि विभ्राणाम् । भृजः कर्तारि-
लटः शानच् । च्युतैः स्वयं पतितैः कुसुमैराचितां व्याप्तम् । अविरलाः
सान्द्राः शाद्वलाः शादप्रायदेशा यस्यां सा तां धरित्रीम् । अध्युषुरधितस्थुः ।
वसतेर्यजादित्वात् संप्रसारणम् । अत्र धरित्रीविशेषणार्थानामधिवासहेतुत्वादनेक-
पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २६ ॥

भूभर्तुः समधिकमादधे तदोर्व्याः श्रीमत्तां हरिसखवाहिनीनिवेशः ।
संसक्तौ किमसुलभं महोदयानामुच्छ्रायं नयति यदृच्छयापि योगः ॥

भूभर्तुरिति ॥ तदा हरिसखवाहिनीनिवेशो गन्धर्वसेनाशिविरम् ।
'निवेशः शिविरोद्वाहविन्यासेषु प्रकीर्तितः' इति शाश्वतः । भूभर्तुः पर्वतस्य ।
उर्व्याः समधिकं पूर्वस्मादभ्यधिकं यथा तथा श्रीमत्ताम् । श्रियमित्यर्थः ।
आदधे जनयामास । तथा हि—महोदयानां महात्मनां संसक्तौ सम्यक्सं-
बन्धे । 'संसक्तौ' इति पाठे तु सम्यक्सेवायाम् । किमसुलभम् । न किञ्चिदु-
ल्लभमित्यर्थः । यतः,—यदृच्छया दैवाद्योगोऽप्युच्छ्रायमुत्कर्षं नयति । अत्र
प्रकृतयदृच्छया योगस्योत्कर्षाभिधानादप्रकृतसक्तियोगस्योत्कर्षाधायकत्वे कैमुतिक-
न्यायेन्नार्थापत्तिरिति प्राकरणिकादप्राकरणिकरूपार्थापत्तिरलङ्कारः । तदुक्तम्—
'एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्र वस्त्वन्यथा पतेत् । कैमुत्येन यतः सा स्यादार्थापत्ति-
रलंक्रिया ॥' इति ॥ २७ ॥

सामोदाः कुसुमतरुश्रियो विविक्ताः संपत्तिः किसलयशालिनीलतानां
साफल्यं ययुरमराङ्गनोपभुक्ताः सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम् २८

सामोदा इति ॥ सामोदाः ससौरभाः कुसुमप्रधानास्तरवः । शाकपार्थि-
वादिषु द्रष्टव्यः । तेषां श्रियः समृद्धयो विविक्ता विजनप्रदेशाः । 'विविक्तवि-
जनच्छन्ननिःशलाकास्तथा रहः' इत्यमरः । किसलयशालिनीलतानां नवपल्लव-
युतवल्लीनां संपत्तिः, एता अमराङ्गनोपभुक्ताः सत्यः साफल्यं ययुः । तथा
हि—यया लक्ष्म्या करणेन परेषामुपकुरुते । लक्ष्मीवानिति शेषः । सा
लक्ष्मीर्नान्येति भावः । परेषामित्यत्र 'अनुकरोति भगवतो मारायणस्य' इत्यादि-
वत्क्रियायोगे हि संबन्धसामान्ये षष्ठी ॥ २८ ॥

क्लान्तोऽपि त्रिदशवधूजनः पुरस्ताल्लीनाहिंश्वसितविलोलपल्लवानाम् ।
सेव्यानां हतविनयैरिवावृतानां संपर्कं परिहरति स्म चन्दनानाम् २९

क्लान्त इति ॥ क्लान्तोऽपि त्रिदशवधूजनः । पुरस्तादग्रे । लीनानां संश्रि-
तानाम् । अहीनां श्वसितैर्निश्वासैर्विलोलाः पल्लवा येषां तेषां चन्दनानां
संपर्कं हतविनयैर्दुर्जनैः खलैः । आवृतानां संवृतानां सेव्यानां प्रभूणां संपर्क-
मिव परिहरति स्म । दुष्टवद्दुष्टसंसृष्टा गुणाढ्या अपि त्याज्या इति भावः ॥ २९ ॥

उत्सृष्टध्वजकुथकङ्कटा धरित्रीमानीता विदितनयैः श्रमं विनेतुम् ।
आक्षिप्तद्रुमगहना युगान्तवातैः पर्यस्ता गिरय इव द्विपा विरेजुः ३०

उत्सृष्टेति ॥ उत्सृष्टा आक्षिप्ता ध्वजाः कुथा भास्तरणानि कङ्कटास्तनुत्रा-
णानि च येभ्यस्ते । 'प्रवेण्यास्तरणं वर्णः परिस्तोमः कुथो द्वयोः' इत्यमरः । विदित-
नयैः शिक्षाभिज्ञैर्यन्त्रभिः श्रमं विनेतुं क्लममपनेतुं धरित्रीमानीताः । निवे-
श्यमाना इत्यर्थः । द्विपा युगान्तवातैराक्षिप्तान्युद्धृतानि द्रुमाणां गहनानि
वनानि येभ्यस्ते पर्यस्ता विपर्यासिता गिरय इव विरेजुः शुशुभिरे ॥ ३० ॥

प्रस्थानश्रमजनितां विहाय निद्रामामुक्ते गजपतिना सदानपङ्के ।
शय्यान्ते कुलमलिनां क्षणं विलीनं संरम्भच्युतमिव शृङ्खलं चकाशे ॥

प्रस्थानेति ॥ गजपतिना प्रस्थानश्रमेण गमनक्लेशेन जनितां निद्रां
विहाय । आमुक्तेऽत एव सदानपङ्के गजमदयुक्ते शय्यान्ते शयनीयप्रदेशे
क्षणं विलीनं लग्नम् । अलिनां कुलं संरम्भेणोत्थानसंश्रमेण च्युतं
अष्टं शृङ्खलं निगडमिवेत्युत्प्रेक्षा । 'अथ शृङ्खले । अन्दुको निगडोऽस्त्री
स्यात्' इत्यमरः । चकाशे शुशुभे ॥ ३१ ॥

आयस्तः सुरसरिदोघरुद्धवर्त्मा संप्राप्तुं वनगजदानगन्धि रोधः ।
मूर्धानं निहितशिताङ्कुशं विधुन्वन् यन्तारं न विगणयाञ्चकार नागः ॥

आयस्त इति ॥ वनगजदानस्य गन्धोऽस्यास्तीति तथोक्तं रोधः । परकूल-
मित्यर्थः । संप्राप्तुं गन्तुम् । आयस्त उत्सुकः । प्रयत्नं कुर्वाण इत्यर्थः । 'यसु
प्रयत्ने' इति धातोः कर्त्तरि क्तः । किंतु सुरसरिदोघेन गङ्गाप्रवाहेण रुद्धं
वर्त्म यस्य सः । नागो गजो निहितो दत्तः शितस्त्रीक्ष्णोऽङ्कुशो यस्मिन् ।
'अङ्कुशोऽस्त्री सृणिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । तं, मूर्धानं विधुन्वन् । रोषादिति
भावः । यन्तारं न विगणयाञ्चकार न विगणयामास ॥ ३२ ॥

आरोदुः समवनतस्य पीतशेषे साशङ्कं पयसि समीरिते करेण ।
संमार्जन्नरुणमदस्रुती कपोलौ सस्यन्दे मद इव शीकरः करेणोः ३३

आरोदुरिति ॥ समवनतस्य जलपानार्थमानतपूर्वकायस्य करेणोर्गजस्य ।
'करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे' इत्यमरः । करेण पीतस्य शेषे पयसि । आरोदुर्हस्ति-
पकात् साशङ्कं सभयं समीरिते । क्षिप्ते सतीत्यर्थः । शीकरोऽम्बुकणः ।
अरुणे मदस्रुती मदधारे ययोस्तौ । कपोलौ संमार्जन् प्रमृजन् । 'मृजेर-
जादौ संक्रमे विभाषावृद्धिर्वक्तव्या' इति वृद्धिः । मद इव सस्यन्दे सुस्त्राव ।
मदसंपृक्तस्य मदसादृश्यान्मदोपमा ॥ ३३ ॥

आघ्राय क्षणमतिवृष्यतापि रोषादुत्तीरं निहितविवृत्तलोचनेन ।
संपृक्तं वनकरिणां मदाम्बुसेकैर्नाचेमे हिममपि वारि वारणेन ३४

आघ्रायेति ॥ अतिवृष्यताऽप्यतिपिपासतापि क्षणमाघ्राय रोषादुत्तीरं
परतीरे । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । निहिते विवृत्ते घूर्णिते लोचने यस्य तेन ।
प्रतिगजदिदृक्षयेति भावः । वारणेन हिमं शीतलमपि वनकरिणां मदाम्बु-
सेकैर्दानधाराभिः संपृक्तं वारि नाचेमे न पीतम् । 'चमु भदने' इति धातोः
कर्मणि लिट् ॥ ३४ ॥

प्रश्रयोतन्मदसुरभीणि निम्नगायाः क्रीडन्तो गजपतयः पयांसि कृत्वा
किञ्जल्कव्यवहितताम्रदानलेखैरुत्तेरुः सरसिजगन्धिभिः कपोलैः ३५

प्रश्रयोतदिति ॥ क्रीडन्तो विहरन्तो गजपतयो निम्नगाया गङ्गायाः
पयांसि प्रश्रयोतद्भिः क्षरन्निर्मदैः सुरभीणि कृत्वा किञ्जल्कैः केसरैर्व्यव-

हितास्तिरोहितास्ताम्रास्ताम्रवर्णा दानलेखा मदराजयो येषु तैरत एव सरसि-
जगन्धिभिः कपोलैरुपलक्षिताः सन्त उक्तेरुर्निर्जग्मुः । अत्र मदसरसिज-
गन्धयोः समयोर्विनिमयोक्त्या समपरिवृत्तिरलंकारः । तेन च गजानां निम्नगायाश्च
परिमलव्यत्ययान्तरसंरम्भो व्यज्यते ॥ ३५ ॥

आंकीर्णं बलरजसा घनारुणेन प्रक्षोभैः सपदि तरङ्गितं तटेषु ।
मातङ्गोन्मथितसरोजरेणुपिङ्गं माञ्जिष्टं वसनमिवाम्बु निर्वभासे ३६

आंकीर्णमिति ॥ घनारुणेन सान्द्रलोहितेन । विशेषणसमासः । बलरजसा
सेनापरारोणांकीर्णं सपदि प्रक्षोभैरालोडनैस्तटेषु तीरेषु तरङ्गितं संजाततर-
ङ्गम् । ताश्कादित्वादितच् । यद्वा, -तरङ्गवत् कृतम् । मत्वन्तात् 'तत्करोति-' इति
णिवि कर्मणि क्तः । णाविष्टवद्वावान्मतुपो लुक् । तथा मातङ्गैरुन्मथितानां
लुलितानां सरोजानां रेणुभिः पिङ्गं पिशङ्गमम्बु माञ्जिष्टेन महारजनेनारक्तं
माञ्जिष्टं वसनमिव निर्वभासे । 'तेन रक्तं-' इत्यण् । 'कौशेयम्' इति वा
पाठे 'कोशाङ्गम्' । 'कौशेयं कृमिकोशोत्थम्' इत्यमरः ॥ ३६ ॥

श्रीमद्भिर्नियमितकंधरापरान्तैः संसक्तैरगुरुवनेषु साङ्गहारम् ।
संप्रापे निःसृतमदाम्बुभिर्गजेन्द्रैः प्रस्यन्दिप्रचलितगण्डशैलशोभा ३७

श्रीमद्भिरिति ॥ श्रीमद्भिः शोभावद्भिर्नियमिताः कंधरा अपरान्ताश्चरम-
पादाग्राणि च येषां तैः । 'अपरः पश्चिमः पादः' इति वैजयन्ती । अगुरुवनेषु
साङ्गहारं साङ्गविक्षेपं यथा तथा संसक्तैर्निःसृतानि प्रसृतानि मदाम्बूनि
येषां तैर्गजेन्द्रैः प्रस्यन्दिनो जलस्त्राविणः प्रचलिता ये गण्डशैलाश्च्युतोपला-
स्तेषां शोभा संप्रापे प्राप्ता । कर्मणि लिट् । 'गण्डशैलास्तु च्युताः स्थूलोपला-
गिरेः' इत्यमरः । अत्रान्यशोभाप्राप्त्यसंभवात्तत्सदृशी शोभेति प्रतिबिम्बत्वाक्षे-
पाद्भिर्दर्शनालंकारः ॥ ३७ ॥

निःशेषं प्रशमितरेणु वारणानां स्रोतोभिर्मदजलमुज्जतामजस्रम् ।
आमोदं व्यवहितभूरिपुष्पगन्धो भिन्नैलासुरभिमुवाह गन्धवाहः ३८

निःशेषमिति ॥ गन्धं वहतीति गन्धवाहो वायुः । कर्मण्यण् । निःशेषं
यथा तथा प्रशमितो रेणुर्येन तत् । मदजलं स्रोतोभिर्मदनाडीभिरजस्रमु-
ज्जतां वर्षतां वारणानां संबन्धिनं व्यवहितस्तिरस्कृतो भूरिर्बहुलः पुष्प-
गन्धो येन सः । भिन्नाः फुल्ला एला लताविशेषाः । 'पृथ्वीका चन्द्रवालैला'
इत्यमरः । तत्पुष्पाणि चैलाः । 'पुष्पे जातीप्रभृतयः स्वलिङ्गा व्रीहयः फले'
इत्यमरः । भिन्नैलावत् सुरभिं घ्राणेन्द्रियतर्पणमित्युपमा । आमोदं परिमल-
मुवाह वहति स्म ॥ ३८ ॥

सादृश्यं दधति गभीरमेघघोषैरुन्निद्रक्षुभितमृगाधिपश्रुतानि ।
आतेनुश्चकितचकोरनीलकण्ठान् कच्छान्तानमरमहेभृंहितानि ३९

सादृश्यमिति ॥ गभीरैर्मैघघोषैः सान्द्रगर्जितैः सादृश्यं दधतीत्युपमा ।

दधातेः शतृप्रत्ययः । 'वानपुंसकस्य' इति विकल्पानुमभावः । उन्निद्रा वृंहितश्रवणादेव प्रबुद्धाः क्षुभिताः संरब्धाश्च ये मृगाधिपास्तैः श्रुतान्याकर्णितानि । न तु प्रतिबुद्धानीति भावः । अमरमहेमवृंहितानि सुरगजगर्जितानि कच्छान्ताननूपप्रदेशान् । 'जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छंस्तथाविधः' इत्यमरः । चक्रिता गर्जितशङ्कया संभ्रान्ताश्चकोराः पक्षिविशेषा नीलकण्ठा मयूराश्च येषु तांस्तथाभूतान् । आतेनुः । भ्रान्तिमदलंकारः ॥ ३९ ॥

शाखावसक्तकमनीयपरिच्छदानामध्वश्रमातुरवधूजनसेवितानाम् ।
जज्ञे निवेशनविभागपरिष्कृतानां लक्ष्मीः पुरोपवनजा वनपादपानां
इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये सप्तमः सर्गः ।

शाखेति ॥ परिच्छाद्यतेऽनेनेति परिच्छदः परिकरो वसनाभरणादिः । 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' इति घप्रत्ययः । 'छादेर्घेऽभ्युपसर्गस्य' इति ह्रस्वत्वम् । शाखास्ववसक्ताः कमनीयाः परिच्छदा येषां तेषामध्वनि श्रमस्तेनातुरैः पीडितैर्वधूजनैः सेवितानां निवेशनविभागैरावसतिकावच्छेदैः परिष्कृतानामलंकृतानाम् । 'संपर्युपेभ्यः-' इत्यादिना सुट् । वनपादपानामरण्यवृक्षाणां पुरे यदुपवनं कृत्रिमवनं तत्र जाता पुरोपवनजा लक्ष्मीः शोभा जज्ञे जाता । अत्रान्योन्यलक्ष्मीसंबन्धासंभवात्तत्सदृशीति सादृश्याक्षेपादसंभवे तद्वस्तुसंबन्धेयं निदर्शना । वसन्ततिलकावृत्तम्—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति लक्षणात् ॥ ४० ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-
काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां सप्तमः सर्गः समाप्तः ।

अष्टमः सर्गः ।

अथ स्वमायाकृतमन्दिरोज्ज्वलं ज्वलन्मणि व्योमसदां सनातनम् ।
सुराङ्गना गोपतिचापगोपुरं पुरं वनानां विजिहीर्षया जहुः ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथ निवेशनानन्तरं सुराङ्गना अप्सरसः स्वमायया स्वेच्छाविशेषेण कृतैर्निर्मितैर्मन्दिरैरुज्ज्वलं दीप्तम् । ज्वलन्तो मणयो यस्मिस्तत् । व्योमसदां गन्धर्वाणां सनातनं सदातनम् । 'सायंचिरं-' इत्यादिना भावार्थे व्युप्रत्ययः । गौर्वज्रं तत्पतिरिन्द्रस्तच्चापवर्णानि गोपुराणि यस्य तत्तथोक्तमित्युपमा । पुरं नगरं वनानां विजिहीर्षया वनानि विहर्तुमिच्छया । कर्मणि षष्ठी । जहुस्तत्यजुः । जहातेर्लिट् । अत्र ज्वलंज्वलदिति पुरंपुरमिति चासकृद्भजनद्वयावृत्त्या छेकानुप्रासः । अन्यत्र,—तद्वैपरीत्यादृत्त्यनुप्रास इति तयोपमायाश्च संसृष्टिः । अस्मिन्सर्गे वंशस्थं वृत्तम्—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

यथायथं ताः सहिता नभश्चरैः प्रभाभिर्रुद्रासितशैलवीरुधः ।
वनं विशन्त्यो वनजायतेक्षणाः क्षणद्युतीनां दधुरेकरूपताम् ॥ २ ॥

यथायथमिति ॥ यथायथं यथास्वम् । स्वकीयमनतिक्रम्येत्यर्थः । 'यथास्वं

तु यथातथम्' इत्यमरः । नपुंसकनिपातनं तु ह्रस्वार्थम् । नभश्चरैर्गन्धर्वैर्मैघैश्च
सहिताः प्रभाभिः स्वदीप्तिभिः । उद्भासिताः शैलवीरुधो याभिस्ताः पूर्वोक्ता
वनजायतेक्षणाः पद्मलोचनाः स्त्रियो वनं विशन्त्यः । क्षणं द्युतिर्यासां तासां
क्षणद्युतीनां विद्युतामेकरूपतां समानरूपतां दधुः । मुहुर्दुमान्तराले तासां
स्फुरणस्य क्षणिकत्वादिति भावः । श्लेषानुप्राणितेयमुपमा । श्लेषत्वमिति केचित् ।
उभयथाप्यनुप्रासेन संसर्गः ॥ २ ॥

निवृत्तवृत्तोरुपयोधरक्लमः प्रवृत्तनिर्हादिविभूषणारवः ।

नितम्बिनीनां भृशमादधे धृतिं नभःप्रयाणादवनौ परिक्रमः ॥ ३ ॥

निवृत्तेति ॥ निवृत्तो गतो वृत्तस्य वर्तुलस्य उरुपयोधरस्य क्लमो यस्मिन्सः ।
पादप्रक्षेपेषु विश्रान्तिसंभवादिति भावः । किंच, प्रवृत्तो जातो निर्हादिविभू-
षणानां नूपुरादीनामारवो यस्मिन्सः । अवनौ पृथिव्यां परिक्रमः संचारो
नितम्बिनीनां नभःप्रयाणात् । भृशमधिकम् । 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी ।
धृतिं संतोषमादध । अत्र विशिष्टपरिक्रमस्य धृत्यादानहेतुत्वात् काव्यलिङ्गम-
लंकारः ॥ ३ ॥

घनानि कामं कुसुमानि विभ्रतः करप्रचेयान्यपहाय शाखिनः ।

पुरोऽभिसस्रे सुरसुन्दरीजनैर्यथोत्तरेच्छा हि गुणेषु कामिनः ॥ ४ ॥

घनानीति ॥ घनानि सान्द्राणि, न तु विरलानि । करप्रचेयानि हस्तप्रा-
ह्याप्यनुचानि । 'कृत्यैरधिकार्थवचने' इति तृतीयासमासः । कामं कुसुमानि
विभ्रतो नवकुसुमितान् शाखिनस्तरुन् अपहाय सुरसुन्दरीजनैः पुरोऽप्रे-
ऽभिसस्रेऽभिसृतम् । भावे लिट् । तथा हि—कामिनो गुणेष्वतिशयेषु विषय
उत्तरमुत्तरम् । वीप्सार्थेऽव्ययीभावः । यथोत्तरमिच्छा येषां ते यथोत्तरेच्छा
उत्तरोत्तराभिलाषुका हि । अत्र परिकरोत्थापितोऽर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ॥ ४ ॥

तनूरलक्तारुणपाणिपल्लवाः स्फुरन्नखांशूत्करमञ्जरीभृतः ।

विलासिनीबाहुलता वनालयो विलेपनामोदहताः सिषेविरे ॥ ५ ॥

तनूरिति ॥ विलेपनामोदैर्हता आकृष्टा वनालयो वनभृङ्गास्तनूः कृशा
अलकैररुणाः पाणय एव पल्लवा यासां ताः स्फुरन्तो नखांशूनामुत्कराः
पुञ्जा एव मञ्जर्यस्ता विभ्रतीति तथोक्ताः । क्विप् । विलासिनीनां बाहव एव
लतास्ताः सिषेविरे । अत्र समस्तवस्तुविषयरूपकालंकारः । बाहवयवानां लता-
वयवानां पल्लवादीनामपि निरूपणादिति ॥ ५ ॥

निपीयमानस्तवका शिलीमुखैरशोकयष्टिश्चलबालपल्लवा ।

विडम्बयन्ती ददृशे वधूजनैरमन्ददष्टौष्ठकरावधूननम् ॥ ६ ॥

निपीयमानेति ॥ शिलीमुखैरलिभिः । 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः ।
निपीयमानः स्तवको गुच्छो यस्याः सा । चला बालपल्लवा यस्याः सा । अस्त
एव अमन्दं दृढं दृष्ट ओष्ठो यस्मिन्स्तकरावधूननं करकम्पनं तद्विडम्बयन्ती ।
स्तवकपानेनौष्ठदशनं पल्लवचलनेन करावधूननं चानुकुर्वतीत्यर्थः । धूजो ष्यन्ता-
ल्लयुद् । णिच् धूज्रीजोर्नुग्वक्तव्यः । अशोकयष्टिः अशोकशाखेत्यर्थः । वधूजनै-

दृष्टो दृष्टा । अत्र विडम्बयन्तीति प्रस्तुताशोकशाखाविशेषणभूतोपमामहिम्ना प्र-
स्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिरुत्तिष्ठमानतथैवोपमयाङ्गाङ्गिभावेन संकीर्यते ॥६॥

अथ कश्चिन्मधुकराक्रान्तां कांचिदाह—

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती वृथा कृथा मानिनि मा परिश्रमम् ।

उपेयुषी कल्पलताभिः शङ्कया कथं न्वितस्त्रस्यति षट्पदावलिः ॥७॥

कराविति ॥ मानपरिहारेण मधुपाश्रयणे तु न कश्चिद्वाध इत्याशयेन संबोध-
यति—हे मानिनीति । नवपल्लवस्याकृतिरिवाकृतिर्योरित्युपमा । तौ करौ
धुनाना । धूजः क्रैयादिकात्कर्तरि लटः शानच् । वृथा व्यर्थं परिश्रमं मा कृथा
मा कुरुष्व । करोतेराशीरर्थं माङ्ङि लुङ् । वृथात्वे हेतुमाह—कल्पलताभि-
शङ्कया कल्पवल्लीभ्रमेणेति भ्रान्तिमदलङ्कारः । उपेयुषी उपगता षट्पदावलिः
कथं न्वितस्त्रस्यति विभेति । न त्रस्यत्येवेत्यर्थः । 'वा भ्राश-' इत्यादिना विक-
ल्पेन श्यन्प्रत्ययः । अत्र कान्तापरिश्रमवैयर्थ्यरूपकार्यस्य षट्पदावलेः कल्पवल्ली-
भ्रमनिबन्धनवित्रासरूपकारणसमर्थनात् कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासो
भ्रान्तिमताङ्गाङ्गिभावेन संकीर्णः । स तूपमया संसृज्यते ॥ ७ ॥

अथ काचित्सखी कांचिप्रणयकुपितामाह—

जहीहि कोपं दयितोऽनुगम्यतां पुरानुशेते तव चञ्चलं मनः ।

इति प्रियं काश्चिदुपैतुमिच्छतीं पुरोऽनुनिन्ये निपुणः सखीजनः ॥ ८ ॥

जहीहीति ॥ प्रियमुपैतुं स्वयमेवानुसर्तुमिच्छतीम् । 'आच्छीनघोर्नुम्' इति
विकल्पानुमभावः । काश्चिन्नायिकां निपुणश्चित्तज्ञः सखीजनः । कोपं जहीहि
त्यज । 'भा च हौ' इति विकल्पादीकारादेशः । दयिताऽनुगम्यतामनुस्त्रिय-
ताम् । उभयथापि प्रार्थनायां लोट् । अन्यथा चञ्चलमस्थिरं तव मनः पुरानु-
शेतेऽप्रेनुशयिष्यते । अनुतप्स्यत इत्यर्थः । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति लट् ।
इत्यनेन प्रकारेण पुरः पूर्वमेवानुनिन्ये प्रसादयामास ॥ ८ ॥

अथ चतुर्भिः श्लोकैः कलापकमाह—

समुन्नतैः काशदुकूलशालिभिः परिक्रणत्सारसपङ्क्तिमेखलैः ।

प्रतीरदेशैः स्वकलत्रचारुभिर्विभूषिताः कुञ्जसमुद्रयोषितः ॥ ९ ॥

समुन्नतैरिति ॥ समुन्नतैः काशानि अश्वबालकुसुमानि तानि दुकूलानीव
तैः शालन्त इति तथोक्तैः । सारसपङ्क्तयो मेखला इव ताः परिक्रणन्त्यो
येषु ते तैः स्वेषां कलत्राणि श्रोण्यास्तद्वच्चारवस्तैः । 'कलत्रं श्रोणिभार्ययोः'
इत्यमरः । प्रतीरदेशैर्विभूषितास्तटप्रदेशैर्भूषिताः । कुञ्जसमुद्रयोषितः ।
वननद्य इत्यर्थः । अत्र तीरादीनां कलत्राद्यौपम्योपमेयत्वाद्योषिच्छब्दसामर्थ्याच्च
नदीनां योषिदौपम्यं गम्यते ॥ ९ ॥

विदूरपातेन भिदामुपेयुष्युताः प्रवाहादभितः प्रसारिणः ।

प्रियाङ्कशीताः शुचिमौक्तिकत्विषो वनप्रहासा इव वारिबिन्दवः १०

विदूरेति ॥ विदूरपातेन भिदां भेदम् । 'षिद्धिदादिभ्योऽङ्' । उपेयुष
उपगतात् प्रवाहाद्युता अत एवाभितः प्रसारिणः प्रसर्पन्त इति प्रियाया

अङ्ग उत्सङ्ग इव शीताः शीतलाः शुचीनां मौक्तिकानां त्विष इव त्विषो
येषां ते । किंच, वनस्य प्रहासा इव स्थिता इत्युत्प्रेक्षा । चारिविन्दवश्च ।
अत्रोपमयोरुभयोरुत्प्रेक्षायाश्च संसृष्टिः ॥ १० ॥

सखीजनं प्रेमगुरुकृतादरं निरीक्षमाणा इव नम्रमूर्तयः ।

स्थिरद्विरेफाञ्जनशारितोदरैर्विसारिभिः पुष्पविलोचनैर्लताः ॥ ११ ॥

सखीति ॥ द्वौ रेफौ वर्णविशेषौ येषां ते द्विरेफाः । 'भ्रमर'शब्देन तदर्थो
लक्ष्यते । 'द्व्यक्षरं मासमिति विदधाति' इति भाष्यकारः । स्थिरा निश्चला
द्विरेफा एवाञ्जनानि तैः शारितानि शबलीकृतान्युदराणि येषां तैः । 'शारः
शबलवातयोः' इति विश्वः । विसारिभिर्विस्तृतैः पुष्पाण्येव विलोचनानि
तैः । प्रेम्णा गुरुकृतः आदरो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा सखीजनं निरीक्ष-
माणाः पश्यन्त्य इव स्थिताः । कुतः । नम्रमूर्तयोऽवनताङ्ग्यो लताश्च । अत्र
रूपकोत्प्रेक्षयोः संकरः ॥ ११ ॥

उपेयुषीणां बृहतीरधित्यका मनांसि जहुः सुरराजयोषिताम् ।

कपोलकाषैः करिणां मदारुणैरुपाहितश्यामरुचश्च चन्दनाः ॥ १२ ॥

उपेयुषीणामिति ॥ मदेनारुणैरव्यक्तरागैः । 'अव्यक्तरागस्त्वरुणः' इत्यमरः ।
करिणां कपोलानां काषैः कषणैः । उपाहितश्यामरुचो जनितकृष्णवर्णा इति
तद्भ्रूषणालङ्कारः । चन्दना मलयजाः । 'गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रि-
याम्' इत्यमरः । बृहतीरधित्यका ऊर्ध्वभूमीः । उपेयुषीणां सुरराजयोषितां
मनांसि जहुः । अत्र चतुःश्लोक्या नद्यादीनां विशिष्टानामेवाप्सरोमनोहरणहेतु-
त्वोक्त्या काव्यलिङ्गमुन्नेयम् ॥ १२ ॥

स्वगोचरे सत्यपि चित्तहारिणा विलोभ्यमानाः प्रसवेन शाखिनाम् ।

नभश्चराणामुपकर्तुमिच्छतां प्रियाणि चक्रुः प्रणयेन योषितः ॥ १३ ॥

स्वगोचर इति ॥ चित्तहारिणा मनोहरेण शाखिनां प्रसवेन पुष्पजातेन
विलोभ्यमाना आकृष्यमाणा योषितः स्वगोचरे स्वविषये, स्वकरप्रचये सत्य-
पीत्यर्थः । प्रसव इति शेषः । उपकर्तुं परिचरितुमिच्छतां नभश्चराणां गन्ध-
वाणां प्रणयेन सहायहेतुना प्रियाणि चक्रुः । स्वकरग्राह्यमपि प्रसवं स्वकान्त-
प्रियार्थं तदीयमानमेवाग्रहीषुरित्यर्थः ॥ १३ ॥

प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्बिता ।

न किंचिदूचे चरणेन केवलं लिलेख बाष्पाकुललोचना भुवम् ॥ १४ ॥

प्रयच्छतेति ॥ कुसुमानि प्रयच्छता ददता दयितेनोच्चैरुच्चैस्तरां विपक्ष-
गोत्रं सपत्नीनामधेयं लम्बिता प्रापिता । तन्नाम्नाहूतेत्यर्थः । 'नाम गोत्रं कुलं
गोत्रम्' इति शाश्वतः । मानिनी अत एव न किंचिदूचे । कर्तरि लिट् । किंतु
केवलं बाष्पाकुललोचना सती चरणेन भुवं लिलेख । गोत्रस्खलनजनिते-
र्प्यानिमित्तनिर्वेदादिति भावः । मानिन्यत एव न किंचिदूच इत्युक्तम् । तदुक्तं

१ 'कान्ताजनम्' इति पाठः. २ 'विकासिभिः' इति पाठः.

दशरूपके—‘तत्त्वाज्ञानापदीर्घ्यादेर्निर्वेदः स्वावमानना । तत्र चिन्ताश्रुतिः श्वास-
वैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः ॥’ इति ॥ १४ ॥

प्रियेऽपरा यच्छति वाचमुन्मुखी निवद्धदृष्टिः शिथिलाकुलोचया ।
समादधे नांशुकमाहितं वृथा विवेद पुष्पेषु न पाणिपल्लवम् ॥ १५ ॥

प्रिय इति ॥ वाचं यच्छति ददाति । समालपतीत्यर्थः । दाजः शत्रुप्रत्ययः ।
‘पाद्मा—’ इत्यादिना यच्छादेशः । प्रिये निवद्धदृष्टिरत एव उन्मुखी । शिथिलः
श्लथ आकुलश्चलितश्च तादृश उच्चयो नीवीबन्धो यस्याः सा । ‘नारीकट्यंशुक-
ग्रन्थौ नीवी स्यादुच्चयोऽप्यथ’ इति मार्तण्डः । अपराऽन्या स्त्री । अंशुकं न
समादधे न बबन्ध । रागपारवश्यादिति भावः । पुष्पेषु वृथा व्यर्थमाहित-
मारोपितम् । अस्थाने प्रसारितमित्यर्थः । पाणिपल्लवं च न विवेद । प्रियासक्त-
चित्तत्वादिति भावः । एषा च प्रगल्भा नायिका । ‘पाणिपल्लवम्’ इत्यत्रान्यतर-
साधकबाधकप्रमाणाभावादुपमारूपकयोः संदेहसंकरः ॥ १५ ॥

सलीलमासक्तलतान्तभूषणं समासजन्त्या कुसुमावतंसकम् ।
स्तनोपपीडं नुनुदे नितम्बिना घनेन कश्चिज्जघनेन कान्तया ॥ १६ ॥

सलीलमिति ॥ आसक्ता लतान्ताः पल्लवा भूषणं यस्य तत् । पल्लवैः सह
ग्रथितमित्यर्थः । कुसुमावतंसकं पुष्पशेखरम् । कान्तदत्तमिति भावः । सलीलं
सविलासं समासजन्त्या शिरसि प्रतिदधत्या । ‘दंशसञ्जस्वञ्जां शपि’ इति
नलोपः । कान्तया कश्चित् स्तनाभ्यामुपपीड्येति स्तनोपपीडम् । ‘सप्तम्यां
च—’ इत्यादिना णमुल्प्रत्ययः । नितम्बिना । प्रशंसायामितिः । घनेन निबिडेन
जघनेन । ‘पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः क्लीबे तु जघनं पुरः’ इत्यमरः । नुनुदे
नुन्नः । अंशुकातिरेकादिति भावः । एषा च प्रगल्भैव ॥ १६ ॥

अथ युग्मेनाह—

कलत्रभारेण विलोलनीविना गलद्दुकूलस्तनशालिनोरसा ।

वलिव्यपायस्फुटरोमराजिना निरायतत्वादुदरेण ताम्यता ॥ १७ ॥

कलत्रेति ॥ विलोलनीविना गात्रोन्नमनाद्विश्लिष्टवस्त्रग्रन्थिना कलत्रभारेण
श्रोणिभारेण । ‘कलत्रं श्रोणिभार्ययोः’ इत्यमरः । तथा गलत् संसमानं दुकूलं
याभ्यां ताभ्यां स्तनाभ्यां शालत इति तथोक्तेन । उरसा तथा वलिव्यपायेन
भङ्गिनिवृत्त्या स्फुटा रोमराजिर्यस्मिन्नेन निरायतत्वादप्रसारितत्वात् ।
ताम्यता तनुभवता । उदरेण चोपलक्षितया । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १७ ॥

विलम्बमानाकुलकेशपाशया कयाचिदाविष्कृतबाहुमूलया ।

तरुप्रसूनान्यपदिश्य सादरं मनोधिनाथस्य मनः समाददे ॥ १८ ॥

विलम्बमानेति ॥ विलम्बमानो विसंसमान आकुलो विलुलितश्च केश-
पाशो यस्यास्तथाविष्कृतबाहुमूलया दर्शितकक्षप्रदेशया कयाचित् कान्तया
तरुप्रसूनान्यपदिश्य । प्रसूनग्रहणं व्याजीकृत्येत्यर्थः । ‘व्याजोऽपदेशो लक्ष्यं
च’ इत्यमरः । सादरं साभिलाषं मनोधिनाथस्य प्रियस्य मनः समादद

आचकृषे । कर्मणि लिट् । सर्वाङ्गसौष्टवदर्शनात्सद्यो लभं प्रियमनस्तत्रेति भावः ।
अत्र प्रियमनोहरणहेतुभिः कान्ताविशेषणपदार्थैः काव्यलिङ्गमुत्तिष्ठमानं स्वभा-
वोक्त्या सहाङ्गाङ्गिभावेन संकीर्यते ॥ १८ ॥

व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः ।

पयोधरेणोरसि काचिदुन्मनाः प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी ॥ १९ ॥

व्यपोहितुमिति ॥ उन्नतौ च पीवरौ च स्तनौ यस्याः सोन्नतपीवरस्तनी ।
'स्वाङ्गाच्च-' इत्यादिना ङीप् । कान्त्रिलोचनतः स्वनेत्रात् पुष्पजं रजः परागं
मुखानिलैः फूत्कारमारुतैर्व्यपोहितुमपनेतुमपारयन्तं किलाशक्नुवन्तम् ।
किलेत्यल्लिके । वस्तुतस्तदास्यस्पर्शलोभादपारयन्तमित्यर्थः । प्रियमुन्मना उत्सुका
सत्यत एव पयोधरेणोरसि जघान । तत्कपटपरिज्ञानजन्यादौत्सुक्यादिति
भावः । हननस्थानत्वादुरसीति सप्तमी । इयं च प्रगल्भैव ॥ १९ ॥

इमान्यमूनीत्यपवर्जिते शनैर्यथाभिरामं कुसुमाग्रपल्लवे ।

विहाय निःसारतयेव भूरुहान् पदं वनश्रीर्वनितासु संदधे ॥ २० ॥

इमानीति ॥ यथाभिरामम् । वीप्सायामव्ययीभावः । कुसुमान्यग्रपल्लवानि
च कुसुमाग्रपल्लवं तस्मिन् । 'जातिरप्राणिनाम्' इत्येकवद्भावात्पुंसकत्वम् । इमा-
न्यमूनीतीत्थम् । निर्देशपूर्वकमित्यर्थः । इदमदसी संनिकृष्टविप्रकृष्टार्थे । शनैर-
पवर्जितेऽपचिते सति वनश्रीर्निःसारतयेवेति हेतुत्प्रेक्षा । भूरुहांस्तरुन्
विहाय वनितासु पदं संदधे । अत्र वनितागतायाः पुष्पप्रसाधनसंभवाया
लक्ष्म्या विषयभूताया निगरणेन विषयेण वनश्रियो वनितागमनत्वोक्त्याऽसंबन्धे
संबन्धरूपाऽभेदे भेदरूपा वातिशयोक्तिरलङ्कारः । 'विषयस्थानुपादानाद्विषय्युप-
निबध्यते । यत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कविप्रौढोक्तिजीविता ॥' इति लक्षणादुत्प्रेक्षा-
ङ्गत्वमस्याः ॥ २० ॥

प्रवालभङ्गारुणपाणिपल्लवः परागपाण्डूकृतपीवरस्तनः ।

महीरुहः पुष्पसुगन्धिराददे वपुर्गुणोच्छ्रायमिवाङ्गनाजनः ॥ २१ ॥

प्रवालैति ॥ प्रवालभङ्गेन पल्लववलयेनारुणः पाणिपल्लवो यस्य । तद्रस-
रञ्जनादित्यर्थः । परागेण पुष्परजसा पाण्डूकृतौ पीवरौ स्तनौ यस्य सः ।
पुष्पैः सुगन्धिः सुरभिरङ्गनाजनो महीरुहो वृक्षजाताद्वपुर्गुणस्य स्वदेह-
गुणस्योच्छ्रायः पाणिपल्लवारुण्यादेर्य उत्कर्षस्तमाददे लब्धवानिवेत्युत्प्रेक्षा ।
वस्तुतस्तु स्वाभाविक एव प्रवालभङ्गादिभिरभिव्यज्यत इति भावः । उत्कृष्टः
श्राय उच्छ्राय इति घञन्तेन प्रादिसमासः । न तूपसृष्टाद्भ्रमस्ययः । 'श्रिणीभु-
वोऽनुपसर्गे' इति प्रतिषेधात् ॥ २१ ॥

पञ्चभिः कुलकमाह—

वरोरुभिर्वारणहस्तपीवरैश्चिराय खिन्नान्नवपल्लवश्रियः ।

समेऽपि यातुं चरणाननीश्वरान् मदादिव प्रस्खलतः पदे पदे ॥२२॥

वरोरुभिरिति ॥ अनुसानु सानुषु यद्वर्त्म ततः सकाशाद्गुणा खेदेन मन्थर-

१ 'भूरुहः' इति पाठः.

मलसं विनिर्यतीनां निर्गच्छन्तीनां सुराङ्गनानां संबन्धिभिर्वारणहस्तपीवरैः
करिकरस्थूलैः । वराश्च त उरवश्चेति तैः । चिराय खिन्नान् । किंच, नवपल्ल-
वानां श्रीरिव श्रीर्येषां तान् । तद्वन्मृदूनित्यर्थः । अत एव समे समस्थलेऽपि ।
किं पुनर्विषम इति भावः । यातुं गन्तुमनीश्वरानशक्तानत एव मदादिव पदे
पदे । वीप्सायां द्विर्भावः । प्रस्खलतश्चरणान् । मदादिवेत्युपमा ॥ २२ ॥

विसारिकाश्रीमणिरश्मिलब्धया मनोहरोच्छ्रायनितम्बशोभया ।

स्थितानि जित्वा नवसैकतद्युतिं श्रमातिरिक्तैर्जघनानि गौरवैः २३

विसारीति ॥ विसारिभिः काश्रीमणिरश्मिर्लब्धया । तज्जनितये-
त्यर्थः । मनोहर उच्छ्राय उत्सेधो येषां तेषां नितम्बानां शोभया करणेन
नवसैकतानां द्युतिं शोभां जित्वा स्थितानि । तत्तुल्यानीत्यर्थः । अत एवो-
पमालङ्कारः । श्रमेणातिरिक्तैरतिशयितैर्गौरवैर्गुणैरुपलक्षितानि । नितरां
भारायमाणानीत्यर्थः । जघनानि च । उच्छ्रायो व्याख्यातः ॥ २३ ॥

समुच्छ्वसत्पङ्कजकोशकोमलैरुपाहितश्रीण्युपनीवि नाभिभिः ।

दधन्ति मध्येषु वलीविभङ्गिषु स्तनातिभारादुदराणि नम्रताम् २४

समुच्छ्वसदिति ॥ समुच्छ्वसत्पङ्कजकोशकोमलैर्दलत्कमलमुकुलमुग्धैरित्यु-
पमा । नाभिभिः प्रतारिकाख्यैः । 'अथ नाभिस्तु जन्त्वङ्गे यस्य संज्ञा प्रतारिका'
इति केशवः । पुंलिङ्गतायां तु कविरेव प्रमाणम् । उपनीवि नीवीसमीपे । उपा-
हितश्रीणि जनितशोभानि तथा वलीविभङ्गिषुर्मिमत्सु मध्येषु जघनस्थलेषु
स्तनातिभारान्नम्रतां दधन्ति बिभ्राणानि । 'वा नपुंसकस्य' इति विकल्पाच्छ-
तुर्नुमागमः । उदराणि च ॥ २४ ॥

समानकान्तीनि तुषारभूषणैः सरोरुहैरस्फुटपत्रपङ्क्तिभिः ।

चितानि घर्माम्बुकणैः समन्ततो मुखान्यनुत्फुल्लविलोचनानि च २५

समानेति ॥ किंच, घर्माम्बुकणैः स्वेदोदकबिन्दुभिः समन्ततश्चितानि
व्याप्तानि । अनुत्फुल्लविलोचनान्यविकसदक्षीण्यत एव तुषारभूषणैः शीकर-
परिवृतैः । 'तुषारौ हिमशीकरौ' इति शाश्वतः । अस्फुटपत्रपङ्क्तिभिरविकचदला-
वलिभिः । 'व्याकोशविकचस्फुटाः' इत्यमरः । सरोरुहैः समानकान्तीनीत्यु-
पमा । मुखानि च ॥ २५ ॥

विनिर्यतीनां गुरुखेदमन्थरं सुराङ्गनानामनुसानु वर्त्मनः ।

सविस्मयं रूपयतो नभश्चरान् विवेश तत्पूर्वमिवेक्षणादरः ॥ २६ ॥

विनिर्यतीनामिति ॥ सविस्मयं रूपयतः पूर्वोक्तचरणादीनि वर्णयतो नभ-
श्चरान् गन्धर्वान् तत्पूर्वमिव तदेव प्रथमं यथा तथेत्युत्प्रेक्षा । ईक्षणादर
आलोकनकौतुकं विवेश । पूर्वार्धं व्याख्यातम् । अत्र कुलके स्वभावोक्तिरुत्प्रे-
क्षाङ्गम् ॥ २६ ॥

संप्रति सलिलक्रीडावर्णनमारभते—

अथ स्फुरन्मीनविधूतपङ्कजा विपङ्कतीरस्खलितोर्मिसंहतिः ।

पयोऽवगाढं कलहंसनादिनी समाजुहावेव वधूः सुरापगा ॥ २७ ॥

अथेति ॥ अथ पुष्पावचयानन्तरं स्फुरद्भिश्चलद्भिर्मिनैर्विधूतपङ्कजेति । सद्दुःखवीक्षणोक्तिः । विपङ्कं पङ्करहितम् । विहारयोग्यमिति यावत् । तत्र तीरे स्खलिता विचलिता ऊर्मिसंहतिर्यस्याः सेति हस्तसंज्ञोक्तिः । कलहंसनादिनी कादम्बशब्दवतीति वाग्व्यापारोक्तिः । अत एव सुरापगा गङ्गा वधूरप्सरसः पयोऽवगाढुमवगाहितुम् । गाहेरुदित्वादिइविकल्पः । समाजुहावेवाकारयामासेवेत्युत्प्रेक्षा । 'हूतिराकारणाह्वानम्' इत्यमरः । हूयतेर्लिट् । 'अभ्यस्तस्य च' इति संप्रसारणम् ॥ २७ ॥

प्रशान्तघर्माभिभवः शनैर्विवान् विलासिनीभ्यः परिमृष्टपङ्कजः ।

ददौ भुजालम्बमिवात्तशीकरस्तरङ्गमालान्तरगोचरोऽनिलः ॥ २८ ॥

प्रशान्तेति ॥ प्रशान्तघर्माभिभवः प्रशान्तोष्णबाधः । 'वा दान्तशान्त-' इत्यादिना निपातनात्साधुः । शनैर्विवान् मन्दं वहन् । वातेः शतृप्रत्ययः । परिमृष्टपङ्कजः । पद्मगन्धीत्यर्थः । आत्तशीकरः । कुतः । तरङ्गमालानामन्तरे मध्ये गोचरः स्थानं यस्य सोऽनिलो विलासिनीभ्यो भुजालम्बं ददाविवेत्युत्प्रेक्षा । विशिष्टवायुसंपर्कात्तथोच्छ्वसुरित्यर्थः ॥ २८ ॥

गतैः सहावैः कलहंसविक्रमं कलत्रभारैः पुलिनं नितम्बिभिः ।

मुखैः सरोजानि च दीर्घलोचनैः सुरस्त्रियः साम्यगुणान्निरासिरे २९

गतैरिति ॥ सुरस्त्रियोऽप्सरसः सहावैः सविलासैर्गतैर्गतिभिः । नपुंसके भावे क्तः । कलहंसानां विक्रमं गतिम् । विलासविधुरमिति शेषः । तथा नितम्बिभिः प्रशस्तनितम्बैः कलत्रभारैर्जघनभारैः पुलिनम् । नितम्बभारशून्यमित्यर्थः । तथा दीर्घलोचनैर्मुखैः सरोजानि च । आलोचनानीति शेषः । साम्यगुणात् समानगुणत्वान्निरासिरे निरस्तवत्यः । गुणवद्गुणयोः कुतः साम्यमिति भावः । अस्यतेः कर्तरि लिट् । 'उपसर्गादस्यत्यूहोर्वा-' इति विकल्पादात्मनेपदम् ॥ २९ ॥

विभिन्नपर्यन्तगमीनपङ्कयः पुरो विगाढाः सखिभिर्मरुत्वतः ।

कथंचिदापः सुरसुन्दरीजनैः सभीतिभिस्तत्प्रथमं प्रपेदिरे ॥ ३० ॥

विभिन्नेति ॥ विभिन्ना विच्युतसंघाताः पर्यन्तगाः प्रान्तगता मीनानां पङ्कयो यासां ताः । कुतः । मरुत्वतः सखिभिरिन्द्रस्य सचिवैर्गन्धर्वैः पुरः पूर्वं विगाढाः प्रविष्टाः । तासां विश्वासार्थं गर्तग्राहादिपरीक्षार्थं चेति भावः । सभीतिभिरप्रविष्टविषयत्वात् सभ्यैः । 'विषादिभिः' इति पाठेऽप्ययमेवार्थः । सुरसुन्दरीजनैस्तदेवावगाहनं प्रथमं यथा तथात एव कथंचिन्मयात् कृच्छ्रेण । आपः प्रपेदिरे जगाहिरे ॥ ३० ॥

विगाढमात्रे रमणीभिरम्भसि प्रयत्नसंवाहितपीवरोरुभिः ।

विभिद्यमाना विससार सारसानुदस्य तीरेषु तरङ्गसंहतिः ॥ ३१ ॥

विगाढेति ॥ प्रयत्नेन संवाहिताः संचारिताः पीवराः स्थूला ऊरवो याभिस्ताभी रमणीभिरम्भसि विगाढमात्रे प्रविष्ट एव सति । सुप्सुपेति समासः । 'मात्रं कात्स्न्येऽवधारणे' इत्यमरः । विभिद्यमाना स्वयं विशीर्यमाणा । कर्मकर्तरि शानच् । तरङ्गसंहतिस्तीरेषु सारसान् पक्षिविशेषान् । 'सारसो मैथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वयः' इति यादवः । यद्वा, -सारसान् हंसान् । 'चक्राङ्गः सारसो हंसः' इति शब्दार्णवे । उद्स्योत्स्यार्थं विससार वितस्तार ॥ ३१ ॥

शिलाघनैर्नाकसदामुरःस्थलैर्वृहन्निवेशैश्च वधूपयोधरैः ।

तटाभिनीतेन विभिन्नवीचिना रूपेव भेजे कलुषत्वमम्भसा ॥ ३२ ॥

शिलेति ॥ शिलाघनैः कठिनैः । नाकसदां गन्धर्वाणामुरःस्थलैर्वृहन्निवेशैर्महासंस्थानैः । अतिस्थूलैरित्यर्थः । वधूपयोधरैश्च तटमभितो नीतेन प्रापितेनात एव विभिन्नवीचिना भ्रमोर्मिणाम्भसा कर्त्रा । रूपेवेति हेतुप्रेक्षा । कलुषत्वमाविलत्वं मनःक्षोभश्च ध्वन्यते । भेजे । कर्मणि लिट् । यथा कश्चिन्मृदुस्वभावः केनचित्कठिनादिना साङ्गभङ्गं ताडयित्वा निष्कासितः क्षुभ्यति तद्वदिति भावः । 'कलुषत्वम्' इत्यत्र वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायः । अन्यथा शुद्धवाच्यस्याविलत्वस्य रोपहेतुकत्वादुत्प्रेक्षानुविधानादिति ॥ ३२ ॥

विधूतकेशाः परिलोलितस्रजः सुराङ्गनानां प्रविलुप्तचन्दनाः ।

अतिप्रसङ्गाद्विहितागसो मुहुः प्रकम्पमीयुः सभया इवोर्मयः ॥ ३३ ॥

विधूतेति ॥ विधूता विक्षिप्ताः केशा यैस्ते परिलोलिता विलोलिताः स्रजो यैस्ते प्रविलुप्तचन्दनाः प्रमृष्टाङ्गरागा अतिप्रसङ्गादविच्छेदात् सुराङ्गनानां विहितागसः कृतमण्डनखण्डनरूपापराधा अत एव ऊर्मयस्तरङ्गाः सभया इव स्त्रीभ्यो भीता इव मुहुः प्रकम्पमीयुः । स्वाभाविकस्य कम्पस्य भयहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते—यद्वा, -सुराङ्गनानां विधूतकेशा इत्यादियोजना । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः । स्त्रीसंग्रहणसाहसमपराधः । भयं तु राजादिभ्य इति ॥ ३३ ॥

विपक्षचित्तोन्मथना नखव्रणास्तिरोहिता विभ्रममण्डनेन ये ।

हतस्य शेषानिव कुङ्कुमस्य तान् विकत्थनीयान्दधुरन्यथा स्त्रियः ३४

विपक्षेति ॥ विपक्षस्य सपत्नीजनस्य चित्तानामुन्मथनाः । व्यथका इत्यर्थः । बहुलग्रहणात्कर्तरि ल्युट् । ये नखव्रणा नखक्षतानि । 'व्रणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । विभ्रमस्य सौन्दर्यस्य मण्डनम् । तादर्थ्येऽप्यश्वघासादिवत् पष्ठीसमासः । न तु चतुर्थीसमासो यूपदावादिवत् प्रकृतिविकाराभावादिति । तेन कुङ्कुमलेपादिना तिरोहिताश्छन्ना हतस्य क्षालितस्य कुङ्कुमस्य व्यञ्जकत्वेन शेषानिवावशिष्ट-लेशानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा । विकत्थनीयान् भर्तृत्वान्भ्यस्य व्यञ्जकत्वेन श्लाघनीयान् । तान् नखव्रणान् । स्त्रियोऽन्यथा दधुः । प्रकाशं दधुरित्यर्थः ॥ ३४ ॥

१ 'तदान्तनीतेन' इति पाठः. २ 'लोलित' इति पाठः. ३ 'अवलुप्त' इति पाठः.

अथ युग्मेनाह—सरोजेत्यादिना,—

सरोजपत्रे नुं विलीनपट्टपदे विलोलदृष्टेः खिदमू विलोचने ।

शिरोरुहाः खिन्नतपक्षमसंततेद्विरेफवृन्दं नु निशब्दनिश्चलम् ॥३५॥

सरोजेति ॥ अमू पुरोवर्तिनी विलीनपट्टपदे संसक्तभृङ्गे । सकनीनिकत्वम-
क्षणोरर्थसिद्धमित्युपमानं विशिष्यते । सरोजपत्रे नु । यद्वा,—विलोलदृष्टेश्चञ्च-
लाक्ष्या विलोचने खित् । 'नु-खित्' शब्दौ वितर्के । किंच, नतपक्षमसंततेश्चञ्च-
लाक्ष्याः शिरोरुहाः खिन्निशब्दं नीरवं च तन्निश्चलं च तद्विरेफवृन्दं नु ३५

अगूढहासस्फुटदन्तकेसरं मुखं खिदेतद्विकसञ्चु पङ्कजम् ।

इति प्रलीनां नलिनीवने सखीं विदांबभूवुः सुचिरेण योषितः ३६

अगूढेति ॥ किंच, अगूढहासो व्यक्तस्मितं तेन स्फुटा दन्ताः केसरा इव
दन्तकेसरा यस्य तन्मुखं खित् । यद्वा,—विकसत्पङ्कजं नु । इतीत्थम् । संशये-
नेति शेषः । नलिनीवने प्रलीनां निगूढां सखीं योषितः सुचिरेणातिवि-
लम्ब्य । विकल्पादाम्प्रत्ययः । अत्र युग्मे निश्चयान्तसंदेहालङ्कारः ॥ ३६ ॥

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसंनिधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने ।

स्वजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ॥

प्रियेणेति ॥ काचित् प्रियेण संग्रथ्य स्वयमेव रचयित्वा विपक्षसंनिधौ
सपत्नीजनसमक्षं पीवरस्तने वक्षस्युपाहितां स्वजं मालां जलाविलाम् ।
मृदितामपीत्यर्थः । तां न विजहौ न तत्याज । न च निर्गुणायां तत्र का प्रीति-
रिति वाच्यमित्यर्थान्तरन्यासेनाह—गुणाः प्रेम्णि वसन्ति, वस्तुनि न
वसन्ति हि । यत् प्रेमास्पदं तदेव गुणवत् । अन्यत्तु गुणवदपि निर्गुणमेव । प्रेम
तु न वस्तुपरीक्षामपेक्षत इति भावः ॥ ३७ ॥

असंशयं न्यस्तमुपान्तरक्ततां यदेव रोद्धुं रमणीभिरञ्जनम् ।

हृतेऽपि तस्मिन्सलिलेन शुक्लतां निरास रागो नयनेषु न श्रियम् ३८

असंशयमिति ॥ स्त्रीणां नेत्रशोभार्थमञ्जनधारणमम्बुविहारोपगमाद्रक्तवर्णत्वं
चाक्षणां ततः शुक्लत्वतिरोधानं च निश्चितमित्युत्प्रेक्ष्यते—रमणीभिर्यदञ्जनं
न्यस्तम् । तदिति शेषः । यत्तदोर्नित्यसंबन्धात् । तदञ्जनमुपान्तरक्ततां
रोद्धुं प्रतिबद्धमेव न्यस्तम् । न तु शोभार्थमित्यर्थः । अन्यथा रागाभिव्याप्त्या
शुक्लत्वतिरोधानं स्यादित्यर्थः । असंशयमित्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकम् । संशयस्याप्य-
भावः । नात्र संशयोऽस्तीत्यर्थः । अर्थाभावेऽव्ययीभावः । कुत एतदिति चेद्यत्-
स्तस्मिन्नञ्जने सलिलेन हृते क्षालिते सत्यपि रागः पूर्वोक्त एवोपान्तरक्तता
किंतु प्रतिबन्धाभावाद्भितो व्याप्त्येत्याशयः । नयनेषु शुक्लतां निरास निर-
स्तवान् । अस्यतेर्लिङ् । श्रियं शोभां तु न निरास । भतः शुक्लत्वविरोधिराग-
निरोधार्थमेवेदमञ्जनं स्यात् न तु शोभार्थम् । तस्यास्तदभावेऽपि सद्भावादित्यर्थः ।
अञ्जनापगमेऽपि तन्नयनानां राग एवालङ्कारोऽभूदिति भावः । अत्राञ्जनन्यास-

१ 'परिलीन' इति पाठः. २ 'विशाल' इति पाठः. ३ 'विकचं नु' इति पाठः.
४ 'असंशयन्यस्त' इति पाठः.

मनूय तस्य शोभार्थत्वनिषेधेन रागरोधार्थत्वोत्प्रेक्षणमुदितम् । उत्तरार्धे तस्यैव समर्थनात् । एवमुपान्तरक्ततां रोहुं यदञ्जनं न्यस्तमित्येकान्वये विध्यनुवादविरोधः स्यात् ॥ ३८ ॥

द्युतिं वहन्तो वनितावतंसका हृताः प्रलोभादिव वेगिभिर्जलैः ।

उपप्लुतास्तत्क्षणशोचनीयतां च्युताधिकाराः सचिवा इवाययुः ३९

द्युतिमिति ॥ द्युतिं शोभां तेजश्च वहन्तो वेगिभिर्जविभिर्जलैरज्ञैश्च । डलयोरभेदात् । 'जलं गोकवले नीरे हीबेरे च जडेऽन्यवत्' इति विश्वः । प्रलोभान्मोहात् । हृता गृहीता उपप्लुता मृदिताः । यद्वा, -कर्तरि क्तः । प्लवमाना इत्यर्थः । अन्यत्र, -धनग्रहणबन्धनादिना पीडिता वनितावतंसकाश्च्युताधिकारा अष्टाधिकाराः सचिवा इव तत्क्षणं शोचनीयतामाययुः प्रापुः ॥ ३९ ॥

विपत्रलेखा निरलक्तकाधरा निरञ्जनाक्षीरपि विभ्रतीः श्रियम् ।

निरीक्ष्य रामा वुबुधे नभश्चरैरलंकृतं तद्वपुषैव मण्डनम् ॥ ४० ॥

विपत्रेति ॥ विगताः पत्रलेखास्तिलकविशेषा यासां ता विपत्रलेखाः । निरलक्तकाः क्षालितरागा अधरा यासां ताः । निरञ्जनान्यक्षीणि यासां ता निरञ्जनाक्षीरपि । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्षणोः स्वाङ्गात्षच्' । 'विद्रौरादिभ्यश्च' इति ङीप् । तथापि श्रियं विभ्रतीः शोभाकारणाभावेऽपि शोभमाना इति विभावनालङ्कारः । रामा निरीक्ष्य नभश्चरैर्गन्धर्वैस्तासां वपुषैव मण्डनमलंकृतम् । न तु मण्डनेन तद्वपुरित्यक्षरार्थः । इति वुबुधे ज्ञातम् । कर्मणि लिट् । स्वभावरमणीयानां किमलङ्कारणैरिति भावः ॥ ४० ॥

तथा न पूर्वं कृतभूषणादरः प्रियानुरागेण विलासिनीजनः ।

यथा जलार्द्रो नखमण्डनश्रिया ददाह दृष्टीश्च विपक्षयोषिताम् ४१

तथेति ॥ विलासिनीजनः पूर्वं जलविहारात्प्राक् प्रियानुरागेण कृतो भूषणेष्वादर आसक्तिर्येन सः । अनुरक्तप्रियत्वात्सम्यक्प्रसाधितः सन्नपीत्यर्थः । प्रियस्यानुरागेण च विपक्षयोषितां सपत्नीनां दृष्टीश्चक्षुषि तथा न ददाह न दुःखीचकार । यथा जलार्द्रः सन् । 'नख'शब्देन नखक्षतानि लक्ष्यन्ते । तान्येव मण्डनं तस्य श्रिया । तत्कृतशोभयेत्यर्थः । विपक्षयोषितां सपत्नीनां दृष्टीश्चक्षुषि यथा ददाह तापयामास । मण्डनान्तरादपि नखमण्डनानुरागादपि तदनुभाव एव सपत्नीनां दुःखहेतुरिति भावः । जलार्द्रो ददाहेति विरुद्धकार्योत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः । 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत् । विरूपघटना वा स्याद्विषमालंकृतिस्त्रिधा ॥' इति लक्षणात् ॥ ४१ ॥

शुभाननाः साम्बुरुहेषु भीरवो विलोलहाराश्चलफेनपङ्क्तिषु ।

नितान्तगौर्यो हतकुङ्कुमेष्वलं न लेभिरे ताः परभागमूर्मिषु ॥ ४२ ॥

शुभेति ॥ शुभानना विलोलहारा नितान्तगौर्योऽरुणाङ्ग्यः । 'गौरोऽरुणे सिते पीते' इति वैजयन्ती । भीरवस्ताः स्त्रियः साम्बुरुहेषु चलाः फेनपङ्क्तयो येषु तेषु हृतानि कुसुमानि यैस्तेषु । कुङ्कुमसंक्रमारुणेष्वित्यर्थः । ऊर्मिषु

विषयेषु । अलमत्यर्थं परभागं गुणोत्कर्षं न लेभिरे । 'परभागो गुणोत्कर्षः' इति यादवः । तासामूर्माणां चारुणत्वादिगुणसाम्याच्च कश्चिद्विशेषो लक्ष्यत इत्यर्थः । अत एव सामान्यालङ्कारः,—'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् । शुभाननत्वसाम्बुरुहत्वाद्युभयविशेषणानां क्रमेणोभयस्मिन् समन्वयाद्यथासंख्यालङ्कारश्च । 'यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयान्' इति काव्यप्रकाशे लक्षणात् । अनयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ ४२ ॥

हृदाम्भसि व्यस्तवधूकराहते रवं मृदङ्गध्वनिधीरमुज्झति ।

मुहुः स्तनैस्तालसमं समाददे मनोरमं नृत्यमिव प्रवेपितम् ॥ ४३ ॥

इदिति ॥ व्यस्ताभ्यां विपर्यासिताभ्यां वधूकराभ्यामाहते । एकेन करेणोत्सार्यान्वेन ताडित इत्यर्थः । हृदाम्भसि मृदङ्गध्वनिवद्भीरं गम्भीरं रवमुज्झति सति । तथा ध्वनति सतीत्यर्थः । मुहुः स्तनैस्तालो गीतवाद्यनृत्यानां कालपरिच्छेदः । 'तालः कालक्रियामानम्' इत्यमरः । तस्य सममनुरूपं मनोरमं नृत्यमिव प्रवेपितं प्रकम्पः । भावे क्तः । समाददे स्वीकृतम् । उपमालङ्कारः ॥ ४३ ॥

श्रिया हसद्भिः कमलानि सस्मितैरलंकृताम्बुः प्रतिमागतैर्मुखैः ।

कृतानुकूल्या सुरराजयोपितां प्रसादसाफल्यमवाप जाह्नवी ॥ ४४ ॥

श्रियेति ॥ श्रिया शोभया कमलानि हसद्भिः । कमलसदृशैरित्यर्थः । 'हसतीर्ष्यत्यसूयति' इति दण्डिना सदृशपर्यायपरा उक्ताः । सस्मितैः प्रतिमागतैः । प्रतिबिम्बगतैरित्यर्थः । 'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा' इत्यमरः । मुखैरलंकृतान्यम्बूनि यस्याः सा । किंच, सुरराजयोपितां कृतमानुकूल्यं विहारद्युपकारो यया सा । इत्थं योषिद्भिरुपकृता स्वयं च तासामुपचिकीर्षुर्जाह्नवी गङ्गा प्रसादस्य स्वच्छत्वस्य साफल्यम् । अर्थगौरववत्पृष्ठीसमासनिर्वाहः । अवाप । अप्रसन्नाम्भसि विहारविम्बग्रहणयोरसंभवादित्यर्थः । स्वच्छा एव परैरुपक्रियन्ते स्वयं चोपकुर्वते तेषामिति भावः । 'कृतानुकारा' इति पाठेऽनुकारोऽनुकूलकरणमुपकार इत्येवं व्याख्येयम् । अत्र जाह्नवीविशेषणपदार्थस्य साफल्यं प्रति हेतुत्वात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४४ ॥

परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरवः सुराङ्गनास्त्रासविलोलदृष्टयः ।

उपाययुः कम्पितपाणिपल्लवाः सखीजनस्यापि विलोकनीयताम् ४५

परीति ॥ परितः स्फुरद्भिर्विवर्तमानैर्मीनैर्विघट्टिता ऊरवो यासां ता अत एव त्रासविलोलदृष्टयो भयविकसन्नेत्राः कम्पितपाणिपल्लवाश्च सुराङ्गनाः सखीजनस्यापि विलोकनीयतामुपाययुः । किमुत प्रियजनस्येति भावः । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ ४५ ॥

भयादिवाश्लिष्य झपाहतेऽम्भसि प्रियं मुदानन्दयति स मानिनी ।

अकृत्रिमप्रेमरसाहितैर्मनो हरन्ति रामाः कृतकैरपीहितैः ॥ ४६ ॥

भयादिति ॥ मानिनी । दुर्लभस्वयंग्रहणेति भावः । अम्भसि जले श्लेषेण मत्स्येनाहते सति । 'पृथुरोमा झपो मत्स्यः' इत्यमरः । भयादिव । वस्तुतस्तु

न तथेति भावः । किंतु मुदौत्सुक्येनैवाश्लिष्य प्रियमानन्दयति स्म । तथा हि—रामाः श्रियोऽकृत्रिमोऽनारोपितो यः प्रेमरसस्तेनाहितैर्जनितैः कृतकैः कृत्रिमैरपीत्यर्थः । ईहितैश्चेष्टितैर्मनो हरन्ति । आरोपितमपि भयं प्रेममूलत्वान्मनोहरं बभूवेत्यर्थः । अत्रालपानुभावेन भयेन सहजरागनिगूहनान्मीलनालङ्कारः—‘मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम्’ इति लक्षणान्तरसंभवादर्थान्तरन्यासेन संसृज्यते ॥ ४६ ॥

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपां विगाहादलकैः प्रसारिभिः ।

ययुर्वधूनां वदनानि तुल्यतां द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः ॥ ४७ ॥

तिरोहितेति ॥ अपां विगाहान्नितान्तमाकुलैर्विकीर्णैः प्रसारिभिरायतैः । अलकैः केशैः । तिरोहितान्तानि छन्नप्रान्तानि वधूनां वदनानि द्विरेफवृन्दैरन्तरितानि छन्नानि सरोरुहाणि तैः सरोरुहैस्तुल्यतां ययुरित्युपमालङ्कारः ॥ ४७ ॥

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती पयस्यगाधे किल जातसंभ्रमा ।

सखीषु निर्वाच्यमधार्ष्ट्यदूषितं प्रियाङ्गसंश्लेषमवाप मानिनी ॥ ४८ ॥

कराविति ॥ मानिनी पयस्यगाधे सति । किलेत्यलीके । मज्जनभयादिवेत्यर्थः । जातसंभ्रमा उत्पन्नभया । अत एव नवपल्लवाकृती करौ धुनाना कम्पयन्ती । धून्तेः त्रयादिकात्कर्तरि लटः शानच् । सखीषु विषये निर्वाच्यमवाच्यम् । अतिन्वामित्यर्थः । धार्ष्ट्यदूषितश्च न भवतीति अधार्ष्ट्यदूषितस्तम् । वस्तुतो रागमूलमपि भयमूलत्वारोपादिति भावः । प्रियाङ्गसंश्लेषमवाप । अत्रापि तुल्याङ्गेन भयेनागन्तुकेन सहजानुरागनिगूहनान्मीलनालङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—‘समानलक्षणं वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते । निजेनागन्तुना वापि तन्मीलनमुदाहृतम् ॥’ इति ॥ ४८ ॥

प्रियैः सलीलं करवारिवारितः प्रवृद्धनिःश्वासविकम्पितस्तनः ।

सविभ्रमाधूतकराग्रपल्लवो यथार्थतामाप विलासिनीजनः ॥ ४९ ॥

प्रियैरिति ॥ प्रियैः कामिभिः सलीलं करवारिभिरञ्जलिजलैर्वारितोऽवरुद्धः । सिक्त इत्यर्थः । प्रवृद्धैः संततैर्निःश्वासैर्विकम्पितौ स्तनौ यस्य सः । सविभ्रमं सविलासमाधूतानि कराग्रपल्लवानि पाणिपल्लवानि येन सः । विलसनशीला विलासिनी । ‘वौ कषलसकत्थस्रम्भः’ इति धिनुणप्रत्ययः । सैव जनः । जातावेकवचनम् । यथार्थतामाप । उक्तरीत्यानेकविलासवत्तया यथार्थनामकत्वमवापेत्यर्थः । ‘क्वचिद्भ्यमानार्थस्याप्रयोगः’ इति नाम्नो न प्रयोगः । यथा माघे—‘चिराय याथार्थ्यमलम्भि दिग्गजैः’ इति । क्वचित्प्रयुज्यते च; यथा रघुवंशे—‘परंतपो नाम यथार्थनामा’ इति । नैषधेऽपि—‘स जयत्यरिसार्थसार्थकीकृतनामा किल भीमभूपतिः’ इति । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ ४९ ॥

उदस्य धैर्यं दयितेन सादरं प्रसादितायाः करवारिवारितम् ।

मुखं निमीलन्नयनं नतभ्रुवः श्रियं सपत्नीवदनादिवाददे ॥ ५० ॥

उदस्येति ॥ दयितेन धैर्यं काठिन्यम् । उदस्यापनीय । अनुनीयेत्यर्थः । सादरं

यथा तथा प्रसादितायाः सौमनस्यं गमिताया नतभ्रुवः स्त्रियः संबन्धि कर-
वारिभिर्वारितमवरुद्धमत एव निमीलती नयने यस्य तन्मुखं सपत्नीवद-
नादिवं श्रियमाददे जग्राह । तदानीं तद्वदनस्य निःश्रीकत्वात्तदीयश्रीग्रहण-
मुत्प्रेक्ष्यते ॥ ५० ॥

विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि प्रियेण वध्वा मदनार्द्रचेतसः ।

सखीव काञ्ची पयसा घनीकृता बभार वीतोच्चयबन्धमंशुकम् ५१

विहस्येति ॥ धृताम्भसि प्रियसेवनार्थं गृहीतजले पाणौ । अञ्जलावित्यर्थः ।
प्रियेण विहस्य विधृतेऽवलम्बिते सति । अत एव मदनार्द्रचेतसो मदनपर-
वशाया वध्वाः संबन्धि वीतोच्चयबन्धं मुक्तनीविग्रन्धि । संसमानमित्यर्थः ।
अंशुकं पयसा घनीकृता काञ्ची सखीव बभार जग्राह । स्त्रीणां किल
स्त्रीष्वेवायत्तं लज्जारक्षणमिति भावः ॥ ५१ ॥

निरञ्जने साचिविलोकितं दृशावयावकं वेपथुरोष्ठपल्लवम् ।

नतभ्रुवो मण्डयति स्म विग्रहे वलिक्रिया चातिलकं तदास्पदम् ५२

निरञ्जन इति ॥ नतभ्रुवोऽङ्गनाया विग्रहे वपुषि निरञ्जने निर्धौतकज्जले
दृशौ विलोचने कर्म साचिविलोकितं तिर्यगीक्षणं कर्तुं मण्डयति स्म ।
'तिर्यगर्थे साचि तिरः' इत्यमरः । अयावकं क्षालितलाक्षारागमोष्ठपल्लवं
वेपथुः कम्पो मण्डयति स्म । 'द्वितोऽथुच्' इत्यथुच्प्रत्ययः । अतिलकं तिलक-
रहितं तदास्पदं तिलकस्थानं ललाटम् । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः ।
वलिक्रिया रेखाबन्धश्च मण्डयति स्म । तदा निरलङ्कारस्याङ्गनाशरीरस्य
तच्छरीरविकारैरेवालङ्कारः समजनीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

निमीलदाकेकरलोलचक्षुषां प्रियोपकण्ठं कृतगात्रवेपथुः ।

निमज्जतीनां श्वसितोद्धतस्तनः श्रमो नु तासां मदनो नु पप्रथे ५३

निमीलदिति ॥ प्रियोपकण्ठं प्रियसमीपे । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । निमज्ज-
तीनां विगाहमानानामत एव निमीलन्ति निमिषन्त्याकेकराणि आकेकरवन्ति
लोलानि चक्षूषि यासां तासाम् । आकेकरलक्षणं तु नृत्यविलासे—'दृष्टिराकेकरा
किञ्चित्स्फुटापाङ्गे प्रसारिता । मीलितार्धपुटा लोके ताराव्यावर्तनोत्तरा ॥' इति ।
तासां स्त्रीणाम् । कृतो गात्राणां वेपथुः कम्पो येन सः । श्वसितैर्निःश्वासै-
रुद्धतावुत्पतितौ स्तनौ येन सः । श्रमः खेदो नु मदनो नु पप्रथे प्रादुर्बभूव ।
निमज्जनप्रियसंनिधानरूपोभयकारणसंभवान्नेत्रनिमीलनगात्रकम्पनिःश्वासधारणाच्च
संदेहः । स एवालङ्कारः ॥ ५३ ॥

प्रियेण सिक्ता चरमं विपक्षतश्चुकोप काचिन्न तुतोष सान्त्वनैः ।

जनस्य रूढप्रणयस्य चेतसः किमप्यमर्षोऽनुनये भृशायते ॥ ५४ ॥

प्रियेणेति ॥ काचित् प्रियेण विपक्षतः सपत्नीतः । चरमं पश्चात् सिक्ता
सती चुकोप । सान्त्वनैरनुनयैर्न तुतोष । तथा हि—रूढप्रणयस्य गाढ-
प्रेम्णो जनस्य संबन्धी चेतसो मनसोऽमर्षः प्रकोपः किमपि कुतोऽपि हेतो-

रनुनये सति भृशायते गाढो भवति । 'भृशादिभ्यो भुव्यच्चेर्लोपश्च हलः' इति क्यङ् । अन्यत्र शान्तिहेतुरनुनयोऽत्र प्रकोपायैव भवति । तत्र कारणं तु न ज्ञायत इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

इत्थं विहृत्य वनिताभिरुदस्यमानं
पीनस्तनोरुजवनस्थलशालिनीभिः ।

उत्सर्पितोर्मिचयलङ्घिततीरदेश-

मौत्सुक्यनुन्नमिव वारि पुरः प्रतस्थे ॥ ५५ ॥

इत्थमिति ॥ पीनैः स्तनैरुरुभिर्जवनस्थलैश्च शालन्त इति तथोक्ताभिरिति सलिलनोदनसामर्थ्योक्तिः । स्थलस्य साक्षादप्राण्यङ्गत्वान्न द्वन्द्वैकवद्भावः । वनिताभिरित्थं विहृत्य । उदस्यमानं नुद्यमानम् । उत्सर्पितैरुपरिभावं प्रापितैरुर्मिचयैर्लङ्घितस्तीरदेशो येन तत् । वारि । औत्सुक्यं विहारासहिष्णुत्वं तेन नुन्नं प्रेरितमिवेत्युत्प्रेक्षा । 'नुदविद-' इत्यादिना निष्ठानत्वम् । पुरोऽग्रे प्रतस्थे । स्वजनवदिति भावः ॥ ५५ ॥

तीरान्तराणि मिथुनानि रथाङ्गनाम्नां
नीत्वा विलोलितसरोजवनश्रियस्ताः ।

संरेजिरे सुरसरिज्जलधौतहारा-

स्तारावितानतरला इव यामवत्यः ॥ ५६ ॥

तीरान्तराणीति ॥ रथाङ्गनाम्नां मिथुनानि चक्रवाकद्वन्द्वानि । अन्यानि तीराणि तीरान्तराणि नीत्वा । नियोज्येत्यर्थः । अविहितलक्षणतत्पुरुषो मयूरव्यंसकादिषु द्रष्टव्यः । विलोलिता विलुलिताः सरोजवनश्रियो याभिस्ताः सुरसरिज्जलधौतहाराः क्षालितमुक्तावलयः । ताः स्त्रियः । तारावितानैरुद्गणैस्तरला भासुराः । 'तरलो भासुरे हीरे चञ्चलेऽपि' इति वैजयन्ती । यामवत्यो रात्रय इव । संरेजिरे शुशुभिरे ॥ ५६ ॥

संक्रान्तचन्दनरसाहितवर्णभेदं

विच्छिन्नभूषणमणिप्रकरांशुचित्रम् ।

बद्धोर्मिं नाकवनितापरिभुक्तमुक्तं

सिन्धोर्वभार सलिलं शयनीयलक्ष्मीम् ॥ ५७ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीयेऽष्टमः सर्गः ।

संक्रान्तेति ॥ संक्रान्तैश्चन्दनरसैर्मलयजद्रवैराहितो वर्णभेदो रूपान्तरं यस्य तत् । विच्छिन्नानि त्रुटितानि यानि भूषणानि तेषां ये मणिप्रकरा मणिगणास्तेषामंशुभिश्चित्रं नानावर्णम् । बद्धोर्मिं तरलं तरङ्गितं नाकवनिताभिः परिभुक्तमुक्तं पूर्वं परिभुक्तं पश्चान्मुक्तम् । 'पूर्वकाल-' इत्यादिना

तत्पुरुषः । सिन्धोर्गङ्गायाः सलिलम् । शेरतेऽत्रेति शयनीयं तल्पम् । बहुलग्रहणात्साधुः । तस्य लक्ष्मीं वभार । अत एव निदर्शनालङ्कारः । लक्षणं तूक्तम् ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-
काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायामष्टमः सर्गः समाप्तः ॥

नवमः सर्गः ।

वीक्ष्य रन्तुमनसः सुरनारीरात्तच्चित्रपरिधानविभूषाः ।

तत्प्रियार्थमिव यातुमथास्तं भानुमानुपपयोधि ललम्बे ॥ १ ॥

वीक्ष्येति ॥ अथ जलक्रीडानन्तरं भानुमानंशुमान् आत्तच्चित्रपरिधान-
विभूषाः स्वीकृतविविधवस्त्राभरणाः । सुरतसंनाहवतीरित्यर्थः । अत एव रन्तु-
मनसः । 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' । 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुं काममनसोरपि' इति
मकारलोपः । सुरनारीः वीक्ष्य तासां प्रियार्थं तत्प्रियार्थमिव । अवसरदान-
रूपं प्रियं कर्तुमिवेत्यर्थः । फलोत्प्रेक्षेयम् । अस्तमदर्शनम् । मकारान्तमव्यय-
मेतत् । यातुं प्राप्तुम् । उपपयोधि पयोधिसमीपे ललम्बे सखसे । अस्मिन्सर्गे
स्वागतावृत्तम्—'स्वागतेति रनभाद्गुर्युग्मम्' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

मध्यमोपलनिभे लसदंशावेकतश्च्युतिमुपेयुषि भानौ ।

द्यौरुवाह परिवृत्तिविलोलां हारयाष्टिमिव वासरलक्ष्मीम् ॥ २ ॥

मध्यमेति ॥ मध्यमोपलनिभे नायकमणिसदृशे । 'निभसंकाशनीकाशप्रती-
काशोपमादयः' इत्यमरः । 'शर्करायां स्त्रियां प्रोक्तः पुंस्यश्मन्युपलो मणौ' इति
वैजयन्ती । लसदंशौ प्रसरद्रश्मौ भानौ । एकत एकस्मिन्भागे च्युतिं स्रस्तता-
मुपेयुषि प्राप्ते सति द्यौः परिवृत्त्या मध्याह्नातिक्रमेण विलोलां गत्वरीम् ।
अन्यत्र,—गात्रस्य तिर्यगावृत्त्या मुहुश्चलन्तीम् । वासरलक्ष्मीं हारयाष्टिं मुक्ता-
वलीमिवोवाह वहति स्म ॥ २ ॥

अंशुपाणिभिरतीव पिपासुः पद्मजं मधु भृशं रसयित्वा ।

क्षीबतामिव गतः क्षितिमेष्यंल्लोहितं वपुरुवाह पतङ्गः ॥ ३ ॥

अंशुपाणिभिरिति ॥ पतङ्गः सूर्यः । 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' इत्यमरः । अतीव
निर्भरम् । 'अत्यतीव च निर्भरे' इत्यमरः । पातुमिच्छुः पिपासुस्तृषितः सन् ।
पिबतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । अंशव एव पाणयस्तैः पद्मेषु जातं पद्मजं मधु
मध्वेव । मध्विति श्लिष्टं रूपकम् । मकरन्दमद्यमित्यर्थः । 'मधु मद्ये पुष्परसे'
इत्यमरः । भृशमत्यन्तं रसयित्वास्वाद्य क्षीबतां मत्तत्वं गत इवेत्युत्प्रेक्षा ।
'मत्ते शौण्डोत्कटक्षीवाः' इत्यमरः । क्षितिमेष्यन् गमिष्यन् । लोहितं रक्तं
वपुरुवाह । यथा मत्तः क्षीबतया क्षितौ लुठति रज्यते च तद्वदिति भावः ।
सूर्यस्य क्षितिविलयनमस्तमय इत्यागमः । अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोः सापेक्षत्वादङ्गाङ्गि-
भावेन संकरः ॥ ३ ॥

गम्यतामुपगते नयनानां लोहतायति सहस्रमरीचौ ।

आससाद् विरहय्य धरित्रीं चक्रवाकहृदयान्यभितापः ॥ ४ ॥

गम्यतामिति ॥ सहस्रमरीचौ सूर्ये । लोहितो भवतीति लोहितायति । 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' इति क्यष् । 'वा क्यषः' इति परस्मैपदे शतृप्रत्ययः । अत एव नयनानां गम्यतामुपगते दर्शनीयतां प्राप्ते सति । अभितापो धरित्रीं विरहय्य विहाय । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्यादेशः । चक्रवाकहृदयान्याससाद् प्राप । अत्र धरित्र्या यादृशस्तीव्रार्ककरकृतसंतापस्तादृक्चक्रवाकहृदयेषु विरहसंतापः संजात इति परमार्थः । परंतु तदुपक्रमानन्तरमेतस्याविर्भावात् स एवात्र संक्रान्त इत्यभेदाध्यवसायेनोपदेशः । अत एव भेदेऽभेदरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ४ ॥

मुक्तमूललघुरुज्झितपूर्वः पश्चिमे नभसि संभृतसान्द्रः ।

सामिमज्जति रवौ न विरेजे खिन्नजिह्व इव रश्मिसमूहः ॥ ५ ॥

मुक्तेति ॥ रवौ सामिमज्जति अर्धास्तमिते सति । 'सामि त्वर्धे जुगुप्सायाम्' इत्यमरः । मुक्तं त्यक्तप्रायं मूलमाश्रयभूतो रविः । अन्यत्र, -स्वामी, येन सोऽत एव लघुरल्पकश्च मुक्तमूललघुरुज्झितपूर्वस्त्यक्तपूर्वदिक्कः । अन्यत्र, -त्यक्तपूर्वजनः । पश्चिमे नभसि नभोभागम् । अन्यत्र, -कच्चिन्नीचस्थले । संभृतः संहतः सन् । अत एव सान्द्रश्च रश्मिसमूहः । आश्रितजनश्च ध्वन्यते । खिन्नश्चासौ जिह्वश्च, खिन्नेन दुःखेन जिह्वो वा, दीन इव न विरेजे । अत्र मुक्तमूलत्वादिप्रस्तुतविशेषणसाभ्यादप्रस्तुताश्रितजनप्रतीतेः समासोक्तिः । तत्र वाच्यस्य रश्मिसमूहस्याचेतनस्यापि प्रतीयमानेन चेतनेनाभेदाभिधानाद्दुःखितत्वाद्युत्प्रेक्षेति तयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ ५ ॥

कान्तदूत्य इव कुङ्कुमताम्राः सायमण्डलमभित्वरयन्त्यः ।

सादरं दृष्टशिरे वनिताभिः सौधजालपतिता रविभासः ॥ ६ ॥

कान्तेति ॥ कुङ्कुमवत् कुङ्कुमेन वा ताम्राः । सायस्य सायंकालस्य । 'सायं साये प्रगे प्रातः' इत्यमरः । यन्मण्डलं तत् अभि तदुद्दिश्य त्वरयन्त्यस्त्वरं कारयन्त्यः सौधानां जालैर्गवाक्षैः पतिताः प्रविष्टाः । 'जालं गवाक्ष आनाये' इति वैजयन्ती । रविभासः सूर्यरश्मयः कान्तानां प्रेयसां दूत्य इव वनिताभिः सादरं यथा तथा दृष्टशिरे दृष्टाः । सायंतनार्कभासां प्रियसमागमसूचकत्वादेव तासु स्त्रीणामादरोऽभवदित्यर्थः ॥ ६ ॥

अग्रसानुषु नितान्तपिशङ्गैर्भूरुहान्मृदुकरैरवलम्ब्य ।

अस्तशैलगहनं नु विवस्वानाविवेश जलधिं नु महीं नु ॥ ७ ॥

अग्रेति ॥ विवस्वान् सूर्योऽग्रेऽस्तशैलशिखरे ये सानवस्तेषु ये भूरुहास्तान्नितान्तपिशङ्गैरत्यन्तारुणैर्मृदुभिः करैरिव करैरंशुहस्तैरिति श्लिष्टरूपकम् । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । यद्वा, -करैर्मृदु श्लथमवलम्ब्य । अस्त इति शैलोऽस्तशैलः । 'अस्तस्तु चरमक्षमाभृत्' इत्यमरः । तस्य गहनं काननं नु

जलधिं नु महीं न्वाविवेश । तपनस्य पतनसंदेह एव दृष्टः । पतनं तु क
चास्य तन्न ज्ञायते । शीघ्रभावादिति भावः । अत्र तपने पतनस्यारोप्यमाणस्य
गहनाद्यनेकविषयत्वेन संदेहात्संदेहालंकारः ॥ ७ ॥

आकुलश्चलपतत्रिकुलानामारवैरनुदितौषसरागः ।

आययावहरिदश्वविपाण्डुस्तुल्यतां दिनमुखेन दिनान्तः ॥ ८ ॥

आकुल इति ॥ चलानां कुलायेभ्यः कुलान्प्रति चलतां पतत्रिकुलानां
पक्षिसमूहानामारवैः शब्दैराकुलो व्याप्तः । 'अनुदित'शब्देनाभावमात्रम्,
'उषः'शब्देन संध्यामात्रं च विवक्ष्यते । उषसि भव औषसः । 'संधिवेला-'
इत्यादिना योगविभागादण्प्रत्ययः । अन्यथा कालादृञ्स्यात् । तथा च अनुदितौष-
सरागोऽविद्यमानसंध्याराग इत्यर्थः । एकत्रानुदयात्, अन्यत्रास्तमयाच्चेति भावः ।
अहरिदश्वोऽविद्यमानसूर्यः । एकत्रानुदयात्, अन्यत्रास्तमयाच्चेति भावः । अत एव
विपाण्डुः । तिमिरानुदयादिति शेषः । दिनान्तः सायंकालो दिनमुखेन
प्रातःकालेन तुल्यतामाययौ । तद्वद्भूवेत्यर्थः । अत एवोपमालङ्कारः ॥ ८ ॥

आस्थितः स्थगितवारिदपङ्क्या संध्यया गगनपश्चिमभागः ।

सोर्मिविद्रुमवितानविभासा रञ्जितस्य जलधेः श्रियमूहे ॥ ९ ॥

आस्थित इति ॥ स्थगितवारिदपङ्क्या पिहितमेघवृन्दया संध्ययास्थित
आक्रान्तो व्याप्तो गगनपश्चिमभागः । सोर्मिः । ऊर्मिसंक्रान्त इत्यर्थः । तथा
विद्रुमवितानविभासा प्रवालप्रकरकान्त्या रञ्जितस्य स्वसावर्ण्यमापादितस्य
जलधेः श्रियमूहे । संध्याया रक्तवर्णत्वादिति भावः । वहतेः कर्तरि लिट् ।
तरसदृशीं श्रियमुवाहेत्यर्थः । अत एव निदर्शनालङ्कारः ॥ ९ ॥

प्राञ्जलावपि जने नतमूर्ध्नि प्रेम तत्प्रवणचेतसि हित्वा ।

संध्ययानुविदधे विरमन्त्या चापलेन सुजनेतरमैत्री ॥ १० ॥

प्राञ्जलाविति ॥ प्रबद्धोऽञ्जलिर्येन तस्मिन् प्राञ्जलौ बद्धाञ्जलौ । 'तौ युताव-
ञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः । प्रादिभ्यो धातुजस्य बहुव्रीहिर्वाच्यो वोत्तरपदलोपश्च ।
नतमूर्ध्नि नमस्कुर्वाणे तत्प्रवणं तत्र संध्यायामेवाहितं चेतो यस्य तस्मिन्नेवं-
विधेऽपि जने विषये प्रेम हित्वा विहाय विरमन्त्या निवर्तमानया । 'व्याहृ-
रिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । संध्यया चापलेनास्थैर्येण । युवादित्वादण्-
प्रत्ययः । सुजनादितरो दुर्जनस्तस्य मैत्री सख्यमनुविदधेऽनुचक्रे । कर्मणि
लिट् । यथा दुर्जनमैत्री स्निह्यन्तमपि जहाति तद्वत् संध्यापि सेवमानं जनमहा-
सीदित्यर्थः । मित्रस्य कर्म मैत्री । अणन्तान्डीष् । अत्र संध्यादुर्जनमैत्र्योश्चापलं
समानधर्मोऽनुविधानम् । अत एवार्थरूपेणेयमुपमा ॥ १० ॥

औषसातपभयादपलीनं वासरच्छविविरामपटीयः ।

संनिपत्य शनकैरथ निम्नादन्धकारमुदवाप समानि ॥ ११ ॥

औषसेति ॥ औषसात् प्राभातिकादातपाद्भयं तस्मादिवेत्युत्प्रेक्षा । अप-
लीनं कचिद्भूढं वासरच्छवेरातपस्य विरामाच्चेतोः पटीयः प्रभविष्णुतरम् ।

१ 'विभङ्गैः' इति पाठः. २ 'शनकैरिव' इति पाठः ।

अन्धं करोतीत्यन्धकारं ध्वान्तम् । 'अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम्' इत्यमरः । अथ संध्यापगमनानन्तरं शानकैर्मन्दमन्दं निम्नात् संनिपत्यागत्य समानि समस्थलानि । उदवाप व्यानशे । अत्र प्रस्तुतान्धकारविशेषणसाम्यादप्रस्तुतार्थप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः । उत्प्रेक्षा त्वङ्गतः स्यात् ॥ ११ ॥

एकतामिव गतस्य विवेकः कस्यचिन्न महतोऽप्युपलेभे ।

भास्वता निदधिरे भुवनानामात्मनीव पतितेन विशेषाः ॥१२॥

एकतामिति ॥ एकतामभेदं गतस्येव । तमोव्याप्त्या तथा प्रतीतेरियमुत्प्रेक्षा । महतः शैलादेरपि कस्यचित् कस्यापि पदार्थस्य विवेको भेदो नोपलेभे न गृहीतः । अत एवोत्प्रेक्षते—पतितेनास्तमितेन भास्वता सूर्येण । 'भास्वद्विवस्वत्ससाश्च—' इत्यमरः । भुवनानाम् । भुवनस्थपदार्थानामित्यर्थः । विशेषा भूधरादिभेदा आत्मनि स्वस्मिन्नेव निदधिर इव निहिता इव । कथमन्यथा नोपलभ्येरन्नित्यर्थः । अत्रोत्प्रेक्षयोः सजातीययोः सापेक्षत्वादङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ १२ ॥

इच्छतां सह वधूभिरभेदं यामिनीविरहिणां विहगानाम् ।

आपुरेव मिथुनानि वियोगं लङ्घ्यते न खलु कालनियोगः ॥ १३ ॥

इच्छतामिति ॥ वधूभिः स्वकामिनीभिः सह । अभेदमवियोगमिच्छताम् । तथा संकल्पवतामपीत्यर्थः । यामिनीषु विरहिणाम् । नियतवियोगानामित्यर्थः । रहतेरावश्यकेऽर्थे णितिः । यद्वा,—निन्दायामितिः । तेषां विहगानां चक्रवाकानां मिथुनानि वियोगमापुरेव । न तु नापुरित्ययोगव्यवच्छेदः । तथा हि—कालनियोगो दैवाज्ञा न लङ्घ्यते खलु । दुर्वार इत्यर्थः ॥ १३ ॥

यच्छति प्रतिमुखं दयितायै वाचमन्तिकगतेऽपि शकुन्तौ ।

नीयते स्म नतिमुज्झितहर्षं पङ्कजं मुखमिवाम्बुरुहिण्या ॥ १४ ॥

यच्छतीति ॥ शकुन्तौ चक्रवाकपक्षिणि । सामान्यस्य प्राकरणिकविशेषपर्यवसानात् । 'शकुन्तिपक्षिशकुनिशकुन्तशकुनद्विजाः' इत्यमरः । अन्तिकगते समीपस्थेऽपि दयितायै चक्रवाक्यै प्रतिमुखमभिमुखं यथा तथा वाचं यच्छति वाचमेव ददाने । न तु संगच्छमाने सतीत्यर्थः । 'पात्राध्मा—' इत्यादिना दाणो यच्छादेशः । अम्बुरुहिण्या नलिन्या । उज्झितहर्षं चक्रवाकदुर्दशादर्शनादिव त्यक्तविकासं पङ्कजं मुखमिव नतिं नम्रत्वं नीयते स्म नीतम् । 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति नयतेर्द्विकर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि लिट् । प्रायेण दुःखदर्शनात्स्त्रियः खिद्यन्ते । विशेषेण विरहदर्शनादिति भावः । अत्र पङ्कजावनतेश्चक्रवाकविक्रोशानन्तर्यात्तद्धेतुक्त्वमुत्प्रेक्ष्यते । तच्च मुखोपमेयमम्बुरुहिण्या कामिनीसाम्यं गमयन्त्या निरुह्यत इत्युपमोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः । व्यञ्जकाप्रयोगात्प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ॥ १४ ॥

रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु ।

पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहता नु ककुभस्तिमिरेण ॥ १५ ॥

रञ्जिता इति ॥ तिमिरेणान्धकारेण विविधास्तरवः शैलाश्च रञ्जिताः

स्वसावर्ण्यमापादिता नु । अन्यथा कथमेषां नीलाढ्यत्वमिति भावः । गगनं नामितं नु । आभूतलादिति शेषः । 'मितां ह्रस्वः' इत्यत्र वाशब्दानुवृत्त्या व्यवस्थितविभाषाश्रयणान्न ह्रस्वः । यद्वा,—गगनं स्थगितमाच्छादितं नु । उभयत्रापि तमसावृतत्वान्न दृश्यत इति भावः । तथा धरित्री विषमेषु निम्नोन्नतेषु पूरिता समीकृता नु । अन्यथा तद्विवेकः कथं न स्यादिति भावः । ककुभो दिशश्च संहता नु लुप्ताः किम् । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः । कथमन्यथा न दृश्यन्त इति भावः । अत्र तिमिरे तरुशैलाद्यनेकविषयरञ्जकत्वादिकमारोप्य संदिग्ध इति संदेहालङ्कारः । अनेन 'नु'शब्दस्य संभावनाद्योतकत्वमत्रोत्प्रेक्षाप्रकारमित्यलङ्कारसर्वस्वकारः ॥ १५ ॥

रात्रिरागमलिनानि विकासं पङ्कजानि रहयन्ति विहाय ।

स्पष्टतारकमियाय नभः श्रीर्वस्तुमिच्छति निरापदि सर्वः ॥ १६ ॥

रात्रीति ॥ श्रीः शोभा कर्त्री रात्रेः संध्याया रागेण स्वच्छायोपरञ्जनेन मलिनानि, अत एव विकासं रहयन्ति त्यजन्ति । रहतेस्त्यागार्थाच्छतृप्रत्ययः । पङ्कजानि विहाय त्यक्त्वा स्पष्टतारकं नभः खम् । इयाय प्राप । तथा हि—सर्वो जनो निरापदि निर्बाधस्थले वस्तुं स्थातुम् । 'एकाच उपदेशोऽनुदात्तात्' इतीदप्रतिषेधः । 'घसिश्च सान्तेषु वसिः प्रसारिणि' इति वचनात् । इच्छति ॥ १६ ॥

अस्तादिसंध्यान्तं वर्णयित्वा चन्द्रोदयवर्णनमारभते—

व्यानशे शशधरेण विमुक्तः केतकीकुसुमकेसरपाण्डुः ।

चूर्णमुष्टिरिव लम्भितकान्तिर्वासवस्य दिशमंशुसमूहः ॥ १७ ॥

व्यानश इति ॥ शशधरेण चन्द्रेण विमुक्तः क्षिप्तः केतकीकुसुमकेसर इव पाण्डुर्लम्भिता प्रापिता कान्तिर्यस्य सोऽशुसमूहो रश्मिसमूहः । चूर्णस्य कर्पूरक्षोदस्य मुष्टिरिव । 'मुष्टि'शब्दस्य द्विलिङ्गत्वेऽप्यत्र पुंलिङ्गैव ग्राह्या । उपमेयानुसारात् । वासवस्येन्द्रस्य दिशं प्राचीं व्यानशे व्याप । अनेन दिशानिशाकरयोर्नायिकानायकौपम्यं गम्यते ॥ १७ ॥

उज्जती शुचमिवांशु तमिस्रामन्तिकं व्रजति तारकराजे ।

दिक्प्रसादगुणमण्डनमूहे रश्मिहासविशदं मुखमैन्द्री ॥ १८ ॥

उज्जतीति ॥ इन्द्रस्येयमैन्द्री दिक् प्राची तारकराजे नक्षत्रनाथे । 'कनीनिकायां नक्षत्रे तारकं तास्कापि च' इति विश्वः । अन्तिकं समीपं व्रजति सति । आशु तमिस्रामन्धतमसम् । 'तमिस्रा स्त्री ध्वान्तनिशि निश्चन्धतमसे न ना' इति वैजयन्ती । शुचमिव । विरहदुःखमिवेत्यर्थः । उज्जती विजहती । प्रसादो नैर्मल्यमेव गुणः स एव मण्डनं यस्य तत् । रश्मयो हास इव तेन विशदं मुखमिव मुखमग्रभागम् । श्लिष्टोपमेयम् । ऊहे वहति स्म । अत्र दिक्चन्द्रयोर्नायिकानायकौपम्यं गम्यते ॥ १८ ॥

नीलनीरजनिभे हिमगौरं शैलरुद्धवपुषः सितरश्मेः ।

खे रराज निपतत्करजालं वारिधेः पयसि गाङ्गमिवाम्भः ॥ १९ ॥

नीलेति ॥ शैलरुद्धवपुष उदयगिरितिरोहितमण्डलस्य सितरश्मेरिन्दोः संबन्धि नीलनीरजनिभे श्यामकमलतुल्ये ख आकाशे निपतत् प्रसरत् । हिमवद्गौरं शुभ्रं करजालमंशुसमूहो वारिधेः पयसि निपतद्गाङ्गमम्भ इव रराज । उपमानेऽपि विशेषणानि योज्यानि ॥ १९ ॥

द्यां निरुन्धदतिनीलघनाभं ध्वान्तमुद्यतकरेण पुरस्तात् ।

क्षिप्यमाणमसितेतरभासा शंभुनेव करिचर्म चकासे ॥ २० ॥

द्यामिति ॥ द्यां निरुन्धत् आकाशमावृण्वत् । अतिनीलघनाभं मेचकम् । उद्यन्तः करा अंशवो हस्ताश्च यस्य तेन । असिताभ्य इतराः शुभ्रा भासो यस्य तेन चन्द्रेण पुरस्तात् प्राच्यामग्रे च क्षिप्यमाणं नुद्यमानं ध्वान्तं शंभुना क्षिप्यमाणं करिचर्मैव चकासे । उपमानेऽपि विशेषणानि योज्यानि ॥ २० ॥

अन्तिकान्तिकगंतेन्दुविसृष्टे जिह्वतां जहति दीधितिजाले ।

निःसृतस्तिमिरभारनिरोधादुच्छ्वसन्निव रराज दिगन्तः ॥ २१ ॥

अन्तिकेति ॥ अन्तिकान्तिकेऽतिसमीपे । 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः । कर्मधारयवद्भावात्सुपो लुक् । अन्तिकान्तिकगतेनेन्दुना विसृष्टे मुक्ते दीधितिजाले किरणसमूहे जिह्वतां संकोचं जहति त्यजति सति तिमिरभारैस्तमःस्तोमैर्निरोधादुपरोधात् । निःसृतो निर्गतो दिगन्त उच्छ्वसन् प्राणन् इव रराजेत्युत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ २१ ॥

लेखया विमलविद्रुमभासा संततं तिमिरमिन्दुरुदासे ।

दंष्ट्रया कनकटङ्कपिशङ्ग्या मण्डलं भुव इवादिवराहः ॥ २२ ॥

लेखयेति ॥ इन्दुर्विमलविद्रुमभासा स्वच्छप्रवालसवर्णया लेखया कलया संततं सान्द्रं तिमिरमादिवराहः कनकस्य टङ्कः शिलाभेदकं शस्त्रम् । 'टङ्कः पाषाणदारणः' इत्यमरः । तद्वत् पिशङ्ग्या लोहितवर्णया । 'पिशङ्गादुपसंख्यानम्' इति डीप् । दंष्ट्रया भुवो मण्डलमिव । उदास उच्चिक्षिपे । अस्यतेः कर्तरि लिट् । सोपसर्गादस्यतेरात्मनेपदं विकल्पात् ॥ २२ ॥

दीपयन्नथ नभः किरणौघैः कुङ्कुमारुणपयोधरगौरः ।

हैमकुम्भ इव पूर्वपयोधेरुन्ममज्ज शनकैस्तुहिनांशुः ॥ २३ ॥

दीपयन्निति ॥ अथ उदयानन्तरं । किरणौघैर्नभो दीपयन् प्रकाशयन् कुङ्कुमेनारुणो यः पयोधरः कुचस्तद्वत् गौरोऽरुणः । उदयरागादिति भावः । तुहिनांशुरिन्दुः शनकैः पूर्वपयोधेः पूर्वसागरात् । हेमः कुम्भ इव । उन्ममज्ज उज्जगामेत्युत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥

१ 'अभिनील' इति पाठः. २ 'गजचर्म' इति पाठः. ३ 'त्यजति इति' पाठः.

४ 'कनकमज्ज' इति पाठः.

उद्गतेन्दुमविभिन्नतमिस्रां पश्यति स्म रजनीमवितृप्तः ।

व्यंशुकस्फुटमुखीमतिजिह्वां व्रीडया नववधूमिव लोकः ॥ २४ ॥

उद्गतेन्दुमिति ॥ लोको जनः । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । उद्गतेन्दु-
मुदितचन्द्राम् । अविभिन्नतमिस्रामनिःशेषितध्वान्तां रजनीं व्यंशुकमपनी-
तावगुण्ठनमत एव स्फुटं दृश्यमानं मुखं यस्याः सा तां तथापि व्रीडयातिजिह्वां
वक्रां नववधूं नवोढाम् । 'वधूर्नवोढयोपायां स्तुपाभार्याङ्गनासु च' इति धरणिः ।
स्त्रियमिवावितृप्तः सन् पश्यति स्म ॥ २४ ॥

न प्रसादमुचितं गमिता द्यौर्नोद्धृतं तिमिरमद्रिवनेभ्यः ।

दिङ्मुखेषु न च धाम विकीर्णं भूपितैव रजनी हिमभासा ॥ २५ ॥

नेति ॥ हिमभासा चन्द्रेण द्यौराकाशम् । उचितं योग्यं प्रसादं न गमिता ।
अद्रयो वनानि च तेभ्यः । तिमिरं नोद्धृतं नोत्सारितम् । दिशां मुखेषु
धाम तेजश्च न विकीर्णं न पर्यस्तम् । तथापि रजनी भूपितैव । उक्तगुणा-
संपत्ताविति भावः । अत्र प्रसाधनकारणाभावेऽपि तत्कार्यभूपणोक्त्या विभाव-
नालङ्कारः ॥ २५ ॥

मानिनीजनविलोचनपातानुष्णवाष्पकलुषान् प्रतिगृह्णन् ।

मन्दमन्दमुदितः प्रययौ खं भीतभीत इव शीतमयूखः ॥ २६ ॥

मानिनीति ॥ उदितः शीतमयूख उष्णेन विरहतप्तेन वाष्पेण कलुषा-
नाविलान् । मानिनीजनस्य कलहान्तरितनायिकाजनस्य विलोचनपातान् ।
मानभङ्गजनितरोषेण भीषणानिति भावः । 'कोपात्कान्तं पराणुद्य पश्चात्तापसम-
न्विता । कलहान्तरिता' इति दशरूपके । प्रतिगृह्णन् स्वीकुर्वन् । अपरिहार्यत्वा-
दिति भावः । अत एव भीतभीतो भीतप्रकार इवेत्युत्प्रेक्षा । मन्दमन्दं
मन्दप्रकारम् । उभयत्रापि 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विभावे कर्मधारयवद्भावा-
त्सुलोपः । खमाकाशं प्रययौ ॥ २६ ॥

श्लिष्यतः प्रियवधूरुपकण्ठं तारकास्ततकरस्य हिमांशोः ।

उद्गमन्नभिरराज समन्तादङ्गराग इव लोहितरागः ॥ २७ ॥

श्लिष्यत इति ॥ तताः प्रसारिताः करा एव करा अंशुहस्ता येन तस्य ततकरस्य
तारका एव प्रियवधूरुपकण्ठमन्तिके कण्ठे वा । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया ।
विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । श्लिष्यतः प्रत्यासीदत् आलिङ्गन्तश्च हिमांशोः संबन्धी
समन्तादुद्गमन् उत्सर्पन् । अर्थान्तरत्वादकर्मकत्वम् । 'धातोर्थान्तरे वृत्तेः'
इति वचनात् । लोहितरागोऽरुणप्रभः । अङ्गराग इवाभिरराज । आलिङ्गना-
द्रागो गलतीति प्रसिद्धिः । अत्र रूपकोपमयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ २७ ॥

प्रेरितः शशधरेण करौघः संहतान्यपि नुनोद तमांसि ।

क्षीरसिन्धुरिव मन्दरभिन्नः काननान्यविरलोच्चतरूणि ॥ २८ ॥

प्रेरित इति ॥ शशधरेण चन्द्रेण प्रेरितो विसृष्टः करौघः संहतानि

सान्द्राणि अपि तमांसि मन्दरेण मन्दराचलेन भिन्नो नुन्नः क्षीरसिन्धुर-
विरलाः सान्द्रा उच्चा उन्नताश्च तरवो येषु तानि काननानीव नुनोद दूरी-
चकार ॥ २८ ॥

शारतां गमितया शशिपादैश्छायया विटपिनां प्रतिपेदे ।

न्यस्तशुक्लबलिचित्रतलाभिस्तुल्यता वसतिवेश्ममहीभिः ॥ २९ ॥

शारतामिति ॥ शशिपादैश्चन्द्ररश्मिभिः । 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्याशाः' इत्य-
मरः । शारतां शबलतां गमितया । 'शारः शबलपीतयोः' इति विश्वः । विट-
पिनां तरूणां छायाया न्यस्तैर्निक्षिप्तैः शुक्लबलिभिः श्वेतपुष्पाद्युपहारैश्चि-
त्राणि तलानि उपरिभागा यासां ताभिः । 'करोपहारयोः पुंसि बलिः प्राण्यङ्गजे-
स्त्रियाम्' इत्यमरः । वसतिवेश्ममहीभिर्निवासगृहभूमिभिः । तुल्यता साम्यं
प्रतिपेदे प्राप्ता । कर्मणि लिट् । आर्थायमुपमा ॥ २९ ॥

आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन ।

सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुःखिते मनसि सर्वमसह्यम् ॥ ३० ॥

आतप इति ॥ आतपे । दुःखकरेऽपीति भावः । वध्वा चक्रवाक्या सह ।
अत एव धृतिमता संतोषवता यामिनीषु विरहिणा नियतविरहेणात एव
विहगेन चक्रवाकेण हिमरश्मेश्चन्द्रस्य किरणा न सेहिरे । तथा हि—
दुःखिते संजातदुःखे मनसि सर्वम् । मनोहरमपीति भावः । असह्यं सोढु-
मशक्यम् । 'शकिसहोश्च' इति यत्प्रत्ययः । पूर्वे तु 'आतपाः' इति पेटुः । तत्र
वध्वा सहातपा अपि सेहिरे । तद्विरहिणा तु शशिकिरणा अपि न सेहिरे इति
योज्यम् । फलं तु समानम् ॥ ३० ॥

गन्धमुद्धतरजः कणवाही विक्षिपन्विकसतां कुमुदानाम् ।

आदुधाव परिलीनविहङ्गा यामिनीमरुदपां वनराजीः ॥ ३१ ॥

गन्धमिति ॥ अपां कणवाही । योग्यान्वये व्यवधानमपि सोढव्यम् ।
विकसतां कुमुदानां गन्धं सौरभम्, उद्धतं रजः परागो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा
तथा । 'शेषाद्विभाषा' इति विकल्पान्न कप् । विक्षिपन् विकिरन् । इत्थं शिशिरः
सुरभिः । यामिनीमरुत् रात्रिवायुः । परितो लीनाः शयिता विहङ्गा यासु ता
वनराजीः । आदुधाव ईषत्कम्पयामास । विहङ्गशयनाविरोधेन वनराजिः
किञ्चित्कम्पितेत्यर्थः । 'आडीपदर्थेऽभिव्याप्तौ' इत्यमरः । तथा कश्चित्कामिनीं
गन्धोदकादिना सिञ्चन्नाकर्षति तद्वदिति भावः ॥ ३१ ॥

संविधातुमभिपेकमुदासे मन्मथस्य लसदंशुजलौघः ।

यामिनीवनितया ततचिह्नः सोत्पलो रजतकुम्भ इवेन्दुः ॥ ३२ ॥

संविधातुमिति ॥ यामिनी वनितेव तथा रात्रिरूपया कान्तया मन्मथस्या-
भिपेकं त्रिभुवनजैत्रयात्राभिपेकं संविधातुं सम्यक्तुम् । अंशवो जलानीव
तेषामोघः पुरो लसन् यस्मिन्सः । ततचिह्नः स्फुटलाञ्छन इन्दुः सोत्पलो

रजतकुम्भ इव । उदास उत्क्षिप्तः । अस्यतेः कर्मणि लिट् । अत्र संविधातु-
मिति तुमुना प्रतीयमानोत्प्रेक्षयानुप्राणितोऽयमुपमोत्प्रेक्षयोः संकरः ॥ ३२ ॥

ओजसापि खलु नूनमनूनं नासहायमुपयाति जयश्रीः ।

यद्विभुः शशिमयूखसखः सन्नाददे विजयि चापमनङ्गः ॥ ३३ ॥

ओजसेति ॥ ओजसा । अनूनं संपूर्णमपि । असहायं सहायरहितम् ।
पुरुषमिति शेषः । जयश्रीर्नोपयाति खलु नूनम् । कुतः । यत् यस्मात् ।
विभुः समर्थोऽप्यनङ्गः शशिमयूखानां सखा सहचरस्तथोक्तः । असहायः
सन्नित्यर्थः । विजयि विजयशीलम् । 'जिदक्षि-' इत्यादिनेनिप्रत्ययः । चाप-
माददे । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३३ ॥

इत्थमुद्दीपनसामग्रीमुपवर्ण्यं संप्रति तत्कार्यभूतं रतिवर्णनमारभते—

सन्ननां विरचनाहितशोभैरागतप्रियकथैरपि दूत्यम् ।

संनिकृष्टरतिभिः सुरदारैर्भूषितैरपि विभूषणमीषे ॥ ३४ ॥

सन्ननामित्यादि ॥ संनिकृष्टरतिभिरासन्नसुरतोत्सवैरत एव सुरदारैः
सुरवधूभिः । आहितशोभैः प्रागेव विहितकेलिगृहमण्डनैरपि पुनः सन्ननां
केलिगृहाणां विरचना मण्डनम् । ईषेऽभिलेपे । ईषेः कर्मणि लिट् । आगत-
प्रियकथैः प्राप्तप्रियजनवृत्तान्तैरपि दूतस्य कर्म दूत्यं दूतीव्यापार ईषे । दूतस्य
भावकर्मणोर्यत्प्रत्ययः । तथा भूषितैरपि विभूषणं प्रसाधनम् । ईषे । औत्सु-
क्यातिरेकादिति भावः ॥ ३४ ॥

न स्रजो रुरुचिरे रमणीभ्यश्चन्दनानि विरहे मदिरा वा ।

साधनेषु हि रतेरुपधत्ते रम्यतां प्रियसमागम एव ॥ ३५ ॥

नेति ॥ विरहे वियोगावस्थायां स्रजो माल्यानि चन्दनानि गन्धा मदिरा
मद्यानि वा रमणीभ्यः । 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति संप्रदानत्वाच्चतुर्थी ।
न रुरुचिरे न रोचन्ते स्म । हि यस्मात् प्रियसमागम एव रतेः साधनेषु
स्रगादिषु रम्यतां मनोहरत्वम् । रुचिकरत्वमिति यावत् । उपधत्त आदत्ते ।
तदभावादरुचिर्युक्तैवेत्यर्थः । अत एव वैधर्म्यात्कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्था-
न्तरन्यासः । रम्यन्त एष्विति रम्याणि । 'पोरदुपधात्' इति यत्प्रत्ययः । 'कृत्य-
ल्युटो बहुलम्' इत्यधिकरणार्थः ॥ ३५ ॥

प्रस्थिताभिरधिनाथनिवासं ध्वंसितप्रियसखीवचनाभिः ।

मानिनीभिरपहस्तितधैर्यः सादयन्नपि मदोऽवललम्बे ॥ ३६ ॥

प्रस्थिताभिरिति ॥ अधिनाथनिवासं प्रियगृहं प्रति प्रस्थिताभिः प्रच-
लिताभिर्ध्वंसितानि खण्डितानि प्रियसखीवचनानि स्वयं प्रस्थानं लाघ-
वायेत्येवंरूपाणि याभिस्ताभिः । मानिनीभिः कोपनाभिः । 'स्त्रीणामीष्यांकृतः
कोपो मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये' इति लक्षणात् । अपहस्तितं निरस्तं धैर्यं येन सः ।

तथा सादयन् मानं शरीरं च कर्षयन्नपि । सदोपोऽपीत्यर्थः । मद्दोऽवललम्बे स्वीकृतः । अज्ञानव्याजेन लाघवापह्नवसौकर्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

कान्तवेश्म बहु संदिशतीभिर्यातमेव रतये रमणीभिः ।

मन्मथेन परिलुप्तमतीनां प्रायशः स्वलितमप्युपकारि ॥ ३७ ॥

कान्तेति ॥ रतये सुरताय बहु संदिशतीभिरनेकं वाचिकं कथयन्तीभिः । संदेशव्यसनाद्गन्तव्यमप्यजानतीभिरित्यर्थः । रमणीभिः । कान्तवेश्म यातं प्राप्तमेव । न तु मध्येमार्गान्निवृत्तमित्यर्थः । तथा हि—मन्मथेन परिलुप्तमतीनां स्वलितं विरुद्धाचरणमपि प्रायश उपकारि भवति ॥ ३७ ॥

आशु कान्तमभिसारितवत्या योषितः पुलकरुद्रकपोलम् ।

निर्जिगाय मुखमिन्दुमखण्डं खण्डपत्रतिलकाकृति कान्त्या ॥ ३८ ॥

आश्विति ॥ आशु कान्तमभिसारितवत्या अभिगतवत्याः । स्वार्थं णिच् । योषितः संबन्धि पुलकै रुद्धावावृत्तौ कपोलौ यस्य तत् । खण्डा प्रमृष्टा पत्राणां पत्रलेखानां तिलकस्य च आकृतिः संनिवेशो यस्य तत्तथोक्तं मुखं कान्त्याऽखण्डं पूर्णम् । इन्दुं निर्जिगाय जयति स्नेत्यर्थीयमुपमा । 'जयति द्वेष्टि' इति दण्डिना सादृश्यार्थेषु गणनात् ॥ ३८ ॥

अथ युग्मेन सखीनायिकासंवादमाह—

उच्यतां स वचनीयमशेषं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी ।

आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ॥ ३९ ॥

उच्यतामिति ॥ तत्र नायिकाह—स धूर्तोऽशेषमखिलं वचनीयं वक्तव्यमुच्यताम् । निःशङ्कमुपालभ्यतामित्यर्थः । ब्रूजो दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि लोट् । अथ सख्याह—हे सखि, ईश्वरे भर्तरि नायके विषये परुषता पारुष्यं न साध्वी न हिता । अथ नायिकाह—तर्हि एनमनुनीय सान्त्वयित्वा, आनय । पुनः सख्याह—विप्रियाणि जनयन् अप्रियाणि कुर्वन् स कथं वाऽनुनेयोऽनुनयार्हः ॥ ३९ ॥

किं गतेन न हि युक्तमुपैतुं कः प्रिये सुभगमानिनि मानः ।

योषितामिति कथासु समेतैः कामिभिर्बहुरसा धृतिरूहे ॥ ४० ॥

किमिति ॥ पुनर्नायिकाह—तर्हि गतेन तं प्रति गमनेन किम् । कोऽर्थ इत्यर्थः । अत उपैतुं गन्तुं न युक्तं हि । पुनः सख्याह—हे सुभगमानिनि सौन्दर्यमानिनि । सुभगमात्मानं मन्यत इति । 'आत्ममाने खश्च' इति चकाराण्णिनिप्रत्ययः । तस्मिन्, प्रिये विषये को मानः । मानो न कर्तव्य इत्यर्थः । यद्वा,—नहीत्यादि सखीवाक्यम् । तत्र नहीत्येकं वाक्यम् । यदुक्तं सखीत्यर्थः । हे सखि, किं तूपैतुं युक्तम् । कुतः । सुभगमानिनि प्रिये को मानः । तादृग्जनस्य दुर्लभत्वादिति भावः । इति एवंपासु योषितां कथासु विषये समेतैः । समीपमागत्याकर्णयन्निरित्यर्थः । कामिभिर्बहुरसाऽनेकास्वादा धृतिः संतोष ऊहे ऊढा । अत्र परोक्षोत्सुक्यनिर्वेदाद्यनेकभावशाबल्यपरिपूर्णकान्ताकथाकर्ण-

नादुत्तरोत्तरमपूर्वहृदभामन्दनिष्यन्दमानन्दसंदोहमविन्दक्षित्यर्थः । प्रायेणात्र
प्रौढाः कलहान्तरिताश्च नायिकाः ॥ ४० ॥

योषितः पुलकरोधि दधत्या घर्मवारि नवसंगमजन्म ।

कान्तवक्षसि बभूव पतन्त्या मण्डनं लुलितमण्डनतैव ॥ ४१ ॥

योषित इति ॥ पुलकरोधि रोमाञ्चव्यापि नवसंगम एव जन्म यस्य
तत् । घर्मवारि स्वेदोदकं दधत्या इति सात्विकोक्तिः । कान्तवक्षसि पतन्त्या
इत्यौत्सुक्योक्तिः । योषितो या लुलितमण्डनता उत्सृष्टप्रसाधमत्वम् । भावे
तत् । सैव मण्डनं बभूव । तादृशफलत्वात्तस्येति भावः ॥ ४१ ॥

शीधुपानविधुरासु निगृह्णन् मानमाशु शिथिलीकृतलज्जाः ।

सङ्गतासु दयितैरुपलेभे कामिनीषु मदनो नु मदो नु ॥ ४२ ॥

शीध्विति ॥ शेरतेऽनेनेति शीधु पक्केश्वरसविकारो मद्यविशेषस्तस्य पानेन
विधुरासु विमूढासु । तथा दयितैः संगतासु स्वयंप्राप्तासु च कामिनीषु
भतिमानवतीषु । आशु मानं कोपं निगृह्णन् निवर्तयन् । शिथिलीकृता लज्जा
येन स मदो नु मदो नु । उपलेभे । लक्ष्यते स्मेत्यर्थः । प्रियसमागमशीधु-
पानरूपोभयकारणाभङ्गादुभयथा माननिग्रहाद्यनुभावसाधारण्याच्च संदेहः । स
एवालङ्कारः ॥ ४२ ॥

द्वारि चक्षुरधिपाणि कपोलौ जीवितं त्वयि कुतः कलहोऽस्याः ।

कामिनामिति वचः पुनरुक्तं प्रीतये नवनवत्वमियाय ॥ ४३ ॥

द्वारीति ॥ द्वारि त्वदागमनमार्गं एव चक्षुः, इत्यौत्सुक्योक्तिः । अधिपाणि
पाणौ करे कपोलौ इति चिन्तोक्तिः । किं बहुना, जीवितं त्वयि त्वदधीनम् ।
त्वां विना न जीवतीत्यर्थः । इति गाढानुरागोक्तिः । अतोऽस्याः कलहो विग्रहः
कुतः । इति एवं कामिनां प्रीतये पुनरुक्तं पुनःपुनरुच्यमानं वचो दूतीवाक्यं
नवनवत्वं नवप्रकारत्वमपूर्ववद्भावम् । इयाय । प्रकारार्थं द्विर्भावः । कर्मधार-
यवद्भावात्सुपो लुक् । कान्तानुरागप्रकटनात् कामिनः प्रहृष्यन्तीति भावः ।
कलहान्तरितेयम् ॥ ४३ ॥

साचि लोचनयुगं नमयन्ती रुन्धती दयितवक्षसि पातम् ।

सुभ्रुवो जनयति स्म विभूषां सङ्गतावुपरराम च लज्जा ॥ ४४ ॥

साचीति ॥ लोचनयुगं साचि तिर्यक् नमयन्ती प्रिये तिर्यक् पातयन्ती ।
न तु समरेखयेत्यर्थः । दयितवक्षसि पातं रुन्धती इष्टमपि प्रतिबध्नीति लज्जा
सुभ्रुवो नायिकाया विभूषां शोभां जनयति स्म । संगतौ सुरतप्रसङ्गे सति,
उपरराम च । एवं यतस्तदा चाभूषणमेवेति भावः । 'विभाषाकर्मकात्' इति
परस्मैपदम् ॥ ४४ ॥

सव्यलीकमवधीरित्स्विन्नं प्रस्थितं सपदि कोपपदेन ।

योषितः सुहृदिव स्म रुणद्धि प्राणनाथमभिवाष्पनिपातः ॥ ४५ ॥

सव्यलीकमिति ॥ सव्यलीकं सापराधम्, अत एव अवधीरितोऽवज्ञातः सन् स्विन्नस्तम् । 'पूर्वकाल-' इत्यादिना तत्पुरुषः । सपदि कोपस्य पदेन व्याजेन प्रस्थितं निर्गच्छन्तं प्राणनाथं प्रियं योषितः संबन्धी अभिवाष्पनिपात आभिमुख्येनाश्रुमोक्षः सुहृदिव रुणद्धि स्म रुरोध । बाष्पपातस्य मन्युमोक्षलिङ्गतया प्रस्थानप्रतिबन्धकत्वात् सुहृदौपम्यम् । इयमधीरा खण्डिता—'ज्ञातेऽन्यासङ्गिनि पतौ खण्डितेर्ष्याकषायिता । अधीराश्रु विमुञ्चन्ती विज्ञेया चात्र नायिका ॥' इति दशरूपके ॥ ४५ ॥

शङ्किताय कृतवाष्पनिपातामीर्ष्या विमुखितां दयिताय ।

मानिनीमभिमुखाहितचित्तां शंसति स्म घनरोमविभेदः ॥ ४६ ॥

शङ्कितायेति ॥ शङ्किताय दयितायाविश्वस्ताय नायकाय । ईर्ष्याया विमुखां विमुखीकृताम् । अत एव कृतवाष्पनिपातां मानिनीं घनरोमविभेदः सान्द्रपुलकोदयोऽभिमुखमाहितं चित्तं यया ताम् । निष्कोपामित्यर्थः । शंसति स्म । व्यनक्ति स्मेत्यर्थः । अन्यथा सात्त्विकानुदयादिति भावः । अत्रापि पूर्वोक्तैव नायिका ॥ ४६ ॥

अथ संभोगशृङ्गारमाह, तत्रापि बाह्यरतमाह—

लोलदृष्टि वदनं दयितायाश्रुम्बति प्रियतमे रभसेन ।

व्रीडया सह विनीवि नितम्बादंशुकं शिथिलतामुपपेदे ॥ ४७ ॥

लोलेति ॥ प्रियतमे लोलदृष्टि चञ्चलेक्षणं दयिताया वदनं रभसेन बलात्कारेण चुम्बति सति विनीवि निर्गतबन्धनम् । अंशुकं नितम्बाद्व्रीडया सह शिथिलतामुपपेदे । उभयमपि शिथिलमासीदित्यर्थः । अत्र व्रीडांशुक-रूपसंबन्धिभेदभिन्नवृत्तिसंसनरूपशैथिल्यस्याभेदाध्यवसायनिबन्धनातिशयोक्ति-मूलः सहोक्तिविशेषोऽलङ्कारः । अत एव व्रीडांशुकौपम्यं च कल्प्यम् । अत्र वात्स्यायनः—'बाह्यमाभ्यन्तरं चेति द्विविधं रतमुच्यते । तत्राद्यं चुम्बनाश्लेष-नखदन्तक्षतादिकम् ॥ द्वितीयं सुरतं साक्षान्नानाकरणकल्पितम् ॥' इति ॥ ४७ ॥

हीतया गलितनीवि निरस्यन्नन्तरीयमवलम्बितकाञ्ची ।

मण्डलीकृतपृथुस्तनभारं सखजे दयितया हृदयेशः ॥ ४८ ॥

हीतयेति ॥ गलितनीवि गलितबन्धं तथापि अवलम्बिता काञ्ची येन तत् । काञ्चीलम्बित्यर्थः । तत्, अन्तरीयमधोऽंशुकम् । 'अन्तरीयोपसंन्यानपरिधानान्यधोऽंशुके' इत्यमरः । निरस्यन् आक्षिपन् । हृदयेशः प्रियो हीतया वस्त्रा-पगमाल्लज्जितया । हीधातोः कर्तरि क्तः । दयितया मण्डलीकृतो वर्तुलीकृतः पृथुस्तनभारो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । गाढमित्यर्थः । सखज आश्लिष्टः । प्रियदृष्टेः प्रतिबन्धार्थमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

१ 'अधिवाष्प' इति पाठः. २ 'स्थित' इति पाठः. ३ 'वनिताया' इति पाठः.

४ 'अभिपेदे' इति पाठः.

आदृता नखपदैः परिरम्भाश्रुम्बितानि घनदन्तनिपातैः ।

सौकुमार्यगुणसंभृतकीर्तिर्वाम एव सुरतेष्वपि कामः ॥ ४९ ॥

आदृता इति ॥ परिरम्भा आलिङ्गनानि नखपदैर्हेतुभिः । आदृता अभि-
मताः । 'हेतौ' इति तृतीया । तथा चुम्बितानि चुम्बनानि घनदन्तनिपातै-
र्गाढदन्तक्षतैर्हेतुभिरादृतानीति लिङ्गविपरिणामः । सुरतसुखोद्दीपकत्वान्नखदन्त-
क्षतपूर्वकेष्वालिङ्गनचुम्बनेष्वादरः संवृत्त इत्यर्थः । ननु सुकुमारे कामतन्त्रे कथं
पीडाकरेष्वदर इति न वाच्यमित्याह—सौकुमार्येति । सौकुमार्यमेव गुणस्तेन
संभृतकीर्तिर्लब्धयशाः कामः सुरतेषु संभोगेष्वपि । न केवलं विप्रलम्भे-
ष्विति भावः । वामः क्रूर एव । सुकुमारः काम इति प्रवादमात्रम् । वस्तुतस्तु
पीडयन्नेव सुखमावहतीति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तर-
न्यासः ॥ ४९ ॥

अथाभ्यन्तरं रतमाह—

पाणिपल्लवविधूननमन्तः सीत्कृतानि नयनार्धनिमेषाः ।

योषितां रहसि गद्गदवाचामस्त्रतामुपययुर्मदनस्य ॥ ५० ॥

पाणीति ॥ रहसि एकान्त इति विश्रम्भातिशयोक्तिः । गद्गदवाचां स्वलद्विरां
योषितां संबन्धीनि पाणिपल्लवयोर्विधूननं कम्पनम् । अन्तः सीत्कृतानि
सीत्काराः । एतेन कुट्टमिताख्यो भाव उक्तः । अधरपीडनादौ सुखेऽपि 'दुःख-
वदुपचारः कुट्टमितम्' इति लक्षणात् । नयनानामर्धनिमेषा अर्धनिमीलितानि ।
रहस्येकान्ते गद्गदवाचां योषितामिति विशेषणसामर्थ्याद् गद्गदकण्ठत्वं चेत्येतानि
मदनस्यास्त्रतामुपययुः । अस्त्रवत् पुंसामुद्दीपनान्यासन्नित्यर्थः । अत्र सीत्कारार्ध-
निमेषादिना सुखपारवश्यं व्यज्यते । तदुक्तं रतिरहस्ये—'स्त्रस्तता वपुषि मीलनं
दृशोर्मूर्च्छना च रतिलाभलक्षणम् । श्लेषयेत्स्त्रजघनं मुहुर्मुहुः सीत्करोति गत-
लज्जिताकुला ॥' इति ॥ ५० ॥

अथ मधुपानवर्णनमारभते—

पातुमाहितरतीन्यभिलेषुस्तर्षयन्त्यपुनरुक्तरसानि ।

सस्सितानि वदनानि वधूनां सोत्पलानि च मधूनि युवानः ॥ ५१ ॥

पातुमिति ॥ युवान आहितरतीनि वर्धितरागाण्यत एव अपुनरुक्तर-
सानि पुनःपुनः पानेनाप्यपूर्वस्वादान्यत एव तर्षयन्ति तृष्णोत्पादकानि । अतृ-
प्तिकराणीत्यर्थः । सस्सितानि वधूनां वदनानि सोत्पलानि मधूनि च पातु-
मभिलेषुरिच्छन्ति स्म । अत्र प्रस्तुतानामेव वदनानां मधूनां च पानक्रियौपम्यस्य
गम्यत्वात्केवलं प्राकरणिकविषयतया तुल्ययोगितालङ्कारः । 'प्रस्तुतानां तथान्येषां
केवलं तुल्यधर्मतः । औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता ॥' इति
लक्षणात् ॥ ५१ ॥

कान्तसंगमपराजितमन्यौ वारुणीरसनशान्तविवादे ।

मानिनीजन उपाहितसंधौ संदधे धनुषि नेपुमनङ्गः ॥ ५२ ॥

कान्तेति ॥ कान्तसंगमेन पराजितमन्यौ त्यक्तरोषे । तदवधिकत्वात्तस्येति भावः । किंच, वारुणीरसनेन मध्वास्वादेन शान्तो विवादो वाक्कलहादिर्यस्य तस्मिन् । अत उपाहितसंधौ प्रियैः सह कृतसंधाने मानिनीजने विषयेऽनङ्गो धनुषीषुं न संदधे संधानं नाकरोत् । सिद्धसाध्ये साधनवैयर्थ्यादिति भावः ॥ ५२ ॥

कुप्यताशु भवतानतचित्ताः कोपितांश्च वरिवस्यत यूनः ।

इत्यनेक उपदेश इव स्म स्वाद्यते युवतिभिर्मधुवारः ॥ ५३ ॥

कुप्यतेति ॥ यूनः प्रियान् कुप्यत यूनां कोपं जनयत । नात्र 'कुधद्रुह-' इत्यादिना यूनां संप्रदानत्वे चतुर्थी । तस्य 'यं प्रति कोपः' इति नियमात् । अत्र कोपस्तावत्कृत्रिम इति आशु आनतचित्ता अनुकूलचित्ता भवत । किंच, कोपितास्तान् वरिवस्यत परिचरत । 'नमोवरिवश्चित्रङ्गः क्यच्' इति क्यच् । वरिवसः परिचर्यायामित्यर्थे तस्य नियमश्च । इति एवम् । अनेकोऽनेकप्रकारो य उपदेशः प्रवर्तकवाक्यं स इव मधुवारो मधुपानावृत्तिः । 'मधुवारा मधुक्रमाः' इत्यमरः । युवतिभिः स्वाद्यते स्म । मधुवारस्य कोपादिकार्यप्रवर्तकत्वसाभ्यादुपदेश इवेत्युत्प्रेक्षा । अनियताः खलु मत्तचेष्टा इति भावः ॥ ५३ ॥

भर्तृभिः प्रणयसंभ्रमदत्तां वारुणीमतिरसां रसयित्वा ।

हीविमोहविरहादुपलेभे पाटवं नु हृदयं नु वधूभिः ॥ ५४ ॥

भर्तृभिरिति ॥ भर्तृभिः प्रणयसंभ्रमाभ्यां प्रेमादराभ्यां दत्ताम् । 'संभ्रमः साध्वसेऽपि स्यात्संवेगादरयोरपि' इति विश्वः । अत एव, अतिरसामधिकस्वादां वारुणीं वरुणात्मजाम् । 'सुरा हलिप्रिया हाला परिस्रुद्धरुणात्मजा' इत्यमरः । रसयित्वाऽऽस्वाद्य वधूभिर्हीविमोहविरहात् मदेन लज्जाजाड्यापगमाद्धेतोः पाटवं पटुत्वं नु हृदयं ज्ञानविशेषं नु । उपलेभे । अत एव हृदयस्य तत्कार्यज्ञानसामर्थ्याद्धृदयमेव प्रागसत्पश्चाल्लब्धमिति संदेहः । अन्यथा कथं प्रियं प्रति वक्रोक्त्याद्यर्थेषु प्रवृत्तिरिति भावः । संदेहालङ्कारः ॥ ५४ ॥

स्वादितः स्वयमथैधितमानं लम्भितः प्रियतमैः सह पीतः ।

आसवः प्रतिपदं प्रमदानां नैकरूपरसतामिव भेजे ॥ ५५ ॥

स्वादित इति ॥ स्वयं स्वादितः । आदौ स्वयमेवादाय पीतः, अथ अनन्तरं प्रियतमैरेधितमानं वर्धितबहुसमानं यथा तथा लम्भितो ग्राहितः । स्वहस्तेन पायित इत्यर्थः । ततः प्रियतमैः सह पीतः । युगपदेकपात्रेण पीत इत्यर्थः । आसवः प्रमदानां प्रतिपदं प्रतिवारं नैकरूपरसतामनेकविधस्वादुत्वम् । नञर्थस्य 'न'शब्दस्य सुप्सुपेति समासः । नञ्समासे नलोपः स्यात् । भेज इव प्रापेव । उपचारविशेषाद्भोज्येषु रसविशेषः स्यादिति भावः । आस्वादनादिपदार्थानामनेकरसताप्राप्तिहेतुत्वात् काव्यलिङ्गं तावदेकं स्वादनादीनामनेकधर्माणामेकस्मिन्नेव सर्वक्रमेण संबन्धात्पर्यायभेदश्च, तयोश्च संसृष्टयोरनेकरसत्वोत्प्रेक्षावीजत्वात्तया सहाङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ ५५ ॥

भ्रूविलाससुभगाननुकर्तुं विभ्रमानिव वधूनयनानाम् ।

आददे मृदुविलोलपलाशैरुत्पलैश्चषकवीचिषु कम्पः ॥ ५६ ॥

भ्रूविलासेति ॥ भ्रूविलासैः सुभगान् सुन्दरान् । वधूनयनानां विभ्रमाननुकर्तुं तैरात्मानं समीकर्तुमिवेति फलोत्प्रेक्षार्थत्वात् । मृदुविलोलपलाशैरीषचञ्चलदलैः । उत्पलैः । चषकेषु या वीचयो मधूर्मयस्तासु यः कम्पः स आददे स्वीकृतः । न तु स्वकम्पस्तस्य विलोलविशेषणेनैवोक्तत्वात्तस्वीकारश्च तद्योग एव । पूर्वं नेत्रमात्रसाम्यभाजामुत्पलानां कम्पमानवीचियोगात्सुभ्रूविलासनेत्रसाम्यं जातमित्यर्थः ॥ ५६ ॥

ओष्ठपल्लवविदंशरुचीनां हृद्यतामुपययौ रमणानाम् ।

फुल्ललोचनविनीलसरोजैरङ्गनास्यचषकैर्मधुवारः ॥ ५७ ॥

ओष्ठेति ॥ ओष्ठ एव पल्लवस्तस्य विदंशे दंशने रुचिरभिलाषो येषां तेषाम् । मुखसुरापानमिषेणाधरं पिपासतामित्यर्थः । रमणानां फुल्लानि लोचनान्येव विनीलसरोजानि येषु तैः । अङ्गनास्यानि एव चषकाणि पानपात्राणि । 'चषकोऽस्त्री पानपात्रम्' इत्यमरः । तैः, मधुवारो मधुपानवृत्तिर्हृद्यतां हृद्यप्रियतामुपययौ । 'हृद्यस्य प्रियः' इति यत्प्रत्ययः । 'हृद्यस्य हल्लेख्यदण्डलासेषु—' इति ह्रस्वावः । रमणविशेषणार्थहेतुककाव्यलिङ्गसंकीर्णरूपकालङ्कारः ॥ ५७ ॥

प्राप्यते गुणवतापि गुणानां व्यक्तमाश्रयवशेन विशेषः ।

तत्तथा हि दयिताननदत्तं व्यानशे मधु रसातिशयेन ॥ ५८ ॥

प्राप्यते इति ॥ गुणवताप्याश्रयवशेन गुणानां विशेषः प्रकर्षः प्राप्यते व्यक्तम् । तत्तथा । यदुक्तं तत्तथैवेत्यर्थः । हि यस्मात् । दयितानां आननेन करणेन दत्तं मधु रसातिशयेन स्वादुप्रकर्षेण कर्त्रा व्यानशे व्याप्तम् । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५८ ॥

वीक्ष्य रत्नचषकेष्वतिरिक्तां कान्तदन्तपदमण्डनलक्ष्मीम् ।

जज्ञिरे बहुमता प्रमदानामोष्ठयावकनुदो मधुवाराः ॥ ५९ ॥

वीक्ष्येति ॥ रत्नचषकेषु स्फटिकादिमणिपात्रेषु । अतिरिक्तां यावकापगमात्पूर्वाभ्यधिकां कान्तस्य यत् दन्तपदमण्डनं तस्य लक्ष्मीं शोभाम् । प्रतिबिम्बतामिति शेषः । वीक्ष्य । ओष्ठयावकनुदोऽधरलाक्षारागहारिणो मधुवारा मधुपानाभ्यासाः प्रमदानां बहुमता अभिमताः । वर्तमाने क्तः । तद्योगात्षष्ठी । जज्ञिरे जाताः । तेषां प्रियानुरागच्छिह्नप्रकाशकत्वादिति भावः ॥ ५९ ॥

मधुपानाद्विलोचनेषु रागोत्पत्तिः, अधरेभ्यश्च लाक्षारागनिवृत्तिः, मध्वाननयोश्चान्योन्यगन्धसंक्रान्तिरिति स्थिते सत्युत्प्रेक्षते—

लोचनाधरकृताहतरागा वासिताननविशेषितगन्धा ।

वारुणी परगुणात्मगुणानां व्यत्ययं विनिमयं नु वितेने ॥ ६० ॥

लोचनेति ॥ लोचने चाधरश्च लोचनाधरम् । 'समुद्राभ्रादः—' इति व्यभिचारज्ञापकान्नात्राधरशब्दस्य पूर्वनिपातः । कृतश्चासावाहृतश्चेति विशेषणसमासः । लोचनाधरस्य कृताहतो रागो यथा सा तथोक्ता । लोचनयोः कृतरागाधरा-

द्रासमन्ताद्दृतरागा चेत्यर्थः । षष्ठ्याश्चार्थसंबन्धात्सामान्यस्य योगविशेषे पर्यवसाननियमेनाधिकरणापादानार्थयोरक्षेपात् । तथा चाधरलोचनगुणयो रागतद्विरहयोः स्थानपरिवृत्तिं कृतवतीत्यर्थः । तथा वासितेन स्वगन्धसंक्रान्तिसुरभितेन आननेन विशेषितोऽतिशयितो गन्धो यस्याः सा । यद्वा,—वासितानना चासावर्थादानेनैव विशेषितगन्धा चेति कृतबहुव्रीहिर्विशेषणसमासः । उभयथाप्याननसंक्रान्तस्वगन्धा स्वसंक्रान्ताननगन्धा चेत्यर्थः । एवंभूता वारुणी मदिरा परगुणात्मगुणानां परयोर्लोचनाधरयोर्गुणौ च परस्थाननस्य गुण आत्मनो वारुण्या गुणश्च परगुणात्मगुणास्तेषां परगुणात्मगुणानां व्यत्ययं विनिमयं नु वितेने विस्तारयामास । चित्तेन प्रामादिकी वस्तुपरिवृत्तिर्व्यत्ययः । बुद्धिपूर्वा तु विनिमयः । अत्र तत्रोच्चरितस्य 'परगुण'शब्दस्यावृत्त्या परगुणौ च परगुणात्मगुणौ चेति विग्रहः कथंचिदगत्या सोढव्यः । उपमानपूर्वपदबहुव्रीहिवत् । तथा चायमर्थः—परगुणयोरधरलोचनगुणयो रागतद्विरहयोर्व्यत्ययं नु विनिमयं नु वितेने, तथा परगुणात्मगुणयोराननगन्धात्मगन्धयोश्च व्यत्ययं नु विनिमयं नु वितेने । अन्यथा कथमन्यस्मिन्नन्यधर्मोपलम्भः संभवतीति भावः । अत्र लोचनाधररागयोस्तद्भावयोर्वा भेदेऽप्यभेदाध्यवसायादेकत्ववाचोयुक्तिः । तस्मात्तन्मूलातिशयोक्त्यनुप्राणिता चेयं व्यत्ययविनिमययोरन्यतरकरणादुत्प्रेक्षेति संक्षेपः । सा च प्रतीयमाना व्यञ्जकाप्रयोगात् । 'नु'शब्दस्तु संशये ॥ ६० ॥

तुल्यरूपमसितोत्पलमक्षुणोः कर्णगं निरुपकारि विदित्वा ।

योषितः सुहृदिव प्रविभेजे लम्भितेक्षणरुचिर्मदरागः ॥ ६१ ॥

तुल्येति ॥ अक्षुणोस्तुल्यरूपमक्षितुल्याकृति योषितः कर्णगं कर्णावतंसीकृतम् । असितोत्पलं निरुपकारि अनुपकारकं विदित्वा ज्ञात्वा । तत्कार्यशोभायाः कर्णान्तविश्रान्तेनाक्षुणैव कृतत्वादिति भावः । मदरागः सुहृदिव उत्पलस्य बन्धुरिव । अनिष्टवारकत्वादिति भावः । लम्भितेक्षणरुचिराहितनयनकान्तिः सन् । प्रविभेजे वर्णान्तरापादनेन प्रविभक्तवान् । अवैलक्षण्यकरादक्षुणो व्यावर्तयामास । ततो विच्छित्तिकरत्वादिति भावः ॥ ६१ ॥

क्षीणयावकरसोऽप्यतिपानैः कान्तदन्तपदसंभृतशोभः ।

आययावतितरामिव वध्वाः सान्द्रतामधरपल्लवरागः ॥ ६२ ॥

क्षीणेति ॥ अतिपानैः क्षीणयावकरसः क्षीणलाक्षारागोऽपि कान्तस्य दयितस्य दन्तपदेन दन्तक्षतेन संभृता शोभा यस्य सः । वध्वा अधरपल्लवरागोऽतितरामतिमात्रम् । 'अति'शब्दात्तरप्रत्यये 'किमेत्तिङव्यय-' इत्यादिनाम्प्रत्ययः । 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययसंज्ञा । सान्द्रतां घनत्वम् । आययाविव । प्रियोपभोगचिह्नमण्डितानां कामिन्यवयवानां किमन्यैर्मण्डनैरिति भावः । तत्र क्षीणस्यापि सान्द्रतेति विरोधात् कान्तदन्तेत्यादिविशेषणगत्या सान्द्रत्वे हेतूक्त्या काव्यलिङ्गं तत्संकीर्णां चोत्प्रेक्षा ॥ ६२ ॥

रागकान्तनयनेषु नितान्तं विद्रुमारुणकपोलतलेषु ।

सर्वगापि ददृशे वनितानां दर्पणेष्विव मुखेषु मदश्रीः ॥ ६३ ॥

रागेति ॥ वनितानां सर्वगाऽपि सर्वाङ्गगतापि । 'अन्तात्यन्त-' इत्यादिना

दः । मदश्री रागेण कान्तानि नयनानि येषु तेषु । विद्रुमवदरुणानि
कपोलतलानि येषु तेषु । मुखेषु दर्पणेष्विव नितान्तं दृश्यते । तेषां नयना-
दिर्नर्मल्येन रागाभिव्यक्तिसंभवादिनि भावः । अत्र मदश्रीः सर्वगत्यापि मुखेष्वेव
दृश्य इति विशेषः । तस्य मुखविशेषणैः समाधानान् काव्यलिङ्गानुप्राणितो विरो-
धवदाभासोऽलङ्कारः । स चोपमया संसृज्यते ॥ ६३ ॥

बद्धकोपविकृतीरपि रामाश्चारुताभिमततामुपनिन्ये ।

वश्यतां मधुमदो दयितानामात्मवर्गहितमिच्छति सर्वः ॥ ६४ ॥

बद्धेति ॥ बद्धा कोपेन विकृतिर्याभिस्तामथाभूता अपि रामाः कर्म
चारुता तामां सौन्दर्यं कत्रां अभिमततां प्रियवाह्यम् । उपनिन्ये । सौन्दर्यं
हि विकृतिमपि रोचयत इति भावः । मधुमदो दयितानां वश्यतां विधेयत्व-
मुपनिन्ये । तथा हि-सर्वं आत्मवर्गहितमिच्छति । अतश्चारुता स्त्रीत्वात्
स्त्रीणामुपचकार । मधुमदस्तु पुंसवान् पुंसामिति युक्तमित्यर्थः । अत्र विकृता
अप्यभिमतताः कुपिता अपि वश्या इति विरोधस्य चारुतामदाभ्यां समाधानादुभ-
यथापि विरोधाभासो भवन्नर्थान्तरन्यासेन संसृज्यते ॥ ६४ ॥

वाससां शिथिलतामुपनाभि हीनिगममपदे कुपितानि ।

योषितां विदधती गुणपक्षे निर्ममार्ज मदिग वचनीयम् ॥ ६५ ॥

वाससामिति ॥ उपनाभि नाभिसमीपे वाससां शिथिलतां हीनिरासं
लज्जाल्यागम् । अपदे कुपितानि अस्थानकोपांश्च गुणपक्षे गुणकोटी विदधती
निवेशयन्ती । दोषानप्येतान्गुणान्कुर्वतीत्यर्थः । मदिगऽपि योषितां वचनीयम्
'न नाभिं दर्शयेत्' इति शास्त्रनिषिद्धाचरणनिन्दां निर्ममार्ज । तथा दोषाणामपि
वस्त्रशैथिल्यादीनां तदानीं गुणत्वान्न कश्चिद्वचनीयावकाश इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

भर्तृपुंससखि निक्षिपतीनामात्मनो मधुमदोद्यमितानाम् ।

व्रीडया विफलया वनितानां न स्थितं न विगतं हृदयेषु ॥ ६६ ॥

भर्तृष्विति ॥ उपसखि सखिसमीपे । समीपार्थेऽव्ययीभावः । आत्मनः
स्वदेहान् । 'आत्मा जीवे धृतौ देहे स्वभावे परमात्मनि' इति वैजयन्ती । भर्तृषु
निक्षिपतीनां निपातयन्तीनाम् । भर्तृणामुपरि पतन्तीनामित्यर्थः । 'आच्छीनद्यो-
नुम्' इति विकल्पानुमभावः । कुतः । मधुमदेनोद्यमितानां प्रेरितानाम् । न
तु स्वेच्छयेति भावः । वनितानामनुरक्तस्त्रीणाम् । 'वनिता जनिताल्यर्थानुरागायां
च योषिति' इति विश्वः । हृदयेषु विफलया । अनुचिताचरणादिति भावः ।
व्रीडया न स्थितं न विगतम् । वैफल्यत्तस्या मदीपाधिकत्वाच्चेति भावः ।
अत एव नोभयनिषेधविरोधः ॥ ६६ ॥

रुन्धती नयनवाक्यविकासं सादितोभयकरा परिरम्भे ।

व्रीडितस्य ललितं युवतीनां क्षीवता बहुगुणैरनुजहे ॥ ६७ ॥

रुन्धतीति ॥ नयनानां वाक्यानां च विकासं प्रागल्भ्यं रुन्धती प्रतिव-
धती । तथा परिरम्भ आलिङ्गने सादितौ स्तम्भितौ उभौ करौ यथा सा युव-

तीनां संबन्धिनी क्षीवता मत्ता । कर्तरि क्तः । 'अनुपसर्गात्फुलक्षीवकृशो-
ल्लाघाः' इति निपातनात्साधुः । क्षीवो मत्तः तस्य भावः क्षीवता । त्वतलोगुण-
वचनस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः । बहुगुणैर्दृष्टिसंकोचादिभिर्व्रीडितस्य व्रीडायाः । भावे
क्तः । ललितं विलासम् । अनुजह्येऽनुचक्रे । कर्तरि लिट् । व्रीडाकार्यकरत्वाद्गी-
डानुकरणमित्युपमालङ्कारः ॥ ६७ ॥

योषिदुद्धतमनोभवरागा मानवत्यपि ययौ दयिताङ्गम् ।

कारयत्यनिभृता गुणदोषे वारुणी खलु रहस्यविभेदम् ॥ ६८ ॥

योषिदिति ॥ उद्धत उक्कटो मनोभवेन यो रागः प्रीतिः स यस्याः सा
योषित् मानवत्यपि दयितस्याङ्गं ययौ । यतो मानाद्रागो बलीयानिति
भावः । लाघवदोषं परिहरति—कारयतीति । अनिभृता चपला । न कार्यकारि-
णीत्यर्थः । वारुणी मदिरा गुणेषु दोषेषु च विषये । सर्वोऽपि द्वन्द्वो विभाष-
यैकवद्भवति । रहस्यविभेदं रहस्यभङ्गं कारयति खलु । बलान्निगूहितावपि
गुणदोषौ प्रकाशयतीत्यर्थः । यतोऽतिगूढरागप्रकटनं प्रकटमानत्यागश्च प्रमत्ताया
न लाघवमावहति । अबुद्धिपूर्वकत्वादिति भावः ॥ ६८ ॥

आहिते नु मधुना मधुरत्वे चेष्टितस्य गमिते नु विकासम् ।

आवभौ नव इवोद्धतरागः कामिनीष्ववसरः कुसुमेषोः ॥ ६९ ॥

आहित इति ॥ मधुना मद्येन चेष्टितस्य रतिव्यापारस्य मधुरत्वे माधुर्यं
आहिते नु संपादिते नु प्रागसत्येव मनोहरत्वे संप्रत्युत्पादिते वा । विकासं
गमिते नु प्राक्सत्येव माधुर्यं प्रकर्षं प्रापिते वा । उद्धतराग उद्विक्तरागः ।
अत एव कुसुमेषोः कामिनीषु अवसरः प्रवेशो नव इवावभौ । नित्यसं-
निहितोऽपि मदनः कामिनीषु मदकृततात्कालिकचेष्टामाधुर्याद्वागोदये सत्यपूर्वव-
दुद्दीप्तोऽभूदित्यर्थः । संशयानुप्राणितेयमुत्प्रेक्षा ॥ ६९ ॥

मा गमन्मदविमूढधियो नः प्रोज्झ्य रन्तुमिति शङ्कितनाथाः ।

योषितो न मदिरा भृशमीषुः प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि ७०

मा गमन्निति ॥ शङ्कितनाथा अविश्वस्तपुरुषा योषितो मदेन विमूढ-
धियः स्तब्धबुद्धयो नोऽस्मान् प्रोज्झ्य विसृज्य । प्रपूर्वादुज्जतेः समासेऽन-
ङ्पूर्वे क्तवो ल्यप् । रन्तुं मा गमन् न गच्छन्तु इति । मनीषयेति शेषः । गमे-
र्माङ्ङि लुङ् । 'न माङ्ङयोगे' इत्यङ्गागमप्रतिषेधः । मदिरां भृशमतिमात्रं नेषु-
र्नेच्छन्ति स्म । किंतु भर्तृवियोगभयादीषदेव पपुरित्यर्थः । तथा हि—प्रेम
खेहः । अपदेऽस्थानेऽपि भयानि अनिष्टानि पश्यत्युत्प्रेक्षते । शङ्कत इति
यावत् । शङ्काहेतौ प्रेम्णि कर्तृत्वोपचारः ॥ ७० ॥

चित्तनिर्वृतिविधायि विविक्तं मन्मथो मधुमदः शशिभासः ।

संगमश्च दयितैः स्म नयन्ति प्रेम कामपि भुवं प्रमदानाम् ॥ ७१ ॥

चित्तेति ॥ चित्तस्य निर्वृतिविधायि सुखकरं विविक्तं रहः । 'विविक्तं
रहसि स्मृतम्' इति विश्वः । मन्मथो मधुमदो मद्यमदः शशिभासश्चन्द्रिका
दयितैः सह संगमश्च । 'बृद्धो यूना-' इति निर्देशात् 'सह'शब्दाप्रयोगेऽपि सहार्थे

तृतीया । एतानि प्रमदानां स्त्रीणां प्रेम वियोगासहत्वावस्थासंभोगं कामपि भुवं कांचिदशां नयन्ति स्म । रत्यवस्थामप्यतिक्रम्य शृङ्गारावस्थां क्रीडासंभोगं निन्युरित्यर्थः । 'प्रेमाभिलाषो रागश्च स्नेहः प्रेमरतिस्तथा । शृङ्गारश्चेति संभोगः सप्तावस्थः प्रकीर्तितः ॥' इत्युक्तं रसरत्नाकरे । 'प्रेमा दिदृक्षा रम्येषु तच्चिन्ताप्यभिलाषकः । रागस्तत्सङ्गबुद्धिः स्यात्स्नेहस्तत्प्रवणक्रिया । तद्वियोगासहं प्रेम रतिस्तत्सहवर्तेनम् । शृङ्गारस्तत्समं क्रीडा संभोगः सप्तधा क्रमः ॥' इति ॥ ७१ ॥

क्रीडावस्थामाह—

धार्ष्ट्यलङ्घितयथोचितभूमौ निर्दयं विलुलितालकमालये ।

मानिनीरतिविधौ कुसुमेपुर्मत्तमत्त इव विभ्रममाप ॥ ७२ ॥

धार्ष्ट्येति ॥ धार्ष्ट्येन प्रागल्भ्येन लङ्घिताऽतिक्रान्ता यथोचिता योग्या भूमिर्मर्यादा यस्मिंस्तथोक्ते । चुम्बनताडनमणितसीत्कारपुरुषायितादौ स्वयमुच्छृङ्खलवृत्तिरिति भावः । निर्दयं यथा तथा विलुलितानि आकर्षणाकुलितानि अलका माल्यानि च यस्मिंस्तस्मिन् । मानिनीरतिविधौ सुरते कुसुमेषुः कामो मत्तमत्तो मत्तप्रकार इव विभ्रमं विजृम्भणम् । आप प्राप । मत्तः किं न करोतीति भावः । कारयितरि कर्तृत्वोपचारादुत्प्रेक्षा ॥ ७२ ॥

शीधुपानविधुरेषु वधूनां निघ्नतामुपगतेषु वपुःषु ।

ईहितं रतिरसाहितभावं वीतलक्ष्यमपि कामिषु रेजे ॥ ७३ ॥

शीध्विति ॥ शीधुपानेन मद्यपानेन विधुरेषु विह्वलेषु । 'मैरेयमासवः शीधुः' इत्यमरः । अत एव वपुःषु अङ्गेषु निघ्नतां प्रियपराधीनताम् । उपगतेषु सत्सु । 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः । वधूनां संबन्धिनि रतिरसे सुरतरसास्वाद आहितभावं दत्तचित्तं कामिषु विषय ईहितं चुम्बनताडनादिचेष्टितं वीतलक्ष्यं निर्विषयम् । अस्थानकृतमपीत्यर्थः । रेजे । रागिणां स्वलितमपि शोभतं इति भावः ॥ ७३ ॥

अन्योन्यरक्तमनसामथ विभ्रतीनां

चेतोभ्रुवो हरिसखाप्सरसां निदेशम् ।

वैबोधिकध्वनिविभावितपश्चिमार्धा

सा संहतेव परिवृत्तिमियाय रात्रिः ॥ ७४ ॥

अन्योन्येति ॥ अथ हरिसखा इन्द्रसचिवा गन्धर्वास्तेषाम् । अप्सरसां चान्योन्यरक्तमनसां परस्पराणुरक्तचित्तानां चेतोभ्रुवः कामस्य निदेशमाज्ञां विभ्रतीनां स्मरविधेयानाम् । तासु रममाणस्येवेत्यर्थः । 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी । विबोधः प्रबोधनं शीलमेषां ते वैबोधिका वैतालिकाः । 'शीलम्' इति ठक् । तेषां ध्वनिभिर्मङ्गलरवैर्विभावितोऽभ्यूहितो ज्ञातः पश्चिमार्धश्चरमभागो यस्याः सा तथोक्ता सा रात्रिः संहता संक्षिप्तेवेत्युत्प्रेक्षा । सुखिनां भूयानपि कालो लघीयानिव भवतीति भावः । परिवृत्तिं विवृत्तिम् । इयाय । प्रभातकल्पाऽभूदित्यर्थः ॥ ७४ ॥

१ 'सुरसखा' इति पाठः.

निद्राविनोदितनितान्तरतिक्रमाना-
मायामिमङ्गलनिनादविबोधितानाम् ।

रामासु भाविविरहाकुलितासु यूनां
तत्पूर्वतामिव समादधिरे रतानि ॥ ७५ ॥

निद्रेति ॥ निद्रया विनोदितोऽपनीतो नितान्तमत्यर्थं यो रत्याः क्लमः
स येषां तेषाम् । आयामिभिरायामवद्भिर्दीर्घैर्मङ्गलनिनादैर्वैबोधिकध्वनिभि-
र्विबोधितानां यूनां रामासु । 'सुन्दरी रमणी रामा' इत्यमरः । भाविवि-
रहेणाकुलितासु सतीषु रतानि तान्येव पूर्वाणि प्रथमानि तत्पूर्वाणि तेषां
भावः तत्पूर्वता ताम् । भावे तत्प्रत्ययः । समादधिरे प्रापुरिवेत्युत्प्रेक्षा । आद्य-
सुरतवदादरात्प्रवर्तन्त इत्यर्थः । यदुत्तरकालं दुर्लभं तदतिवृष्णयानुभूयत इत्यर्थः ॥ ७५ ॥

कान्ताजनं सुरतखेदनिमीलिताक्षं
संवाहितं समुपयानिव मन्दमन्दम् ।
हर्म्येषु माल्यमदिरापरिभोगगन्धा-
नाविश्वकार रजनीपरिवृत्तिवायुः ॥ ७६ ॥

कान्तेति ॥ सुरतखेदेन निमीलितान्यक्षीणि येन तं कान्ताजनं स्त्रीस-
मूहं संवाहितं सेवितुमिव । खेदापनोदार्थमङ्गमर्दनं कर्तुमिवेत्यर्थः । 'संवाहनं
वाहनेऽपि नरादेरङ्गमर्दने' इति विश्वः । 'वाह प्रयत्ने' इति धातोरण्यन्तात्तुमुन् ।
अन्यथा णिञ्ग्रहणे संवाहयितुमिति स्यात् । मन्दमन्दं मन्दप्रकारम् । 'प्रकारे
गुणवचनस्य' इति द्विर्भावे कर्मधारयवद्भावात्सुपो लुक् । समुपयान् संवान् ।
रजनीपरिवृत्तिवायुः निशावसानमरुत् । हर्म्येषु माल्यानि च मदिरा च
परिभोगो विमर्दश्च तेषां गन्धानाविश्वकार । बहिः प्रसारयामासेत्यर्थः ।
अत्र संवाहितुमिवेत्युत्प्रेक्षा । मान्द्यगुणमूलत्वाद्गुणनिमित्तक्रियाफलोत्प्रेक्षा ॥ ७६ ॥

आमोदवासितचलाधरपल्लवेषु
निद्राकषायितविपाटललोचनेषु ।
व्यामृष्टपत्रतिलकेषु विलासिनीनां
शोभां बबन्ध वदनेषु मदावशेषः ॥ ७७ ॥

आमोदेति ॥ आमोदेन मद्यगन्धेन वासिताः सुरभिताश्चला दृष्टमुक्त-
त्वात्स्फुरन्तश्चाधरपल्लवा येषु तेषु निद्रया कषायितानि अपहृकृतानि विपा-
टलानि लोचनानि येषु तेषु । 'कषायस्तुवरे न स्त्री निर्यासे रञ्जकादिके ।
सुरभावपटौ रक्ते सुन्दरे लवणेऽपि च' इति केशवः । व्यामृष्टानि प्रमृष्टानि
पत्राणि तिलकाश्च येषां तेषु विलासिनीनां वदनेषु मदावशेषः शोभां
बबन्ध । मण्डनान्तरापाये मदशेष एव मण्डनं बभूवेत्यर्थः । स्त्रीणां मद एव
विभूषणमिति भावः ॥ ७७ ॥

गतवति नखलेखालक्ष्यतामङ्गरागे
समददयितपीताताम्रविम्बाधराणाम् ।
विरहविधुरमिष्टासन्मखीवाङ्गनानां

हृदयमवललम्बे रात्रिसंभोगलक्ष्मीः ॥ ७८ ॥

इति भारविद्वृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये नवमः सर्गः ।

गतवतीति ॥ अङ्गरागेऽङ्गविलेपने नखलेखासु नखपदेषु लक्ष्यतां दृश्यतां गतवति सति । विमर्दात्तन्मात्रावशेषे सतीत्यर्थः । किञ्च, विम्बतुल्या अथवा विम्बाधराः । 'शाकपार्थिवादिस्वान्मध्यमपदलोपी समानाधिकरणसमासः' इति ब्रामनः । समददयितैः पीताः पीडिता अत एवातिपीडनात् आताम्रा आसमन्ताद्रक्ता विम्बाधरा यासां तासामङ्गनानां संबन्धि विरहेणाद्विकेन वियोगेन विधुरं विह्वलं हृदयम् । रात्रिसंभोगलक्ष्मीः । नखपदादि-शोभेत्यर्थः । इष्टासा सत्सखीव निपुणसहचरीवाचललम्बे धारयामास । प्रियसंभोगचिह्नशोभा स्पष्टा बभूवेत्यर्थः । प्रियोपभोगचिह्नशोभावलोकनला-लसाः कथं विरहमसहन्तेत्यर्थः । श्रुतिपूर्णांपमालङ्कारः । मालिनीवृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-
काव्यव्याख्यायां षण्ठापथसमाख्यायां नवमः सर्गः समाप्तः ।

दशमः सर्गः ।

अथागन्तुकसहजशोभासंपन्नतया समग्रसाधनाः स्त्रियो मुनिमनःप्रलोभनार्थं प्रास्थञ्चित्याह—

अथ परिमलजामवाप्य लक्ष्मीमवयवदीपितमण्डनश्रियस्ताः ।

वसतिमभिविहाय रम्यहावाः सुरपतिसूनुविलोभनाय जग्मुः ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथ प्रभाते परिमलजां संभोगसंभूतां लक्ष्मीं शोभाम् । अवाप्य । 'संभोगः स्यात्परिमले' इति वैजयन्ती । संभोगास्त्रियः शोभन्त इति भावः । एतेनागन्तुकशोभासंपत्तिरुक्ता । अत एव सुरतादिवर्णनस्य प्रस्तु-तोपयोगित्वं चोक्तम् । अथ सहजशोभासंपत्तिमाह—अवयवेति । अवयवैः स्तनादिभिर्दीपिता मण्डिता च मण्डनश्रीः प्रसाधनशोभा याभिस्ताः । रम्य-हावा मनोहरविलासास्ताः स्त्रियः । 'हावो विलासश्चेष्टायाम्' इति विश्वः । वसतिं शिविरम् । अभिविहाय सर्वतस्त्यक्त्वा सुरपतिसूनोरर्जुनस्य विलोभ-नाय जग्मुः । अत्रावयवदीपकतया प्रसिद्धस्य मण्डनस्य तद्दीप्यत्वासंबन्धेऽपि संबन्धाभिधानादवयवसौन्दर्यातिशयद्योतनार्थत्वाद्दतिशयोक्तिरलङ्कारः । अस्मि-न्सर्गे पुष्पिताग्रावृत्तम्—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

१ 'दृश्यताम्' इति पाठः. २ 'विम्बाधरोष्ठयाः' इति पाठः. ३ 'अङ्गनायाः' इति पाठः.

द्रुतपदमभियातुमिच्छतीनां गगनपरिक्रमलाघवेन तासाम् ।
अवनिषु चरणैः पृथुस्तनीनामलघुनितम्बतया चिरं निषेदे ॥ २ ॥

द्रुतेति ॥ गगनपरिक्रमलाघवेन गगनगमनवेगेन द्रुतपदं यथा तथा, अभियातुं गन्तुमिच्छतीनाम् । किंच, पृथुस्तनीनां तासामप्सरसाम् । किंच, अलघुनितम्बतया न लघवो नितम्बा यासां तासां भावस्तत्ता तथा स्थूलनितम्बतया-चरणैरवनिषु चिरं निषेदे स्थितम् । अभ्यासपाटवेन मनसा त्वरमाणानामपि तासां स्तनजघनभाराच्चरणा नोत्तस्थुरित्यर्थः ॥ २ ॥

निहितसरसयावकैर्वभासे चरणतलैः कृतपद्मतिर्वधूनाम् ।
अविरलविततेव शक्रगोपैररुणितनीलतृणोलपा धरित्री ॥ ३ ॥

निहितेति ॥ निहिता आरोपिताः सरसयावकाः सान्द्रलाक्षारागा येषु तैर्वधूनां चरणतलैश्चरणन्यासैः कृतपद्मतिः कृतमार्गरेखा । अत एव अरुणिता अरुणीकृता नीलास्तृणोलपास्तृणानि दूर्वादीन्युलपा बल्वजाख्यास्तृणविशेषाश्च यस्याः सा । 'उलपा बल्वजाः प्रोक्ताः' इति हलायुधः । 'उलपा उशीरतृणानि' इति क्षीरस्वामी । ब्राह्मणपरिव्राजकवदुलपानां पृथङ्निर्देशः । धरित्री शक्रगोपैरिन्द्रगोपाख्यैः कीटकैः । 'इन्द्रगोपस्त्वग्निरजः' इति हैमः । अविरलं निरन्तरं यथा तथा वितता व्यासेवेत्युत्प्रेक्षा । वभासे ॥ ३ ॥

ध्वनिरगविवरेषु नूपुराणां पृथुरशनागुणशिञ्जितानुयातः ।

प्रतिरवविततो वनानि चक्रे मुखरसमुत्सुकहंससारसानि ॥ ४ ॥

ध्वनिरिति ॥ अगविवरेषु नगरन्ध्रेषु । गुहास्वित्यर्थः । प्रतिरवैः प्रतिध्वनिभिर्विततः समूर्च्छितः पृथुभी रशनागुणानां शिञ्जितैः स्वनितैरनुयातोऽनुगतः । मिलित इति यावत् । 'स्वनिते वस्त्रपर्णानां भूषणानां तु शिञ्जितम्' इत्यमरः । नूपुराणां ध्वनिभिर्ध्वानैर्वनानि मुखराः शब्दायमानाः समुत्सुका उत्कण्ठिता हंसाः सारसाश्च येषां तानि चक्रे । अत्र हंसादिषु मुखरसमुत्सुकीकरणरूपेण वस्तुना तेषां नूपुरादिध्वनौ सादृश्याद्धंससारसान्तरकूजितभ्रान्तिप्रतीतेर्भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते ॥ ४ ॥

अवचयपरिभोगवन्ति हिंस्रैः सहचरितान्यमृगाणि काननानि ।

अभिदधुरभितो मुनिं वधूभ्यः समुदितसाध्वसविक्रवं च चेतः ॥ ५ ॥

अवचयेति ॥ अवचयः पुष्पफलादिच्छेदनं परिभोग उपभोगस्तद्वन्ति । हिंस्रा घातुका व्याघ्रादयः । 'शरारुर्घातुको हिंस्रः' इत्यमरः । तैः सहचरिताः सहचरन्तः । कर्तरि क्तः । 'मतिबुद्धि-' इत्यादिसूत्रेण चकारात् सुप्तशयितादि-वद्वर्तमानार्थता । अन्ये हिंस्रेतरे मृगा हरिणादयो येषु तानि सहचरितान्यमृगाणि काननानि । तथा समुदितेन साध्वसेन विक्रवं विवशं चेतश्च वधूभ्यः । 'क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्' इति संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । अभितो मुनिमभिदधुः । आसन्नं सूचयामासुरित्यर्थः । अवचयादिलिङ्गचतुष्टयेनासन्नो मुनिरित्यन्वमीयतेत्यर्थः ॥ ५ ॥

१ अस्ये—'अश्रोतेर्युच् रशादेशश्च, रशना काञ्ची, तालव्यशकारवानयम्, जिह्वावाची तु दन्तसकारवानिति सिद्धान्तः । '—काञ्ची सप्तकी रशना तथा' इत्यमरः ।' इत्यधिकं क्वचित् ।

नृपतिमुनिपरिग्रहेण सा भूः सुरसचिवाप्सरसां जहार तेजः ।

उपहितपरमप्रभावधाम्नां न हि जयिनां तपसामलङ्घ्यमस्ति ॥ ६ ॥

नृपतिमुनिपरिग्रहेणेति ॥ सा भूर्नृपतिरेव मुनिस्तस्य परिग्रहेणाधिष्ठानेन हेतुना सुरसचिवानां गन्धर्वाणामप्सरसां च तेजो जहार । तदाश्रम-प्रवेशादेव निस्तेजस्का अभूवन्नित्यर्थः । ननु कथं मानुषेण तेजसाऽमानुषं तेजो निरस्तमित्याशङ्क्याह—हि यस्मात् । उपहित आहिते परमे प्रभावधाम्नी सामर्थ्यतेजसी येषां तेषां जयिनां जयनशीलानाम् । 'महताम्' इति पाठे महतामुक्कटानाम् । तपसामलङ्घ्यं नास्ति । किमप्यसाध्यं नास्तीति भावः ॥ ६ ॥

सचकितमिव विस्मयाकुलाभिः शुचिसिकतास्वतिमानुपाणि ताभिः ।

क्षितिषु ददृशिरे पदानि जिष्णोरुपहितकेतुरथाङ्गलाञ्छनानि ॥ ७ ॥

सचकितमिति ॥ विस्मयाकुलाभिस्ताभिः स्त्रीभिः कर्त्रीभिः शुचयः सिकता यासु तासु । पादरेखाभिव्यक्तियोग्यास्त्रित्यर्थः । क्षितिषूपहितानि विन्यस्तानि केतुरथाङ्गलाञ्छनानि रेखास्वरूपध्वजचक्राण्येव चिह्नानि येषु तान्यत एव, अतिमानुपाणि जिष्णोरर्जुनस्य पदानि सचकितमिव सभय-मिव यथा तथा ददृशिरे दृष्टानि । अद्भुतवस्तुदर्शनाद्भयविस्मयौ भवत इति भावः ॥ ७ ॥

अतिशयितवनान्तरद्युतीनां फलकुसुमावचयेऽपि तद्विधानाम् ।

ऋतुरिव तरुवीरुधां समृद्ध्या युवतिजनैर्जगृहे मुनिप्रभावः ॥ ८ ॥

अतिशयितेति ॥ अतिशयिता अतिक्रान्ता वनान्तराणां द्युतिर्याभिस्तासाम् । कुतः । फलानां कुसुमानां चावचयेऽपि लवनेऽपि सैव विधा प्रकारो यासां तद्विधानाम् । तथैव समग्राणामित्यर्थः । तरुणां वीरुधां च समृद्ध्या लिङ्गेन युवतिजनैर्मुनिप्रभावो ऋतुरिव जगृहे निश्चितः । कारणतयेति शेषः । उपमालङ्कारः ॥ ८ ॥

मृदितकिसलयः सुराङ्गनानां ससलिलवल्कलभारभुग्नशाखः ।

बहुमतिमधिकां ययावशोकः परिजनतापि गुणाय सद्गुणानाम् ॥ ९ ॥

मृदितेति ॥ ससलिलमार्द्रं यत् वल्कलं तदेव भारस्तेन भुग्नशाखो नम्र-शाखः 'वल्कं वल्कलमस्त्रियाम्' इत्यमरः । अत एव मृदितकिसलयो विलु-लितपल्लवः । 'कचिन्न' इति प्रतिषेधान्न मृदेर्गुणः । अशोको वृक्षविशेषः । सुराङ्गनानामप्सरसां संबन्धिनीम् । अधिकां बहुमतिं तत्कर्तृकसंमानं सज्ज-नसेवी धन्योऽयमिति ययौ प्राप । ननु सेवकेषु का श्लाघेत्यत्राह—परीति । सद्गुणानां महतां परिजनतापि अनुचरत्वमपि । भावे तलू । गुणायोक्त्वा-र्पाय । भवतीति शेषः । एतेन तासां मुनेः प्रभावदर्शनादेव तत्पारवश्यं गम्यते ९

यमनियमकृशीकृतस्थिराङ्गः परिददृशे विधृतायुधः स ताभिः ।

अनुपमशमदीप्ततागरीयान् कृतपदपङ्क्तिरथर्वणेव वेदः ॥ १० ॥

यमेति ॥ यमो देशकालाद्यनपेक्षया शुद्धिहेतुरहिंसादिः नियमस्तदपेक्षया

शुद्धिहेतुस्तपःस्वाध्यायादिः । ताभ्यां कृशीकृतान्यपि स्थिराणि दृढान्यङ्गानि
यस्य सः । विधृतायुधो घृतशस्त्रोऽत एव तपःक्षात्रयुक्तः सोऽर्जुनः शमः
शान्तिरभ्युदयकाण्डे दीप्तता उग्रताऽभिचारकाण्डे ताभ्यामनुपमाभ्यां गरीया-
नुदग्रः । अथर्वणा वसिष्ठेन कृता रचिता पदानां पङ्क्तिरानुपूर्वी यस्य स वेदः ।
चतुर्थवेद इत्यर्थः । अथर्वणस्तु मन्त्रोद्धारो वसिष्ठकृत इत्यागमः । स इव ताभिः
स्त्रीभिः परिददृशे दृष्टः ॥ १० ॥

अथ चतुर्भिस्तमेव विशिनष्टि—शशधर इत्यादिभिः;

शशधर इव लोचनाभिरामैर्गगनविसारिभिरंशुभिः परीतः ।

शिखरनिचयमेकसानुसद्वा सकलमिवापि दधन्महीधरस्य ॥ ११ ॥

शशधर इति ॥ शशधरश्चन्द्र इव लोचनाभिरामैर्नेत्राह्लादकरैर्गगनवि-
सारिभिरंशुभिस्तेजोभिः परीतो व्याप्तोऽम्बरवत् एकं सानुसद्म यस्य सः ।
एकदेशस्थोऽपीत्यर्थः । महीधरस्येन्द्रकीलस्य सकलं शिखरनिचयमपि
दधत् आवृण्वन्नित्युत्प्रेक्षा ॥ ११ ॥

सुरसरिति परं तपोऽधिगच्छन् विधृतपिशङ्गबृहज्जटाकलापः ।

हविरिव विततः शिखासमूहैः समभिलषन्नुपवेदिं जातवेदाः ॥ १२ ॥

सुरेति ॥ पुनः, सुरसरिति गङ्गाकूले परं तपोऽधिगच्छन्नर्जयन् । फला-
भिलाषेणेति शेषः । हविः समभिलषन्नित्युपमानविशेषणसामर्थ्यात् । तथा
विधृतः पिशङ्गबृहज्जटाकलापो येन सः । अत एव, उपवेदिं वेद्याम् ।
विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । शिखासमूहैर्ज्वालाजालैर्विततो विस्तृतो हविरा-
ज्यादिकं समभिलषन् । जातं वेदो हिरण्यं । भोज्यं कर्मफलमिति यावत् ।
यस्मादिति जातवेदा वह्निरिव स्थितः ॥ १२ ॥

सदृशमतनुमाकृतेः प्रयत्नं तदनुगुणामपरैः क्रियामलङ्घ्याम् ।

दधदलघु तपः क्रियानुरूपं विजयवतीं च तपःसमां समृद्धिम् १३

सदृशमिति ॥ पुनः, आकृतेर्वपुषः । 'आकृतिः कथिता रूपे सामान्यव-
पुषोरपि' इति विश्वः । सदृशं तुल्यमतनुं महान्तं प्रयत्नमुद्योगं दधत् । तथा
तदनुगुणां प्रयत्नानुकूलामपरैरन्यैरलङ्घ्याम् । कर्तुमशक्यामित्यर्थः । क्रियां
व्यापारं दधत् । तथा क्रियानुरूपं क्रियानुगुणमलघु गुरु तपो दधत् ।
तथा विजयवतीं सर्वोत्कर्षवतीं विजयफलां वा तपःक्रियानुरूपां तपःसमां
समृद्धिमैश्वर्यं दधत् । अत्र पूर्वं प्रत्युत्तरस्य विशेषणतया स्थापनात्प्रथमैकावत्य-
लंकारः—'यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापन एकावली' इति सर्वस्वसूत्रात् ॥ १३ ॥

चिरनियमकृशोऽपि शैलसारः शमनिरतोऽपि दुरासदः प्रकृत्या ।

ससचिव इव निर्जनेऽपि तिष्ठन्मुनिरपि तुल्यरुचिस्त्रिलोकभर्तुः ॥ १४ ॥

चिरनियमेति ॥ पुनश्च, चिरनियमेन दीर्घकालतपसा कृशः क्षीणाङ्गोऽपि
शैलसारः । उपमानपूर्वपदो बहुव्रीहिः । शमे निरतोऽपि प्रकृत्या स्वभावेन

दुरासदो दुर्धर्षो निर्जने विजने देशे तिष्ठन्नपि ससचिवः सपरिवार इव ।
किंच, मुनिरपि । ऐश्वर्यरहितोऽपीत्यर्थः । त्रयाणां लोकानां भर्तुरिन्द्रस्य ।
'तद्वितार्थ-' इत्यादिनोत्तरपदसमासः । तुल्यरुचिः समानतेजाः । 'अपि'शब्दः
सर्वत्र विशेष्योत्तरार्थः । स च मुनेरतर्क्यमहिमत्वेन निरस्त इति विरोधालंकारः,—
'विरोधाभासत्वं विरोधः' इति सूत्रात् ॥ १४ ॥

तनुमवजितलोकमारधाम्नीं त्रिभुवनगुप्तिसहां विलोकयन्त्यः ।
अवययुरमरस्त्रियोऽस्य यत्नं विजयफले विफलं तपोधिकारे ॥ १५ ॥

तनुमिति ॥ अवजिते तिरस्कृते लोकानां सारधाम्नी सत्त्वतेजसी यथा
ताम् । 'अन उपधा-' इत्यादिना ङीप् । त्रयाणां भुवनानां समाहारः त्रिभुव-
नम् । 'तद्वितार्थ-' इत्यादिना समाहारार्थं तत्पुरुषः । पात्रादित्वास्त्रीत्वप्रति-
षेधः । तस्य गुप्तौ रक्षणे सहां समर्थाम् । पचाद्यच् । तनुं मूर्तिं विलोकय-
न्त्योऽमरस्त्रियोऽप्सरसो विजयफले विजयार्थं तपोधिकारे तपोनुष्ठाने-
ऽस्यार्जुनस्य यत्नं विफलमवययुर्मेनिरे । त्रैलोक्याधिपत्यादिमहाफलसाधन-
समर्थस्य तुच्छफलाभिलाषो मत्तमातङ्गमांसभोगोचितस्य कण्ठीरवस्य जीर्णतृण-
चर्वणोत्कण्ठेव न शोभामावहतीति भावः । अत्र विशिष्टतनुविलोकनस्य स्त्री-
विशेषणवैफल्यजननहेतुत्वोक्त्या पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः ॥ १५ ॥

मुनिदनुतनयान् विलोभ्य सद्यः प्रतनुबलान्यधितिष्ठतस्तपांसि ।

अलघुनि बहु मेनिरे च ताः स्वं कुलिशभृता विहितं पदे नियोगम् १६

मुनीति ॥ प्रतनुबलानि अनुकृष्टसाराणि तपांस्यधितिष्ठतोऽनुतिष्ठतो
मुनीन् दनुतनयान् दानवांश्च सद्यस्तक्षणमेव विलोभ्याकृष्य चिरात् कुलि-
शभृता शक्रेण । अलघुनि महति पदे स्थाने विहितं दत्तं स्वं स्वकीयं नियोगम-
धिकारं ताः स्त्रियो बहु यथा तथा मेनिरे । निकृष्टपदवृत्तीनामुत्कृष्टपदलाभो
महान् । बहुमानमूलमिति भावः । विलोभ्य मेनिरे इत्यन्वयः । यद्वा,—विलोभ्य
लोभं कारयित्वा विहितं शक्रेणेत्यन्वयात् समानकर्तृत्वनिर्वाहः ॥ १६ ॥

अथ कृतकविलोभनं विधित्सौ युवतिजने हरिसूनुदर्शनेन ।

प्रसभमवततार चित्तजन्मा हरति मनो मधुरा हि यौवनश्रीः ॥ १७ ॥

अथेति ॥ अथ अनन्तरं कृतकविलोभनं कृत्रिमं विलोभनं विधित्सौ
विधातुमिच्छौ । विपूर्वाद्दधातेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । युवतिजने हरिसूनोरर्जु-
नस्य दर्शनेन चित्तजन्मा कामः प्रसभं बलात् । अवततार । दैवतत्परं
वञ्चयितुमागतस्य मोहो भवति, यतः स्वयं मुनिवञ्चनप्रवृत्ताः स्त्रियस्तेन वञ्चिता
इत्यर्थः । युक्तं चैतत् । हि यस्मात् । मधुरा मनोहरा यौवनश्रीर्मनो हरति ।
बलादिति शेषः ॥ १७ ॥

सपदि हरिसखैर्वधूनिदेशाद्ध्वनितमनोरमवल्लकीमृदङ्गैः ।

युगपद्वतुगणस्य संनिधानं वियति वने च यथायथं वितेने ॥ १८ ॥

सपदीति ॥ सपदि वधूनां निदेशान्नियोगात् ध्वनिता नादिता मनोरमा
वल्लक्यो वीणा मृदङ्गाश्च यैस्तैर्हरिसखैर्गन्धर्वैर्वियति आकाशे वने च युग-
पद्वतुगणस्य ऋतुषट्कस्य संनिधानमाविर्भावो यथायथं यथास्वम् । असंकरेणे-

त्यर्थः । 'यथास्वं तु यथायथम्' इति निपातः । वितेने वितस्तरे । उद्दीपनसामग्री संपादितेत्यर्थः ॥ १८ ॥

अथ वर्षाक्रमेण ऋतून्वर्णयति—सजलेत्यादि ॥

सजलजलधरं नभो विरेजे विवृतिमियाय रुचिस्तडिल्लतानाम् ।

व्यवहितरतिविग्रहैर्वितेने जलगुरुभिः स्तनितैर्दिगन्तरेषु ॥ १९ ॥

सजलेति ॥ सजला जलधरा यस्मिस्तत् । नभो विरेजे । तडितो लता इव तासां रुचिः प्रभा विवृतिं विजृम्भणम् । इयाय । तथा व्यवहितरति-विग्रहैर्दूरीकृतरतिप्रकल्पितप्रणयकलहैर्जलगुरुभिः । जलभाराद्गम्भीरैरित्यर्थः । स्तनितैर्गर्जितैः । दिगन्तरेषु वितेने विततैरभावि । भावे लिट् । अकर्मकत्वं वैवक्षिकम् । अत एव दिगन्तरेष्वित्यधिकरणत्वेन प्रयोगः । अन्यथा कर्मत्वमेव स्यात् ॥ १९ ॥

परिसुरपतिसूनुधाम सद्यः समुपदधन्मुकुलानि मालतीनाम् ।

विरलंमपजहार बद्धबिन्दुः सरजसतामवनेरपां निपातः ॥ २० ॥

परीति ॥ परिसुरपतिसूनुधाम अर्जुनाश्रमं प्रति । परीति लक्षणार्थं कर्मप्रवचनीयस्य योगाद्वितीया । यद्वा,—वर्जनाश्रमं तस्यात्र विरोधाद्विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । तथा च सुरपतिसूनुधाम्नीत्यर्थः । सद्यो मालतीनां जातीलतानाम् । 'सुमना मालती जातिः' इत्यमरः । मुकुलानि समुपदधत् जनयन् । विरलं यथा तथा बद्धबिन्दुरपां निपातो वृष्टिरवनेः संबन्धिनीं सरजसतां सरजस्कत्वम् । 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिसूत्रेण साकल्यार्थेऽव्ययीभावः 'समासान्तनिपातश्च बहुव्रीह्यर्थस्तु लक्ष्यते । अव्ययीभावदर्शनं तु प्रायिकम्' इति केचित् । अपजहार । धूलिं शमयामासेत्यर्थः ॥ २० ॥

प्रतिदिशर्मभिगच्छताभिमृष्टः ककुभविकाससुगन्धिनानिलेन ।

नव इव विबभौ सचित्तजन्मा गतधृतिराकुलितश्च जीवलोकः ॥ २१ ॥

प्रतिदिशमिति ॥ दिशि दिशि प्रतिदिशम् । यथार्थेऽव्ययीभावः । शरत्प्रभृतित्वात् समासान्तनिपातः । अभिगच्छता संवाता ककुभानि अर्जुनकुसुमानि । 'इन्द्रद्रुः ककुभोऽर्जुनः' इत्यमरः । तेषां विकासेन सुगन्धिना मनोज्ञगन्धेन । गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहणं प्रायिकम् । अनिलेनाभिमृष्टः संस्पृष्टोऽत एव सचित्तजन्मा । कामाक्रान्त इत्यर्थः । अत एव गतधृतिर्गतधैर्यं आकुलितः क्षोभितश्च । रतिं प्रतीति भावः । एवंभूतो जीवलोको नव इव अवस्थान्तरप्राप्त्या अपूर्व इव विबभौ भाति स्नेह्युत्प्रेक्षा ॥ २१ ॥

व्यथितमपि भृशं मनो हरन्ती परिणतजम्बुफलोपभोगहृष्टा ।

परभृतयुवतिः स्वनं वितेने नवनवयोजितकण्ठरागरम्यम् ॥ २२ ॥

व्यथितमिति ॥ व्यथितं दुःखितमपि मनो भृशं हरन्ती । किमुत सुखितमिति भावः । जम्बुवाः फलं जम्बु । 'बार्हतं च फले जम्बुवा जम्बुः स्त्री जम्बु जाम्बवम्'

ह्यमरः । 'जम्बवा वा' इत्यणभावपक्षेऽपि 'फले लुक्' इति लुक् । 'लुक्त्वित्तु-
तलुकि' इति स्त्रीप्रत्ययनिवृत्तिः । जम्बु च तत्फलं चेति सामान्यविशेषयोः सह
निर्देशः । यद्वा,—जम्बवाः फलमिति विग्रहः । 'इको ह्रस्वोऽड्यो गालवस्य' इति
ह्रस्वः । तस्य परिणतस्योपभोगेन हृष्टा । अत एव परभृतयुवतिः कोकि-
लाङ्गना नवनवं नवप्रकारं यथा तथा योजितेन संपादितेन कण्ठरागेण कण्ठ-
माधुर्येण रम्यम् । सौम्यमित्यर्थः । स्वनं स्वरं वितेने । वर्षास्वपि मधुराः स्वराः
कोकिलाया इति प्रसिद्धिः ॥ २२ ॥

अभिभवति मनः कदम्बवायौ मदमधुरे च शिखण्डिनां निनादे ।
जन इव न धृतेश्चाल जिष्णुर्न हि महतां सुकरः समाधिभङ्गः २३

अभिभवतीति ॥ कदम्बवायौ कदम्बसंबन्धिनि मारुते मदमधुरे शिख-
ण्डिनां निनादे च मनोऽभिभवति अभिहरति सति जिष्णुर्जनशीलोऽर्जुनो
जनः पृथग्जन इव धृतेर्धैर्यान्न चचाल । वर्षा अपि तदुद्दीपनाय न शेकुरि-
त्यर्थः । हि यस्मात्, महतां समाधिभङ्गो न सुकरः । न केनापि कर्तुं
शक्यत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

धृतविसवल्यावलिर्वहन्ती कुमुदवनैकदुकूलमात्तबाणा ।

शरदमलतले सरोजपाणौ घनसमयेन वधूरिवाललम्बे ॥ २४ ॥

धृतेति ॥ विसानि वलयानीव तेषामावलिर्धृता यथा सा । कुमुदवन-
मेकं मुख्यं दुकूलमिव तद्वहन्ती । आत्ता गृहीता बाणा नीलझिण्टी यथा सा
आत्तबाणा, धृतशरा च 'गृहीयात्क्षत्रिया शरम्' इति स्मरणात् । 'बाणोक्ता
नीलझिण्टी च' इति वैजयन्ती । शरद्वधूर्जायेव घनसमयेन वर्षर्तुना । वरे-
णेति शेषः । अमलतले निर्मलतले सरोजं पाणिरिव तस्मिन् । आललम्बे
जगृहे । कर्मणि लिट् । वधूरसमागमवद्दुसंधिरशोभतेत्यर्थः । अत्र 'आत्त-
बाणा' इति झिण्टीशरयोर्बाणयोरभेदाध्यवसायाच्छेषमूलातिशयोक्तिरूपमाङ्गमित्य-
नयोः संकरः ॥ २४ ॥

अथ ऋतुसंधिं वर्णयति—

समदशिखिरुतानि हंसनादैः कुमुदवनानि कदम्बपुष्पवृष्ट्या ।

श्रियमतिशयिनीं समेत्य जग्मुर्गुणमहतां महते गुणाय योगः ॥२५॥

समदेति ॥ समदशिखिरुतानि मत्तमयूरकूजितानि हंसनादैः समेत्य
तथा कुमुदवनानि कदम्बपुष्पवृष्ट्या कदम्बपुष्पसंपदा समेत्य । अति-
शयिनीमतिशयवतीं श्रियं जग्मुः । तथा हि—गुणमहतां गुणाधिकानां
योगः परस्परसमागमो महते गुणायोत्कर्षाय । भवतीति शेषः । अत्र त्रिपाद्यां
समालंकारः—'सा समालंकारित्योग्यवस्तुनोरुभयोरपि' इति लक्षणात् । सोऽपि
चतुर्थेनार्थान्तरन्यासेन स्वसमर्थकेनाङ्गाङ्गिभावेन संकीर्यते ॥ २५ ॥

सरजसमपहाय केतकीनां प्रसवमुपान्तिकनीपरेणुकीर्णम् ।

प्रियमधुरसनानि षट्पदाली मलिनयति स विनीलबन्धनानि २६

सरजसमिति ॥ प्रियमधुरिष्टमकरन्दा । नात्र कप्समासान्तः । 'पुंलिङ्गोत्तर-
पदो बहुव्रीहिः' इति केचित् । नपुंसकलिङ्गस्यैव 'मधु'शब्दस्योरःप्रभृतिषु पाठात्

‘मकरन्दस्य मद्यस्य माक्षिकस्यापि वाचकः । अर्धर्चादिगणे पाठात्पुंनपुंसकयोर्मधुः ॥’
इत्यभिधानात् । षट्पदाली षट्पदावलिः । उपान्तिके यानि नीपानि कदम्ब-
कुसुमानि तेषां रेणुभिः परागैः कीर्णं व्याप्तम् । किंच, स्वतोऽपि सह रजसा
सरजसम् । न त्वरजस्कमिति भावः । साकल्येऽव्ययीभावः । ‘अचतुर-’
इत्यादिना निपातः । केतकीनां प्रसवं पुष्पम् । अपहाय । विनीलबन्धनानि
मलीनवृन्तानि । असनानि प्रियकपुष्पाणि । मकरन्दभरितानीति भावः । ‘सर्ज-
कासनबन्धूकपुष्पप्रियकजीवकाः’ इत्यमरः । मलिनयति स्म । यथा वृन्ताद-
न्यत्रापि मालिन्यं स्यात्तथा मधुलोभाच्छादयामासेत्यर्थः । नहि मध्वासक्तो
मधुलाभेऽसति विभूतिष्वासज्जतीति भावः ॥ २६ ॥

मुकुलितमतिशय्य बन्धुजीवं धृतजलविन्दुषु शाद्वलस्थलीषु ।

अविरलवपुषः सुरेन्द्रगोपा विकचपलाशचयश्रियं समीयुः ॥ २७ ॥

मुकुलितमिति ॥ धृता जलविन्दवो यासु तासु शाद्वलस्थलीषु शाद्वहरि-
तप्रदेशेषु । अविरलवपुषः स्थूलमूर्तयः सुरेन्द्रगोपाः कीटविशेषा मुकु-
लितं मुकुलीकृतं बन्धुजीवम् । बन्धुजीवकमुकुलमित्यर्थः । ‘बन्धूको बन्धु-
जीवकः’ इत्यमरः । अतिशय्यातिक्रम्य विकचपलाशचयो विकसितकिं-
शुकराशिः । ‘पलाशे किंशुकः पर्णः’ इत्यमरः । तस्य श्रियम् । तत्सदृशीं श्रिय-
मित्यर्थः । अत एव निदर्शनालंकारः । समीयुः प्रापुः ॥ २७ ॥

अथ हेमन्तवर्णनमाह—

अविरलफलिनीवनप्रसूनः कुसुमितकुन्दसुगन्धिगन्धवाहः ।

गुणमसमयजं चिराय लेभे विरलतुषारकणस्तुषारकालः ॥ २८ ॥

अविरलेति ॥ अविरलानि घनानि फलिनीवनानां प्रियङ्गुवनानां प्रसू-
नानि यस्मिन्सः । ‘प्रियङ्गुः फलिनी फली’ इत्यमरः । कुसुमितैः कुन्दैर्माध्य-
कुसुमैः सुगन्धिर्गन्धवाहो यस्मिन् सः । ‘माध्यं कुन्दम्’ इत्यमरः । शैशिराणा-
मपि कुन्दानां हेमन्ते प्रादुर्भावादविरोधः । विरलतुषारकण इति प्रारम्भोक्तिः ।
तुषारकालो हेमन्तः । चिरायासमयजमकालसंभवं गुणमुत्कर्षं लेभे ॥ २८ ॥

निचयिनि लवलीलताविकासे जनयति लोध्रसमीरणे च हर्षम् ।

विकृतिमुपययौ न पाण्डुसूनुश्चलति नयान्न जिगीषतां हि चेतः २९

निचयिनीति ॥ निचयिनि उपचयवति लवलीलतानां विकासे पुष्प-
विजृम्भणे तथा लोध्रसमीरणे हर्षं चोत्कण्ठां जनयति सति पाण्डुसूनुर्वि-
कृतिं नोपययौ । कुतः । हि यस्मात्, जिगीषतां जेतुमिच्छतां चेतो नया-
न्नीतेर्न चलति । नहि क्रोधाक्रान्ते चेतसि शृङ्गारसस्य विकासः । तद्विरुद्धत्वा-
द्दोषस्येति भावः ॥ २९ ॥

कतिपयसहकारपुष्परम्यस्तनुतुहिनोऽल्पविनिद्रसिन्दुवारः ।

सुरभिमुखहिमागमान्तशंसी समुपययौ शिशिरः सरैकबन्धुः ३०

कतिपयेति ॥ कतिपयैरेव सहकारपुष्पैश्चूतकुसुमै रम्यः । नतु वसन्त-
वत् समग्रैः, नापि हेमन्तवत्तद्रहितैरिति भावः । तनुतुहिनोऽल्पहिमः । नतु

हेमन्तवद्दुसुहिनः, नापि वसन्तवद्विरलतुहिन इति भावः । अल्पानि कति-
पयानि विनिद्राणि सिन्दुवाराणि विकसितनिर्गुण्डीकुसुमानि यस्मिन्सः ।
अत्रापि सहकारवदभिप्रायो द्रष्टव्यः । 'सिन्दुवारेन्द्रसुरसौ निर्गुण्डीन्द्राणिके-
त्यपि' इत्यमरः । इत्थं सुरभिमुखं वसन्तप्रारम्भं हिमागमान्तं हेमन्तावसानं
शंसति सूचयतीति स तथोक्तः । स्मरस्यैकवन्धुः सहकारी । उभयर्तुधर्म-
संपत्तेरिति भावः । शिशिरः समुपययौ ॥ ३० ॥

अथ वसन्तप्रारम्भमाह—

कुसुमनगवनान्युपैतुकामा किसलयिनीमवलम्ब्य चूतयष्टिम् ।
क्वणदलिकुलनूपुरा निरासे नलिनवनेषु पदं वसन्तलक्ष्मीः ॥ ३१ ॥

कुसुमेति ॥ कुसुमप्रधानानां नगानां वृक्षाणां, कुसुमानां नगा वृक्षा वा
तेषां वनानि । उपैतुमारोढुं कामो यस्याः सा । 'शैलवृक्षौ नगावगौ' इत्य-
मरः । 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः । वसन्त-
लक्ष्मीः किसलयिनीं पल्लविनीं चूतयष्टिम् । चूतशाखामिवेति भावः ।
अवलम्ब्यावष्टभ्य । अन्यथारोढुमशक्यत्वादिति भावः । क्वणत् शिञ्जमानं
शब्दायमानमलिकुलं नूपुरमिव यस्याः सा तथोक्ता सती । 'क्वणदलिकुलनूपु-
रम्' इत्यपि पाठः । अन्यत्र,—अलिकुलवन्नूपुरम् । नलिनवनेषु पदं निरासे
निदधे । तेषु प्रथमं प्रादुरासीदित्यर्थः । 'उपसर्गादस्यत्यूहोर्वा' इति वचनादात्मने-
पदम् । अत्र प्रक्रान्तवसन्तलक्ष्मीविशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतनायिकाव्यवहारसमा-
रोपात् समासोक्तिरलंकारः ॥ ३१ ॥

विकसितकुसुमाधरं हंसन्तीं कुरवकराजिवधूं विलोकयन्तम् ।
ददृशुरिव सुराङ्गना निषण्णं सशरमनङ्गमशोकपल्लवेषु ॥ ३२ ॥

विकसितेति ॥ विकसितो विश्लिष्टः कुसुममेवाधरो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा
तथा हंसन्तीं स्मयमानां कुरवकराजिरेव वधूस्तां विलोकयन्तम् । कामु-
कतयेति भावः । अत एव, अशोकपल्लवेषु पल्लवसंस्तरेषु निषण्णीम् । स्थित-
मित्यर्थः । रिरंसयेति शेषः । सशरम् । नित्यविजयित्वादिति भावः । इत्थं
शृङ्गारवीरयोरेकाधिकरणभूतम् अनङ्गं सुराङ्गना ददृशुरिवेत्युत्प्रेक्षा । अशो-
काद्यवलोकनान्मदनसाक्षात्कारादिव महान्मनःक्षोभस्तासामासीदित्यर्थः । अत्र
रूपकोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ ३२ ॥

मुहुरनुपतता विधूयमानं विरचितसंहति दक्षिणानिलेन ।
अलिकुलमलकाकृतिं प्रपेदे नलिनमुखान्तविसर्पिं पङ्कजिन्याः ३३
मुहुरिति ॥ अनुपतताऽनुधावता दक्षिणानिलेन मलयमारुतेन मुहुर्वि-
धूयमानं कम्पितम्, अत एव विरचिता संहतिर्येन । तत्संभूतमित्यर्थः ।
पङ्कजिन्या यन्नलिनंमुखमिव तस्य अन्तर्विसर्पिं प्रान्तचारि । अलिकुलं
कर्तृ अलकाकृतिमलकसादृश्यं प्रपेदे ॥ ३३ ॥

श्वसनचलितपल्लवाधरोष्ठे नवनिहितेर्ष्यमिवावधूनयन्ती ।

मधुसुरभिणि पट्टपदेन पुष्पे मुख इव शाललतावधूश्चुम्बे ॥ ३४ ॥

श्वसनेति ॥ पट्टपदेन अलिना । शाललता सर्जतरुशाखा वधूरिव शाल-
लतावधूः । 'प्राकारग्रहयोः शालः शालः सर्जतरुः स्मृतः' इति शाश्वतः । श्वस-
नेन वायुना निःश्वासेन च चलितः पल्लवोऽधरोष्ठ इव पल्लवाधरोष्ठो यत्र
तस्मिन् । 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा पररूपं वक्तव्यम्' । मधुना मकरन्देन मद्येन
च सुरभिणि सुगन्धिनि पुष्पे मुख इव नवं यथा तथा निहितेर्ष्यं कृतकोप-
मिवेति क्रियाविशेषणम् । तथा, अवधूनयन्ती कम्पयन्ती । 'धूञ्प्रीजोर्नुग्व-
क्तव्यः' इति णिचि नुगागमः । चुचुम्बे चुम्बिता । अत्र 'श्वसन'शब्दार्थं 'मधु'-
शब्दार्थयोश्च स्वस्वभेदाध्यवसायाच्छेषमूलाद्भिशयोक्तिः । सा चोपमाङ्गमित्यनयोः
संकरः ॥ ३४ ॥

प्रभवति न तदा परो विजेतुं भवति जितेन्द्रियता यदात्मरक्षा ।

अवजितभुवनस्तथा हि लेभे सिततुरगे विजयं न पुष्पमासः ३५

प्रभवतीति ॥ परः शत्रुः । तदा तस्मिन्काले विजेतुं न प्रभवति न शक्नोति ।
यदा जितेन्द्रियता इन्द्रियजयित्वम् । आत्मरक्षा भवति जायते । तथा
हि—अवजितभुवनस्त्रैलोक्यविजयी पुष्पमासो वसन्तः । सिततुरगेऽर्जुने
विषये विजयं न लेभे । अतो जितेन्द्रिया दुर्जया इत्यर्थः । विशेषेण सामा-
न्यार्थसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ॥ ३५ ॥

अथ ग्रीष्मं वर्णयति—

कथमिव तव संमतिर्भवित्री सममृतुभिर्मुनिनावधीरितस्य ।

इति विरचितमल्लिकाविकासः स्मयत इव स मधुं निदाघकालः ३६

कथमिति ॥ विरचितमल्लिकाविकासो निदाघकालो ग्रीष्मो ऋतुभि-
र्वर्षादिभिः समं मुनिनाऽवधीरितस्य तिरस्कृतस्य तव संमतिलोके योग्य-
त्वेनानुमतिर्मान्यत्वं कथमिव भवित्री । न संमानः कथञ्चिद्भविष्यतीत्यर्थः ।
इति इत्थं मधुं वसन्तं । 'चैत्रे दैत्ये वसन्ते च जीवे कोके मधुः स्मृतः' इति
विश्वः । स्मयते स्मेव जहास किमित्युत्प्रेक्षा । 'लट् स्मे' इति भूतार्थे लट् ।
प्रहासस्य शुभ्रत्वेन कविप्रसिद्धेर्मल्लिकाविकासे हासत्वाध्यवसायः । अत्रर्तुभिः
सममवधीरितस्येत्यत्राभेदाध्यवसायमूला सहोक्तिरलंकारः । संबन्धभेदभिन्नस्या-
वधीरणस्याभिन्नतयाध्यवसायात् तदेवावधीरणमसंमतिद्वारा स्मयोत्प्रेक्षेत्यनयोर-
ङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ ३६ ॥

बलवदपि बलं मिथोविरोधि प्रभवति नैव विपक्षनिर्जयाय ।

भुवनपरिभवी न यत्तदानीं तमृतुगणः क्षणमुन्मनीचकार ॥ ३७ ॥

बलवदिति ॥ बलवत् प्रबलमपि । प्रकृष्टाङ्गमिति यावत् । मिथोविरोधि
परस्परस्पर्धि बलं सैन्यम् । 'वरूथिनी बलं सैन्यम्' इत्यमरः । विपक्षनिर्ज-

१ 'पल्लवाधरोष्ठी' इति पाठः. २ 'पुष्पचापः' इति पाठः.

याय शत्रुविजयाय । 'तुमर्थाच्च-' इत्यादिना चतुर्थी । शत्रूञ्जेतुमित्यर्थः । न प्रभवति न शक्नोत्येव । कुतः । यत् यस्मात् कारणात्, भुवनानां परिभवी जेतापि । 'जिदक्षि-' इत्यादिनेनिप्रत्ययः । ऋतुगणस्तदानीं । तम् अर्जुनं क्षणमपि नोन्मनीचकारानुन्मनसमुन्मनसं न चकार । 'अरुर्मेनश्चक्षुः-' इत्यादिनाऽभूत-तद्भावे च्विप्रत्ययः सलोपश्च । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥३७॥

एवं तटस्थस्योद्दीपनसामग्री विफलेत्युक्तम्, संप्रति विपरीता जातेत्याह—

श्रुतिसुखमुपवीणितं सहायैरविरललाञ्छनहारिणश्च कालाः ।

अविहितहरिसूनुविक्रियाणि त्रिदशवधूषु मनोभवं वितेनुः ॥ ३८ ॥

श्रुतीति ॥ सहायैस्तासां सहचरैर्गन्धर्वैः । कृतमिति शेषः । 'न लोक-' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । कर्तरि तृतीया । श्रुतिसुखं श्रोत्रमधुरम् । उपवीणितं वीणयोपगानम् । 'सत्यापपाश-' इत्यादिना 'वीणा'शब्दाणिजन्ताद्भावे क्तः । अविरलैर्भूयोभिर्लाञ्छनैः पूर्वोक्तैः फलकुसुमादिभिश्चिह्नैर्हारिणो मनोहराः काला वसन्तादिक्रतवः । अविहिताऽकृता हरिसूनोरर्जुनस्य विक्रिया मनोविक्रितियैस्तानि तथाभूतानि सन्ति । 'नपुंसकमनपुंसक-' इत्यादिना नपुंसकैकशेषः । त्रिदशवधूषु मनोभवं वितेनुर्विस्तारयामासुः । सोऽयं परप्रहारार्थमुद्यतमायुधं स्वात्मानमेव प्रहरतीति न्यायवजात इति भावः । अत्र मुनिविक्रियार्थं स्त्रीणां विक्रियारूपानर्थोत्पत्तिकथनाद्वितीयो विषमालंकारः । तथा च सूत्रम्—'विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिरूपसंघटनाद्विषमालंकारः' इति ॥ ३८ ॥

तटस्थवदालम्बनगणोऽपि विपरीतोऽभूदिति श्लोकद्वयेनाह—

न दलति निचये तथोत्पलानां न च विषमच्छदगुच्छयूथिकासु ।

अभिरतिमुपलेभिरे यथासां हरितनयावयवेषु लोचनानि ॥ ३९ ॥

नेत्यादि ॥ आसां लोचनानि हरितनयावयवेषु यथा तथा दलति विकसति उत्पलानां निचयेऽभिरतिं नोपलेभिरे न प्रापुः । तथा च विषमच्छदगुच्छाः सप्तपर्णस्तबका यूथिका मल्लिकाश्च तास्वभिरतिं नोपलेभिरे । 'सप्तपर्णो विशालत्वक्शारदो विषमच्छदः' इत्यमरः । तथा रमणीयत्वात्तदवयवानामित्यर्थः । इति चक्षुःप्रीतिरुक्ता ॥ ३९ ॥

अथ मनःसङ्गं सूचयति—

मुनिमभिमुखतां निनीषवो याः समुपययुः कमनीयतागुणेन ।

मदनमुपदधे स एव तासां दुरधिगमा हि गतिः प्रयोजनानाम् ४०

मुनिमिति ॥ याः स्त्रियः कमनीयता सौन्दर्यं सैव गुणस्तेन । मुनिमर्जुनम् । अभिमुखतां वश्यतां निनीषवो नेतुमिच्छवः समुपययुः । तासां स्त्रीणां स मुनिरेव मदनमुपदधे जनयामास । तथा हि—प्रयोजनानामुद्देश्यानां गतिः परिणतिर्दुरधिगमा हि दुर्ज्ञेया खलु । अतः क्वचिद्भवति, क्वचिन्न भवतीति भावः ॥ ४० ॥

अथासामनुरागमेव कार्यतः प्रपञ्चयति—

प्रकृतमनुससार नाभिनेयं प्रविकसद्भुलि पाणिपल्लवं वा ।

प्रथममुपहितं विलासि चक्षुः सिततुरगे न चचाल नर्तकीनाम् ४१

प्रकृतमिति ॥ विलासि सविलासं नर्तकीनां संबन्धि । 'शिल्पिनि ष्वुन्' इति ष्वुन्प्रत्ययः । 'नृतिखनिरञ्जिभ्य एव' इति नियमः । चक्षुः कर्तुं प्रकृतं प्रकान्तं अभिनेयमभिनेतव्यं रसभावादिव्यञ्जकं नानुससार । तद्दूषणं तदानु-गुण्येनैव दृष्टिप्रयोगनियमादिति भावः । तथा प्रविकसद्भुलि चञ्चलाङ्गुलि पाणिपल्लवं वा नानुससार । स च दोषः, 'यतो हस्तस्ततो दृष्टिः' इति नियमा-दिति भावः । 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इत्यमरः । 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थे च समुच्चये' इति विश्वः । किंतु, प्रथमं प्रवेश एव सिततुरगेऽर्जुन उपहितं सन्न चचाल तत्रैव लग्नं तस्यौ । रागातैर्न किञ्चित्करणीयमनुसंधेयमिति भावः ॥ ४१ ॥

अभिनयमनसः सुराङ्गनाया निहितमलक्तकवर्तनाभिताम्रम् ।

चरणमभिपपात षट्पदाली धृतनवलोहितपङ्कजाभिश्ङ्का ॥ ४२ ॥

अभिनयेति ॥ अभिनयो रसभावादिव्यञ्जकचेष्टाविशेषः । 'व्यञ्जकाभि-नयौ समौ' इत्यमरः । तत्र मनो यस्यास्तस्याः । व्यासङ्गाद्भुङ्गापातमजानत्या इत्यर्थः । सुराङ्गनायाः संबन्धि अलक्तकवर्तनया लाक्षारसरञ्जनेन अभिताम्रं निहितं न्यस्तं चरणं षट्पदाली कर्त्री धृता नवलोहितपङ्कजानामभिश्ङ्का प्रत्यग्रकोकनदंभ्रमो यया सा । अभिपपाताभिधावति स्म । अत्र षट्पदाल्याः स्त्रीचरणे पङ्कजभ्रमाभिधानाद्भ्रान्तिमदलंकारः । तेन चोपमा व्यज्यत इत्यलंका-रेणालंकारध्वनिः ॥ ४२ ॥

अविरलमलसेषु नर्तकीनां द्रुतपरिषिक्तमलक्तकं पदेषु ।

सवपुषमिव चित्तरागमूहुर्नमितशिखानि कदम्बकेसराणि ॥ ४३ ॥

अविरलमिति ॥ नमितशिखानि नर्तकीपादपीडनाभ्रमिताम्राणि कदम्ब-केसराणि । रङ्गपूजादत्तानीति शेषः । अविरलं सान्द्रं यथा तथा द्रुतो रागोष्मणा विगलितोऽत एव परिषिक्तः प्रसृतस्तं द्रुतपरिषिक्तं नर्तकीनामलसेषु पदेषु पादन्यासेषु । अलक्तकं लाक्षारागं सवपुषं मूर्तिमन्तं चित्तरागमुत्कटतया कायाद्बहिर्निःसृतं मुनिविषयकं रागमिवेत्युत्प्रेक्षा । ऊहुर्वहन्ति स्म ॥ ४३ ॥

अथासां शृङ्गारचेष्टां कथयति—

नृपसुतमभितः समन्मथायाः परिजनगात्रतिरोहिताङ्गयष्टेः ।

स्फुटमभिलषितं बभूव वध्वा वदति हि संवृतिरेव कामितानि ४४

नृपेति ॥ नृपसुतमर्जुनम् । अभितः संमुखं परिजनस्य सखीजनस्य गात्रेण तिरोहिता लज्जया स्वाकारगोपनायान्तर्हिताऽङ्गयष्टिर्यस्याः सा तस्याः सम-न्मथाया वध्वाः । अभिलषितं मुनिं प्रत्यनुरागः स्फुटं बभूव । न च संव्रिय-माणस्याभिव्यक्तिर्विरुद्धेति वाच्यमित्याह—यतः संवृतिः सम्यग्गोपनमेव

कामितानि अनुरागान् । कामयतेर्भावे क्तः । वदति हि । प्रकटयतीत्यर्थः ।
अयमनुरागस्य स्वभाव उक्तः । यया चेष्टया रागः संत्रियते सैवास्य प्रकाशिका
जातेति भावः ॥ ४४ ॥

अभिमुनि सहसा हृते परस्या घनमरुता जघनांशुकैकदेशे ।

चकितमवसनोरु सत्रपायाः प्रतियुवतीरपि विस्मयं निनाय ॥ ४५ ॥

अभिमुनीति ॥ अभिमुनि मुनिसमक्षं घनेन मरुता जघनांशुकस्यैक-
देशे सहसा हृते सति सत्रपायाः सलजायाः परस्याः संबन्धी अवसनौ
निरावरणौ ऊरू यस्मिस्तत् । चकितं भयसंभ्रमः प्रतियुवतीरपि सपत्नीरपि
विस्मयं निनाय । किमुतान्यजनमित्यपिज्ञब्दार्थः । न तु मुनिमित्याशयः ॥ ४५ ॥

धृतविसवलये निर्धाय पाणौ मुखमधिरूपितपाण्डुगण्डलेखम् ।

नृपसुतमपरा स्मराभितापादमधुमदालसलोचनं निदध्यौ ॥ ४६ ॥

धृतेति ॥ अपरा स्त्री स्मराभितापात् हेतोः । धृतानि विसान्येव वलयानि
येन तस्मिन् पाणावधिरूपिते चन्दनादिचर्चिते पाण्डू गण्डलेखे गण्डस्थले
यस्य तत् । मुखं निर्धायारोप्य । अमधुमदे मधुमदरहिते तथापि अलसे
लोचने यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा तं नृपसुतं निदध्यौ पश्यति स्म ।
'निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः ॥ ४६ ॥

अथ पञ्चभिर्मुनिं प्रति दूतीवाक्यमाह—

सखि दयितमिहानयेति सा मां प्रहितवती कुसुमेषुणाभितप्ता ।

हृदयमहृदया न नाम पूर्वं भवदुपकण्ठमुपागतं विवेद ॥ ४७ ॥

सखीति ॥ कुसुमेषुणा कामेनाभितप्ता पीडिता सा नायिका । हे सखि,
दयितं मुनिम् । इहानयेति मां प्रहितवती भवदन्तिकं प्रेषितवती । किं त्ववि-
मृश्यकारिणीयमित्याह—हृदयमिति । अहृदयाऽमनस्का । तस्यास्त्वद्गतत्वादिति
भावः । अत एव सा पूर्वं प्रागेव भवदुपकण्ठं त्वत्समीपम् । उपागतं हृदयं
मनो न विवेद । नाम संभावनायाम् । अतो मत्प्रेषणं व्यर्थं तस्यान्तरङ्गत्वाद्-
हिरङ्गस्य दुर्बलत्वादिति भावः । एतेन मनःसङ्ग उक्तः । चक्षुःप्रीतिस्तु प्रागेव
सर्वासामुक्तेति न पृथगुच्यते ॥ ४७ ॥

'दृङ्मनःसङ्गसंकल्पा जागरः कृशता रतिः । हीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्ग-
दशा दश ॥' इति । तत्राद्यमवस्थाद्वयमभ्यधायि । संप्रति काचित् क्रमनैरपेक्षयेण
सूचयति—

चिरमपि कलितान्यपारयन्त्या परिगदितुं परिशुष्यता मुखेन ।

गंतघृण गमितानि सत्सखीनां नयनयुगैः सममार्द्रतां मनांसि ४८

चिरमिति ॥ चिरं कलितान्यपि संदेशार्थं बुद्ध्या योजितान्यपि । वचना-

१ 'विधाय' इति पाठः. २ 'अभिरूपित' इति पाठः. ३ 'अतिकलितानि' इति पाठः.

४ 'वचांसि' इति पाठः.

नीति शेषः । परिशुष्यता मुखेनेति जागरोक्तिः । परिगदितुमपारयन्त्या-
ऽशक्नुवत्या तथा । हे गतघृण । अद्यापि तां नानुकम्पस इति भावः । सत्स-
खीनां मनांसि नयनयुगैः सममार्द्रतां गमितानि । उपचयं गमितानी-
त्यर्थः । शोकबाष्पैरिति भावः । अत्र सखीशोकोक्त्या मूर्च्छावस्था सूच्यते । अत्र
शोकबाष्परूपकारणभेदात् प्रतियोगिभेदाच्चाद्भवेदेऽप्यभेदाध्यवसायः । तन्मूला
चेयं नयनयुगैः सममिति सहोक्तिरलंकारः ॥ ४८ ॥

अचकमत सपल्लवां धरित्रीं मृदुसुरभिं विरहय्य पुष्पशय्याम् ।

भृशमरतिमवाप्य तत्र चास्यास्तव सुखशीतमुपैतुमङ्गमिच्छा ॥ ४९ ॥

अचकमतेति ॥ किं वाच्यं चेत्याह—सा स्त्री मृद्वी सुरभिश्च या तां मृदुसुरभिं
पुष्पशय्यां विरहय्य विहाय सपल्लवां धरित्रीम् । अचकमत ऐच्छत् । तस्या-
स्ततोऽपि शीतलत्वादिति भावः । कमेर्णिङन्ताल्लुङ् । ‘णिश्चिद्रुसुभ्यः कर्त्तरि चङ्’
इति द्विर्भाव इति केचित् । तन्न । अचीकमतेति प्रसङ्गात् । अतो णिङभावपक्षे
‘कमेश्लेश्चङ् वक्तव्यः’ इति वक्तव्याच्चङि रूपमेतत् । अस्या नायिकायाः । तत्र
धरित्र्यामपि भृशमरतिं दुःखम् । अवाप्य । सुखयतीति सुखः शीतः शीतलश्च
तं सुखशीतं तवाङ्गमुत्सङ्गम् । उपैतुमिच्छा । वर्तत इति शेषः । अस्याश्चैत्सुक्यं
कथितम् । अत्रारतिजागरौ सुव्यक्तावित्यस्या नायिकायाः क्रमेण पुष्पशय्याद्यने-
काधारसंबन्धकथनात् प्रथमः पर्यायालंकारः । तदुक्तम्—‘क्रमेणैकमनेकस्मिन्नाधारे
वर्तते यदि । एकस्मिन्नथवानेकं पर्यायालंकारं द्विधा ॥’ इति लक्षणात् ॥ ४९ ॥

तदनघ तनुरस्तु सा सकामा व्रजति पुरा हि परासुतां त्वदर्थे ।

पुनरपि सुलभं तपोऽनुरागी युवतिजनः खलु नाप्यतेऽनुरूपः ५०

तदिति ॥ तत् तस्मात्कारणात् तस्या दुरवस्थत्वाद्धेतोः । हे अनघ निष्पाप ।
तनुः कृशेति काश्यावस्थाकथनम् । सा नायिका सकामा सफलमनोरथा
अस्तु । हि यस्मात्, त्वमेवार्थः प्रयोजनं वस्तु वा तस्मिन् त्वदर्थे निमित्ते, सतीति
शेषः । त्वामुद्दिश्येत्यर्थः । परासुतां निष्प्राणत्वं पुरा व्रजति व्रजिष्यति ।
मरिष्यतीत्यर्थः । तथा च तेऽनिमित्तहृत्पयानघत्वव्याघातः स्यादिति भावः ।
‘यावत्पुरानिपातयोर्लट्’ इति भविष्यदर्थे लट् । इदं च दशमावस्थाप्रदर्शनम् ।
न च तपोनिष्ठत्वाद्धेतव्यमित्याह—पुनरिति । पुनरपि पश्चादपि । ‘पुनरप्रथमे
भेदे’ इति विश्वः । तपः सुलभम् । अनुरागी अनुरूपो योग्यश्च युवति-
जनस्तु नाप्यते न लभ्यते खलु ॥ ५० ॥

एवं प्रलोभितस्यापि मुनेमौनं न भग्नमित्याह—

जहिहि कठिनतां प्रयच्छ वाचं ननु करुणामृदु मानसं मुनीनाम् ।

उपगतमवधीरयन्त्यभव्याः स निपुणमेत्य कयाचिदेवमूचे ॥ ५१ ॥

जहिहीति ॥ कठिनतां निःस्पृहतां जहिहि । त्यजेत्यर्थः । जहातेः ‘भा च
हौ’ इतीकारः । वाचं प्रयच्छ । संघस्त्रेत्यर्थः । मुनीनां मानसं मनः करु-
णामृदु ननु दयार्द्रं खलु । ‘स्वान्तं हन्मानसं मनः’ इत्यमरः । किंच, अभव्या

निर्भाग्या उपगतं प्राप्तम् । विषयमिति शेषः । अवधीरयन्ति अवमन्यन्ते । एवमुक्तप्रकारेण सोऽर्जुनः कयाचिदेत्य समीपमागत्य निपुणं चतुरं यथा स्यात्तथा ऊच उक्तः । नायिकया दूर्तीं प्रति वचनमुक्तं, तथा दूत्या च मुनिं प्रति कथितमित्यर्थः । अत्र पञ्चश्लोक्यां विप्रलम्भशृङ्गारस्यौत्सुक्यनाम्नो व्यभिचारिभावस्य चापुनरुक्तिः । अनौचित्येन नायिकायाः प्रवृत्तेराभासत्वमनुसंधेयम् । तदुक्तम्—‘एकत्र चेन्नानुरागस्तिर्यङ्मलेच्छगतोऽपि घा । योषितां बहुसक्तिश्चेद्द्रसाभासस्त्रिधा मतः ॥’ इति । तन्निबन्धनादूर्जस्वलमलंकारः । तथा च सूत्रम्—‘रसभेदतदाभासतत्प्रकाशानां निबन्धने रसवत्प्रायमूर्जस्वलम्’ इति । [समाहितातिरसबन्धे रसवदलंकारः । भावनिबन्धेन प्रेयोऽलंकारः । रसभावनिबन्धे तूर्जस्वलालंकारः । तत्प्रशमनिबन्धे समाहितालंकार इति सूत्रार्थः] ॥५१॥

सललितचलितत्रिकाभिरामा शिरसिजसंयमनाकुलैकपाणिः ।

सुरपतितनये परा निरासे मनसिजजैत्रशरं विलोचनार्धम् ॥ ५२ ॥

सललितेति ॥ सललितं सविलासं यथा तथा चलितेन विवर्तितेन त्रिकेण कटिभागेन । ‘पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्’ इत्यमरः । अभिरामा । शिरसि जाताः शिरसिजाः । ‘ससम्यां जनेर्डः’ । ‘अमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे’ इत्यलुक् । ‘उपपदमतिङ्’ इति समासः । एतेन मनसिजो व्याख्यातः । तेषां संयमने बन्धन आकुलो व्यग्र एकः पाणिर्यस्याः सा । परा स्त्री सुरपतितनयेऽर्जुने । जेतैव जत्रः । ‘जेतृ’शब्दात्तृजन्तात् ‘प्रज्ञादिभ्यश्च’ इत्यणप्रत्ययः । मनसिजस्य जैत्रः शरसं तथाभूतम् । विलोचनस्यार्धमेकदेशम् । कटाक्षमित्यर्थः । निरासे विससर्ज ॥ ५२ ॥

कुसुमितमवलम्ब्य चूतमुच्चैस्तनुरिभकुम्भपृथुस्तनानताङ्गी ।

तदभिमुखमनङ्गचापयष्टिर्विसृतगुणेव समुन्ननाम काचित् ॥ ५३ ॥

कुसुमितमिति ॥ इभकुम्भवत् पृथुभ्यां स्तनाभ्यामानतमङ्गं यस्याः सा । ‘अङ्गात्रकण्ठेभ्यश्च’ इति ङीष् । काचित् तनुस्तन्वी । ‘बोतो गुणवचनात्’ इति विकल्पान्न ङीष् । कुसुमितमुच्चैरुन्नतं चूतमवलम्ब्य । अत एव चूतलतायोगाद्विसृतो विस्तृतो गुणो ज्या यस्याः सा । ‘विसृतं विस्तृतं ततम्’ इति, ‘मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः’ इति चामरः । अनङ्गचापयष्टिरिव । आकृष्टमुक्तेति भावः । तदभिमुखं समुन्ननाम समुज्ज्वम्भे । अङ्गभङ्गं चकारेत्यर्थः ॥५३॥

सरभसमवलम्ब्य नीलमन्या विगलितनीवि विलोलमन्तरीयम् ।

अभिपतितुमनाः ससाध्वसेव च्युतरशनागुणसंदितावतस्थे ॥ ५४ ॥

सरभसमिति ॥ अन्याऽपरा विगलितनीवि श्लथबन्धनमत एव विलोलं स्थानचलितम् । नील्या रक्तं नीलम् । ‘नील्या अन्वक्तव्यः’ इत्यन्प्रत्ययः । अन्तरीयं परिधानम् । अवलम्ब्य हस्तेन गृहीत्वा । सरभसं सत्वरम् । अभिपतितुं मनो यस्याः सा तथोक्ता । अपगन्तुमुद्युक्त्यर्थः । तथापि संसाध्वसेव । ननु वस्तुतः ससाध्वसा, किंतु च्युतेन गलितेन रशनागुणेन संदिता

सती । अवतस्थे स्थिता । 'बद्धे संदानितं मूतमुदितं संदितं सितम्' इत्यमरः ।
कर्मणि क्तः । 'द्यतिस्यतिमास्थाम्-' इतीकारः ॥ ५४ ॥

काचिद्युग्मेनाह—

यदि मनसि शमः किमङ्ग चापं शठ विषयास्तव वल्लभा न मुक्तिः ।

भवतु दिशति नान्यकामिनीभ्यस्तव हृदये हृदयेश्वरावकाशम् ५५

यदीत्यादि ॥ तव मनसि शमः शान्तिर्यदि । अस्तीति शेषः । अङ्ग भोः,
चापं किम् । किमर्थमित्यर्थः । किं तु हे शठ हे वञ्चक, तव विषयाः शब्दा-
दयो वल्लभाः प्रियाः । न तु मुक्तिः । तदेव द्रढयितुमाह—भवतु । को दोष
इति शेषः । यद्यहं रागी तर्हि किमिति भवतीर्न गणयामीति शङ्कां निवारयति—
दिशतीति । तव हृदये मनसि हृदयेश्वरा काचित्तव प्रेयसी । अन्यकामि-
नीभ्यः ह्यन्तरेभ्योऽवकाशं न दिशति न प्रयच्छति । ह्यन्तरासक्त्या
नास्मान्गणयसि न तु वैराग्यात् । तदर्थमेवायं ते सकलः प्रयासोऽपीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

इति विषमितचक्षुषाभिधाय स्फुरदधरोष्ठमसूयया कयाचित् ।

अगणितगुरुमानलज्जयासौ स्वयमुरसि श्रवणोत्पलेन जघ्ने ॥ ५६ ॥

इतीति ॥ इतीत्यम् । असूयया मत्सरेण स्फुरन्नधरोष्ठो यस्मिन्कर्मणि
तद्यथा तथाऽभिधायोक्त्वा विषमितचक्षुषा कुटिलीकृतदृष्ट्याऽगणिता
गुरव आचार्यादयो मानोऽभिमानो लज्जा च यया तथा । कयाचित् । असौ
मुनिः । उरसि स्वयं स्वहस्तेनैव श्रवणोत्पलेन जघ्ने हतः ॥ ५६ ॥

सविनयमपराभिसृत्य साचि स्मितसुभगैकलसत्कपोललक्ष्मीः ।

श्रवणनियमितेन तं निदध्यौ सकलमिवासकलेन लोचनेन ॥ ५७ ॥

सविनयमिति ॥ अपरा सविनयमनौद्धत्येन । साचि तिर्यक् । अभिसृत्य
समीपं गत्वा स्मितेन मन्दहासेन सुभगा एकस्य लसतः कपोलस्य लक्ष्म्यो
यस्याः सेति बहुवचनपदोत्तरो बहुव्रीहिः । अन्यथा कप्प्रत्ययः स्यादित्युक्तं प्राक् ।
श्रवणनियमितेन कर्णान्तप्रापितेन श्रोत्ररुद्धप्रसरेण । तावदायतेनेत्यर्थः ।
असकलेनासंपूर्णेन, कटाक्षेणेति यावत् । लोचनेन तं मुनिं धनंजयं सकल-
मिव समग्रप्रायं यथा तथा निदध्यौ पश्यति स्म । कटाक्षेणैव गाढमद्राक्षी-
दित्यर्थः । एषु श्लोकेषु भावाभासनिबन्धादूर्जस्वलालंकारः । औत्सुक्यमत्र भावः ।
आभासत्वं चास्य विरक्तमुनावनौचित्यादित्युक्तं प्रागेवेति ॥ ५७ ॥

अथ तासां मुनिविलोभनमुपसंहरति—

करुणमभिहितं त्रपा निरस्ता तदभिमुखं च विमुक्तमश्रु ताभिः ।

प्रकुपितमभिसारणेऽनुनेतुं प्रियमियती ह्यबलाजनस्य भूमिः ॥ ५८ ॥

करुणमिति ॥ ताभिः स्त्रीभिः । तदभिमुखं मुनिसमक्षं करुणं दीनमभि-
हितमुक्तम् । त्रपा निरस्ता लज्जा त्यक्ता । किंबहुना, अश्रु च विमुक्तम् ।
ततः परं न किञ्चिद्विधेयमासीदिति भावः । कुतः । हि यस्मात्, अबलाजन-

स्वयं 'संराध्यैवं शतमखमखण्डेन तपसा

परोच्छित्या लभ्यामभिलपति लक्ष्मीं हरिसुते ।

मनोभिः सोद्वेगैः प्रणयविहतिध्वस्तरुचयः

सगन्धर्वा धाम त्रिदशवनिताः स्वं प्रतिययुः ॥६३॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये दशमः सर्गः ।

स्वयमिति ॥ एवं हरिसुतेऽर्जुने स्वयमखण्डेनाविलुप्तेन तपसा शतम-
खमिन्द्रं संराध्य प्रीणयित्वा परोच्छित्या शत्रुवधेन लभ्यां साध्यां लक्ष्मीं
राज्यलक्ष्मीम् । अभिलपति सति सोद्वेगैः कार्यसिद्धभावात्सनिर्वेदैर्मनोभिरु-
पलक्षिताः । किंच, प्रणयविहत्या प्रार्थनाभङ्गेन ध्वस्तरुचयो नष्टकान्तयः स-
गन्धर्वा गन्धर्वसहितास्त्रिदशवनिताः स्वं धाम स्वस्थानं प्रतिययुः । शिख-
रिणीवृत्तमेतत्—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' इति लक्षणात् ६३

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-

काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां दशमः सर्गः समाप्तः ॥

एकादशः सर्गः ।

अथामर्षान्निसर्गाच्च जितेन्द्रियतया तया ।

आजगामाश्रमं जिष्णोः प्रतीतः पाकशासनः ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथ अप्सरसां प्रतिप्रयाणानन्तरम् । पाको नाम कश्चिद्राक्षसस्तस्य
शासन इन्द्रः । नन्द्यादित्वाह्युप्रत्ययः । तथाऽप्सरोमुखाच्छ्रुतया अमर्षाद्विष-
द्वेषान्निसर्गाच्च या जितेन्द्रियता तथाऽऽगन्तुकानागन्तुकोभयविधहेतुकया
प्रतीतो हृष्टः सन् । 'ख्याते हृष्टे प्रतीतः' इत्यमरः । जिष्णोरर्जुनस्य । 'जिष्णुः
शक्रे धनंजये' इत्यमरः । आश्रममाजगाम । अत्रामर्षनिसर्गयोर्जितेन्द्रियता-
हेतुकं काव्यलिङ्गं स्फुटमवगम्यते ॥ १ ॥

किमिन्द्रो निजरूपेणैवागतो नेत्याह—

मुनिरूपोऽनुरूपेण सूनुना ददृशे पुरः ।

द्राघीयसा वयोतीतः परिक्लान्तः किलाध्वना ॥ २ ॥

मुनिरूप इति ॥ मुने रूपमिव रूपं यस्य स मुनिरूपः । मुनिवेषधारीत्यर्थः ।
इन्द्रोऽनुरूपेण । दर्शनप्रदानयोग्येनेत्यर्थः । सूनुना पुत्रेणार्जुनेन पुरोऽग्रे
ददृशे दृष्टः । कथंभूतः । वयो यौवनादिकमतीतो वृद्धः । 'द्वितीया श्रित-'
इत्यादिना द्वितीयासमासः । द्राघीयसाऽतिदीर्घेण । 'प्रियस्थिर-' इत्यादिना
'दीर्घ'शब्दस्य द्राघादेशः । अध्वना । अध्वगमनेनेत्यर्थः । परिक्लान्तः परि-
श्रान्तः । किलेत्यलीके । 'किल संभाव्यवार्तयोः । हेत्वरुच्योरलीके च' इति
हेमचन्द्रः । वृद्ध एव दूराध्वश्रान्त इव स्थित इत्यर्थः । 'इव' इति पाठे
स्पष्टार्थः ॥ २ ॥

१ 'संराध्येशम्' इति पाठः. २ 'हरिः' इति पाठः. ३. 'परिश्रान्ता इवाध्वना' इति पाठः.

अथ चतुर्भिरिन्द्रं विशिनष्टि—

जटानां कीर्णया केशैः संहत्या परितः सितैः ।

पृक्तयेन्दुकरैरहः पर्यन्त इव संध्यया ॥ ३ ॥

जटानामिति ॥ परितः सितैः केशैः कीर्णया व्यासया जटानां संहत्या समूहेनोपलक्षितः । अत एव, इन्दुकरैः पृक्तया युक्तया संध्ययोपलक्षितोऽहः पर्यन्तो दिनान्त इव स्थितः । तस्याप्युपपरिणतरूपत्वाद्वृद्धोपमानत्वम् । जटानां संहत्येत्युक्तत्वात् संध्यासाम्यम् ॥ ३ ॥

विशदभ्रूयुगच्छन्नवलितापाङ्गलोचनः ।

प्रालेयावततिम्लानपलाशाञ्ज इव हृदः ॥ ४ ॥

विशदेति ॥ पुनश्च, विशदेन पलितपाण्डुरेण भ्रूयुगेन छन्ने वलितापाङ्गे वलिमध्मान्ते लोचने यस्य स तथोक्तः 'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ' इत्यमरः । पामा-
दित्वाहोमादिसूत्रेण वलचप्रत्ययः । प्रालेयावतत्या हिमसंहत्या म्लानपला-
शानि क्लान्तदलानि अञ्जानि यस्मिन्स हृद इव स्थितः ॥ ४ ॥

आसक्तभरनीकाशैरङ्गैः परिकृशैरपि ।

आद्यूनः सद्गृहिण्येव प्रायो यष्ट्यावलम्बितः ॥ ५ ॥

आसक्तेति ॥ पुनश्च, परिकृशैः परिक्षीणैरपि, आसक्तभरनीकाशैर्भा-
राकान्तसदृशैः । सभारवद्गुरुभवङ्गिरित्यर्थः । 'इकः काशे' इति दीर्घः । अङ्गै-
रुपलक्षितः । काश्य्याह्वयून्यपि स्वाङ्गानि स्वयं वोढुमसमर्थ इत्यर्थः । अत एव
आद्यून औदारिकः । 'आद्यूनः स्यादौदारिको विजिगीषाविवर्जिते' इत्यमरः ।
आङ्गपूर्वादीव्यतेः क्तः । 'च्छोः शूडनुनासिके च' इत्युठादेशः । 'दिवोऽविजि-
गीषायाम्' इति निघान्तत्वम् । सद्गृहिण्याऽनुकूलकलत्रेण इव प्रायः प्राचुर्येण
यष्ट्याऽवलम्बनदण्डेन । अवलम्बितो धारितः । न तु स्वशक्त्येति भावः ॥ ५ ॥

गूढोऽपि वपुषा राजन् धाम्ना लोकाभिभाविना ।

अंशुमानिव तन्वभ्रपटलच्छन्नविग्रहः ॥ ६ ॥

गूढ इति ॥ वपुषा गूढोऽपि । प्रच्छन्नरूपोऽपीत्यर्थः । प्रकृत्यादिभ्य उप-
संख्यानात्तृतीया । तन्वभ्रपटलच्छन्नविग्रहः स्तोकाभ्रवृन्दान्तरितमूर्तिः ।
अंशुमानिव लोकाभिभाविना लोकव्यापिना धाम्ना तेजसा । 'धाम
रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति हेमचन्द्रः । राजन् दीप्यमानो
ददृश इति पूर्वेण संबन्धः ॥ ६ ॥

जरतीमपि विभ्राणस्तनुमैप्राकृताकृतिः ।

चकाराक्रान्तलक्ष्मीकः ससाध्वसमिवाश्रमम् ॥ ७ ॥

जरतीमिति ॥ जरतीं जीर्णाम् । 'जीनो जीर्णो जरन्नपि' इत्यमरः । जीर्ण-
तेरतीतार्थं शत्रुप्रत्ययः । 'उगितश्च' इति ङीप् । तनुं शरीरं विभ्राणोऽपि

१ 'मण्डलच्छन्नमण्डलः' इति पाठः. २ 'अप्राकृताकृतिम्' इति पाठः. ३ 'लक्ष्मी-
कम्' इति पाठः.

दधदपि । अप्राकृताऽलोकसामान्या आकृतिर्मूर्तिर्यस्य स इन्द्र आक्रान्ताऽभि-
भूता लक्ष्मीराश्रमशोभा येन स आक्रान्तलक्ष्मीकः । अत्र 'उरःप्रभृतिभ्यः
कप्' इति नित्यकवाश्रयणम् । एकवचनोत्तरपदस्यैव 'लक्ष्मी'शब्दस्योरःप्रभृतिषु
पाठात् । 'शेषाद्विभाषा' इति विकल्पाश्रयणे तु बहुवचनोत्तरपद इति विवेकः ।
आश्रमं ससाध्वसमिव चकार । तेजस्विदर्शनाद्भयं भवति । तत्तु न दुःख-
जनकं तस्यामानुषत्वादिति सूचयितुं 'इव'शब्दः ॥ ७ ॥

अभितस्तं पृथासूनुः स्नेहेन परितस्तरे ।

अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात्प्रह्लादते मनः ॥ ८ ॥

अभित इति ॥ पृथासूनुरर्जुनः । तम् इन्द्रम् । अभितस्तं प्रति स्नेहेन परि-
तस्तरे । तद्गोचरेण प्रेम्णा पर्यावृतः । स्तृणातेः कर्मणि लिट् । 'ऋतश्च संयो-
गादेर्गुणः' इति गुणः । नन्वज्ञातसंबन्धविशेषस्य तस्येन्द्रे कथं स्नेहोदय इत्यत
आह—अविज्ञात इति । बन्धौ सुहृदि । अविज्ञातेऽपि बन्धुरयमित्यज्ञातेऽपि
बलाद्बान्धवसत्तावशादेव मनः प्रह्लादते हि । स्निह्यतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

आतिथेयीमथासाद्य सुतादपचितिं हरिः ।

विश्रम्य विष्टरे नाम व्याजहारेति भारतीम् ॥ ९ ॥

आतिथेयीमिति ॥ अथ हरिरिन्द्रः सुतादर्जुनात् । आतिथेयीम् अतिथिषु
साध्वीम् । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्दञ्' । अपचितिं पूजाम् । आसाद्य प्राप्य ।
'पूजा नमस्यापचितिः' इत्यमरः । विष्टर आसने । 'ऋदोरप्' इति स्तृणातेर-
प्प्रत्ययः । 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति षत्वम् । विश्रम्य नाम विश्रम्य किल ।
श्रममपनीयेत्यर्थः । इति वक्ष्यमाणप्रकारं भारतीं व्याजहार उक्तवान् ।
'व्याहार उक्तिर्लपितम्' इत्यमरः ॥ ९ ॥

अथ प्रथमं तावन्मुनिवदेनं सुमुक्षुं कृत्वाह—

त्वया साधु समारम्भि नवे वयसि यत्तपः ।

हियते विषयैः प्रायो वर्षीयानपि मादृशः ॥ १० ॥

त्वयेति ॥ त्वया साधु समारम्भि सम्यगुपक्रान्तम् । रभेः कर्मणि लुङ् ।
कृतः । यत् यस्मात् । नवे वयसि यौवने । तपः । चर्यत इति शेषः । तथा
हि—अहमिव दृश्यतेऽसौ मादृशो वर्षीयानतिवृद्धोऽपि । 'प्रियस्थिर-' इत्या-
दिना 'वृद्ध'शब्दस्य वर्षादेशः । प्रायो विषयैर्हियत आकृष्यते । किमु भवा-
दृशो यवीयानिति भावः ॥ १० ॥

अथैवमनारम्भे तव स्वाकारलाभोऽपि विफलः स्यादित्याशयेनाह—

श्रेयसीं तव संप्राप्ता गुणसंपदमाकृतिः ।

सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम् ॥ ११ ॥

श्रेयसीमिति ॥ तवाकृतिर्मूर्तिः । रम्येति शेषः । श्रेयसीं श्रेष्ठां गुणसंपदं
तपःसमारम्भरूपां संप्राप्ता । अतो न निष्फलेति भावः । न च स्वाकारा
गुणाद्याश्च क्रियन्तो न सन्तीति वाच्यमित्याह—लोक इति । लोके रम्यता

रम्याकारता सुलभां हि, गुणार्जनं गुणसंपादनं दुर्लभम्; त्वयि तूभयं संप-
द्यत इति हैमः परमामोद इति भावः ॥ ११ ॥

यदुक्तम् 'त्वया साधु समारम्भि' (श्लो० १०) इति, तदेव साधुत्वं संसार-
निःसारताख्यापनाय युग्मेनोपपादयति—

शरदम्बुधरच्छायागत्वय्यौ यौवनश्रियः ।

आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ॥ १२ ॥

शरदिति ॥ यौवनश्रियस्तावत् शरदम्बुधरच्छाया इव गत्वय्यश्चञ्चलाः ।
'गत्वरश्च' इति करवन्तो निपातः । 'टिड्ढाणञ्-' इत्यादिना ङीप् । विषयाः
शब्दादयस्तु आपातरम्यास्तत्कालरमणीयाः । 'तदात्वे पात आपातः' इति वैज-
यन्ती । पर्यन्तेऽवसाने परितापयन्ति दुःखं कुर्वन्तीति तथोक्ताः ॥ १२ ॥

अन्तकः पर्यवस्थाता जन्मिनः संततापदः ।

इति त्याज्ये भवे भव्यो मुक्तावुत्तिष्ठते जनः ॥ १३ ॥

अन्तक इति ॥ किञ्च, संतता अनवच्छिन्ना आपदः क्लेशा यस्य तस्य
जन्मिनः प्राणिनः । 'प्राणी तु चेतनो जन्मी' इत्यमरः । व्रीह्यादित्वादिनिः ।
अन्तको मृत्युः पर्यवस्थाता प्रतिरोद्धा । प्रथमं तावज्जन्मिनो जन्मदुःखमेव
दुस्तरम्, ततो जातस्य जीवनमपि सततं दुःखसंभिन्नतया विषयुक्तान्नप्रायम्,
तदपि मृत्युप्रसमिति सोऽयम् 'काकमांसं शुनोच्छिष्टं [दुर्गन्धं क्रिमिसंकुलम् ।
ग्लेच्छपक्वं सुरासिक्तं] स्वल्पं तदपि दुर्लभम् ॥' इति न्यायादिति भावः । इति
उक्तहेतोः । त्याज्ये भवे संसारे । भवतीति भव्यो योग्यो जनः । भवाद्दश
इति शेषः । 'भव्यं सुखे शुभे चापि भेद्यवद्योग्यभाविनोः' इति विश्वः । 'भव्य-
गेय-' इत्यादिना कर्तरि निपातः । मुक्तौ मोक्ष उत्तिष्ठत उद्युक्तो भवति ।
'उदोऽनूध्वकर्मणि' इत्यात्मनेपदम् ॥ १३ ॥

संप्रति प्रशंसापूर्वकं स्वाभिसन्धिं दर्शयति—

चित्तवानसि कल्याणी यत्त्वां मतिरुपस्थिता ।

विरुद्धः केवलं वेषः संदेहयति मे मनः ॥ १४ ॥

चित्तवानिति ॥ चित्तवान् प्रशस्तचित्तोऽसि । प्रशंसायां मतुप् । कुतः ।
यत् यतः, त्वां कल्याणी साध्वी । 'बह्वादिभ्यश्च' इति ङीप् । मतिरुपस्थिता
संगता । किंतु केवलमेकं यथा तथा विरुद्धो वेषो मे मनः संदेहयति
संशययुक्तं करोति । यद्वा, -वेषः केवलम् । वेष एवेत्यर्थः । 'केवलः कृत्स्न एके
च केवलं चावधारिते' इत्युभयत्रापि शाश्वतः ॥ १४ ॥

वेषविरोधमेवाह—

युयुत्सुनेव कवचं किमामुक्तमिदं त्वया ।

तपस्विनो हि वसते केवलाजिनवल्कले ॥ १५ ॥

युयुत्सुनेति ॥ युयुत्सुनेव योद्धुमिच्छुनेव त्वया । युधेः सन्नन्तादुप्रत्ययः ।

किमिदं कवचं चर्म । आमुक्तमर्पितम् । तत्र को विरोध इत्यत्राह-हि यस्मात्, तपस्विनः केवले एके । कवचाद्यसहचरिते इति यावत् । ते च ते अजिनवल्कले च । 'निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्गं त्वेककृत्स्नयोः' इत्यमरः । वसत आच्छादयन्ति । अतस्तपस्विनस्ते कवचधारणं विरुद्धमित्यर्थः ॥ १५ ॥

प्रपित्सोः किं च ते मुक्तिं निःस्पृहस्य कलेवरे ।

महेषुधी धनुर्भीमं भूतानामनभिद्रुहः ॥ १६ ॥

प्रपित्सोरिति ॥ किं च, मुक्तिं प्रपित्सोः प्राप्तुमिच्छोः । 'सनि मीमा-' इत्यादिनेसादेशः । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः । अतो मुमुक्षुत्वादेव कलेवरे शरीरे गतस्पृहस्य निःस्पृहस्य । अतो नात्मरक्षार्थं धनुर्धारणं युक्तमित्यर्थः । नापि परहिंसार्थमित्याह-भूतानां जन्तूनाम् । 'क्षमादौ जन्तौ च भूतानि' इति वैजयन्ती । 'क्रुधद्रुहोरुपस्पृष्टयोः कर्म' इति कर्मसंज्ञायां 'कर्तृ-कर्मणोः कृति-' इति कर्तरि षष्ठी । अनभिद्रुहोऽहिंसकस्य । 'सत्सूद्विष-' इत्यादिना क्विप् । ते तव महेषुधी महानिषङ्गौ भीमं त्रासजनकं धनुश्च । न समर्थयते शममित्युत्तरेणान्वयः । समर्थयत इति वचनविपरिणामः कार्यः ॥ १६ ॥

भयंकरः प्राणभृतां मृत्योर्भुज इवापरः ।

असिस्तव तपःस्थस्य न समर्थयते शमम् ॥ १७ ॥

भयंकर इति ॥ तथा, मृत्योरपरो भुज इव प्राणभृतां प्राणिनां भयं करोतीति भयंकरः । 'मेघर्तिभयेषु कृजः' इति खच्प्रत्ययः । 'अरुद्विष-' इत्यादिना मुमागमः । असिः खङ्गः । तपसि तिष्ठतीति तपःस्थः । तपश्चरन्नित्यर्थः । 'सुपि स्थः' इति कप्रत्ययः । तस्य, तव शमं शान्तिं न समर्थयते न संभावयति । किं शान्तस्य शस्त्रेणेति भावः ॥ १७ ॥

नन्वशान्तस्य किं तपसेत्याशङ्क्य जयार्थमित्याह—

जयमत्रभवान्नूनमरातिष्वभिलाषुकः ।

क्रोधलक्ष्म क्षमावन्तः कायुधं क्व तपोधनाः ॥ १८ ॥

जयमिति ॥ अत्रभवान् । पूज्य इत्यर्थः । 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति प्रथमार्थं प्राग्दिशीयस्त्वप्रत्ययः । सुप्सुपेति समासः । 'त्रिषु तत्रभवान् पूज्यस्तथैवात्रभवानपि' इति यादवः । अरातिषु शत्रुषु विषये जयमभिलाषुको जयमिच्छुः । 'लषपत-' इत्यादिनोकन्प्रत्ययः । 'न लोक-' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । नूनमिति निश्चये । 'नूनं तर्केऽपि निश्चये' इत्यमरः । क्रोधस्य लक्ष्म कोपस्य लिङ्गम् । आयुधं क्व । क्षमावन्तः शान्ताः तपोधनाः क्व । क्रोधशान्त्योर्विरोधात् तत्कार्ययोः शस्त्रतपसोरप्येकत्रासंगतेश्च शस्त्रिणस्ते तपो जयार्थं न तु मोक्षार्थमिति निश्चय इत्यर्थः ॥ १८ ॥

तपसो जयार्थत्वे दोषमाह—

यः करोति वधोदर्का निःश्रेयसकरीः क्रियाः ।

ग्लानिदोषच्छिदः स्वच्छाः स मूढः पङ्कयत्यपः ॥ १९ ॥

य इति ॥ यः पुमान् । निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसं मुक्तिः । 'अचतुर-' इत्यादिना

समासान्तो निपातः । 'मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणश्रेयोनिःश्रेयसामृतम्' इत्य-
मरः । निःश्रेयसं कुर्वन्तीति निःश्रेयसकरीः । निःश्रेयसहेतुनित्यर्थः । 'कृजो
हेतुताच्छीलानुलोम्येषु' इति हेत्वर्थे टप्रत्ययः । टित्वान्डीप् । क्रियास्तपोदाना-
दिकर्माणि वधोदर्का हिंसाफलकाः करोति । 'उदकः फलमुत्तरम्' इत्यमरः ।
अत एव मूढः स पुमान् । ग्लानिरेव दोषस्तं छिन्दन्तीति ग्लानिदोषच्छिदः
पिपासाहारिणीः । क्विप् । स्वच्छा निर्मला अपः पङ्कयति पङ्कवतीः करोति ।
'णाविष्टवद्भावे विन्मतोर्लुक्' इति मतुपो लुक् । महाफलसाधनस्य तपसस्तुच्छ-
फलैर्विनियोगः स्वच्छाम्बुनः पङ्कसंकरवत् प्रेक्षावद्भिर्गर्हित इत्यर्थः । अत्र 'यत्तपसो
वधोदर्कीकरणं तन्निर्मलस्य पयसः पङ्कसंकरिकरणम्' इति वाक्यार्थे वाक्यार्थान्तर-
मारोप्य प्रतिबिम्बकरणाक्षेपादसंभवद्वस्तुसंबन्धाद्वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शनालंकारः १९

नन्वर्थकामयोरपि मोक्षवत्पुरुषार्थत्वात्तपसस्तदर्थत्वे को दोषस्तत्राह—

मूलं दोषस्य हिंसादेरर्थकामौ स मा पुषः ।

तौ हि तत्त्वावबोधस्य दुरुच्छेदावुपप्लवौ ॥ २० ॥

मूलमिति ॥ हिंसादेरिति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । 'आदि'शब्दात् अनृतस्ते-
यादीनां संग्रहः । दोषस्य अवगुणस्य मूलं कारणभूतौ । 'स्त्रीकामा धनकामाश्च किं
न कुर्वन्ति पातकम्' इति भावः । अर्थकामौ मा स पुषो नोपचिनुष्व ।
'स्मोत्तरे लङ् च' इति लङ् । 'पुषादि-' इत्यादिना च्लेरङादेशः । हि यस्मात्,
तौ अर्थकामौ तत्त्वावबोधस्य तत्त्वज्ञानस्य । मोक्षसाधनस्येति शेषः । दुरु-
च्छेदौ दुर्वारौ उपप्लवौ हिंसादिप्रवर्तकत्वाद्दन्तकौ । अतः पुरुषार्थपरिपन्थिना-
वेतौ न पुरुषार्थावित्यर्थः ॥ २० ॥

मुक्तिप्रतिबन्धकत्वादपुरुषार्थावर्थकामावित्युक्तम्, तन्नार्थस्य दुःखैकनिदान-
त्वादप्यपुरुषार्थत्वमिति पञ्चभिः प्रपञ्चयति—

अभिद्रोहेण भूतानामर्जयन् गत्वरीः श्रियः ।

उदन्वानिव सिन्धूनामापदामेति पात्रताम् ॥ २१ ॥

अभिद्रोहेणेत्यादि ॥ भूतानामभिद्रोहेण हिंसया गत्वरीरस्थिराः श्रियः
संपदोऽर्जयन् जनः । उदकमस्तीति उदन्वानुदधिः । 'उदन्वानुदधौ च' इति
निपातनात्साधुः । सिन्धूनां नदीनामिव आपदां विपदां पात्रतां मूलत्वम् ।
एति ॥ २१ ॥

आपत्पात्रतामेव व्यनक्ति—

या गम्याः सत्सहायानां यासु खेदो भयं यतः ।

तासां किं यन्न दुःखाय विपदामिव संपदाम् ॥ २२ ॥

या इति ॥ याः संपदः सत्सहायानां विद्यमानसाधनानामेव पुंसां गम्याः
प्राप्याः । विपदोऽपि सत्सहायानामेव गम्याः । निस्तीर्या इत्यर्थः । 'कृत्यानां
कर्तरि वा' इति षष्ठी । यासु सतीषु खेदो रक्षणादिक्लेशः । विपत्सु स्वत एवेति
विशेषः । यतो याभ्यः संपन्नो भयम् । अनेकानर्थमूलत्वादिति भावः । विप-
त्सु स्वरूपत एवेति भावः । किं बहुना, विपदामिव तासां संपदां

संबन्धि न किम् । अस्तीति शेषः । यद्दुःखाय न भवति । सर्वं दुःखावहमेवेति भावः । यदाहुः—‘अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे । नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम् ॥’ इति । अतो हेया इति भावः । अत्र ‘यन्न दुःखाय’ इत्युत्तरवाक्यस्य यच्छब्दसामर्थ्यात्तासां किमिति पूर्ववाक्ये तच्छब्दोपादानं नापेक्षते । तदेतत्काव्यप्रकाशे स्पष्टम् ॥ २२ ॥

दुरासदानरीनुग्रान् धृतेर्विश्वासजन्मनः ।

भोगान्भोगानिवाहेयानध्यास्यापन्न दुर्लभा ॥ २३ ॥

दुरासदानिति ॥ किंच, दुरासदान् दुःप्रापान् । विश्वासाज्जन्म यस्यास्तस्याः । जन्मोत्तरपदत्वाद्बधिकरणो बहुव्रीहिः । धृतेः संतोषस्य । उग्रानरीन् । धनिकस्य सर्वत्रानाश्वाससंभवाद्द्विसम्भसुखभञ्जकानित्यर्थः । भुज्यन्त इति भोगान् धनानि । आहेयान् अहिषु भवान् । ‘इतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्त्यहेर्दञ्’ । भोगान् फणानिव । ‘भोगः सुखे धने चाहेः शरीरफणयोरपि’ इत्युभयत्रापि विश्वः । अध्यास्य अधिष्ठाय । आपत् विपत् । न दुर्लभा । आशीविषमुखमिव नेच्छन्तमेव भोगिनं पुमांसं बलादापदोऽनुसंदधतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

इतोऽपि श्रियो हेया इत्याह—

नान्तरज्ञाः श्रियो जातु प्रियैरासां न भूयते ।

आसक्तास्तास्वमी मूढा वामशीला हि जन्तवः ॥ २४ ॥

नेति ॥ श्रियः संपदो जातु कदाचित् । अन्तरज्ञा नीचानीचविशेषाभिज्ञा न भवन्ति । अत एव, आसां श्रियां प्रियैर्न भूयते । न ताः कुत्राप्यनुरज्यन्तीत्यर्थः । नन्वयं श्रीदोषो न पुरुषदोष इति चेत्तत्राह—मूढा अमी जनाः तासु अननुरक्तास्वपि श्रीषु आसक्ताः । स्त्रीष्विव श्रीष्वननुरक्तास्वनुरागः पुंसामेवायं दोष इत्यर्थः । किमर्थं तर्हि तास्वेव सर्वेषामासक्तिरित्यर्थान्तरं न्यस्यति—वामेति । जन्तवो वामशीला वक्रस्वभावा हि । स्वभावस्य दुर्वारत्वादिति भावः ॥ २४ ॥

यदुक्तम्—‘नान्तरज्ञाः श्रियः’ (श्लो० २४) इति, तदेव भङ्ग्यन्तरेणाह—

कोऽपवादः स्तुतिपदे यदशीलेषु चञ्चलाः ।

साधुवृत्तानपि क्षुद्रा विक्षिपन्त्येव संपदः ॥ २५ ॥

क इति ॥ यत् संपदोऽशीलेषु दुःशीलेषु विषये चञ्चला अस्थिराः । न तद्विरुद्धमुच्यते, यतः चञ्चला इति अतः स्तुतिपदे स्तुतिविषये तत्र कोऽपवादः का निन्दा । किंतु क्षुद्राः संपदः साधुवृत्तानपि विक्षिपन्त्येव जहत्येव । तदेव तासां निन्दापदमित्यर्थः । तस्मादर्थो न पुरुषार्थ इति संदर्भार्थः ॥ २५ ॥

ननु नार्थमहमर्थये, किंतु वीरधर्ममनुपालयन् वैरनिर्घातनमिच्छामीत्याशङ्क्य तदपि परपीडात्मकत्वादयुक्तमिति श्लोकचतुष्टयेनाचष्टे—

कृतवानन्यदेहेषु कर्ता च विधुरं मनः ।

अप्रियैरिव संयोगो विप्रयोगः प्रियैः सह ॥ २६ ॥

कृतवानिति ॥ तत्रात्मदृष्टान्तेनैव परपीडातो निवर्तितव्यमित्याशयेनाह—

अप्रियैरनिष्टवस्तुभिः संयोग इव प्रियैरिष्टवस्तुभिः सह विप्रयोगो विरहो-
ऽन्यदेहेषु स्वस्यैव देहान्तरेषु । अतीतानागतेष्विति शेषः । मनो विधुरं
दुःखितं कृतवान् कर्ता करिष्यति च । भविष्ये लुट् । तद्वर्तमाने चानुभूयत
इति शेषः । इष्टनाशो दुःखहेतुरिति सर्वत्रापि त्रैकालिकसिद्धमिति श्लोकार्थः २६
संप्रतीष्टसमागमस्य सुखहेतुत्वमाह—

शून्यमाकीर्णतामेति तुल्यं व्यसनमुत्सवैः ।

विप्रलम्भोऽपि लाभाय सति प्रियसमागमे ॥ २७ ॥

शून्यमिति ॥ प्रियसमागम इष्टजनसंयोगे सति शून्यं रिक्तमपि आकीर्णतां
संपूर्णताम्, एति । समृद्धमिव प्रतीयत इत्यर्थः । व्यसनं विपदपि उत्सवैस्तु-
ल्यम् । 'व्यसनं विपदि भ्रंशे' इत्यमरः । विप्रलम्भो वञ्चना । प्रतारणमिति
यावत् । सोऽपि लाभाय । किं बहुना, प्रियसंगस्य सर्वावस्थास्वपि सुख-
मेवेत्यर्थः ॥ २७ ॥

पुनः प्रकारान्तरेण प्रियवियोगस्य दुःखहेतुत्वमाह—

तदा रम्याण्यरम्याणि प्रियाः शल्यं तदासवः ।

तदैकाकी सवन्धुः सन्निष्टेन रहितो यदा ॥ २८ ॥

तदेति ॥ तदा रम्याण्यपि अरम्याणि अमनोहराणि भवन्ति । किं बहुना,
प्रिया असवः प्राणा अपि शल्यम् । शल्यवदसद्या भवन्तीत्यर्थः । किंच, तदा
सवन्धुः सन्नपि, एकाकी असहाय एव । 'एकादाकिनीच्चासहाये' इत्याकिनिच्य-
त्ययः । यदा इष्टेन रहितो भवति तदा सर्वमसद्यमिति ॥ २८ ॥

युक्तः प्रमाद्यसि हितादपेतः परितप्यसे ।

यदि नेष्टात्मनः पीडा मा सञ्जि भवता जने ॥ २९ ॥

युक्त इति ॥ किंच, युक्तः, हितेनेति शेषः । हितेनेष्टेन युक्तः सन् । प्रमा-
द्यसि प्रकर्षेण माद्यसि हृष्यसि । हितादपेतः परितप्यसे परितप्तो भवसि ।
तपेदेवादिक्त्वरि लट् । सत्यमेवं ततः किमत आह—यदीति । पीडा
आत्मनः स्वस्य च नेष्टा यदि तर्हि भवता जने परस्मिन्नपि मा सञ्जि न
सञ्जयताम् । सञ्जतेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ् । आत्मदृष्टान्तेन परपीडातो निवर्तितव्य-
मित्यर्थः । पीडायाः परात्मनोः समत्वात् ॥ २९ ॥

अथ देहास्थैर्यश्रद्धया च परपीडा न कार्येत्याह—

जन्मिनोऽस्य स्थितिं विद्वांल्लक्ष्मीमिव चलाचलाम् ।

भवान्मा स वधीन्याययं न्यायाधारा हि साधवः ॥ ३० ॥

जन्मिन इति ॥ अस्य जन्मिन उत्पत्तिधर्मिकस्य शरीरिणः । व्रीह्यादित्वा-
दिनिः । स्थितिं लक्ष्मीमिव चलाचलां चञ्चलां जन्मिधर्मत्वादेव चञ्चलाम् ।
अनित्यामित्यर्थः । चलतेः पचाद्यच् । 'चरिचलिपतिवदीनां वा द्वित्वमच्याक्चाभ्या-

सस्येति वक्तव्यम्' इति द्विर्भावः । अभ्यासस्यागागमश्च । विद्वान् । जानन्नित्यर्थः । 'विदेः शतुर्वसुः' इति वैकल्पिको वसुरादेशः । भवान् । न्यायादनपेतं न्याय्यम् । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्ययः । मा स्म वधीत् । मा नाशयेत्यर्थः । 'स्मोत्तरे लुङ् च' इति लुङ् । 'लुङि च' इति हनो वधादेशः । 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः । हि यस्मात्, साधवो न्यायाधारा न्यायावलम्बाः । बहुव्रीहिस्तत्पुरुषो वा । न्यायत्यागे साधुत्वमेव न स्यादिति भावः । 'न्यायाचाराः' इति पाठे न्यायमाचरन्तीति तथोक्ताः । कर्मण्यण् ॥ ३० ॥

तर्हि किं मे कर्तव्यं तत्राह—

विजहीहि रणोत्साहं मा तपः साधु नीनशः ।

उच्छेदं जन्मनः कर्तुमेधि शान्तस्तपोधन ॥ ३१ ॥

विजहीहीति ॥ हे तपोधन, रणोत्साहं रणोद्योगम् । लोकोत्तरेषु कार्येषु स्थेयान्प्रयत्न उत्साहस्तं विजहीहि त्यज । 'आ च हौ' इतीकारः । साधु समीचीनम् । निःश्रेयसकरत्वादिति भावः । तपो मा नीनशो न नाशय । नश्यते-र्ष्यन्तान्माङ्गयोगादाशिषि लुङ् । अडागमनिषेधश्च । किंतु जन्मन उच्छेदं कर्तुम् । मोक्षं साधयितुमित्यर्थः । शान्त एधि । विजिगीषानिवृत्तो भवेत्यर्थः । 'हुङ्गलभ्यो हेर्धिः' इति धिः । 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इत्येकार इति ॥ ३१ ॥

अथ सर्वथा मे विजयकण्डूरस्ति न निवर्तत इत्याशङ्क्य तर्ह्यन्तःशत्रुविजयेन विधीयतां तदपनोद इत्याह—

जीयन्तां दुर्जया देहे रिपवश्चक्षुरादयः ।

जितेषु ननु लोकोऽयं तेषु कृत्स्नस्त्वया जितः ॥ ३२ ॥

जीयन्तामिति ॥ दुर्जया अजय्याः । चक्षुरादयो देहे वर्तमाना रिपवो जीयन्ताम् । यस्मात् तेषु अन्तःशत्रुषु जितेषु सत्सु त्वयाऽयं कृत्स्नो लोको जितो ननु । किमुतान्ये शत्रवस्तदन्तर्गता इत्यर्थः । जितेन्द्रियस्येन्द्रियार्थनिःस्पृहस्य निर्भरवैरानुदयाद्विजयव्यपदेशः ॥ ३२ ॥

अजितेन्द्रियस्यानिष्टमाचष्टे—

परवानर्थसंसिद्धौ नीचवृत्तिरपत्रपः ।

अविधेयेन्द्रियः पुंसां गौरिवैति विधेयताम् ॥ ३३ ॥

परवानिति ॥ अर्थसंसिद्धौ अभ्यवहारादिस्वार्थसाधने परवान् पराधीनः । 'परतन्नः पराधीनः परवान्' इत्यमरः । नीचवृत्तिः कर्षणवहनादिनिकृष्टकर्मा । अपत्रपो निर्लज्जोऽविधेयेन्द्रियोऽजितेन्द्रियः पुमान् गौर्बलीवर्द इव पुंसां विधेयतां यथोक्तकारिताम् । प्रेष्यतामिति यावत् । 'विधेयो विनयग्राही वचने स्थित आश्रवः' इत्यमरः । एति प्राप्नोति । उपमालंकारोऽयम्—'प्रकृताप्रकृतयोरर्थसाधर्म्यात् श्लेषे तु शब्दमात्रसाधर्म्यम्' इति ॥ ३३ ॥

न केवलं हिंसादिदोषमूलत्वाद्विषयाणां हेयत्वम्, किंतु अपारमार्थिकत्वाद्दी-
त्याह—

श्वस्त्वया सुखसंवित्तिः स्मरणीयाधुनातनी ।

इति स्वप्नोपमान् मत्वा कामान् मा गास्तदङ्गताम् ॥ ३४ ॥

श्व इति ॥ अधुना भवा अधुनातनी इदानींतनी । 'सायंचिरं—' इत्यादिना
व्युप्रत्ययः । सुखसंवित्तिः सुखानुभवः श्वः परेऽहनि त्वया स्मरणीया । न
त्वनुभवनीया । इति हेतोः । काम्यन्त इति कामा विषयास्तान् । स्वप्नोपमान्
स्वप्नतुल्यान् । मत्वाऽतात्त्विकान्निश्चित्य तदङ्गतां तच्छेषत्वं कामपरतत्रतां मा
गा न गच्छ । 'इणो गा लुङि' इति गादेशः ॥ ३४ ॥

अतो हेयाः कामा इत्याह—

श्रद्धेया विप्रलब्धारः प्रिया विप्रियकारिणः ।

सुदुस्त्यजास्त्यजन्तोऽपि कामाः कष्टा हि शत्रवः ॥ ३५ ॥

श्रद्धेया इति ॥ श्रद्धातुमर्हाः श्रद्धेया विश्वसनीयास्तथा विप्रलब्धारः प्रता-
रकाः । विश्वासघातका इत्यर्थः । तथा, प्रीणयन्तीति प्रियाः प्रीतिजनकाः । 'इगु-
पध—' इत्यादिना कप्रत्ययः । तथापि विप्रियकारिणो दुःखजननशीलाः । किंच,
त्यजन्तोऽपि पुरुषं विहाय गच्छन्तोऽपि सुदुस्त्यजाः स्वयत्नेन त्यक्तुमशक्याः
कामा विषयाः कष्टाः कुत्सिताः शत्रवो हि प्रसिद्धशत्रवः । वैधर्म्यादिति भावः ।
अत्र श्रद्धेयत्वादीनां विप्रलम्भकत्वादीनां चैकत्र विरोधो विषयस्वाभाव्येन समा-
धीयत इति विरोधाभासोऽलंकारः । तेन च कामानां प्रसिद्धशत्रुवैधर्म्यं व्यतिरे-
केण व्यज्यत इत्यलंकारेणालंकारध्वनिः ॥ ३५ ॥

तर्हि किं कर्तव्यमित्याशङ्क्योपसंहरन्नाह—

विविक्तेऽस्मिन्नगे भूयः प्लाविते जह्नुकन्यया ।

प्रत्यासीदति मुक्तिस्त्वां पुन मा भूरुदायुधः ॥ ३६ ॥

विविक्त इति ॥ विविक्ते विजने । 'विविक्तविजनच्छन्ननिःशलाकास्तथा रहः'
इत्यमरः । जह्नुकन्यया गङ्गाया भूयो भूयिष्ठं पुनःपुनर्वा । 'भूयः पुनःपुनः ख्यातं
भूतार्थं पुनरव्ययम्' इति विश्वः । प्लाविते सिक्ते । 'प्लाविते' इति पाठे पवित्री-
कृत इत्यर्थः । अस्मिन्नग इन्द्रकीले त्वां मुक्तिः पुरा निकटे प्रत्यासीदति ।
संनिवृष्टा भविष्यतीत्यर्थः । 'पुरा पुराणे निकटप्रबन्धातीतभाविषु' इति विश्वः ।
उदायुधो गृहीतशस्त्रो मा भूः । शस्त्रं विमुञ्चेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

व्याहृत्य मरुतां पत्याविति वाचमवस्थिते ।

वचः प्रश्रयगम्भीरमथोवाच कपिध्वजः ॥ ३७ ॥

व्याहृत्येति ॥ मरुतां पत्यौ देवेन्द्रे, इति वाचं व्याहृत्य उक्त्वा, अवस्थिते
सति तूष्णीं स्थिते सति । अथ कपिध्वजोऽर्जुनः प्रश्रयगम्भीरं विनयमधुरम् ।
'विनयप्रश्रयौ समौ' इति यादवः । वच उवाच उक्तवान् ॥ ३७ ॥

किमुवाचेत्यपेक्षायां चतुर्भिरिन्द्रवाक्यमुपश्लोक्यन्नाह—

प्रसादरम्यमोजस्वि गरीयो लाघवान्वितम् ।

साकाङ्क्षमनुपस्कारं विष्वग्गति निराकुलम् ॥ ३८ ॥

प्रसादेति ॥ प्रसादोऽत्र प्रसिद्धार्थपदत्वं तेन रम्यम् । 'प्रसिद्धार्थपदत्वं यत्स प्रसादो निगद्यते' इति लक्षणात् । ओजस्वि समासभूयिष्ठम् । 'ओजः समास-भूयस्त्वम्' इति शासनात् । गरीयोऽर्थभूयस्त्वपरिगतम् । न तु शब्दाडम्बरमात्र-मित्यर्थः । लाघवान्वितं विस्तरदोषरहितम् । साकाङ्क्षं आकाङ्क्षावत्पदकदम्बा-त्मकम् । न तु दशदाडिमादिवाक्यवदनाकाङ्क्षितमित्यर्थः । अनुपस्कारं अध्या-हारदोषरहितम् । विष्वग्गति कृत्स्नार्थप्रतिपादकम् । न तु सावशेषार्थमत एव निराकुलमसंकीर्णार्थम् ॥ ३८ ॥

न्यायनिर्णीतसारत्वान्निरपेक्षमिवागमे ।

अप्रकम्प्यतयान्येषामाम्नायवचनोपमम् ॥ ३९ ॥

न्यायेति ॥ पुनः, न्यायेन युक्त्या निर्णीतसारत्वान्निश्चितार्थत्वाद्धेतोः, आगमे शास्त्रे विषये निरपेक्षं स्वतन्त्रमिव । युक्तिदार्ढ्यादेवं प्रतीयते । वस्तु-तस्तु शास्त्रसिद्धार्थमिवेति 'इव'शब्दार्थः । किंच, अन्येषां प्रतिवादिनाम् । अप्र-कम्प्यतयाऽनुमानादिभिरबाध्यत्वादप्रत्याख्याततया आम्लायवचनोपमम् । वेदवाक्यतुल्यमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

अलङ्घ्यत्वाज्जनैरन्यैः क्षुभितोदन्वदूर्जितम् ।

औदार्यादर्थसंपत्तेः शान्तं चित्तमृषेरिव ॥ ४० ॥

अलङ्घ्यत्वादिति ॥ अन्यैर्जनैरलङ्घ्यत्वात् अनुलङ्घनीयत्वात् । क्षुभितोदन्व-दूर्जितं उद्वेलाभोधिगम्भीरम् । औदार्यादुक्तिविशेषत्वात् । श्लाघ्यविशेषणत्वाद्वा । तदुक्तं दण्डिना—'उत्कर्षवान्गुणः कश्चिदुक्ते यस्मिन्प्रतीयते । तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः । श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते ॥' इति । 'अप्रा-म्यार्थत्वात्' इति केचित् । अन्यत्र,—त्यागित्वादित्यर्थः । अर्थसंपत्तेः प्रयोजन-संपत्तेः । अन्यत्र,—अणिमादिसमृद्धेः । ऋषेर्मुनेश्चित्तमिव शान्तं सौम्यम् ॥ ४० ॥

इदमीदृग्गुणोपेतं लब्धावसरसाधनम् ।

व्याकुर्यात्कः प्रियं वाक्यं यो वक्ता नेदृगाशयः ॥ ४१ ॥

इदमिति ॥ इदमीदृग्गुणोपेतं यथोक्तगुणयुक्तम् । इदमुपपदादृशोः क्विप् । 'इदंकिमोरीशकी' इतीशादेशः । लब्धे प्राप्तेऽवसरसाधने कालोपायौ येन तत् प्रियं प्रीतिकरं वाक्यं को वक्ता व्याकुर्यात् व्याहरेत् । यो वक्ता सोऽनीदृ-गाशय ईदृग्विवक्षावान् न भवति । अबुद्धिरित्यर्थः । तस्यार्थस्य वक्तुमशक्यत्वा-दिति भावः ॥ ४१ ॥

एवमिन्द्रवाक्यमुपश्लोक्य नाहमस्योपदेशस्याधिकारीति परिहरति—

न ज्ञातं तात यत्तस्य पौर्वापर्यममुष्य ते ।

शासितुं येन मां धर्मं मुनिभिस्तुल्यमिच्छसि ॥ ४२ ॥

नेति ॥ हे तात, अमुष्य यत्तस्य तपोरूपस्यास्य मदीययोगस्य पूर्वं चापरं च पूर्वापरे । त एव पौर्वापर्यं कारणं फलं च । चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे व्यञ्ज्यत्ययः । ते तव न ज्ञातम् । त्वया न ज्ञायत इत्यर्थः । 'मतिबुद्धि-' इत्यादिना वर्तमाने क्तः । तद्योगादेव पृष्ठी । कुतः । येन कारणेन मां मुनिभिस्तुल्यं सद्दशं धर्मं मोक्षधर्मं शासितुमुपदेष्टुम् । इच्छसि । शासिरयं दुहादित्वाद्धिकर्मको ज्ञेयः ॥ ४२ ॥

अथ पौर्वापर्यमज्ञात्वाप्युपदेशे दोषमाह—

अविज्ञातप्रबन्धस्य वचो वाचस्पतेरपि ।

व्रजत्यफलतामेव नयद्बुह इवेहितम् ॥ ४३ ॥

अविज्ञातेति ॥ अविज्ञातः प्रबन्धः पूर्वापरसंगतिर्येन तस्य वाचस्पतेर्वृहस्पतेरपि । कस्कादित्वात्सः । अथवा, -'षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोपेपु' इति सकारः । एतस्मादेव ज्ञापकादलुगिति केचित् । वच उपदेशो नयद्बुहो नीतिविरुद्धकारिणः पुरुषस्य । ईहितमुद्योग इव । अफलतां निष्फलत्वं व्रजत्येव गच्छत्येव ॥ ४३ ॥

ननु सदुपदेशस्य कुतो वैफल्यमित्याशङ्क्य सोऽप्यस्थाने प्रयुक्तश्चेदूपरक्षेत्रे शालिबीजवद्विफल एवेत्याशयेनाह—

श्रेयसोऽप्यस्य ते तात वचसो नास्मि भाजनम् ।

नभसः स्फुटतारस्य रात्रेरिव विपर्ययः ॥ ४४ ॥

श्रेयस इति ॥ हे तात । 'पुत्रे पितरि पूज्ये च तातशब्दं प्रचक्षते' इति । श्रेयसोऽपि हितार्थयोगात्प्रशस्ततरस्यापि । अस्य ते तव वचसो हितोपदेशरूपस्य रात्रेर्विपर्ययो दिवसः स्फुटतारस्य व्यक्ततारकस्य नभस इव भाजनं पात्रं नास्मि । अनधिकारित्वादिति भावः । अत्राहो नभोमात्रसंबन्धसंभवेऽपि तारासंबन्धासंभवात्तद्विशिष्टनभःसंबन्धविरोधाद्युक्तं तारकितस्य नभसो न पात्रमहरिति ॥ ४४ ॥

कुतस्ते मोक्षोपदेशानधिकारित्वम्, किंच, ते तपसः पौर्वापर्यं कथं न जाने इत्याशङ्क्य तत्सर्वं स्वजात्यादिकथनपूर्वकं निरूपयति—

क्षत्रियस्तनयः पाण्डोरहं पार्थो धनंजयः ।

स्थितः प्रास्तस्य दायादैर्भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासने ॥ ४५ ॥

क्षत्रिय इति ॥ अहं क्षत्रियः क्षत्रियकुले जातः । तत्रापि महाकुले प्रसूतः, वीरसंतानश्चेत्याह—पाण्डोस्तनय इति । तत्रापि कौन्तेयोऽस्मि, न माद्रेय इत्याह—पार्थ इति । पृथा कुन्ती, तत्सुतः पार्थः । 'तस्यापत्यम्' इत्यण् । अर्जुनोऽहं महावीरश्चेत्याह—धनंजय इति । उत्तरकुरुन्विजित्य धनाहरणाद्धनंजयोऽस्मीत्यर्थः । 'खचि मुमागमः' इत्युक्तं प्राक् । धनंजय इत्युक्ते शरीरस्थो

वायुः सर्पविशेषो वा स्यात्तदर्थं पार्थः, गन्धर्वोऽपि कश्चित्पृथासुतोऽस्ति तदर्थं पाण्डोः सुतः, नैमिषारण्ये पाण्डुर्विप्रस्तत्पत्नी पृथा नाम काचिद्ब्राह्मणी तत्पुत्रोऽपि स्यात्तदर्थं क्षत्रिय इति । अथैवं चेत्किमर्थं तर्हि तपस्यसि, मोक्षार्थं वा किं न तपस्यसि, तत्राह—स्थित इति । दायं पैतृकं धनमाददत इति दायादा ज्ञातयः । 'दायादो ज्ञातिपुत्रयोः' इति, 'विभक्तव्यं पितृद्रव्यं दायमाहुर्मनीषिणः' इति च विश्वः । 'स्वामीश्वरादि'सूत्रेण सोपसर्गादपि दायादेति कप्रत्ययान्तो निपातनात्साधुः । तैः, प्रास्तस्य राज्यान्निरस्तस्य । वैरिनिर्यातनार्थिन इत्यर्थः । ज्येष्ठस्य भ्रातुर्युधिष्ठिरस्य । 'वृद्ध'शब्दादिष्ठन्प्रत्ययः । वृद्धस्य च ज्यादेशः । शासने निदेशे स्थितः । तदाज्ञया तपस्यामीत्यर्थः । अन्यथा मानहानिः सौभ्रात्रभङ्गः पूज्यपूजाव्यतिक्रमदोषश्च स्फुरतीति भावः । अत एव हिंसैकरसस्य रागद्वेषकषायितचेतसः कुतो मे मोक्षाधिकार इति तात्पर्यार्थः । सार्थविशेषणत्वात्परिकरालंकारः ॥४५॥

यदुक्तम्—'विरुद्धः केवलं वेषः' (श्लो० १४) इति तत्रोत्तरमाह—

कृष्णद्वैपायनादेशाद्भिर्मिं व्रतमीदृशम् ।

भृशमाराधने यत्तः स्वाराध्यस्य मरुत्वतः ॥ ४६ ॥

कृष्णेति ॥ द्वीपोऽयनं जन्मभूमिर्यस्य स द्वीपायनः, स एव द्वैपायनो व्यासः । प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेऽणप्रत्ययः । स एव कृष्णवर्णत्वात् कृष्णद्वैपायनश्च । तस्यादेशादुपदेशात् । ईदृशम् । विरुद्धवेषमित्यर्थः । व्रतं तपोनियमं विभर्मिं धारयामि । न तु स्वेच्छयेति भावः । अथोपास्यां देवतामाह—भृशमिति । स्वाराध्यस्य सुखमाराध्यस्य । प्रादिसमासः । 'स्वाराध्यस्य' इति पाठ उपसृष्टात्खलप्रत्ययः । मरुत्वत इन्द्रस्य । भृशं सम्यक् । आराधने यत्तः । प्रयत्नवानित्यर्थः । तस्य क्षत्रियदेवतत्वादिति भावः ॥ ४६ ॥

ननु भवादृशभ्रातृसहायस्य महावीरस्य युधिष्ठिरस्य कथमरिपरिभवप्राप्तिरित्यत आह—

दुरक्षान्दीव्यता राज्ञा राज्यमात्मा वयं वधूः ।

नीतानि पणतां नूनमीदृशी भवितव्यता ॥ ४७ ॥

दुरक्षानिति ॥ दुरक्षान् । कपटपाशकैरित्यर्थः । 'दिवः कर्म च' इति करणे कर्मसंज्ञा । दीव्यता क्रीडता । 'आहूतो न निवर्तेत द्यूतादपि रणादपि' इति शास्त्रात् । न तु व्यसनितयेति भावः । राज्ञा युधिष्ठिरेण राज्यं राष्ट्रम्, आत्मा स्वयं, वयं चत्वारोऽनुजाः, वधूर्जाया द्वौपदी च, पणतां ग्लहत्वम् । 'पणोऽक्षेषु ग्लहोऽक्षास्तु देवनाः पाशकाश्च ते' इत्यमरः । नीतानि । सर्वं द्यूते राज्ञा हारितमित्यर्थः । नीतानीति नपुंसकैकशेषः । नयतेर्द्विकर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि क्तः । ननु सर्वज्ञस्य राज्ञः कथमियमविमृश्यकारिता तत्राह—भवितव्यताऽनर्थानामवश्यं भाविता । ईदृशी नूनं निश्चितम् । नात्र संशय इत्यर्थः । बुद्धिरपि भवितव्यतानुसारिण्येव, न स्वतन्त्रेत्यर्थः ॥ ४७ ॥

ननु तथापि तत्रैव तेष्वसङ्गो न तेषां त्वयि तत्राह—

तेनानुजसहायेन द्रौपद्या च मया विना ।

भृशमायामियामासु यामिनीष्वभितप्यते ॥ ४८ ॥

तेनेति ॥ अनुजाः सहजाताः सहाया यस्य तेन । अनुजयुक्तेनेत्यर्थः । तुल्य-
योगः सहायार्थः । तेन युधिष्ठिरेण द्रौपद्या च मया विना । मद्विरहादित्यर्थः ।
आयामिनो दीर्घा यामाः प्रहरा यासां तास्तासु । दुःखितस्य तथाभावादिति
भावः । यामिनीष्वभितप्यते । भावे लट् । तेषु मद्वत्तेषां मय्यप्यासङ्गाच्च
वैराग्यावकाश इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

अथ वैरिनिर्यातनस्यावश्यंभावद्योतनाय चतुर्भिः परनिकारान् वर्णयति—

हतोत्तरीयां प्रसभं सभायामागतद्वियः ।

मर्मच्छिदा नो वचसा निरतक्षन्नरातयः ॥ ४९ ॥

हतेत्यादि ॥ अरातयः शत्रवः सभायां प्रसभं बलात्कारेण हतोत्तरीयाम्,
अत एव, आगतद्वियः संप्राप्तलज्जान् नोऽस्मान् । मर्मच्छिदा मर्मच्छेदिना
वचसा निरतक्षन् अशातयन् । वस्त्राद्यपहारवाक्पारुष्याभ्यां तथा व्यथयामा-
सुरित्यर्थः । 'तक्षण'शब्दसामर्थ्याद्वचसो वाऽस्यौपम्यं गम्यत इति वस्तुनालंकार-
ध्वनिः ॥ ४९ ॥

अथातिदुःसहनिकारान्तरमाह—

उपाधत्त सपत्नेषु कृष्णाया गुरुसंनिधौ ।

भावमानयने सत्याः सत्यंकारमिवान्तकः ॥ ५० ॥

उपाधत्तेति ॥ अन्तको मृत्युः गुरुसंनिधौ भीष्मद्रोणादिसमक्षमेव सत्याः
पतिव्रतायाः कृष्णाया द्रौपद्या आनयने केशाम्बरादिकर्षणे भावं चित्ताभिप्रा-
यमितः परमनेन पाण्डवाभिभवेनैतान् स्वनगरं नेष्यामीत्येवंभूतं सत्यंकारमिव ।
क्रियतेऽनेनेति कारः । करणे घञ् । सत्यस्य कारः सत्यंकारः सत्यापनम् । चिकी-
र्षितस्य कार्यस्यावश्यं क्रियास्थापनार्थं परहस्ते यदीयते स सत्यंकारः । क्रियादौ
सत्यदाढ्याय प्राग्दीयमानो मूल्यैकदेशश्च । 'ह्रीवे सत्यापनं सत्यंकारः सत्याकृतिः
स्त्रियाम्' इत्यमरः । 'कारे सत्यागदस्य' इति मुमागमः । तमिव, सपत्नेषूपपाधत्त
निहितवान् । तेषां विनाशकाले विपरीतबुद्धिमुत्पादितवानित्यर्थः ॥ ५० ॥

केनेयमाकृष्टा, सभ्यैर्वा किं कृतं तत्राह—

तामैक्षन्त क्षणं सभ्या दुःशासनपुरःसराम् ।

अभिसायार्कमावृत्तां छायामिव महातरोः ॥ ५१ ॥

तामिति ॥ दुःशासनः पुरःसरो यस्यास्तां तथोक्ताम् । दुःशासनेन सभां
प्रत्याकृष्यमाणामित्यर्थः । 'अनुपसर्जनात्' इति न डीप् । तां कृष्णाम् । सभायां
साधवः सभ्याः । 'सभाया यः' इति यप्रत्ययः । अभिसायार्कं दिनान्तसूर्या-
भिमुखम् । स्थितस्येति शेषः । 'सायो नाशदिनान्तयोः' इति विश्वः । 'लक्षणे-

नाभिप्रती आभिमुख्ये' इत्यव्ययीभावः । महातरोः संबन्धिनीम्, आवृत्तां छायामिव तां कृष्णां क्षणमैक्षन्त । न चिरं जुगुप्सितत्वात् । नापि किञ्चिद्वा-
प्रियन्त माध्यस्थ्यभङ्गभयात् । ते त्वर्कवदेव साक्षित्वमात्रमास्थिता इत्यर्थः ।
अत्राकृष्यमाणायाः कृष्णाया आकृष्टारं प्रति पराङ्मुखत्वादावृत्तच्छायौपम्यम् ।
तथापि तां न मुञ्चतीति दुःशासनस्य तरुसाम्यम् ॥ ५१ ॥

अथास्यास्तादात्मिकमायथार्थं वर्णयति—

अयथार्थक्रियारम्भैः पतिभिः किं त्वेक्षितैः ।

अरुध्येतामितीवास्या नयने बाष्पवारिणा ॥ ५२ ॥

अयथार्थेति ॥ अयथार्था मिथ्याभूताः क्रियारम्भाः 'पति'शब्दप्रवृत्तिनि-
मित्तभूतकर्मोद्योगा येषां तैः । तामरक्षद्भिरित्यर्थः । तव संबन्धिभिः । पान्ति
रक्षन्तीति पतयो भर्तारः । 'पातेर्डतिः' इत्यौणादिको डतिप्रत्ययः । तैः, ईक्षितै-
रवेक्षितैः किम् । न किञ्चित्फलमस्तीत्यर्थः । इतीव इत्थं विचार्येवेत्युत्प्रेक्षा ।
बाष्पवारिणाऽस्याः कृष्णाया नयने अरुध्येतामावृते । रुधेः कर्मणि लङ् ।
अशरणा रुरोदेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

ननु भवद्भिः किमर्थमसमर्थैरिवोपेक्षितं तत्राह—

सोढवान्नो दशामन्त्यां ज्यायानेव गुणप्रियः ।

सुलभो हि द्विषां भङ्गो दुर्लभा सत्स्ववाच्यता ॥ ५३ ॥

सोढवानिति ॥ गुणाः प्रिया यस्य स गुणप्रियः प्रियगुणः । 'वा प्रियस्य'
इति परनिपातः । ज्यायान् अग्रजो युधिष्ठिर एव । 'वृद्ध'शब्दादीयसुनि 'ज्यादा-
दीयसः' इत्याकारादेशः । नोऽस्माकम् । अन्ते भवाम् अन्त्यां निकृष्टां दशामवस्थां
सोढवान्, न तु वयम् । किन्तु तदवरुद्धा इति भावः । ननु शत्रूपेक्षा महानर्थ-
कारिणीत्याशङ्क्याह—सुलभ इति । द्विषां विद्विषां भङ्गः सुलभः । कालान्त-
रेऽपीति शेषः । सत्सु सज्जनेषु । अवाच्यता निन्द्यता दुर्लभा, न तु शत्रू-
पेक्षा । हि प्रसिद्धौ । शत्रूपेक्षातो लोकापवाद एव बलवान् । तस्योत्पन्नस्य पुन-
रप्रतिविधेयत्वात्, स च समयोल्लङ्घने स्यादेवेति भावः ॥ ५३ ॥

ननु शत्रुवधे राज्ञां को नामापवादः प्रत्युत कीर्तिरेवेत्याशङ्क्य, सत्यं स एव
समयोल्लङ्घनकलङ्कितकीर्त्या महानिन्दानिदानमित्याशयेनाह—

स्थित्यतिक्रान्तिभीरूणि स्वच्छान्याकुलितान्यपि ।

तोयानि तोयराशीनां मनांसि च मनस्विनाम् ॥ ५४ ॥

स्थित्यतिक्रान्तेर्मर्यादौलङ्घनाद्धेतोः भीरूणि, अत एव, आकुलितानि संक्षो-
भितान्यपि स्वच्छानि अकलुषाणि । न त्वरन्त इत्यर्थः । मनस्व्ययं युधिष्ठिर इति
भावः । अत्र तोयानां सामान्यतो मनस्विनां चापकृतानामेव गुणतौल्यादौपम्यस्य
गम्यतया तुल्ययोगितालंकारः । गुणश्चात्र भीरुवं स्वच्छता च ॥ ५४ ॥

नन्वजातशत्रोः स्वजनवैरे किं कारणमित्याशङ्क्यास्सौहार्दमेवेत्याह—

धार्तराष्ट्रैः सह प्रीतिवैरमस्मास्वसूयत ।

असन्मैत्री हि दोषाय कूलच्छायेव सेविता ॥ ५५ ॥

धार्तराष्ट्रैरिति ॥ धार्तराष्ट्रैर्धृतराष्ट्रपुत्रैः सह प्रीतिः सौहार्दमेव, अस्मासु विषये वैरमसूयत सूतवती । सूयतेदेवादिकात्कर्तरि लङ् । ननु सौहार्दं वैरजनकं चेद्विप्रतिषिद्धं तत्राह—असदिति । हि यस्मात्, असन्मैत्री दुर्जनेन संगतिः कूलस्यासन्नपातस्य नदीतटस्य छायेव सेविता श्रिता सती दोषायानर्थाय भवति । न खलु दुर्जनः सुजनवन्मिन्नद्रोहपातकं पश्यतीति भावः । उपमाप्राणितोऽयमर्थान्तरन्यासालंकारः ॥ ५५ ॥

नन्वादावेव तेषां वृत्तमविज्ञाय कथं मैत्री कृतेत्याशङ्क्य,—किं कुर्मः, दुर्जनवृत्तं दुर्विज्ञेयमित्याह—

अपवादादभीतस्य समस्य गुणदोषयोः ।

असद्वृत्तेरहोवृत्तं दुर्विभावं विधेरिव ॥ ५६ ॥

अपवादादिति ॥ अपवादात् जनाक्रोशात् । अभीतस्य । अजुगुप्समानस्येत्यर्थः । गुणदोषयोः समस्य तुल्यबुद्धेः । निग्रहानुग्रहौ गुणदोषयोरननुरुन्धत इत्यर्थः । विधावप्येतद्विशेषणं योज्यम् । असद्वृत्तेर्दुराचारस्य धूर्तस्य । अहोवृत्तमीहितं विधेर्देवस्य वृत्तमिव दुर्विभावं विभावयितुमशक्यम् । किंतु कार्यैकसमधिगम्यमित्यर्थः । भवतेर्ण्यन्तात्कृच्छार्थं खलप्रत्ययः ॥ ५६ ॥

नन्वेवं मानी कथं परिभूतो जीवसि तत्राह—

ध्वंसेत हृदयं सद्यः परिभूतस्य मे परैः ।

यद्यमर्षः प्रतीकारं भुजालम्बं न लम्भयेत् ॥ ५७ ॥

ध्वंसेतेति ॥ परैः शत्रुभिः परिभूतस्य मे हृदयं सद्यो ध्वंसेत । अश्वेत्यर्थः । अमर्षः कर्ता प्रतीकारं प्रतिक्रियारूपं भुजालम्बं हस्तावलम्बनं न लम्भयेन्न ग्राहयेद्यदि । हृदयेनेति शेषः । सत्यं जीवामि प्रतिविधित्सया । न तु निर्लज्जतयेति भावः ॥ ५७ ॥

ननु तवैव कोऽयमभिमानस्तत्राह—

अवधूयारिभिर्नीता हरिणैस्तुल्यवृत्तिताम् ।

अन्योन्यस्यापि जिहीमः किं पुनः सहवासिनाम् ॥ ५८ ॥

अवधूयेति ॥ अरिभिरवधूय परिभूय हरिणैर्मृगैस्तुल्यवृत्तितां तुल्यजीवनत्वम् । वन्याहारतामित्यर्थः । नीताः प्रापिता वयम् । पञ्चापीति शेषः । अन्योन्यस्यापि जिहीमो लज्जामहे । सहवासिनां सहचारिणां किं पुनः । प्रागेव जिहीम इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । क्रियायोगे संबन्धसामान्ये षष्ठी । अत्र वयं पञ्चापि तुल्याभिमाना एव । इदं तु मदेकसाध्यं कर्मेति मुनिशासनात्मयानुष्ठीयत इति भावः ॥ ५८ ॥

१ 'तटच्छायेव' इति पाठः. २ 'दुर्विभाव्यम्' इति पाठः. ३ 'तुल्यरूपताम्' इति पाठः.

ननु तर्हि दुःखैकनिदानमन्तःशत्रुर्मान एव त्यज्यतामित्याशङ्क्य तत्त्यागे दोषमाह—

शक्तिवैकल्यनम्रस्य निःसारत्वाल्लघीयसः ।

जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः ॥ ५९ ॥

शक्तीति ॥ शक्तिवैकल्येनोत्साहादिशक्तिवैधुर्येणाऽवष्टम्भसामर्थ्यविरहेण च नम्रस्य प्रह्वीभूतस्य विधेयभूतस्य च निःसारत्वात् दुर्बलत्वात् । स्थिरांशरहितत्वाच्च । 'सारो बले स्थिरांशे च' इत्यमरः । लघीयसो गौरवहीनस्य । नीरसस्येत्यर्थः । मानहीनस्य जन्मिनो जन्तोः । व्रीह्यादित्वादिनिः । तृणस्य च गतिरवस्था समा इति । मानहीनस्य तृणादपि निकृष्टत्वान्न त्याज्यो मान इति भावः । श्लेषालंकारोऽयं तदनुप्राणितेयमुपमेत्यनेकार्थदीपिकेति व्यज्यते ॥ ५९ ॥

मानत्यागे दोषमुक्त्वा तत्सद्भावे षड्भिर्गुणमाह—

अलङ्घ्यं तत्तदुद्दीक्ष्य यद्यदुच्चैर्महीभृताम् ।

प्रियतां ज्यायसीं मागान्महतां केन तुङ्गता ॥ ६० ॥

अलङ्घ्यमिति ॥ महीभृतां पर्वतानां संबन्धि यद्यत् शृङ्गादिकम् । उच्चैरुन्नतं तत्तदलङ्घ्यमुद्दीक्ष्योत्प्रेक्ष्य । तर्कयित्वेति यावत् । महतां महात्मनां तुङ्गता मानौन्नत्यं ज्यायसीं प्रियतां प्रियत्वं केन हेतुना मागात् । न केनापि प्रियत्वं गच्छत्येवेत्यर्थः । आशिषि माङ्गि लुङ् । अतोऽपवादः । दैवमनिच्छन्नपीच्छामुत्पादयत्यौषधवदस्मिन्नर्थे इत्याशंसनार्थमाशीःप्रयोगः । उद्दीक्ष्येत्यसमानकर्तृकत्वनिर्देशः क्वचित्प्रयोगदर्शनात्सोढव्यः । केचित् 'उद्दीक्ष्यम्' इति पठन्ति । तत्र यद्यदुच्चैस्तत्तदलङ्घ्यमुद्दीक्ष्यमवलोकनीयं न चोलङ्घनीयमिति । अतो महतामित्यादि योजयन्ति ॥ ६० ॥

तावदाश्रीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिरं यशः ।

पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते ॥ ६१ ॥

तावदिति ॥ किंच, तावदेवासौ लक्ष्म्याऽऽश्रीयते । तावदस्य पुंसो यशः स्थिरम् । तावदेव असौ पुरुषः । पुरुषत्वेन गण्यत इत्यर्थः । यावत् मानादभिमानात् । न हीयते न भ्रश्यति । मानहीनस्य न किञ्चिच्छुभमस्तीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

स पुमानर्थवज्जन्मा यस्य नाम्नि पुरःस्थिते ।

नान्यामङ्गुलिमभ्येति संख्यायामुद्यताङ्गुलिः ॥ ६२ ॥

स इति ॥ स पुमान्, अर्थवज्जन्मा सार्थकजन्मा यस्य पुंसो नाम्नि पुरोऽग्रे स्थिते सति संख्यायां पुरुषगणनाप्रस्ताव उद्यता गुणमधिकृत्योन्नमिताऽङ्गुलिरन्यां द्वितीयाम् । अङ्गुलिम् । उद्यतामिति शेषः । नाभ्येति न प्राप्नोति । अद्वितीयत्वादस्येत्यर्थः । पतन्मानरहितस्य न संभवतीति भावः ॥ ६२ ॥

१ 'यदेवोच्चैः' इति पाठः. २ अस्याग्रे—'किं तु तुङ्गत्वेनेत्यर्थः' इत्यधिकः पाठः क्वचित्.

दुरासदवनज्यायान् गम्यस्तुङ्गोऽपि भूधरः ।

न जहाति महौजस्कं मानप्रांशुमलङ्घ्यता ॥ ६३ ॥

दुरासदेति ॥ दुरासदैर्वनैर्ज्यायान् प्रवृद्धस्तथापि तुङ्गोऽपि भूधरो गम्यो गन्तुं शक्य एव । प्रसिद्धं चैतदिति भावः । महौजस्कं प्रतापसंपन्नं मानप्रांशुं मानोन्नतम् । पुरुषमिति शेषः । अलङ्घ्यता न जहाति । कदाचिन्मानी लङ्घयितुं न शक्यत इत्यर्थः । गिरेरपि गरीयान् मानाधिक इति भावः । अत्रोपमानाद्भूधरादुपमेयस्य मानिनो धर्मान्तरसाम्येऽप्यलङ्घ्यत्वेनाधिक्य-कथनाच्चतिरेकालंकारः ॥ ६३ ॥

गुरुन्कुर्वन्ति ते वंश्यान्वर्था तैर्वसुंधरा ।

येषां यशांसि शुभ्राणि ह्येपयन्तीन्दुमण्डलम् ॥ ६४ ॥

गुरुनिति ॥ ते नराः । वंश्यान् अन्वये भवान् । गुरुन् कुर्वन्ति प्रथयन्ति । स्वनाम्ना व्यपदेशयन्ति रघुदिलीपादिवदित्यर्थः । तैर्नरैः । वसूनि धनानि धरतीति वसुंधरा । 'संज्ञायां भृवृजि-' इत्यादिना खचप्रत्यये 'खचि ह्रस्वः' इति ह्रस्वा-नुमागमश्च । अन्वर्थाऽनुगतार्था । तेषां वसुभूतानां धारणादिति भावः । येषां शुभ्राणि यशांसि इन्दुमण्डलं ह्येपयन्ति लज्जयन्ति । यशसो निष्कलङ्कत्वा-दिति भावः । ईदृशं हि यशो मानमहत एव संभवतीति तात्पर्यार्थः । हीधातो-र्ण्यन्ताल्लट् । 'अर्तिही-' इत्यादिना पुगागमः । अत्र ह्येपणस्य सादृश्यपर्यवसाना-दुपमालंकारः ॥ ६४ ॥

उदाहरणमाशीःषु प्रथमे ते मनस्विनाम् ।

शुष्केऽशनिरिवामर्षो यैररातिषु पात्यते ॥ ६५ ॥

उदाहरणमिति ॥ यैरमर्षः क्रोधः शुष्के नीरसे । अशनिरिव अरातिषु विषये पात्यते प्रक्षिप्यते । मनस्विनां मानिनां प्रथमेऽप्रेसरास्ते आशीःषु पुरुषैरेवं भवितव्यमेवंरूपासु । उदाहरणं निदर्शनम् । भवन्तीति शेषः । रामादिवदुप-मानं भवन्तीत्यर्थः । अतो न त्याज्यो मान इति संदर्भार्थः ॥ ६५ ॥

यदुक्तम्—'अभिद्रोहेण भूतानाम्' (श्लो० २१) इत्यादि, तत्र युग्मेनोत्तर-माह—

न सुखं प्रार्थये नार्थमुदन्वद्वीचिचञ्चलम् ।

नानित्यताशनेस्त्रस्यन् विविक्तं ब्रह्मणः पदम् ॥ ६६ ॥

नेत्यादि ॥ उदन्वद्वीचिरिव चञ्चलं समुद्रतरङ्गवदस्थिरं सुखं कामं न प्रार्थये नेच्छामि । तथा, चञ्चलं अर्थं च न प्रार्थये । किंच, अनित्यता विना-शिता सैव अशनिस्तस्मात् त्रस्यन् बिभ्यन् । 'वा भ्राश-' इत्यादिना श्यन्प्रत्ययः । विविक्तं निर्बाधं ब्रह्मणो वेधस आत्मनः पद्यत इति पदं स्थानमैक्यलक्षणं सुक्तिं च न प्रार्थये । एतेन यदुक्तम्—'उच्छेदं जन्मनः कर्तुम्' (श्लो० ११) इत्यादि, तत् समाहितम् ॥ ६६ ॥

प्रमार्ष्टुमयशःपङ्कमिच्छेयं छद्मना कृतम् ।

वैधव्यतापितारातिवनितालोचनाम्बुभिः ॥ ६७ ॥

प्रमार्ष्टुमिति ॥ किंतु, छद्मना कपटेन कृतम् । शत्रुभिरिति शेषः । अयश एव पङ्कमिति रूपकालंकारः । वैधव्येन तापितानां दुःखीकृतानामरातिवनितानां लोचनाम्बुभिः प्रमार्ष्टुं क्षालयितुम् । इच्छेयमभिलषेयम् । इषिधातोर्लिङि रूपम् । वैरिनिर्यातनातिरिक्तं न किञ्चिदिच्छामीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

एवं तर्हि 'यः करोति वधोदकाः' (श्लो० १९) इत्याद्युक्तदोषः स्यादित्याशङ्कामङ्गीकृत्य ग्लानिर्न दोषायेति न्यायमाश्रित्य युग्मेनोत्तरमाह—

अपहस्येऽथवा सद्भिः प्रमादो वास्तु मे धियः ।

अस्थानविहितायासः कामं जिहेतु वा भवान् ॥ ६८ ॥

अपहस्य इत्यादि ॥ अथवा, सद्भिः पण्डितैः अपहस्ये । अपहसिष्य इत्यर्थः । 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति हसतेरण्यन्तात्कर्मणि लट् । ण्यन्तस्तु भ्रान्तपाठः । मे धियः प्रमादोऽनवधानत्वं वाऽस्तु । भवान् अस्थानेऽयोग्यविषये विहित आयासो हितोपदेशप्रयासो येन स तथोक्तः । विफलप्रयत्नः सन्नित्यर्थः । कामं वा जिहेतु लज्जताम् ॥ ६८ ॥

वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्य समुच्छेदेन विद्विषाम् ।

निर्वाणमपि मन्येऽहमन्तरायं जयश्रियः ॥ ६९ ॥

वंशेति ॥ अहं तु विद्विषां शत्रूणां समुच्छेदेन विनाशेन करणेन वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्यापुनरावर्त्य निर्वाणं मोक्षमपि जयश्रियोऽन्तरायं विघ्नं मन्ये । न तु पुरुषार्थमित्यर्थः । किमुतान्योत्सवादिकमिति भावः ॥ ६९ ॥

नन्वयं ते दुराग्रह इत्यत आह—

अजन्मा पुरुषस्तावद्गतासुस्तृणमेव वा ।

यावन्नेषुभिरादत्ते विलुप्तमरिभिर्यशः ॥ ७० ॥

अजन्मेति ॥ पुरुषो यावत् अरिभिर्विलुप्तं संहतं यश इषुभिर्नादत्ते । अरिवधेन न प्रत्याहरतीत्यर्थः । तावत् अजन्मा । अजातप्राय इत्यर्थः । नन्वजातोऽपि जननान्तरमुपयुज्यत एवेत्यरुच्या पक्षान्तरमाह—गतासुर्मृतः । मृततुल्य इत्यर्थः । मृतोऽपि प्रागुपयुक्तवानित्यरुच्याह—तृणमेवेति । तृणतुल्य इत्यर्थः । अकिञ्चित्करस्तु त्रैकाल्यानुपयोगजीवन्मृत इत्यर्थः । अतो नाहमाग्रहाद्ब्रवीमि, किं तु वीरधर्ममनुपालयामीति भावः ॥ ७० ॥

सर्वथा वैरिनिर्यातनं कर्तव्यमित्युक्तम्, तदकरणे पुरुषगुणानां हानिदोषमाह—

अनिर्जयेन द्विषतां यस्यामर्षः प्रशाम्यति ।

पुरुषोक्तिः कथं तस्मिन् ब्रूहि त्वं हि तपोधन ॥ ७१ ॥

अनिर्जयेनेति ॥ यस्यामर्षः क्रोधो द्विषतां शत्रूणाम् । अनिर्जयेन निर्जयं

१ 'इच्छामि' इति पाठः. २ 'गतम्' इति पाठः. ३ 'अवहस्ये' इति पाठः.

४ 'मा' इति पाठः. ५ 'तु' इति पाठः.

विनैव प्रशाम्यति । उपलक्षणे तृतीया । तस्मिन् पुरुष इत्युक्तिः 'पुरुष'शब्दः कथम् । न कथंचिदित्यर्थः । प्रवर्तत इति शेषः । प्रवृत्तिनिमित्तस्य पुरुषकारस्याभावादिति भावः । हे तपोधन, त्वं हि त्वमेव ब्रूहि कथय । न च ते किञ्चिद्विदितमस्तीति भावः । 'हि हेतावधारणे' इत्यमरः ॥ ७१ ॥

ननु पुरुषत्वजात्यैव पुरुषोक्तिप्रवृत्तेः किं पुरुषकारेण, तत्राह—कृतमित्यादिद्वयेन—

कृतं पुरुषशब्देन जातिमात्रावलम्बिना ।

योऽङ्गीकृतगुणैः श्लाघ्यः सविस्मयमुदाहृतः ॥ ७२ ॥

कृतमिति ॥ जातिमात्रावलम्बिना जातिमात्राभिधायिना पुरुषशब्देन कृतमलम् । न तेन किञ्चित्साध्यत इत्यर्थः । अत्र गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीयेत्युक्तं प्राक् । 'कृतम्' इति निषेधार्थकमव्ययं चादिषु पठ्यते । सत्त्वं जातिमात्रेऽपि 'पुरुष'शब्दः प्रवर्तते । परंतु नासौ पुंसामाशास्यः पश्चादिसाधारण्यादिति तात्पर्यार्थः । तर्हि कीद्वक्श्लाघ्य इत्याशङ्क्याह—य इत्यादिनार्थद्वयेन । अङ्गीकृतगुणैर्गुणपक्षपातिभिः । यः पुमान् श्लाघ्यः स्तुत्यः सन्, सविस्मयं ससंभ्रमम् । उदाहृतः कथितः । पुंसा ईदृशेन भवितव्यमिति निदर्शितः ॥ ७२ ॥

ग्रसमानमिवौजांसि सदसा गौरवेरितम् ।

नाम यस्याभिनन्दन्ति द्विषोऽपि स पुमान्पुमान् ॥ ७३ ॥

ग्रसमानमिति ॥ किञ्च, सदसा सभया गौरवेणेरितं कथाप्रसङ्गेषु गौरवपूर्वकमुच्चारितं सत् । ओजांसि शृण्वतां तेजांसि ग्रसमानं गिलदिव स्थितं यस्य पुंसो नाम द्विषोऽप्यभिनन्दन्त्यनुमोदन्ते । किमुत सुहृद इति भावः । स पुमान् पुमान् । पुरुषत्वेन गण्यत इत्यर्थः । प्रथमः 'पुं'शब्दो जातिवचनः, द्वितीयो गुणवचनः । स एव श्लाघ्यः । अत्र पुमान्पुमानिति तात्पर्यमात्रभेदभिन्नशब्दार्थपौनरुक्त्यलक्षणो लाटानुप्रासोऽलंकारः । तथा च सूत्रम्—'तात्पर्यभेदयुक्तो लाटानुप्रासः' इति ॥ ७३ ॥

ननु सत्सु भीमादिषु तवैवायं कोऽभिनिवेश इत्यत्राह—

यथाप्रतिज्ञं द्विषतां युधि प्रतिचिकीर्षया ।

ममैवाध्येति नृपतिस्तृष्यन्निव जलाञ्जलेः ॥ ७४ ॥

यथेति ॥ नृपतिर्युधिष्ठिरो यथाप्रतिज्ञं युधि द्विषतां प्रतिचिकीर्षया द्विषतः प्रतिकर्तुमिच्छया । प्रतिज्ञानुसारेणैव जिघांसयेत्यर्थः । तृष्यन् पिपासुः जलाञ्जलेरिव ममैवाध्येति इच्छति । कार्यसिद्धेर्मदायत्तत्वान्मामेव स्मरति, अतोऽयं ममाभिनिवेश इत्यर्थः । 'अधीगर्थ—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी ॥ ७४ ॥

ननु युधिष्ठिरः स्वार्थं साधयति, त्वया च स्वार्थमात्रमनुसंधीयतामित्यत आह—

स वंशस्यावदातस्य शशाङ्कस्येव लाञ्छनम् ।

कृच्छ्रेषु व्यर्थया यत्र भूयते भर्तुराज्ञया ॥ ७५ ॥

स इति ॥ स नरोऽवदातस्य स्वच्छस्य वंशस्य शशाङ्कस्येव लाञ्छनं

कलङ्कः । यत्र यस्मिन्पुरुषे कृच्छ्रेषु व्यसनेषु भर्तुः स्वामिन आज्ञया व्यर्थया भूयते । भावे लट् । आपदि स्वार्थसाधकः कुलघातकः तत्कथं स्वार्थनिष्ठकार्यता युक्तैत्यर्थः ॥ ७५ ॥

यदुक्तम्—‘विजहीहि रणोत्साहम्’ (श्लो० ३१) इत्यादि, तत्रोत्तरमाह—

कथं वादीयतामर्वाञ्जुनिता धर्मरोधिनी ।

आश्रमानुक्रमः पूर्वैः स्मर्यते न व्यतिक्रमः ॥ ७६ ॥

कथमिति ॥ धर्मरोधिनी धर्मविरोधिनी । अर्वाक् गार्हस्थ्यत्प्रागेव मुनिता वानप्रस्थत्वं चतुर्थाश्रमता वा । वर्णप्रक्रमेण तस्य विधानात् ‘त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः’ इति सूत्रकारवचनाच्च क्षत्रियस्यापि कैश्चिदिष्टत्वात् । तदेतत्सम्यग्विवेचितमस्माभी रघुवंशसंजीविन्याम् (स०८।१४)—‘स किलाश्रम-मन्त्यमाश्रितः’ इत्यत्र । कथं वा आदीयतां मया कथं वाऽङ्गीक्रियताम् । संप्रश्ने लोट् । तथा हि—पूर्वैर्मन्वादिभिराश्रमानुक्रमः स्मर्यते । न तु व्यतिक्रमः । ‘ब्रह्मचारी भूत्वा गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्’ इति श्रुत्यनुसारादित्यर्थः । एतदपि ‘चत्वार आश्रमाः’ इत्येतत्पक्षमाश्रित्योक्तम् । ‘यदि चेद्वैराग्यं तदा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा’ इति व्युत्क्रमपक्षस्यापि श्रवणात् सामान्येन विशेषणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ७६ ॥

ननु भवान्गृहस्थ एव तत्कथमर्वाञ्जुनित्वविरोध इत्याशङ्क्य, सत्यं गृहस्थोऽस्मि, तथापि कृतनिखिलगृहस्थकर्तव्यस्यैव वानप्रस्थाधिकारो न गृहस्थमात्रस्य । न चाहमद्यापि कृतकृत्य इत्युत्तरमाह—

आसक्ता धूरियं रूढा जननी दूरगा च मे ।

तिरस्करोति स्वातन्त्र्यं ज्यायांश्चाचारवानृपः ॥ ७७ ॥

आसक्तेति ॥ आसक्ता लग्ना । अवश्यं कर्तव्येत्यर्थः । रूढा प्रसिद्धा । मह-तीत्यर्थः । इयं पूर्वोक्ता धूः वैरिनिर्यातनभारः । दूरगा दूरवर्तिनी जननी च मातापि । तथा, नृपोऽप्याचारवान् । तपोऽधिक इत्यर्थः । तत्रापि ज्यायान् ज्येष्ठो नृपो युधिष्ठिरश्च मे मम स्वातन्त्र्यं स्वाच्छन्द्यं तिरस्करोति दूरीकरोति । आश्रमान्तरं प्रतिबन्नातीत्यर्थः । तिरस्करोतीति प्रत्येकमभिसंबध्यते । अन्यथा बहुवचनप्रसङ्गात् ॥ ७७ ॥

उक्तमर्थमुपसंहरति—

स्वधर्ममनुरुन्धन्ते नातिक्रममरातिभिः ।

पलायन्ते कृतध्वंसा नाहवान्मानशालिनः ॥ ७८ ॥

स्वधर्ममिति ॥ मानशालिनः स्वधर्मं क्षात्रधर्ममनुरुन्धन्तेऽनुवर्तन्ते । अतिक्रमं स्वधर्मातिक्रमं नानुरुन्धन्ते । ततः किमत आह—अरातिभिरिति । अरातिभिः कृतध्वंसा कृतापकाराः सन्त आहवान्न पलायन्ते । अयमेव स्वधर्मानुरोध इत्यर्थः । ‘उपसर्गस्यायतौ’ इति रेफस्य लत्वम् । अत्र मनुः—‘न निवर्तेत सङ्ग्रामात् क्षात्रधर्ममनुस्मरन्’ इति । अत्रोत्तरवाक्यार्थं प्रति पूर्ववाक्यार्थस्य हेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः ॥ ७८ ॥

किं बहुना, ममायं निश्चयः श्रूयतामित्याह—

विच्छिन्नाभ्रविलायं वा विलीये नगमूर्धनि ।

आराध्य वा सहस्राक्षमयशःशल्यमुद्धरे ॥ ७९ ॥

विच्छिन्नेति ॥ विच्छिन्नं वाताहतं यदभ्रं तदिव विलीयेति विच्छिन्नाभ्रविलायं यथा तथा । 'उपमाने कर्मणि च' इति कर्तर्युपपदे णमुत् । नगमूर्धनि अस्मिन्निरिशङ्के विलीये विशीर्ये वा । कपादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः । यद्वा, सहस्राक्षमिन्द्रम्, आराध्यायश एव शल्यं तत् । उद्धर उद्धरिष्यामि । न तु गत्यन्तरशङ्केत्यर्थः । 'वा'शब्दो विकल्पे ॥ ७९ ॥

इत्युक्तवन्तं परिरभ्य दोर्भ्यां तनूजमाविष्कृतदिव्यमूर्तिः ।

अघोपघातं मघवा विभूत्यै भवोद्भवाराधनमादिदेश ॥ ८० ॥

इतीति ॥ मघवा इन्द्रः । इत्युक्तवन्तं तनूजं पुत्रमर्जुनम् । आविष्कृताप्रकृष्टिता दिव्यमूर्तिर्निजरूपं येन स तथोक्तः सन् । दोर्भ्यां बाहुभ्यां परिरभ्य विभूत्यै श्रेयसे । उपहन्यतेऽनेनेत्युपघातम् । करणे घञप्रत्ययः । अघानां दुःखानामुपघातं अघोपघातम् । भवः संसारस्तस्योद्भवः कारणमिति भवोद्भवः शिवस्तस्य आराधनमुपासनम् । आदिदेश । शिवमुद्दिश्य तपश्चरेत्याज्ञापयामासेत्यर्थः ॥ ८० ॥

प्रीते पिनाकिनि मया सह लोकपालै-

ल्लोकत्रयेऽपि विहिताप्रतिवार्यवीर्यः ।

लक्ष्मीं समुत्सुकयितासि भृशं परेषा-

मुच्चार्य वाचमिति तेन तिरोबभूवे ॥ ८१ ॥

इति भारविऋतौ मह्यकाव्ये किरातार्जुनीये एकादशः सर्गः ।
प्रीत इति ॥ पिनाकिनि शिवे प्रीते सति लोकपालैः सह मया लोकत्रयेऽपि विहितं दत्तं अप्रतिवार्यमनिवार्यं वीर्यं यस्य स तथोक्तः सन् । परेषां शत्रूणां लक्ष्मीं भृशं समुत्सुकयिताऽसि समुत्सुकां त्वय्यनुरक्तां कर्ताऽसि । पुनराहरिष्यसीत्यर्थः । वीरभोग्याः संपद इति भावः । 'उत्सुक'शब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्तात्कर्तरि लुट् । इति वाचमुच्चार्य, तेन इन्द्रेण तिरोबभूवेऽन्तर्दधे । भावे लिट् ॥ ८१ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-
काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायामेकादशः सर्गः समाप्तः ।

द्वादशः सर्गः ।

अथ वासवस्य वचनेन रुचिरवदनस्त्रिलोचनम् ।

कान्तिरहितमभिराधयितुं विधिवत्तपांसि विदधे धनंजयः ॥ १ ॥

. अथेति ॥ अथ इन्द्रतिरोधानानन्तरं रुचिरवदन इन्द्रसाक्षात्कारसंतोषात् प्रसन्नमुखो धनंजयोऽर्जुनो वासवस्य वचनेन उपदेशेन त्रिलोचनं शिवं

क्लान्तिरहितं यथा तथा, अभिराधयितुं प्रसादयितुं तपांसि विधिवत् विध्य-
हम् । यथाशास्त्रमित्यर्थः । 'तदर्हम्' इति वतिप्रत्ययः । विद्धे चक्रे । अस्मिन्सर्ग-
उद्गतावृत्तम्—'सजसादिमे सलघुकौ च नसजगुरुकैरथोद्गता । त्र्यङ्गिगतभनजला
गयुताः सजसा जगौ चरणमेकतः पठेत् ॥' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अभिरश्मिमालि विमलस्य धृतजयधृतेरनाशुषः ।

तस्य भुवि बहुतिथास्तिथयः प्रतिजग्मुरेकचरणं निषीदतः ॥ २ ॥

अभिरश्मीति ॥ अभिरश्मिमालि अभिसूर्यं सूर्याभिमुखं भुवि एकचरणं
निषीदत एकचरणेन तिष्ठतो विमलस्य ब्राह्मन्तरशुद्धिमतः । धृता जयधृति-
र्जयेच्छा येन तस्य । अनाशुषोऽनश्नतः । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति
निपातः । तस्यार्जुनस्य बहूनां पूरणा बहुतिथाः । बहुसंख्याका इत्यर्थः । 'तस्य
पूरणे डद्' । 'बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक्' इति तिथुगागमः । तिथयो दिनानि
प्रतिजग्मुः । अत्र 'तिथि'शब्दः पुंलिङ्गः । 'तदाद्यास्तिथयो द्वयोः' इत्यभिधान-
नात् । अन्यथा बहुतिथा इत्यत्र टित्वान्डीप्यात् ॥ २ ॥

वपुरिन्द्रियोपतपनेषु सततमसुखेषु पाण्डवः ।

व्याप नगपतिरिव स्थिरतां महतां हि धैर्यमविभाव्यवैभवम् ॥३॥

वपुरिति ॥ पाण्डवोऽर्जुनः । सततं वपुष इन्द्रियाणां च उपतपनेषु संता-
पकरेषु । करणे व्युद् । असुखेष्वनशनादिदुःखेष्वपि नगपतिर्गिरीन्द्र इव
स्थिरतां दाढ्यं व्याप प्राप । तथा हि—महतां धैर्यमविभाव्यं दुर्बोधं वैभवं
सामर्थ्यं यस्य तत्तथोक्तम् । धीराणामकिंचित्करं दुःखमिति भावः ॥ ३ ॥

न पपात संनिहितपक्तिसुरभिषु फलेषु मानसम् ।

तस्य शुचिनि शिशिरे च पयस्यमृतायते हि सुतपः सुकर्मणाम् ४

नेति ॥ तस्यार्जुनस्य मानसं मनः संनिहितानि समीपस्थानि यानि पक्ति-
सुरभीणि पाकसुगन्धीनि तेषु फलेषु । तथा, शुचिनि स्वच्छे शिशिरे
शीतले पयसि च न पपात । न किञ्चिदाचकाङ्क्षेति भावः । प्राणधारणं तु तस्य
तप एवेत्याह—तथा हि—सुकर्मणां सुकृतिनां शोभनं तपः सुतप एव अमृ-
तायतेऽमृतवदाचरति । किं तपस्तृप्तानां तर्पणान्तरैरिति भावः । 'लोहितादि-
डाज्भ्यः क्यष्' । 'वा क्यषः' इत्यात्मनेपदम् । लोहितादिराकृतिगणः ॥ ४ ॥

न विसिस्मिये न विषसाद् मुहुरलसतां न चाददे ।

सत्त्वमुरुधृति रजस्तमसी न हतः स तस्य हतशक्तिपेलवे ॥ ५ ॥

नेति ॥ सोऽर्जुनो न विसिस्मिये । 'अहो महत्तपस्तप्तम्' इति न विस्मयं
जगाम । 'तपः क्षरति विस्मयात्' इति स्मृतेरिति भावः । न विषसाद् फलवि-
लम्बाद्गतोत्साहो न बभूव । 'विषादश्चेतसो भङ्गः' इति लक्षणात् । 'सदिरप्रतेः'
इति षत्वम् । मुहुरलसतां च नाददे । तपसि मन्दोद्यमत्वं च नागमदिति
भावः । किञ्च, हतशक्तिनी हतसारे अत एव पेलवे भङ्गुरे ते हतशक्तिपेलवे रज-

स्तमसी गुणौ, उरुधृति महासारं तस्यार्जुनस्य सत्त्वं सत्त्वगुणं न हतः स न हतवती । हन्तेः 'लद स्ते' इति भूतार्थे लद ॥ ५ ॥

तपसा कृशं वपुरुवाह स विजितजगत्रयोदयम् ।

त्रासजननमपि तत्त्वविदां किमिवास्ति यन्न सुकरं मनस्विभिः ॥६॥

तपसेति ॥ सोऽर्जुनः । तपसा कृशं तथापि विजितो जगत्रयस्य भुवनत्रयस्य उदयं उत्कर्षो येन तत्तथोक्तम् । किंच, तत्त्वविदामपि लोकहितार्थतत्त्वं जानतामपि त्रासजननं भयंकरं वपुः । उवाह वहति स । न चैतच्चित्रमित्याह— किमिति । यत् मनस्विभिर्न सुकरं तत् किमिवास्ति । न किमपीत्यर्थः । 'इव'शब्दो वाक्यालंकारे । 'मनस्विनाम्' इति पाठे शेषे षष्ठी स्यादेव । कृद्योगलक्षणायाः 'न लोक-' इत्यादिना निषेधात् ॥ ६ ॥

ज्वलतोऽनलादनुनिशीथमधिकरुचिरम्भसां निधेः ।

धैर्यगुणमवजयन्विजयी ददृशे समुन्नततरः स शैलतः ॥ ७ ॥

ज्वलत इति ॥ विजयी सोऽर्जुनः । अनुनिशीथमर्धरात्रे । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । 'अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ' इत्यमरः । ज्वलतो दीप्यमानात् । अनलादग्नेः । अधिकरुचिर्दीप्यमानः । तथा, अम्भसां निधेर्धैर्यं गाम्भीर्यं तदेव गुणस्तम्, अवजयन् । किंच, शैलतः शैलादपि समुन्नततरो ददृशे दृष्टः । अत्र रुच्यादिभिरनलाद्याधिक्यासंबन्धे संबन्धाभिधानादतिशयोक्तिरलंकारः ॥ ७ ॥

जपतः सदा जपमुपांशु वदनमभितो विसारिभिः ।

तस्य दशनकिरणैः शुशुभे परिवेषभीषणमिवार्कमण्डलम् ॥ ८ ॥

जपत इति ॥ सदा उपांशु रहः । गूढमित्यर्थः । 'रहश्रोपांशु चालिङ्गे' इत्यमरः । 'करणवदनशब्दमनुप्रयोग उपांशु' इति कौमारलक्षणम् । जप्यत इति जपस्तं जपम् । मन्त्रमित्यर्थः । जपतः पठतः । तस्यार्जुनस्य वदनं कर्तुं अभितो विसारिभिः प्रसरणशीलैः । दर्शनकिरणैर्हेतुभिः परिवेषभीषणमर्कमण्डलमिव शुशुभे । 'परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले' इत्यमरः ॥ ८ ॥

कवचं स बिभ्रदुपवीतपदनिहितसज्यकार्मुकः ।

शैलपतिरिव महेन्द्रधनुःपरिवीतभीमगहनो विदिद्युते ॥ ९ ॥

कवचमिति ॥ कवचं वर्म बिभ्रदुपवीतपदे यज्ञोपवीतस्थाने निहितमारोपितं सज्यं कार्मुकं येन स तथोक्तः । सोऽर्जुनो महेन्द्रधनुषा परिवीतं परिवेष्टितं भीमं गहनं वनं यस्य स शैलपतिरिव हिमवानिव विदिद्युते शुशुभे ॥ ९ ॥

प्रविवेश गामिव कृशस्य नियमसवनाय गच्छतः ।

तस्य पदविनमितो हिमवान् गुरुतां नयन्ति हि गुणा न संहतिः १०

प्रविवेशेति ॥ नियमसवनाय नियमस्नानाय । 'सवनं त्वध्वरे स्नाने सोमनिर्दलनेऽपि च' इति विश्वः । गच्छतः तस्यार्जुनस्य पदैः पादन्यासैर्विनमितो

हिमवान् गां भुवं प्रविवेशेत्युत्प्रेक्षा । ननु कृशस्य कथमियद्वौरवम्, तत्राह—
गुणाः सारादयो गुरुतां नयन्ति प्रापयन्ति हि । संहतिः संघातः । मूर्तिरिति
यावत् । न नयन्ति । अन्तःसाराद्धि गौरवं भवति, न तु बाह्यात्स्यौल्यात्; तत्र
च हेमपिण्डतूलपिण्डावेव निदर्शनमिति भावः ॥ १० ॥

परिकीर्णमुद्यतभुजस्य भुवनविवरे दुरासदम् ।

ज्योतिरुपरि शिरसो विततं जगृहे निजान्मुनिदिवौकसां पथः ११

परिकीर्णमिति ॥ उद्यतभुजस्य ऊर्ध्वबाहोस्तस्य शिरस उपरि । 'षष्ठ्यतस-
र्थप्रत्ययेन' इति षष्ठी । विततं विस्तृतं भुवनयोर्विवरे द्यावापृथिव्योरन्तराले
परिकीर्णं व्यासं दुरासदं दुर्धर्षं ज्योतिस्तेजो मुनीनां दिवौकसां च निजान्
नियतान् पथो मार्गान् । जगृहे जग्राह । प्रतिबबन्धेत्यर्थः ॥ ११ ॥

रजनीषु राजतनयस्य बहुलसमयेऽपि धामभिः ।

भिन्नतिमिरनिकरं न जहे शशिरश्मिसंगमयुजा नभः श्रिया ॥१२॥

रजनीष्विति ॥ बहुलसमये कृष्णपक्षेऽपि रजनीषु रात्रिषु राजतनयस्या-
र्जुनस्य धामभिस्तेजोभिर्भिन्नस्तिमिरनिकरो यस्य तत् । नभः शशिरश्मीनां
संगमेन हेतुना युजा संगतया श्रिया । तच्छ्रीतुल्यया श्रियेत्यर्थः । अत एव
निदर्शनालंकारः । न जहे न त्यक्तम् । जहातेः कर्मणि लिट् । ज्योत्स्नातुल्यं
ज्योतिर्जातमित्यर्थः ॥ १२ ॥

महता मयूखनिचयेन शमितरुचि जिष्णुजन्मना ।

हीतमिव नभसि वीतमले न विराजते स्म वपुरंशुमालिनः ॥१३॥

महतेति ॥ जिष्णोरर्जुनाज्जन्म यस्य तेन । जन्मोत्तरपदत्वाद्यधिकरणो बहु-
व्रीहिः । महता मयूखनिचयेन बहुकिरणसमूहेन शमितरुचि हतप्रभम् ।
अंशुमालिनो वपुरर्कबिम्बं हीतं जितत्वाल्लज्जितमिवेत्युत्प्रेक्षा । वीतमले
विमले । मेघनीहाराद्यावरणरहितेऽपीत्यर्थः । नभसि न विराजते स्म ॥१३॥

तमुदीरितारुणजटांशुमधिगुणशरासनं जनाः ।

रुद्रमनुदितललाटदृशं ददृशुर्मिमन्थिषुमिवासुरीः पुरीः ॥ १४ ॥

तमिति ॥ उदीरिता उद्धता अरुणा जटानामंशवो यस्य । तमधिगुण-
मधिज्यं शरासनं यस्य । तं अर्जुनम् । जनाः सिद्धगणाः । आसुरीरसुरसंब-
न्धिनीः पुरीर्मिमन्थिषुं मथितुमिच्छुम् । मथेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । तथा, अनुदि-
ताऽनुत्पन्ना ललाटे दृक् यस्य तं साक्षात्त्रिपुरविजयोद्यतमभालाक्षं रुद्रमिव
ददृशुः । अत्राभालाक्षस्य रुद्रस्यासंभवात्स्वतःसिद्धोपमानासिद्धेर्नयमुपमा,
किंतूत्प्रेक्षा । सा चाभालाक्षमित्युपमानादुपमेयस्य न्यूनत्वकथनार्थेऽन्वयव्यतिरे-
केणोजीवितेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः । उपमा तु व्यज्यत इत्यलंकारेणालं-
कारध्वनिः ॥ १४ ॥

मरुतां पतिः स्विदहिमांशुरुत पृथुशिखः शिखी तपः ।

तमुमसुकरमुपक्रमते न जनोऽयमित्यवयये स तापसैः ॥ १५ ॥

मरुतामिति ॥ मरुतां पतिः स्वित् देवेन्द्रो वा । अहिमांशुरुत सूर्यो वा । पृथुशिखो महाज्वालः शिखी पावको वा । असुकरं दुष्करं तपस्तमुमुपक्रमते । अयं जनः पुरुषः कश्चित्प्राकृतो न, इति सोऽर्जुनः । तापसैस्तपस्विभिः । 'अण् च' इति मत्वर्थीयोऽणप्रत्ययः । अवययेऽवगतः । यातेरवपूर्वात्कर्मणि लिट् । अत्रेन्द्रत्वादिकं धर्ममारोप्य जनत्वापवादात्साम्यमारोप्यापह्नवालंकारः । सामान्यलक्षणं तु—'निषिद्धविषये साम्यारोपो ह्यपह्नवः' इति ॥ १५ ॥

न ददाह भूरुहवनानि हरितनयधाम दूरगम् ।

न स्म नयति परिशोषमपः सुसहं बभूव न च सिद्धतापसैः ॥ १६ ॥

न ददाहेति ॥ दूरगम् । व्यापकमित्यर्थः । हरितनयस्य इन्द्रसुतस्यार्जुनस्य धाम तेजो भूरुहवनानि वृक्षखण्डान् न ददाह । अग्निवदिति भावः । तथा अपो जलानि परिशोषं न नयति स्म । अर्कवदिति भावः । तथापीति शेषः । सिद्धाश्च तापसाश्च तैः सुसहं न बभूव । अतोऽस्यालौकिकं तेज इति भावः । अत एव दुःसहत्वंदाहाद्यजनकत्वयोर्विरोधाद्विरोधाभासोऽलंकारः—'आभासत्वे विरोधस्य विरोधालंकारमिति' इति लक्षणात् ॥ १६ ॥

विनयं गुणा इव विवेकमपनयभिदं नया इव ।

न्यायमवधय इवाशरणाः शरणं ययुः शिवमथो महर्षयः ॥ १७ ॥

विनयमिति ॥ अथोऽनन्तरम् । अशरणा महर्षयो मुनयो विनयं शिक्षां गुणा औदार्यादय इव । अशिक्षितस्य तदभावादिति भावः । अपनयभिदं दुर्नीतिवारकं विवेकं सदसज्ज्ञानं नया नीतय इव । अविवेकिनो नीत्यभावादिति भावः । नीतिः षाड्गुण्यप्रयोगः । नीयतेऽनेनेति न्यायो नियामकं प्रमाणं तम् । अवधयः समया इव । अप्रामाणिकस्य समयोल्लङ्घितत्वादिति भावः । शिवं त्रिनयनम् । शरणं रक्षितारम् । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । ययुर्जग्मुः । शरणत्वेन प्रापुरित्यर्थः । अशरणाः शरणमिति चोपमास्त्रपि यथायोग्यं योज्यम् । उपमालंकारः ॥ १७ ॥

परिवीतमंशुभिरुदस्तदिनकरमयूखमण्डलैः ।

शंभुमुपहतदृशः सहसा न च ते निचायितुमभिप्रसेहिरे ॥ १८ ॥

परिवीतमिति ॥ उदस्तं निरस्तं छादितं दिनकरमयूखमण्डलं यैस्तैः । सूर्य-तेजोविजयिभिरित्यर्थः । अंशुभिस्तेजोभिः परिवीतं व्याप्तं शंभुं शिवम् । उपहतदृशः प्रतिहतदृष्टयस्ते महर्षयः सहसा झटिति निचायितुं निशामयितुम् । द्रष्टुमित्यर्थः । 'चायु पूजानिशामनयोः' इति धातोः 'शकृष्टप-' इत्यादिना तुमुन् । नाभिप्रसेहिरे न शेकुः ॥ १८ ॥

१ 'रथ' इति पाठः. २ 'भूधर' इति पाठः. ३ 'निचायितुम्'; 'निरीक्षितुम्' इति पाठौ.

अथ भूतभव्यभवदीशमभिमुखयितुं कृतस्तवाः ।

तत्र महसि ददृशुः पुरुषं कमनीयविग्रहमयुग्मलोचनम् ॥ १९ ॥

अथेति ॥ अथ द्युपघातानन्तरं भूतभव्यभवतां भूतभविष्यद्वर्तमानानां ईशं देवम्, अभिमुखयितुमभिमुखीकर्तुं कृतस्तवाः कृतस्तोत्राः सन्तः । न त्वन्यथेति भावः । 'स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः' इत्यमरः । तत्र पूर्वोक्ते महसि तेजसि कमनीयविग्रहं रम्यमूर्तिम् । अयुग्मानि त्रीणि लोचनानि यस्य तं पुरुषं ददृशुः ॥ १९ ॥

अथ पञ्चभिः पुरुषं विशिमष्टि—ककुद इत्यादिना,—

ककुदे वृषस्य कृतबाहुमकृशपरिणाहशालिनि ।

स्पर्शसुखमनुभवन्तमुमाकुचयुग्ममण्डल इषार्द्रचन्दने ॥ २० ॥

ककुद इति ॥ कीदृशं पुरुषम् ॥ अकृशेन महता परिणाहेन विशालतया शालत इति तथोक्ते । 'परिणाहो विशालता' इत्यमरः । वृषस्य वृषभस्य ककुदेऽसकृटे । आश्रयीकृत इति शेषः । आर्द्रचन्दन उमायाः कुचयुग्ममण्डल इव कृतबाहुं न्यस्तहस्तमत एव स्पर्शसुखमनुभवन्तम् । ककुदस्य तथाविधस्पर्शसुखकरत्वादिति भावः । उपमालंकारः ॥ २० ॥

स्थितमुन्नते तुहिनशैलशिरसि भुवनातिवर्तिना ।

साद्रिजलधिजलवाहपथं सदिगश्रुवानमिव विश्वमोजसा ॥ २१ ॥

स्थितमिति ॥ उन्नते तुहिनशैलशिरसि हिमवतः शिखरे स्थितम् । कचित्कोणे स्थितमित्यर्थः । तथापि भुवनातिवर्तिना सर्वलोकातिशयिना । ओजसा तेजसा । अद्रिभिः पर्वतैर्जलधिभिः समुद्रैः अजलवाहपथेनाकाशेन च सह वर्तत इति तथोक्तम् । दिग्भिः सह वर्तत इति सदिक् । उभयत्रापि 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । विश्वमश्रुवानं व्यामुवन्तमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा । 'अश्रुद् व्याप्तौ' इति धातोः शानच् ॥ २१ ॥

अनुजानुमध्यमवसक्तविततवपुषा महाहिना ।

लोकमखिलमिव भूमिभृता रवितेजसामवधिनाधिवेष्टितम् ॥ २२ ॥

अनुजान्विति ॥ जानुनोर्मध्येऽनुजानुमध्यम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अवसक्तं लग्नं विततमायतं च वपुर्यस्य तेन महाहिना । अवसक्तिकाबन्ध-भूतेनेत्यर्थः । अधिवेष्टितम्, अत एव रवितेजसामवधिना पर्यन्तभूतेन भूमिभृता लोकालोकाचलेनाधिवेष्टितम् । अखिलं लोकमिव स्थितमित्युपमा । 'असूर्यपश्यापरभागो लोकालोकाचलः' इत्यागमः ॥ २२ ॥

परिणाहिना तुहिनराशिविशदमुपवीतसूत्रताम् ।

नीतमुरगमनुरञ्जयता शितिना गलेन विलसन्मरीचिना ॥ २३ ॥

परिणाहिनेति ॥ पुनश्च, तुहिनराशिवत् विशदं शुभ्रम्, उपवीतसूत्रतां यज्ञोपवीतत्वं नीतं प्रापितम् । उरगं शेषाहिम् । अनुरञ्जयता स्वगुणोपरकं

कुर्वता । श्यामीकुवतत्यर्थः । परिणाहिना विशालेन विलसन्मरीचिना प्रसृतकिरणेन शितिना नीलेन गलेन कण्ठेनोपलक्षितम् । 'कण्ठो गलोऽथ ग्रीवायाम्' इत्यमरः । अत्रोरगस्य स्वधवलिमत्यागेनान्यजन्यनीलिमग्रहणात्तदुणालंकारः—'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणग्रहः' इति लक्षणात् ॥ २३ ॥

प्लुतमालतीसितकपालकुमुदम्वरुद्धमूर्धजम् ।

शेषमिव सुरसरित्पयसां शिरसा विसारि शशिधाम विभ्रतम् २४ *

प्लुतेति ॥ पुनश्च, मालती जातीकुसुमम् । 'सुमना मालती जातिः' इति, 'पुष्पे जातीप्रभृतयः स्वलिङ्गा ग्रीहयः फले' इति चामरः । तद्वत् सितं यत् कपालमेव कुमुदं तत् प्लुतमाप्लुतं येन तत्तथोक्तम् । अवरुद्धमूर्धजं व्यासशिरोरुहम् । अत एव सुरसरित्पयसां शेषमिव निर्यातावशिष्टं गाङ्गमम्भ इव । स्थितमित्यर्थः । उत्प्रेक्षालंकारः । विसारि विसृत्वरं शशिधाम चन्द्रतेजः शिरसा विभ्रतम् । पुरुषं ददृशुरिति पूर्वेण संबन्धः ॥ २४ ॥

मुनयस्ततोऽभिमुखमेत्य नयनविनिमेषनोदिताः ।

पाण्डुतनयतपसा जनितं जगतामशर्म भृशमाचक्षिरे ॥ २५ ॥

मुनय इति ॥ ततो दर्शनानन्तरं मुनयोऽभिमुखमेत्य । शिवस्येति शेषः । नयनविनिमेषेण नेत्रसंज्ञया नोदिताः प्रेरिताः सन्तः पाण्डुतनयस्यार्जुनस्य तपसा जनितं तत्पूर्वोक्तं जगतामशर्म असुखम् । दुःखमित्यर्थः । 'शर्मशातसुखानि च' इत्यमरः । भृशं सम्यक् । आचक्षिरे कथितवन्तः ॥ २५ ॥

तरसैव कोऽपि भुवनैकपुरुष पुरुषस्तपस्यति ।

ज्योतिरमलवपुषोऽपि रवेरभिभूय वृत्र इव भीमविग्रहः ॥ २६ ॥

तरसेति ॥ हे भुवनैकपुरुष पुरुषोत्तम, वृत्रो वृत्रासुर इव भीमविग्रहः कोऽपि । अविज्ञात इत्यर्थः । पुरुषः । तरसा बलात्कारेणैव । 'तरसी बलरंहसी' इति विश्वः । अमलवपुष उज्ज्वलमूर्ते रवेरपि ज्योतिरभिभूय तपस्यति तपश्चरति । 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः' इति क्यङ् ॥ २६ ॥

१ 'मुप' इति पाठः. २ 'पयसः' इति पाठः. ३ 'विकाशि' इति पाठः.

* २४—२५ श्लोकयोर्मध्ये क्वचित्क्षेपकोऽयं दृश्यते—

बहुभिश्च बाहुभिरहीनभुजगवलयैर्विराजितम् ।

चन्दनतरुभिरिवालयुभिः प्रबलायतैर्मलयमेदिनीभृतम् ॥

बहुभिरिति ॥ अहीनां सर्पाणां मध्ये य इनाः श्रेष्ठा भुजगास्त एव वलयानि येषां तैः । सर्पाभरणैरित्यर्थः । बहुभिरनेकैर्बाहुभिः । सहस्रभुजत्वान्तस्येति भावः । विराजितं शोभितं चन्दनतरुभिरनेकैः । मलयमेदिनीभृतमिव स्थितम् । चन्दनतरवोऽप्यहीना महान्तो भुजगास्तेषां वलयो वेष्टनं येषां तैरिति । अलयुभिर्महद्भिः प्रबलाश्च त आयताश्च तैरुभयविशेषणम् । प्रबलदीर्घैरित्यर्थः । अथवा, अमलायतैरमला निर्मला आयताश्च ते तैः । षपमालंकारः ॥

(१ 'अतनुभिः' इति पाठः. २ 'अमलायतैः'; 'धवलायतैः' इति पाठौ.)

स धनुर्महेषुधि विभर्ति कवचमसिमुत्तमं जटाः ।

वल्कर्मजिनमिति चित्रमिदं मुनिताविरोधि न च नास्य राजते २७

स इति ॥ किंच, स पुरुषो महान्ताविषुधी यस्य तत् महेषुधि धनुः कवचं वर्म उत्तममार्से खड्गं जटा वल्कं चीरम्, अजिनं चर्म च विभर्ति इति एवं-
रूपम्, इदं विरुद्धवेषधारणं मुनिताविरोधि मुनित्वप्रतिबन्धकं तथापि, अस्य
न राजत इति न । किं तु राजत एवेत्यर्थः । चित्रमाश्चर्यम् । 'संभाव्यनिषेध-
निवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति वामनः ॥ २७ ॥

चलनेऽवनिश्चलति तस्य करणनियमे सदिद्भ्रुखम् ।

स्तम्भमनुभवति शान्तमरुद्ग्रहतारकागणयुतं नभस्तलम् ॥ २८ ॥

चलन इति ॥ किंच, तस्य पुंसः चलनेऽवनिः पृथिवी चलति । तथा,
करणनियमे समाधिनेन्द्रियनिरोधे सति । 'करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रिये-
ष्वपि' इत्यमरः । शान्तैः स्तिमितैर्मरुतां वायूनां ग्रहाणां सूर्यादीनां तारकाणां
नक्षत्राणां च गणैर्युतं नभस्तलं व्योम सदिद्भ्रुखं दिक्सहितं स्तम्भं निश्चल-
ताम् । अनुभवतीत्यर्थः । अतो विश्वातिशायिनी तस्य शक्तिरुपलक्ष्यत इति
भावः ॥ २८ ॥

न चैतदुपेक्ष्यमित्याशयेनाह—

स तदोजसा विजितसारममरदितिजोपसंहितम् ।

विश्वमिदमपिदधाति पुरा किमिवास्ति यन्न तपसामदुष्करम् ॥२९॥

स इति ॥ स पुमान् । ओजसा विजितसारं निरस्तसत्त्वम् । अमरदिति-
जोपसंहितं सुरासुरसहितं तदिदं विश्वं पुराऽपिदधाति । अपिधास्यती-
त्यर्थः । शीघ्रमेव हरिष्यतीति भावः । 'निकटागामिके पुरा' इत्यमरः । 'यावत्पु-
रानिपातयोर्लट्' इति भविष्यदर्थे लट् । तथा हि—यत् कर्म तपसामदुष्करं
तत्किमिवास्ति । न किंचित्तेन दुष्करमस्तीत्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थन-
रूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २९ ॥

न चैतदन्यफलकं तप इत्याह—

विजिगीषते यदि जगन्ति युगपदथ संजिहीर्षति ।

प्राप्तुमभवमभिवाञ्छति वा वयमस्य नो विषहितुं क्षमा रुचः ३०

विजिगीषत इति ॥ स पुरुषो जगन्ति भुवनानि युगपद्विजिगीषते यदि
विजेतुमिच्छति वा । 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मनेपदम् । अथ युगपत् संजिहीर्षति
संहर्तुमिच्छति वा । अभवमपवर्गं प्राप्तुमभिवाञ्छति वा, न विद्मो वयमिति
शेषः । किंतु वयमप्यस्य रुचस्तेजांसि विषहितुं सोढुम् । 'तीषसहलुभरूप-
रिषः' इति विकल्पादिडागमः । नो क्षमा न शक्ताः । केचित् 'रुचः कामितानि
विषहितुमवधारयितुम्' इति व्याचक्षते, तत्र सहेरवधारणार्थत्वं विचार्यम् ॥३०॥

१ 'अतिचित्रम्' इति पाठः. २ 'यन्न बत तेन दुष्करम्'; 'तेन खलु यन्न दुष्करम्';

'यन्न सुकरं खलु तेन' इति पाठाः.

किमुपेक्षसे कथय नाथ नं तव विदितं न किञ्चन ।

त्रातुमलमभयदार्हसि नस्त्वयि मा स्म शासति भवत्पराभवः ३१

किमिति ॥ हे नाथ, किं किमर्थमुपेक्षसे कथय । त्वमिति शेषः । तव न विदितम् । त्वयाऽज्ञायमानमित्यर्थः । 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी । न किञ्चन किमपि न । हे अभयद, नोऽस्मान् अलं त्रातुमर्हसि । त्वयि शासति सति पराभवो मा स्म भवत् मा भूत् । 'सोत्तरे लङ् च' इति लङ् ॥ ३१ ॥

इति गां विधाय विरतेषु मुनिषु वचनं समाददे ।

भिन्नजलधिजलनादगुरु ध्वनयन्दिशां विवरमन्धकान्तकः ॥ ३२ ॥

इतीति ॥ इति इत्थं गां वाचं विधाय । अभिधायेत्यर्थः । सामान्यस्य विशेषपर्यवसानात् । मुनिषु विरतेषु तूष्णींभूतेषु सत्सु । अन्धकान्तकः शिवो भिन्नस्योद्वेलस्य जलधेर्जलस्य नादमिव गुरु गम्भीरं यथा तथा दिशां विवरमन्तरालं ध्वनयन् वचनं समाददे स्वीचकार । उवाचेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

बदरीतपोवननिवासनिरतमवगात मान्यथा ।

धातुरुदयनिधने जगतां नरमंशमादिपुरुषस्य गां गतम् ॥ ३३ ॥

बदरीति ॥ बदरीतपोवने बदरिकाश्रमे निवासनिरतं नित्यनिवासिनं गां गतं भुवमवतीर्णं जगतामुदयनिधने सृष्टिसंहारौ धातुः । तयोः कर्तुरित्यर्थः । 'तृन्' इति दधातेस्तृन्प्रत्ययः । अत एव 'न लोक-' इत्यादिना कर्मणि षष्ठीप्रतिषेधः । आदिपुरुषस्य विष्णोः । अंशमंशभूतम् । नरम्, नरसंज्ञकमित्यर्थः । यो नारायणसखेति भावः । अन्यथा उक्तवैपरीत्येन, एनं माऽवगात । मनुष्यमात्रं मा जानीतेत्यर्थः । 'इणो गा लुङि' इति गादेशः ॥ ३३ ॥

अथ तस्य तपसो निमित्तमाह—

द्विषतः परासिसिषुरेष सकलभुवनाभितापिनः ।

क्रान्तकुलिशकरवीर्यबलान्मदुपासनं विहितवान्महत्तपः ॥ ३४ ॥

द्विषत इति ॥ एष नरः सकलभुवनान्यभितापयन्त्यभीक्षणमिति तथोक्तान् । 'बहुलमाभीक्ष्ये' इति णिनिः । क्रान्ते आक्रान्ते कुलिशकरस्येन्द्रस्य वीर्यबले शक्तिसैन्ये यैस्तान् द्विषतः शत्रून् परासिसिषुः परासितुमिच्छुः । अस्यतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । मदुपासनं मदाराधनम् । करणे ल्युट् । महत्तपो विहितवान् । अत्र निमित्तं शत्रुक्षय एवेति भावः ॥ ३४ ॥

अथास्य मानुषावतारे कारणमाह—

अयमच्युतश्च वचनेन सरसिरुहजन्मनः प्रजाः ।

पातुमसुरनिधनेन विभू भुवमभ्युपेत्य मनुजेषु तिष्ठतः ॥ ३५ ॥

अयमिति ॥ विभू प्रभू अयं नरोऽच्युतः कृष्णश्च सरसिरुहजन्मनो ब्रह्मणो वचनेन प्रार्थनया । असुराणां निधनेन मारणेन करणेन प्रजाः पातुं

रक्षितुं भुवमभ्युपेत्य मनुजेषु तिष्ठतः । वस्तुतस्तु साक्षान्नरनारायणावेतौ
कृष्णार्जुनावित्यर्थः ॥ ३५ ॥

अथास्य सत्त्वसंपदं प्रकाशयितुमाह—

सुरकृत्यमेतदवगम्य निपुणमिति मूकदानवः ।

हन्तुमभिपतति पाण्डुसुतं त्वरया तदत्र सह गम्यतां मया ॥ ३६ ॥

सुरेति ॥ मूकदानवो मूकाख्यः कश्चिदसुरः । एतत् पाण्डवकृत्यं सुरकृत्य-
मिति निपुणमवगम्य साधु निश्चित्य पाण्डुसुतमर्जुनं हन्तुमभिपतति ।
तत् तस्मात्कारणात्, अत्रार्जुनाश्रमे विषये । आश्रमं प्रतीत्यर्थः । मया सह
त्वरया गम्यताम् । द्रष्टुमिति शेषः ॥ ३६ ॥

विवरेऽपि नैनमनिगूढमभिभवितुमेष पारयन् ।

पापनिरतिरविशङ्कितया विजयं व्यवस्यति वराहमायया ॥ ३७ ॥

विवर इति ॥ पापे निरतिरतिप्रीतिर्यस्य स एष दानवो विवरे रन्ध्रेऽपि ।
एकान्तेऽपीत्यर्थः । एनं पाण्डवम् । अनिगूढं प्रकाशं स्पष्टं यथा तथा, अभि-
भवितुं न पारयन् न शक्नुवन् । विभाषायाम् 'नञ्' इति नञ्समासः । अवि-
शङ्कितया स्वरूपगूढनाम्निःशङ्कितया वराहमायया वराहभूमिकया विजयं
व्यवस्यति । विजयं प्रत्युद्युक्त इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

ततः किं भविष्यतीत्यत्राह—

निहते विडम्बितकिरातनृपतिवपुषा रिपौ मया ।

मुक्तनिशितविशिखः प्रसभं मृगयाविवादमयमाचरिष्यति ॥ ३८ ॥

निहत इति ॥ विडम्बितमनुकृतं किरातनृपतिवपुर्येन तेन । तद्रूपधारि-
णेत्यर्थः । मया निहते रिपौ वराहे मुक्तनिशितविशिखः सन् । अयं
पाण्डवः प्रसभं प्रसह्य मृगयाविवादं मृगप्रहारकलहम् । आचरिष्यति करि-
ष्यति । मत्प्रहतमेव मृगं प्रहृत्य स्वयमहमेव प्रहर्तेति कलहिष्यत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

ततोऽपि किं भावीत्यत्राह—

तपसा निपीडितकृशस्य विरहितसहायसंपदः ।

सत्त्वविहितमतुलं भुजयोर्बलमस्य पश्यत मृधेऽधिकुप्यतः ॥ ३९ ॥

तपसेति ॥ तपसा नितरां पीडितोऽत एव कृशस्तस्य निपीडितकृशस्य ।
'पूर्वकाल—' इत्यादिना समासः । तथा, विरहिता सहायसंपदस्य तस्यैकाकिनो
मृधे रणे । 'मृधमास्कन्दनं संख्यम्' इत्यमरः । अधिकुप्यतोऽधिकं कुप्यतो-
ऽस्य पाण्डवस्य सत्त्वविहितं स्वभावकृतम् । स्वाभाविकमित्यर्थः । 'सत्त्वोऽस्त्री
जन्तुषु क्लीबे व्यवसाये पराक्रमे । आत्मभावे पिशाचादौ द्रव्ये सत्तास्वभावयोः ।
प्राणे बलेऽन्तःकरणे' इति वैजयन्ती । अतुलं निरुपमं भुजयोर्बाहोर्बलं शक्तिं
पश्यत । 'बलं शक्तिर्बलं सैन्यम्' इति शाश्वतः ॥ ३९ ॥

अथ त्रिभिरस्य किरातभावं वर्णयति—

इति तानुदारमनुनीय विषमहरिचन्दनालिना ।

घर्मजनितपुलकेन लसद्गजमौक्तिकावलिगुणेन वक्षसा ॥ ४० ॥

इतीत्यादि ॥ शिव इति इत्थं तान् मुनीन् । उदारं युक्तियुक्तं यथा तथा-
ऽनुनीय शिक्षयित्वा । उक्त्वेति यावत् । 'रुचिरः किरातपृतनापतिः संवृते'
इत्युत्तरेणान्वयः । किरातसेनापतिवेषधारी बभूवेत्यर्थः । कथंभूतः । विषमा
विकृतविन्यासा हरिचन्दनस्यालयो रेखा यस्मिंस्तेन । घर्मेण स्वेदेन जनिताः
पुलका रोमाञ्चा यस्मिंस्तेन । 'पुलकः पुनः । रोमाञ्चः कण्टको रोमविकारो रोम-
हर्षणम्' इति हेमचन्द्रः । 'घर्मः स्यादातपे ग्रीष्मे उष्णस्वेदाम्भसोरपि' इति
विश्वः । लसन्तः शोभमाना गजमौक्तिकानां करिकुम्भोद्भवमौक्तिकानां आव-
लय एव गुणाः सूत्राणि यस्मिंस्तेन वक्षसा वक्षःस्थलेनोपलक्षितः । करिणां
मुक्तायोनित्वे प्रमाणमाहागस्यः—'जीमूतकरिमत्स्याहिवंशशङ्खवराहजाः ।
शुत्तयुद्गवाश्च विज्ञेया अष्टौ मौक्तिकयोनयः ॥' इति ॥ ४० ॥

वदनेन पुष्पितलतान्तनियमितविलम्बिमौलिना ।

विभ्रदरुणनयनेन रुचं शिखिपिच्छलाञ्छितकपोलभित्तिना ॥ ४१ ॥

वदनेनेति ॥ पुष्पितैलतान्तैर्विकसितलताग्रैर्नियमिताः संयता विलम्बि-
नश्च ते मौलयः संयतकेशा यस्य तेन । 'चूडा किरीटं केशाश्च संयता मौलय-
स्त्रयः' इत्यमरः । शिखिपिच्छलाञ्छिते बहिर्बर्हाङ्किते कपोलभित्ती यस्य
तेन । अरुणनयनेनारक्तनेत्रेण वदनेन रुचं शोभां विभ्रत् ॥ ४१ ॥

बृहदुद्ग्रहञ्जलदनादि धनुरुपहितैकमार्गणम् ।

मेघनिचय इव संवृते रुचिरः किरातपृतनापतिः शिवः ॥ ४२ ॥

बृहदिति ॥ पुनश्च, जलद इव नदतीति जलदनादि । 'कर्तुर्युपमाने' इति
णिनिः । उपहितैकमार्गणं संहितैकबाणं धनुरुद्ग्रहन् । अत एव मेघनिचय
इव स्थित इत्युपमा । अत्र विशेषके स्वभावोक्तिरलंकारः । 'स्वभावोक्तिरसौ
चारु यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ॥ ४२ ॥

अनुकूलमस्य च विचिन्त्य गणपतिभिरात्तविग्रहैः ।

शूलपरशुशरचापभृतैर्महती वनेचरचमूर्विनिर्ममे ॥ ४३ ॥

अनुकूलमिति ॥ अस्य शिवस्य । अनुकूलं विचिन्त्य प्रियमिति निश्चित्य ।
आत्तविग्रहैर्गृहीतकिरातदेहैः । तथा, शूलान् परशवः कुठाराः शराश्चापानि
च तानि भृतानि यैस्तैः । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तभ्यौ' इति निष्ठायाः पर-
निपातः । गणपतिभिः प्रमथमुख्यैर्महती वनेचरचमूः सेना विनिर्ममे
निर्मिता । माहः कर्मणि लिट्, 'ह्रस्व' इत्यभ्यासस्य ह्रस्वत्वम् ॥ ४३ ॥

विरचय्य काननविभागमनुगिरमथेश्वराज्ञया ।

भीमनिनदपिहितोरुभुवः परितोऽपदिश्य मृगयां प्रतस्थिरे ॥४४॥

विरचयेति ॥ अथ ईश्वराज्ञयाऽनुगिरं गिरौ । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः ।
‘गिरेश्च सेनकस्य’ इति समासान्तः । काननविभागं वनविभागं विरचय्य ।
अस्यायमिति देशविभागं कृत्वेत्यर्थः । भीमैर्निनदैः कलकलैः पिहिता उरवो
भुवो यैस्ते तथोक्ताः सन्तः । मृगयामपदिश्य व्याजीकृत्य परितः प्रतस्थिरे
प्रस्थिताः ॥ ४४ ॥

क्षुभिताभिनिःसृतविभिन्नशकुनिमृगयूथनिःस्वनैः ।

पूर्णपृथुवनगुहाविवरः सहसा भयादिव ररास भूधरः ॥ ४५ ॥

क्षुभितेति ॥ क्षुभितास्त्रस्ता अभिनिःसृताः स्वस्थानान्निर्गता विभिन्ना
मुक्तसंघाश्च ये शकुनयः पक्षिणो मृगाश्च तेषां यूथानि तेषां निःस्वनैः
पूर्णानि पृथूनि वनानि गुहाविवराणि च यस्य स भूधरः सहसा भया-
दिवेत्युत्प्रेक्षा । ररास चुक्रोश ॥ ४५ ॥

न विरोधिनी रुषमियाय पथि मृगविहङ्गसंहतिः ।

घ्नन्ति सहजमपि भूरिभियः सममागताः सपदि वैरमापदः ॥४६॥

नेति ॥ पथि पलायनमार्गे विरोधिनी जातिवैरिणी मृगाणां सिंहव्याघ्रा-
दीनां विहंगानां काकोल्लूकानां च संहतिः संघो रुषं परस्परक्रोधं नेयाय न
प्राप । किंतु सहैव चचारेत्यर्थः । तथा हि—भूरि प्रभूता भीर्यासु ताः समं
साधारण्येन आगता आपदो विपत्तयः सहजं स्वाभाविकमपि वैरं सपदि
घ्नन्ति । नहि संघातव्यसनेषु प्रजायते वैरानुबन्ध इति भावः ॥ ४६ ॥

चमरीगणैर्गणबलस्य बलवति भयेऽप्युपस्थिते ।

वंशविततिषु विषक्तपृथुप्रियबालबालधिभिराददे धृतिः ॥ ४७ ॥

चमरीति ॥ वंशविततिषु वेणुगुल्मेषु विषक्ता लम्बाः पृथवो भृशं प्रिय-
बालाः प्रियरोमाणो बालधयः पुच्छानि येषां तैः । ‘पुच्छोऽस्त्री लूमलाङ्गूले
बालहस्तश्च बालधिः’ इत्यमरः । चमरीगणैर्मृगविशेषैर्गणबलस्य शिवबलस्य
संबन्धिनि । तद्धेतुः इत्यर्थः । संबन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी । अन्यथा ‘भीत्रार्थानां
भयहेतुः’ इति पञ्चमी स्यात् । बलवति प्रबले भय उपस्थिते प्राप्तेऽपि धृतिर्धै-
र्यम् । आददे स्वीकृता । बालच्छेदभयात्प्राणहानिमप्यवगणय्य स्थितमित्यर्थः ४७

हरसैनिकाः प्रतिभयेऽपि गजमदसुगन्धिकेसरैः ।

स्वस्थमभिदृशिरे सहसा प्रतिबोधजृम्भितमुखैर्मृगाधिपैः ॥ ४८ ॥

हरेति ॥ प्रतिभये भयहेतौ । ‘भयंकरं प्रतिभयम्’ इत्यमरः । प्राप्तेऽपीति
शेषः । गजमदैः सुगन्धयः सुरभयः केसराः सटा येषां तैः । हतानेकगजै-
रित्यर्थः । सहसा सेनाकलकलश्रवणानन्तरमेव प्रतिबोधेन तिद्रापगमेन
जृम्भितानि व्यात्तानि मुखानि येषां तैः, मृगाधिपैः सिंहैः स्वस्थं निःशङ्कमेव

यथा तथा हरसैनिका अभिदृशिर ईक्षिताः । न तु किञ्चित्शुभितमित्यर्थः ।
युक्तं चैतद्राजनामधारिणां केसरिणामिति भावः ॥ ४८ ॥

बिभरांबभूवुरपवृत्तजठरशफरीकुलाकुलाः ।

पङ्कविषमिततटाः सरितः करिरुग्णचन्दनरसारुणं पयः ॥ ४९ ॥

बिभरामिति ॥ अपवृत्तजठरैस्तत्कालक्षोभाल्लुठितोदरैः शफरीकुलैराकुला
व्यासाः पङ्कविषमितानि दुर्गमीकृतानि तटानि कूलानि यासां ताः । सरितः
करिभिः, पलायमानैरिति शेषः । रुग्णानां मार्गरोधितया भग्नानाम् । 'ओदि-
तश्च' इति निष्ठानत्वम् । चन्दनानां रसैररुणं करिरुग्णचन्दनरसारुणं पयो
बिभरांबभूवुः । भृधातोः 'भीहीभृदुवां श्लुवच्च' इत्याम्प्रत्ययः श्लुवन्नावश्च ।
'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति भुवोऽनुप्रयोगः ॥ ४९ ॥

महिषक्षतागुरुतमालनलदसुरभिः सदागतिः ।

व्यस्तशुकनिभशिलाकुसुमः प्रणुदन्ववौ वनसदां परिश्रमम् ॥ ५० ॥

महिषेति ॥ महिषैर्ललायैः क्षतानि विदलितानि तैरगुरुभिस्तमालैर्नल-
दैरुशीरैश्च सुरभिः सुगन्धिः । व्यस्तानि विक्षिप्तानि शुकनिभानि शुकसव-
र्णानि शिलाकुसुमानि शैलेयाख्या ओषधिविशेषा येन सः । अतः शीतल
इति भावः । 'कालानुसार्यवृद्धाश्मपुष्पशीतशिवानि तु । शैलेयम्' इत्यमरः ।
'शुकनिभ' इति स्वरूपकथनम् । सदागतिर्वायुः वनसदां वनेचराणां परिश्रमं
प्रणुदन् । अतो मन्द इति भावः । 'मातरिश्वा सदागतिः' इत्यमरः । ववौ
वाति स्म ॥ ५० ॥

मथिताम्भसो रयविकीर्णमृदितकदलीगवेधुकाः ।

क्लान्तजलरुहलताः सरसीर्विदधे निदाघ इव सत्त्वसंप्लवः ॥ ५१ ॥

मथिताम्भस इति ॥ सत्त्वसंप्लवः प्राणिसंक्षोभो निदाघो ग्रीष्म इव
सरसीः सरांसि । 'कासारः सरसी सरः' इत्यमरः । मथिताम्भसः संक्षोभि-
तोदका रयेण पलायनवेगेन विकीर्णं व्याकीर्णं यथा तथा मृदिता निष्पी-
डिताः कदल्यो गवेधुकास्तृणधान्यविशेषाश्च यासां तास्तथोक्ताः । 'तृण-
धान्यानि, नीवाराः स्त्री गवेधुर्गवेधुका' इत्यमरः । मृदित इति, 'क्लिति च' इति
गुणप्रतिषेधः । क्लान्ता जलरुहलताः पद्मिन्यो यासु ता एवंभूता विदधे
चकार ॥ ५१ ॥

इति चालयन्नचलसानुवनगहनजानुमापतिः ।

प्राप मुदितहरिणीदशनक्षतवीरुधं वसतिमैन्द्रसूनवीम् ॥ ५२ ॥

इतीति ॥ इति इत्थम् । उमापतिरचलसानुषु वनेषूपभोग्यवृक्षेषु गह-
नेषु दावेषु च जातास्तथोक्तान् । सत्त्वानिति शेषः । चालयन् । मुदितानां
हरिणीनां दशनैः क्षता वीरुधो लता यस्यां ताम् । इन्द्रसूनोरिमां ऐन्द्रसू-
नवीम् । वसत्यत्रेति वसतिमाश्रमम् । 'वहिवस्यतिभ्यश्च' इत्यौणादिको वसते-
रतिप्रत्ययः । प्राप ॥ ५२ ॥

स तमाससाद् घननीलमभिमुखमुपस्थितं मुनेः ।

पोत्रनिकषणविभिन्नभुवं दनुजं दधानमथ सौकरं वपुः ॥ ५३ ॥

स इति ॥ अथ अनन्तरं स शिवो घननीलं मेघमेचकं मुनेरर्जुनस्य । अभि-
मुखमुपस्थितमागतं पोत्रस्य मुखाग्रस्य निकषणेनोल्लेखनेन विभिन्ना विदा-
रिता भूर्येन तम् । 'मुखाग्रे क्रोडहलयोः पोत्रम्' इत्यमरः । 'हलसूकरयोः पुवः'
इति घ्रन्प्रत्ययः । सूकरस्येदं सौकरं वाराहं वपुर्दधानं दनुजं दानवम् । आस-
साद् प्राप । ददर्शेति यावत् ॥ ५३ ॥

कच्छान्ते सुरसरितो निधाय सेनामन्वीतः स कतिपयैः किरातवर्यैः ।
प्रच्छन्नस्तरुगहनैः सगुल्मजालैर्लक्ष्मीवाननुपदमस्य संप्रतस्थे ॥ ५४ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये द्वादशः सर्गः ।

कच्छान्त इति ॥ लक्ष्मीवान् । 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' इति
मतुपो मकारस्य वकारादेशः । स शिवः । सुरसरितो मन्दाकिन्याः कच्छा-
न्तेऽनुपप्रान्ते । 'जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः । सेनां
निधाय । स्थापयित्वेत्यर्थः । कतिपयैः किरातवर्यैरन्वीतोऽनुगतः सन् ।
'ई गतौ' इति धातोरनुपूर्वात्कर्मणि क्तः । सगुल्मजालैर्लताप्रतानसहितैः । तरु-
गहनैः प्रच्छन्नश्छादितः । 'वा दान्तशान्त-' इत्यादिना निपातः । अस्य वरा-
हस्य पदमनु अनुपदम् । पदानुसारेणेत्यर्थः । संप्रतस्थे प्रस्थितः । 'समवप्र-
विभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । प्रहर्षिणीवृत्तम् ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-
काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां द्वादशः सर्गः समाप्तः ॥

त्रयोदशः सर्गः ।

वपुषा परमेण भूधराणामथ संभाव्यपराक्रमं विभेदे ।

मृगमाशु विलोक्यांचकार स्थिरदंष्ट्रोग्रमुखं महेन्द्रसूनुः ॥ १ ॥

वपुषेति ॥ अथ ईश्वरप्रस्थानानन्तरं महेन्द्रसूनुर्जुनः परमेण महता वपुषा
हेतुना भूधराणां विभेदे विदारणे संभाव्यपराक्रमं क्षमोऽयमिति प्रतर्क्य-
पौरुषं स्थिराभ्यां दृढाभ्यां दंष्ट्राभ्यामुग्रं मुखं यस्य तं मृगम् । वराहमित्यर्थः ।
आशु तदागमनानन्तरम् । अविलम्बेनेत्यर्थः । विलोक्यांचकार ददर्श ।
अस्मिन्सर्गे प्राक्पञ्चत्रिंशच्छ्लोकादौपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ १ ॥

स्फुटबद्धसटोन्नतिः स दूरादभिधावन्नवधीरितान्यकृत्यः ।

जयमिच्छति तस्य जातशङ्के मनसीमं मुहुराददे वितर्कम् ॥ २ ॥

स्फुटेति ॥ स्फुटा स्पष्टा बद्धा विरचिता सटानां केसराणामुन्नतिरुद्वति-
र्यस्य सः । क्रोधाद्धर्षितलोमेत्यर्थः । 'सटा जटाकेसरयोः' इति विश्वः । दूराद-
भिधावन् संमुखमापतन् । तथा, अवधीरितान्यकृत्यस्त्यक्तान्यकर्मा स वराहो

जयमिच्छति जयार्थिनि अत एव जातशङ्के । स्वयं जिघांसोर्द्विषामेकलक्ष्यत्वादिति भावः । तस्य मुनेर्मनसि मुहुरिमं वितर्कं वक्ष्यमाणमूहम् । 'अध्याहारस्तर्क ऊहः' इत्यमरः । आद्द उत्पादयामास ॥ २ ॥

अथैकादशभिर्वितर्कमेव निरूपयति—

घनपोत्रविदीर्णशालमूलो निविडस्कन्धनिकाषरुणवप्रः ।

अयमेकचरोऽभिवर्तते मां समरायेव समाजुहूषमाणः ॥ ३ ॥

घनपोत्रेति ॥ घनेन कठिनेन पोत्रेण मुखाग्रेण विदीर्णानि विदलितानि शालमूलानि वृक्षमूलानि येन सः । निविडस्य स्कन्धस्य निकाषेण निकषणेन रुणवप्रो भग्नसानुः । अतो महासत्त्वसंपन्न इति भावः । एकश्चासौ चर-
श्रेति एकचर एकाकी । यूथादपेत इत्यर्थः । अतः, अयं वराहः समराय समरं कर्तुम् । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इति चतुर्थी । समाजुहूषमाण इव संमाह्वानुमिच्छन्निव । 'इव'शब्दः संभावनायाम् । समाह्वयतेः सन्नन्ताच्छान-
चप्रत्ययः । 'स्पर्धायामाङ्' 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मनेपदम् । 'अभ्यस्तस्य च' इति संप्रसारणम् । मामभिवर्तते मामभिधावति । उपसर्गवशात् सकर्मकत्वम् । अंतः सर्वथा नायमुपेक्ष्य इति भावः ॥ ३ ॥

इह वीतभयास्तपोनुभावाज्जहति व्यालमृगाः परेषु वृत्तिम् ।

मयि तां सुतरामयं विधत्ते विकृतिः किं नु भवेदियं नु माया ४

इहेति ॥ इह आश्रमे तपोनुभावाद्गीतभयाः । लक्षणया विगतवैरा इत्यर्थः । अंत एव व्यालमृगाः क्रूरव्याघ्रादयः । 'व्यालो भुजङ्गमे क्रूरे श्वापदे दुष्टदन्तिनि' इति विश्वः । परेषु प्राण्यन्तरेषु वृत्तिं जीविकां जहति । हिंसया न जीवन्ती-
त्यर्थः । अयं वराहो मयि मद्विषये तां वृत्तिं सुतरां विधत्ते करोति । मां हन्तुमिच्छतीत्यर्थः । तदियं विकृतिस्तपःसामर्थ्यभङ्गरूपा भवेत्किं नु । यद्वा,—माया कस्यचिद्वैत्यस्य वराहभूमिका भवेत् नु । 'किं-नु'शब्दौ वितर्के ॥४॥

अथवैष कृतज्ञयेव पूर्वं भृशमासेवितया रुषा न मुक्तः ।

अवधूय विरोधिनीः किमारान्मृगजातीरभियाति मां जवेन ॥५॥

अथवेति । 'अथवा' इति पक्षान्तरे । एष मृगः पूर्वं जन्मान्तरे भृशमत्य-
र्थम् । आसेवितयाऽतिपरिचितया रुषा क्रुधा । मद्बोचरयेति शेषः । कृतज्ञयेव पूर्वकृतं वैरानुबन्धं संप्रति जानात्येवेत्युत्प्रेक्षा । न मुक्तो न त्यक्तः । अद्यापीति शेषः । नूनमर्थ प्राग्भवीयवैरानुबन्धी कश्चित् । संप्रति वैरबीजासंभवादिति भावः । कुतः । यद्यत आरात् समीपतः । 'आराद्दूरसमीपयोः' इत्यमरः । विरोधिनीर्मृगजातीरवधूय त्यक्त्वा जवेन मामभियाति अभिधावति । अन्यथा नाभियायादिति भावः ॥ ५ ॥

न केवलमभियानमेव, किं च मनोवृत्तिरप्यत्र प्रमाणमित्याह—
न मृगः खलु कोऽप्ययं जिघांसुः स्वलति ह्यत्र तथा भृशं मनो मे ।
विमलं कलुषीभवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं वा ॥ ६ ॥

न मृग इति ॥ अयं मृगो न खलु, किंतु कोऽपि कश्चिदन्य एव जिघांसुः सुहृन्तुमिच्छुः । हन्तेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । ‘अभ्यासाच्च’ इति कुत्वम् । ‘अज्जन-गमां सनि’ इति दीर्घः । कुतः । हि यस्मात्, अत्रास्मिन्मृगविषये मे मनस्तथा भृशं स्वलति क्षुभ्यति । यथायं जिघांसुमिति बुद्धिरूपद्यत इत्यर्थः । तथा हि—विमलं प्रसन्नं तथा कलुषीभवत् क्षुभ्यच्च चेत एव हितैषिणं रिपुं वा मित्रममित्रं च कथयति । यत्र यत्र मनः प्रसीदति तदेव मित्रम् । अन्यथा त्वन्यथेति निश्चितमित्यर्थः । अतोऽयं वध्य इति भावः ॥ ६ ॥

ननु मुनेः किमनया दुःशङ्कया, तत्राह—

मुनिरस्मि निरागसः कुतो मे भयमित्येष न भूतयेऽभिमानः ।

परवृद्धिषु बद्धमत्सराणां किमिव ह्यस्ति दुरात्मनामलङ्घ्यम् ॥ ७ ॥

मुनिरिति ॥ मुनिरस्मि । अतो निरागसो निरपराधस्य मे कुतो भयमित्येषोऽभिमानोऽहंकारः अनपकारिणं मां कोऽपि किं करिष्यतीति बुद्धिर्भूतये श्रेयसे न भवति । तथा हि—परवृद्धिषु विषये बद्धमत्सराणां दुरात्मनामलङ्घ्यं किमिवास्ति, न किञ्चिदकार्यमस्तीत्यर्थः । ‘इव’शब्दो वाक्यालंकारे ७

अस्तु, जिघांसुरपि क्षुद्रः किं करिष्यतीत्यत्राह—

दनुजः स्विदयं क्षपाचरो वा वनजे नेति बलं बतास्ति सत्त्वे ।

अभिभूय तथा हि मेघनीलः सकलं कम्पयतीव शैलराजम् ॥ ८ ॥

दनुज इति ॥ अयं दनुजः स्वित् दानवो वा क्षपाचरो राक्षसो वा । न तु मृग एवेत्यर्थः । कुतः । वनजे सत्त्वे वन्यप्राणिनि । इति ईदृशं बलं नास्ति । बतेत्याश्रये । बलमेव समर्थयते । तथा हि—मेघनीलोऽयं वराहः सकलं शैलराजमभिभूय आक्रम्य कम्पयतीव । पदविष्टमभरात्तथा प्रतीयत इत्यर्थः । अत्र कम्पयतीवेत्युत्प्रेक्षागर्भोऽयं शैलकम्पनरूपकार्येण तत्कारणबलातिरेकसमर्थनात्कार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ८ ॥

किंच, योऽयं शैले मृगयाकलकल इव श्रूयते सोऽप्येतन्मायापरिकल्पित एवेत्याह—

अयमेव मृगव्यसत्रकामः प्रहरिष्यन्मयि मायया शमस्ये ।

पृथुभिर्ध्वजिनीरवैरकार्पीचकितोद्भ्रान्तमृगानि काननानि ॥ ९ ॥

अयमिति ॥ अयमेव शमस्ये शान्तिनिविष्टे इति रन्ध्रोक्तिः । मयि । अधि-करणविवक्षायां सप्तमी । मायया प्रहरिष्यन् । प्रहर्तुमिच्छन्नित्यर्थः । ‘लृट् शेषे च’ इति चकारात्क्रियार्थायां क्रियायां लृट् । ‘लृटः सद्वा’ इति शत्रादेशः । मृगव्यं मृगया तस्य सत्रं वनम् । तदर्थं वनमित्यर्थः । तत्कामयत इति मृगव्यसत्रकामः

१९०

मृगयाभूमिपरिग्रहार्थं सन्नित्यर्थः । 'कर्मण्यण्', 'आच्छोदनं मृगव्यं स्यादाखेटो मृगया स्त्रियाम्' इति, 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदादाने वनेऽपि च' इति चामरः । पृथुभिर्वृहद्विध्वजिनीरवैः सेनाकलकलैः । स्वमायया कल्पितैरेवेत्यर्थः । कान-
नानि चकितोद्भ्रान्तास्त्रस्तपलायिता मृगा येषु तानि । अकार्षीच्चकार । अयमेव
रन्धान्वेषी मत्प्रहारार्थं स्वयमेव मृगयुर्भूत्वा वनावरोधाय सेनाघोषं कल्पया-
मास । स मृगरूपेणागच्छतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

वितर्कान्तरमाह—

बहुशः कृतसत्कृतेर्विधातुं प्रियमिच्छन्नथवा सुयोधनस्य ।

श्लुभितं वनगोचराभियोगाद्गणमांशिश्चियदाकुलं तिरश्चाम् ॥ १० ॥

बहुश इति ॥ अथवा बहुशः कृता सत्कृतिः सत्कारो येन तस्य सुयोध-
नस्य प्रियं मद्गधरूपं प्रतिप्रियं विधातुं कर्तुमिच्छन् । यः कश्चिदिति शेषः ।
वनं गोचरं स्थानं येषां तेषां वनगोचराणामभियोगादवरोधात् । 'अभियो-
गोऽवरोधः स्यात्' इति हलायुधः । श्लुभितमुद्विग्नमाकुलं चलं तिरश्चां मृगा-
दिपशूनां गणमांशिश्चियत् वराहरूपेण प्राविक्षत् । 'णिश्चिद्भुभ्यः कर्तरि चङ्',
'चङि' इति द्विर्भावः ॥ १० ॥

वितर्कान्तरमाह—

अवलीढसनाभिरश्वसेनः प्रसभं खाण्डवजातवेदसा वा ।

प्रतिकर्तुमुपागतः समन्युः कृतमन्युर्यदि वा वृकोदरेण ॥ ११ ॥

अवलीढेति ॥ खाण्डवजातवेदसा खाण्डववनाग्निना प्रसभमवलीढस-
नाभिर्दग्धबन्धुः । 'सपिण्डास्तु सनाभयः । सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजनाः
समाः' इत्यमरः । अत एव समन्युर्बद्धवैरः । तस्यार्जुनस्यापकारयितृत्वादिति
भावः । अश्वसेनस्तक्षकपुत्रः कश्चिन्महासर्पः प्रतिकर्तुं वैरनिर्यातनार्थम् । उपा-
गतो वा । वराहमाययेति शेषः । पक्षान्तरमाह—यदि वा वृकोदरेण भीम-
सेनेन कृतमन्युर्जनितक्रोधो वा । कश्चिदिति शेषः । पुरा किल पाण्डवः खाण्ड-
वदाहे पावकभयात् पलायमानांस्तक्षकपुत्रानश्वसेनस्य बन्धून् बाणैरवरुध्य दाह-
यामासेति भारतकथा ॥ ११ ॥

अथ द्वाभ्यामनन्तरकरणीयमध्यवस्यति—बलेत्यादिना,—

बलशालितया यथा तथा वा धियमुच्छेदपरामयं दधानः ।

नियमेन मया निबर्हणीयः परमं लाभमरातिभङ्गमाहुः ॥ १२ ॥

किं बहुना, यथा तथा वाऽस्तु । अयं मायिकः पारमार्थिको वाऽस्त्वित्यर्थः ।
सर्वथापि बलशालितया । बलदृप्तयेत्यर्थः । उच्छेदपरां धियं दधानः ।
मां जिघांसुरित्यर्थः । अतोऽयं मृगो नियमेनावश्यं मया निबर्हणीयो वध्यः ।
'प्रमापणं निबर्हणम्' इत्यमरः । तथा हि—अरातिभङ्गं शत्रुक्षयं परमं लाभ-
माहुः ॥ १२ ॥

१ 'आशिश्चयत्' इति पाठः. २ 'उद्गतेन' इति पाठः. ३ 'कृतवैरः' इति पाठः.

ननु तपोविरोधिनी हिंसेत्याशङ्क्याह—

कुरु तात तपांस्यमार्गदायी विजयायेत्यलमन्वशान्मुनिर्नाम् ।

बलिनश्च वधादृतेऽस्य शक्यं व्रतसंरक्षणमन्यथा न कर्तुम् ॥ १३ ॥

कुर्विति ॥ हे तात वत्स, मार्गदायी न भवतीति अमार्गदायी । रन्धान्वे-
षिणां प्रवेशमयच्छन्नित्यर्थः । कुतः । जयार्थित्वादित्याह—विजयाय तपांसि
कुर्विति मुनिर्व्यासो मामलं भृशम् । अन्वशात् अनुशिष्टवान् । अनुशासेर्लङ् ।
ननु मुनिर्वा कथमधर्ममन्वशात्, तत्राह—बलिन इति । अस्य मृगस्य बलिनः
प्रबलस्य वधादृते वधं विना । 'अन्यारादितरते—' इत्यादिना पञ्चमी । अन्यथा
उपायान्तरेण व्रतसंरक्षणं तपोरक्षणं कर्तुं न शक्यम् । हिंसापि दुष्टनिग्रहा-
त्मिका नाधर्म इत्यर्थः ॥ १३ ॥

इति तेन विचिन्त्य चापनाम प्रथमं पौरुषचिह्नमालम्बे ।

उपलब्धगुणः परस्य भेदे सचिवः शुद्ध इवाददे च बाणः ॥ १४ ॥

इतीति ॥ तेनार्जुनेन । इतीत्यं विचिन्त्य वितर्क्य चापनाम चापाख्यं
प्रथमं पौरुषचिह्नम् । तस्य मुख्यायुधत्वादिति भावः । आलम्बे गृहीतम् ।
कर्मणि लिट् । अथ परस्य शत्रोर्भेदे विदारण उपजापे च उपलब्धगुणो ज्ञात-
शक्तिः । बाणस्तु प्राप्तमौर्वीकश्चेति शेषः । शुद्धो ऋजुर्दिग्धत्वादिदोषरहितो वा ।
'न कर्णभेदेनो दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजसैः' इति निषेधात् । अन्यत्र,—शुद्धो निर्मल-
चित्त इति यावत् । बाणश्च सचिव इव । आददे जगृहे । अत्र बाणसचिवयोः
शब्दमात्रसाधर्म्याच्छेषालंकारः प्रकृताप्रकृतविषय इति सर्वस्वकारः । उपमैवेति
केचित् ॥ १४ ॥

अनुभाववता गुरु स्थिरत्वादविसंवादि धनुर्धनंजयेन ।

स्वबलव्यसनेऽपि पीड्यमानं गुणवन्मित्रमिवानतिं प्रपेदे ॥ १५ ॥

अनुभावेति ॥ गुरु महत्पूज्यं च स्थिरत्वात् सारवत्त्वात् । अविसंवादि अभ-
ङ्गुरम् । अन्यत्र,—प्रतिष्ठितत्वादसत्यरहितम् । गुणवत् सज्यम् । अन्यत्र,—औदा-
र्यादिगुणवत् । धनुर्मित्रमिवानुभाववता निश्चयबुद्धिमता । 'अनुभावः प्रभावे
च सतां च मतिनिश्चये' इत्यमरः । धनंजयेन स्वबलव्यसनेऽपि तपसा क्षीण-
त्वेऽपि । अन्यत्र,—स्वं धनं तदेव बलं तस्य व्यसने हासेऽपि । पीड्यमानमा-
कृष्यमाणमवरुध्यमानं च सत् मित्रमिव । आनतिं नम्रतामानुकूल्यं च प्रपेदे ।
अलंकारस्तु पूर्ववत् ॥ १५ ॥

प्रविकर्षनिनादभिन्नरन्ध्रः पदविष्टम्भनिपीडितस्तदानीम् ।

अधिरोहति गाण्डिवं महेषौ सकलः संशयमारुरोह शैलः ॥ १६ ॥

प्रविकर्षेति ॥ तदानीं तस्मिन्काले महेषौ बाणे गाण्डिवमर्जुनधनुः ।
अधिरोहति सति । 'कपिध्वजस्य गाण्डीवगाण्डिवौ पुंनपुंसकौ' इत्यमरः ।
'गाण्ड्यजगात्संज्ञायाम्' इति वप्रत्ययः । प्रविकर्षेण ज्यास्फालनेन यो निनाद-
स्तेन भिन्नरन्ध्रो विदलितगह्वरः तथा, पदविष्टम्भेन पादाक्रमणेन निपीडितो
नुन्नः सकलः समूलः शैलः संशयं जीवितसंदेहम् । आरुरोह । प्रापेत्यर्थः ।
अत्र शैलस्य संशयासंबन्धेऽपि संबन्धकथनादतिशयोक्तिरलंकारः ॥ १६ ॥

दृशेऽथ सविस्मयं शिवेन स्थिरपूर्णायतचापमण्डलस्थः ।

रचितस्तिसृणां पुरां विधातुं वधमात्मेव भयानकः परेषाम् ॥१७॥

दृश इति ॥ अथ बाणसंधानानन्तरं शिवेन स्थिरं निश्चलं पूर्णं च यथा तथा, आयत आकृष्टे चापमण्डले तिष्ठतीति तथोक्तः । चापमण्डलमन्तर्धाय स्थित इत्यर्थः । तिसृणाम् । 'न तिसृचतसृ' इति दीर्घप्रतिषेधः । पुराम् । त्रिपुरासुरस्येत्यर्थः । वधं संहारं विधातुं कर्तुं रचितः कल्पितः । स्थानविशेषे स्थापित इति यावत् । आत्मा स्वयमिव परेषां भयानको भयंकरः सोऽर्जुनः सविस्मयं दृशे दृष्टः । उपमालंकारः ॥ १७ ॥

अथ पिनाकिवृत्तान्तमाह—

विचकर्ष च संहितेपुरुच्चैश्चरणास्कन्दननामिताचलेन्द्रः ।

धनुःरायतभोगवासुकिज्यावदनग्रन्थिविमुक्तवह्नि शंभुः ॥ १८ ॥

विचकर्षेति ॥ अथ शंभुश्च संहितेपुः सन् । उच्चैर्भृशं चरणास्कन्दनेन पदविष्टम्भेन नामितोऽधो नीतोऽचलेन्द्रो येन स तथोक्तः । आयतभोग आकृष्टकायो वासुकिरेव ज्या तस्य वदनमेव ग्रन्थिस्तेन विमुक्त उत्सृष्टो वह्निर्यस्य तत्, धनुर्विचकर्षेति स्वभावोक्तिः ॥ १८ ॥

स भवस्य भवक्षयैकहेतोः सितसप्तेश्च विधास्यतोः सहार्थम् ।

रिपुराप पराभवाय मध्यं प्रकृतिप्रत्यययोरिवानुबन्धः ॥ १९ ॥

स इति ॥ सह संभूय अर्थमरिवधरूपप्रयोजनं विधास्यतोः करिष्यतोः । अन्यत्र,—सहार्थमभिधेयमभिधास्यतोरित्यर्थः । 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः' इति वचनात् । भवक्षयैकहेतोः संसारोच्छेदनिदानस्य भवस्य शिवस्य सितसप्तेर-र्जुनस्य च मध्यं रिपुर्वराहः । यस्मात्प्रत्ययो विधीयते सा प्रकृतिर्धात्वादिः, प्रत्ययः सनादिः, तयोर्मध्यमनुबन्ध इत्संज्ञको वर्णः । यथा भूतं भूतिरित्यादौ ककारः । स इव पराभवाय नाशाय लोपार्थमेव आप । न तु स्थित्यर्थमित्यर्थः ॥ १९ ॥

अथ दीपितवारिवाहवर्त्मा रववित्रासितवारणादवार्यः ।

निपपात जवादिषुः पिनाकान्महतोऽभ्रादिव वैद्युतः कृशानुः २०

अथेति ॥ अथ रिपोर्मध्यप्रवेशानन्तरं दीपितं वारिवाहवर्त्म आकाशं येन सः । अवार्यो दुर्वार इषुः शरो रववित्रासितवारणात् स्वघोषभीषितगजात् पिनाकात् शिवधनुषः । 'पिनाकोऽजगवं धनुः' इत्यमरः । महतोऽभ्रान्मेघात्, विद्युतोऽयं वैद्युतः कृशानुरशनिरिव जवाद्देगात् । निपपातादधाव ॥ २० ॥

व्रजतोऽस्य बृहत्पतत्रजन्मा कृतताक्षर्योपनिपातवेगशङ्कः ।

श्रतिनादमहान्महोरगाणां हृदयश्रोत्रभिदुत्पपात नादः ॥ २१ ॥

व्रजत इति ॥ व्रजतो धावतोऽस्य बाणस्य बृहद्भ्यः पतत्रेभ्यः पक्षेभ्यो जन्म यस्य स तथोक्तः । कृतताक्षर्योपनिपातवेगशङ्का गरुडागमनवेगभ्रमो

येन सः । अत एव, महोरगाणां सर्पाणां हृदयानि श्रोत्राणि च भिनत्तीति हृदयश्रोत्रमित् । 'समुद्राभ्राद्' इति सूत्रे पूर्वनिपातव्यभिचारत् 'श्रोत्र'शब्दस्य पूर्वनिपातव्यभिचारः । प्रतिनादैः प्रतिध्वनिभिः महान् समूर्च्छितो नाद् उत्पपात उत्थितः । अत्र नादस्योरगहृदयभेदकत्वासंबन्धेऽपि संबन्धाभिधानादतिशयोक्तिः । सा च ताक्ष्यवेगभ्रमोत्थापितेति तयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ २१ ॥

नयनादिव शूलिनः प्रवृत्तैर्मनसोऽप्याशुतरं यतः पिशङ्गैः ।

विदधे विलसत्तडिल्लताभैः किरणैर्व्योमनि मार्गणस्य मार्गः ॥२२॥

नयनादिवेति ॥ शूलिनो नयनात् प्रवृत्तैर्निर्गतैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । नेत्राग्निशिखाकल्पैरित्यर्थः । पिशङ्गैः पिङ्गलैः विलसत्तडिल्लताभैर्विद्युद्दामतुल्यैरित्युपमा । मनसश्चित्तादपि आशुतरं शीघ्रतरम् । 'आशु'शब्दादनव्ययात्तरप् । अतः 'किमेत्तिडव्यय-' इत्यादिनाम्प्रत्ययो न । 'क्लीबे शीघ्राद्यसत्त्वे स्यान्निष्वेषां सत्त्वगामि यत्' इत्यमरः । यतो गच्छतः । इणः शतृप्रत्ययः । मार्गणस्य शरस्य । 'कदम्बमार्गणशराः' इत्यमरः । किरणैर्व्योमनि आकाशे मार्ग उल्कारेखाकारः पन्था विदधे विरचित इति स्वभावोक्तिरलंकारः ॥ २२ ॥

अपयन्धनुषः शिवान्तिकस्थैर्विवरेसद्भिरभिख्यया जिहानः ।

युगपद्दृशे विशन्वराहं तदुपोढैश्च नभश्चरैः पृषत्कः ॥ २३ ॥

अपयन्निति ॥ पृषत्को बाणः । 'पृषत्कबाणविशिखाः' इत्यमरः । धनुषः पिनाकात् । अपयन् निर्यन् । निर्गच्छन्नित्यर्थः । इणः शतृप्रत्ययः । शिवान्तिकस्थैर्नभश्चरैः । अभिख्यया शोभया जिहानः । शोभां गच्छन्नित्यर्थः । 'ओहाङ् गतौ' इति धातोः शानच् । 'अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः । विवरे सीदन्तीति विवरेसदसैः विवरेसद्भिरन्तरालवर्तिभिर्नभश्चरैः । 'सत्सूद्विष-' इत्यादिना क्तिप् । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक् । अथ वराहं विशन् प्रविशन्, तदुपोढैस्तं वराहमुपोढैः प्रत्यासन्नैः । वहेः कर्तरि क्तः । नभश्चरैर्युगपद्दृशे दृष्ट इति बाणवेगोक्तिः । अत्र क्रमेण पिनाकनिष्क्रमणादिक्रियाविशिष्टस्य बाणस्य शिवान्तिकादिभिन्नदेशस्थनभश्चरकर्तृकदर्शनयौगपद्यासंबन्धेऽपि तत्संबन्धोक्तिमूलातिशयोक्त्या लोकोत्तरवेगप्रतीतेरलंकारेण वस्तुध्वनिः ॥ २३ ॥

स तमालनिभे रिपौ सुराणां घननीहार इवाविषक्तवेगः ।

भयविभ्रुतमीक्षितो नभःस्थैर्जगतीं ग्राह इवापगां जगाहे ॥ २४ ॥

स इति ॥ स बाणः । तमालनिभे तमालप्रभे । नीलाभ इति यावत् । सुराणां रिपौ वराहे घननीहारे सान्द्रतुहिन इव, अविषक्तवेगोऽप्रतिबद्धवेगः सन् । तथा, नभःस्थैः खेचरैः भयेन विभ्रुतं विह्वलं यथा तथा, ईक्षितः सन् । अपां संबन्धि वेग आपः, अपां समूहो वा आपम् । आपेन गच्छतीति आपगा नदी तां गृह्णातीति ग्राहो जलग्राहः । जलचर इति यावत् । 'जलचरे' इति वक्तव्यात् 'विभाषा ग्रहः' इति णप्रत्ययः । स इव । जगतीं भूमिम् । 'जगती विष्टपे भूम्यां वास्तुच्छन्दोविशेषयोः' इति वैजयन्ती । जगाहे विवेश । अन्तर्हित इत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथार्जुनबाणप्रयोगमाह—

सपदि प्रियरूपपर्वरेखः सितलोहाग्रनखः खमाससाद ।

कुपितान्तकतर्जनाङ्गुलिश्रीर्व्यथयन् प्राणभृतः कपिध्वजेषु ॥२५॥

सपदीति ॥ सपदि शिवबाणपातसमय एव प्रिया रूपमाकृतिः पर्वणि ग्रन्थयो रेखा रचनाश्च यस्य सः । अङ्गुलिपक्षे, पर्वरेखाः प्रसिद्धाः । लोहाग्र-मयःफलं तन्नखमिवेत्युपमितसमासः । सितं लोहाग्रनखं यस्य सः । कुपित-स्यान्तकस्य मृत्योर्यां तर्जना तस्या अङ्गुलिस्तर्जनाङ्गुलिः तर्जनी तस्याः श्रीरिव श्रीर्यस्य सः कपिध्वजेषु पुरर्जुनबाणः प्राणभृतो व्यथयन् भीषयमाणः खमाकाशम् । आससाद प्राप । उपमालंकारः ॥ २५ ॥

परमास्त्रपरिग्रहोरु तेजः स्फुरदुल्काकृति विक्षिपन्वनेषु ।

स जवेन पतन् परःशतानां पततां व्रात इवारवं वितेने ॥ २६ ॥

परमेति ॥ परमास्त्रपरिग्रहेण दिव्यास्त्राधिष्ठानेन उरु महदत एव स्फुर-दुल्काकृति । उल्कावद्दीर्घायमाणमित्यर्थः । तेजो वनेषु विक्षिपन् विकिर-न्सन् । जवेन पतन् धावन् स बाणः । शतात्परे परःशतास्तेषाम् । शताधि-कसंख्याकानामित्यर्थः । 'परःशताद्यास्ते येषां परा संख्या शतादिकात्' इत्यमरः । 'पञ्चमी—' इति योगविभागात्समासः । 'राजदन्तादिषु परम्' इत्युपसर्जनस्य 'शत'शब्दस्य परनिपातः । पारस्करादित्वात्सुडागमः । पततां पतत्रिणाम् । 'पतत्प-त्ररथाण्डजाः' इत्यमरः । व्रातः समूह इव, आरवं वितेने विस्तारयामास ॥२६॥

अविभावितनिष्क्रमप्रयाणः शमितायाम इवातिरंहसा सः ।

सह पूर्वतरं नु चित्तवृत्तेरपतित्वा नु चकार लक्ष्यभेदम् ॥ २७ ॥

अविभावितेति ॥ अतिरंहसाऽतिवेगेन । अविभावितेऽलक्षिते निष्क्रमो गाण्डीवान्निःसरणं प्रयाणमन्तरागमनं च यस्य सः । तथा, शमितायामः संक्षिप्तदैर्घ्यं इव स्थित इत्युपमा । अत्र वेगगुणनिमित्ता दैर्घ्यगुणाभावोत्प्रेक्षा । स शरः । सह नु सह वा । चित्तवृत्त्येति शेषः । चित्तवृत्तेः पूर्वतरं नु प्रागेव वा । उभयत्रापि लक्ष्ये पतित्वेति शेषः । अथवा, अपतित्वा नु । लक्ष्य इति शेषः । लक्ष्यभेदं चकार । अत्रोपात्तवेगगुणनिमित्ताद्वाणस्य चित्तवृत्त्या सह-पातपूर्वपातपतनाभावोत्प्रेक्षास्तिस्र उत्तरोत्तरोत्कर्षेण वेगातिशयव्यञ्जिका इत्य-लंकारेण वस्तुध्वनिः ॥ २७ ॥

स वृषध्वजसायकावभिन्नं जयहेतुः प्रतिकायमेषणीयम् ।

लघु साधयितुं शरः प्रसेहे विधिनेवार्थमुदीरितं प्रयत्नः ॥ २८ ॥

स इति ॥ जयहेतुः स शरो वृषध्वजसायकावभिन्नं शिवशरविद्धम् । एषणीयम् । वेद्भूमिति शेषः । इषेरिच्छार्थादनीयरप्रत्ययः । प्रतिकायम् प्रति-शरीरम् । प्रतिपक्षमिति यावत् । विधिना देवेन, उदीरितं फलसाधनतया प्रति-पादितमर्थं योगादिकं प्रयत्नः पुरुषव्यापार इव । लघु अक्लेशेन यथा तथा साधयितुम् । स्वार्थेणिजन्तात्तुमुन् । प्रसेहे शशाक । उपमालंकारः ॥ २८ ॥

अविवेकवृथाश्रमाविवार्यं क्षयलोभावित्र संश्रितानुगमम् ।

विजिगीषुमिवानयप्रमादावग्रमादं विशिख्यौ विनिन्यतुस्तम् ॥२९॥

अविवेकमिति ॥ अविवेकोऽन्तरात्मिजन्यं वृथाश्रमो निष्फलप्रयासस्तौ अर्थे धनमिच । अस्यानविनियोगहेतुकत्वादनयोर्धेनहानिकरत्वमिति भावः । श्रयोऽनुपचयो लोभोऽदानृत्यं तौ संश्रितानां अनुजीविनां अनुगममिच । अकिंचित्करे स्वामिन्यनुगमस्यानवस्थानादिति भावः । अनयो दुर्भातिः प्रमादोऽनवधामता तौ विजिगीषुमिच । रन्ध्रभृयिष्टस्य जयामिद्वेदिति भावः । विशिख्यौ शिवाग्नेनबाणौ तं वराहम् । अवग्रमादं करणशशिक्ष्यं विनिन्यतुर्नीतवन्तौ । नयतिर्द्विकर्मकः । माहोपमेयम् ॥ २९ ॥

अथ दीर्घतमं तमः प्रवेक्ष्यन् सहसा रुग्णरयोः स संभ्रमेण ।

निपतन्तमिवोष्णरश्मिमुच्यं वलयीभूततकं धरां च मेने ॥ ३० ॥

अथेति ॥ अथ स वराहो दीर्घतमं तमो दीर्घनिद्रां प्रवेक्ष्यन् । मरिष्य-श्रित्यर्थः । सहसा झटिति रुग्णरयो भ्रमवेगः संभ्रमेण भ्रान्त्या । 'संभ्रमो भ्रान्तिहावयोः' इति विश्वः । उष्णरश्मिमुच्यं भूमा निपतन्तमिच मेने । धरां च वलयीभूता मण्डलीभूतास्तरवो यस्यास्तां तथा मेने । तथा बभ्रा-मेत्यर्थः । स्वभावोक्तिरलंकारः ॥ ३० ॥

स गतः क्षितिमृष्णंशोणितार्द्रः खुरदंष्ट्राग्रनिपातदारिताश्मा ।

असुभिः क्षणमीक्षितेन्द्रसूनुर्विहितामर्षगुरुध्वनिनिर्गसे ॥ ३१ ॥

स इति ॥ क्षितिं गतः क्षितौ पतित उष्णेन प्रत्यग्रवाच्छोणितेनार्द्रः द्रुतः खुराणां दंष्ट्रयोश्च अग्राणां निपातेनाघातेन दारिताश्मा पाटितपापाणः । किंच, क्षणमीक्षितेन्द्रसूनुः । स्वार्थविघातरोपादिति भावः । अत एव, विहितः कृतोऽमर्षगुरुः क्रोधोद्धतो ध्वनिः क्रन्दितं येन स तथोक्तः स वराहोऽसुभिः प्राणैर्निरासे निरासितः । त्यक्त इत्यर्थः । अस्यतेः कर्मणि लिट् । इयं च स्वभावोक्तिः ॥ ३१ ॥

स्फुटपौरुषमापपात पार्थस्तमथ प्राज्यशरः शरं जिघृक्षुः ।

न तथा कृतवेदिनां करिष्यन् प्रियतामेति यथा कृतावदानः ३२

स्फुटेति ॥ अथ वराहपातानन्तरं पार्थोऽर्जुनः प्राज्यशरः प्रभूतशरः । सन्न-पीत्यर्थः । 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' इत्यमरः । स्फुटपौरुषं व्यक्तविक्रमं वराहभेदिनं शरं जिघृक्षुर्ग्रहीतुमिच्छुः । ग्रहेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । आपपाताधावति स । कृतज्ञतया शरग्रहण, न तु लोभादित्यर्थः । नन्वन्येऽप्युपकर्तार एव, किमित्यत्रैवा-दरस्तस्येत्यत आह—कृतवेदिनां कृतज्ञानां कृतावदानः कृतकर्मा । 'अवदानं कर्म वृत्तम्' इत्यमरः । यथा प्रियतामेति तथा करिष्यन् उपकरिष्यन्न प्रिय-तामेति । 'कृतकरिष्यमाणयोः कृतं बलीयः' इति न्यायादिति भावः ॥ ३२ ॥

अथ युग्मेनाह—

उपकार इवासति प्रयुक्तः स्थितिमप्राप्य मृगे गतः प्रणाशम् ।

कृतशक्तिरधोमुखो गुरुत्वाज्जनितव्रीड इवात्मपौरुषेण ॥ ३३ ॥

उपकार इति ॥ असति नीचे प्रयुक्त उपकार इव मृगे स्थितिमप्राप्य प्रणाशमदर्शनं गत इत्युपमा । यथा कृतशक्तिः कृतपौरुषो गुरुत्वात् लोहभारान्मत्वाच्च अधोमुखो नम्रमुखः । अत एव, आत्मपौरुषेण जनितव्रीड इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा ॥ ३३ ॥

स समुद्धरता विचिन्त्य तेन स्वरुचं कीर्तिमिवोत्तमां दधानः ।

अनुयुक्त इव स्ववार्तमुच्चैः परिरेभे नु भृशं विलोचनाभ्याम् ॥ ३४ ॥

स इति ॥ उत्तमां स्वरुचं कान्तिं कीर्तिमिव दधान इत्युत्प्रेक्षा । किंच, विचिन्त्य सर्वथा ग्राह्योऽयमिति विमृश्य समुद्धरता तेनार्जुनेन उच्चैः स्ववार्तं स्वपाटवम् । 'वार्तं पाटवमारोग्यं भव्यं स्वास्थ्यमनामयम्' इति यादवः । अनुयुक्तः पृष्ठ इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा । आदरात्तथा प्रतीयत इत्यर्थः । 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः । स बाणो विलोचनाभ्यां नयनाभ्यां कृत्वा भृशं परिरेभे नु आलिङ्गितः किमित्युत्प्रेक्षा । तेनात्यादरेण दृष्ट इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

तत्र कार्मुकभृतं महाभुजः पश्यति स्म सहसा वनेचरम् ।

संनिकाशयितुमग्रतः स्थितं शासनं कुसुमचापविद्विषः ॥ ३५ ॥

तत्रेति ॥ तत्र प्रदेशे महाभुजोऽर्जुनः कुसुमचापविद्विषः स्वरारेः शासनं वक्ष्यमाणमादेशं संनिकाशयितुं संनिवेशयितुम् । निवेदयितुमिति यावत् । अग्रतः स्थितं कार्मुकभृतं वनेचरं सहसा झटिति पश्यति स्म । इतः प्रभृति रथोद्धतवृत्तम्—'रो नराविह रथोद्धता लगौ' इति लक्षणात् ॥ ३५ ॥

स प्रयुज्य तनये महीपतेरात्मजातिसदृशीं किलानतिम् ।

सान्त्वपूर्वमभिनीतिहेतुकं वक्तुमित्थमुपचक्रमे वचः ॥ ३६ ॥

स इति ॥ स वनेचरो महीपतेस्तनये राजपुत्रेऽर्जुन आत्मजातिसदृशीं किरातजात्यनुरूपां किल । 'किले'ति जातेरलीकतां दर्शयति । यतः । परमार्थतः प्रमथ एव सः । आनतिं प्रणतिं प्रयुज्य सान्त्वपूर्वं सामपूर्वकम् । 'साम सान्त्वमुभे समे' इत्यमरः । अभिनीतिहेतुकं प्रिययुक्तिहेतुकं वचः । इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण वक्तुमुपचक्रम उद्युक्तवान् ॥ ३६ ॥

तत्र तावच्चतुर्भिः सान्त्वमाह—

शान्तता विनययोगि मानसं भूरि धाम विमलं तपः श्रुतम् ।

प्राह ते नु सदृशी दिवौकसामन्ववायमवदातमाकृतिः ॥ ३७ ॥

शान्ततेति ॥ शान्तता बहिरनौद्धत्यं ते तव विनययोगि अनौद्धत्ययुक्तं

१ 'अवाङ्मुखः' इति पाठः. २ 'उन्नताम्' इति पाठः. ३ 'कुसुमकेतु', 'मकरकेतु' इति पाठौ.

मानसं कर्म प्राह नु ब्रूते खलु । तथा, भूरि बहु धाम तेजो यस्मिस्तत्तपः कर्तुं विमलं संप्रदायशुद्धं श्रुतं प्राह । किंच, द्यौर्दिवं वौको येषां तेषां दिवौकसां देवानाम् । पृषोदरादित्वात्साधुः । 'दिवं स्वर्गोऽन्तरिक्षे च' इति विश्वः । सदृशी तुल्या आकृतिर्मूर्तिः अवदातं शुद्धं अन्ववायं वंशं प्राह । 'वंशोऽन्ववायः संतानः' इत्यमरः । शान्त्यादिभिल्लिङ्गैर्विनयादयोऽनुमीयन्ते । अन्यथा तदसंभवादिति भावः ॥ ३७ ॥

दीपितस्त्वमनुभावसंपदा गौरवेण लघयन्महीभृतः ।

राजसे मुनिरपीह कारयन्नाधिपत्यमिव शातमन्यवम् ॥ ३८ ॥

दीपित इति ॥ मुनिरपि । ऐश्वर्यरहितोऽपीत्यर्थः । अनुभावसंपदा प्रभावातिशयेन दीपितः प्रकाशितः । 'अनुभावः प्रभावे च' इत्यमरः । गौरवेण महत्तया महीभृतो राज्ञो लघयन् लघूकुर्वन् । त्वम् । इहाद्रौ । शतमन्योरिदं शातमन्यवमन्द्रम् । 'तस्येदम्' इत्यणप्रत्ययः । 'शतमन्युर्दिवस्पतिः' इत्यमरः । अधिपतेः कर्म आधिपत्यं त्रैलोक्यरक्षाधिकारम् । ब्राह्मणादित्वात्प्यञ्प्रत्ययः । कारयन्निव, इन्द्रेणेति शेषः । राजसे तस्याप्युपजीव्य इति प्रतीयसे । स्वमहिम्नेत्यर्थः ॥ ३८ ॥

तापसोऽपि विभुतामुपेयिवानास्पदं त्वमसि सर्वसंपदाम् ।

दृश्यते हि भवतो विना जनैरन्वितस्य सच्चिवैरिव द्युतिः ॥ ३९ ॥

तापस इति ॥ विभुतां प्रभावम् । उपेयिवानुपगतः । अत एव तापसोऽपि त्वं सर्वसंपदामास्पदं स्थानमसि । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । विभुतामेवं समर्थयते—हि यस्मात्, भवतस्तव जनैर्विनापि । एकाकिनोऽपीत्यर्थः । सच्चिवैरन्वितस्येव अमात्यादियुक्तस्येव द्युतिस्तेजो दृश्यते । अतः सर्वसंपदास्पदत्वं युक्तमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

विस्मयः क इव वा जयश्रिया नैव मुक्तिरपि ते दवीयसी ।

ईप्सितस्य न भवेदुपाश्रयः कस्य निर्जितरजस्तमोगुणः ॥ ४० ॥

विस्मय इति ॥ किंच, जयश्रिया हेतुना । प्राप्तयापीति शेषः । क इव वा विस्मयः किमाश्चर्यम् । न कश्चिदित्यर्थः । 'विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यं चित्रम्' इत्यमरः । अतो मुक्तिरपि ते तव दवीयसी दूरतरा दुर्लभा न भवत्येव । 'स्थूलदूर-' इत्यादिना यणादिपरलोपः पूर्वगुणश्च । तथा हि—निर्जितौ रजस्तमसी एव गुणौ येन स भवत्सदृशः पुरुषः कस्येप्सितस्य वाञ्छितस्य । उपाश्रय आस्पदं न भवेदित्यर्थः ॥ ४० ॥

अथागमनप्रयोजनमुपालम्भमुखेनाह—

हेपयन्नहिमतेजसं त्विषा स त्वमित्थमुपपन्नपौरुषः ।

हर्तुमर्हसि वराहभेदिनं नैनमस्मदधिपस्य सायकम् ॥ ४१ ॥

हेपयन्निति ॥ त्विषा तेजसा । अहिमतेजसमुष्णतेजसं हेपयन् लज्जयन्, उपपन्नपौरुषः संभावितपराक्रमः स प्रसिद्धस्त्वं वराहभेदिनम् । कृतोपका-

रमित्यर्थः । एनं त्वत्करगतम् । अस्मदधिपस्य सायकं शरम् । इत्थं साहसेन
हर्तुं नार्हसि ॥ ४१ ॥

अनर्हत्वमेवाह—

स्मर्यते तनुभृतां सनातनं न्याय्यमाचरितमुत्तमैर्नृभिः ।

ध्वंसते यदि भवादृशस्ततः कः प्रयातु वद तेन वर्त्मना ॥ ४२ ॥

स्मर्यते इति ॥ उत्तमैर्नृभिः सत्पुरुषैर्मन्वादिभिः । तनुभृतां शरीरिणां
सनातनं नित्यं न्याय्यं न्यायादनपेतम्, आचरितमाचारः स्मर्यते । कर्तव्य-
तयेति शेषः । न त्वनाचार इत्यर्थः । अथाप्यनाचारेण दोषमाह—ध्वंसते इति ।
भवानिव दृश्यन्ते भवादृशस्ततः सदाचारात् ध्वंसते अश्यन्ते यदि तदा
तेन वर्त्मना न्यायमार्गेण कः प्रयातु गच्छतु वद कथय । न कोऽपीत्यर्थः ।
तथा च सन्मार्ग एव शीलं कुर्यादिति भावः ॥ ४२ ॥

आकुमारमुपदेष्टुमिच्छवः संनिवृत्तिमपथान्महापदः ।

योगशक्तिजितजन्ममृत्यवः शीलयन्ति यतयः सुशीलताम् ॥४३॥

आकुमारमिति ॥ किंच, योगशक्त्याऽऽत्मज्ञानमहिम्ना जितौ जन्ममृत्यू
यैस्ते यतयो योगिनः । कुमारेभ्य आ आकुमारम् । कुमारादारभ्येत्यर्थः । 'आङ्
मर्यादाभिविध्योः' इत्यव्ययीभावः । महत्य आपदो यस्मिंस्तस्मात् महापदः ।
महानर्थहेतोरित्यर्थः । अपथात् अमार्गात् । 'पथो विभाषा' इति निषेधविकल्पा-
त्समासान्तः । 'अपथं नपुंसकम्' । संनिवृत्तिमपगमम्, उपदेष्टुमिच्छवः
सन्तः सुशीलतां सद्गुणताम् । 'शीलं स्वभावे सद्गुणे' इत्यमरः । शीलयन्ति
अभ्यस्यन्ति । अतो न त्याज्यं शीलमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

न केवलं सौशील्यादनर्थनिवृत्तिः, किं त्वर्थप्राप्तिरपीत्याह—

तिष्ठतां तपसि पुण्यमासजन् संपदोऽनुगुणयन् सुखैषिणाम् ।

योगिनां परिणमन् विमुक्तये केन नास्तु विनयः सतां प्रियः ॥४४॥

तिष्ठतामिति ॥ तपसि तिष्ठतां तपोनिष्ठानाम् । धर्मार्थिनामित्यर्थः । पुण्यं
धर्मम् । आसजन् संपादयन् । 'स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः' इत्य-
मरः । सुखैषिणां सुखार्थिनां संपदः सुखसाधनभूतानर्थान् । अनुगुणयन्ननु-
कूलयन् । अर्थकामयोरपि हेतुभूत इत्यर्थः । तथा, योगिनां विमुक्तयेऽपवर्गाय
परिणमन् संपद्यमानो विनयः सौशील्यं केन हेतुना सतां प्रियो नास्तु ।
संभावनार्थां लोद । सर्वथा विनय एव चतुर्वर्गसाधनमित्यर्थः । अतस्त्वया नास्-
त्स्वामिशरचौर्यं कार्यमिति तात्पर्यम् ॥ ४४ ॥

अथवा किं भवादृशेष्वन्यसंभावनया, यतो भ्रान्तिरपि संभाव्यत इति मृदूक्ति-
मवलम्ब्याह—

नूनमत्रभवतः शराकृतिं सर्वथायमनुयाति सायकः ।

सोऽयमित्यनुपपन्नसंशयः कारितस्त्वमपथे पदं यया ॥ ४५ ॥

नूनमिति ॥ अयमस्मदीयः सायकोऽत्रभवतः । पूज्यस्येत्यर्थः । 'पूज्यस्तत्र-

भवानत्रभवान्' इति सज्जनः । 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति सार्वविभक्तिकस्तसि-
 हप्रत्ययः । सुप्सुपेति समासः । शराकृतिं सर्वथा रूपेण रेखादिना सर्वप्रकारेण ।
 अनुयात्यनुसरति । अत्यन्तमनुकरोतीत्यर्थः । 'नूनम्' इति वितर्कः । ययाऽऽकृत्या
 कर्त्या त्वमनुपपन्नसंशयोऽत्यन्तसादृश्यादनुत्पन्नस्वान्यदीयत्वसंदेहः सन् ।
 सोऽयमिति यः स्वकीयः स पुत्रायमिति । भ्रान्त्युत्पत्त्यैवेति शेषः । अपथेऽमार्गे
 शारापहरणरूपे पदं कारितः । निधापित इत्यर्थः । 'ह्रकोरन्यतरस्याम्' इत्यणि
 कर्तुः कर्मता । 'ग्यन्ते कर्तुंश्च कर्मणः' इति तत्रैवाभिहिते कर्मणि क्तः ॥ ४५ ॥

पुनरपि स्तेयमेव द्रव्यन् दोषान्तरमापादयति—

अन्यदीयविशिखे न केवलं निःस्पृहस्य भवितव्यमाहते ।

निघ्नतः परनिवर्हितं मृगं व्रीडितव्यमपि ते सचेतसः ॥ ४६ ॥

अन्यदीयेति ॥ सह चेतसा वर्तत इति सचेतसो मनस्विनः । तेऽन्यदी-
 यविशिखे विषये यत् आहृतमाहरणम् । भावे क्तः । तस्मिन् । अन्यदीयवि-
 शिखस्याहरण इत्यर्थः । निःस्पृहस्य केवलं निःस्पृहेणैव न भवितव्यम् । किंतु
 परनिवर्हितं परेण ग्रहणं मृगं निघ्नतः प्रहरतस्ते । निघ्नता त्वयेत्यर्थः । 'कृत्यानां
 कर्तरि वा' इति षष्ठी । व्रीडितव्यं लज्जितव्यमपि । भावे तव्यप्रत्ययः । संप्रति
 तु त्वया परविद्धं मृगं विद्धापि न व्रीड्यते प्रत्युत स्तेयं च क्रियत इत्यहो मह-
 त्साहसमित्यर्थः । मृगमित्यत्र शेषत्वाविवक्षणात् 'जासिनिप्रहणनाटक्राथपिपां
 हिंसायाम्' इति षष्ठी न भवति शेषाधिकारात् । निप्रहणेत्यत्र निप्रयोः संघात-
 व्यस्तविपर्यस्तानां ग्रहणात् ॥ ४६ ॥

अथास्मिन्कृतघ्नताभियोगं स्त्रीयोपकारकत्वं वर्णयितुं विकल्थनदोषं तावद्यु-
 र्मेन परिहरन्नाह—

संततं निशमयन्त उत्सुका यैः प्रयान्ति मुदमस्य सूरयः ।

कीर्तितानि हसितेऽपि तानि यं व्रीडयन्ति चरितानि मानिनम् ४७

संततमित्यादि ॥ सूरयो विद्वांसः । अस्य अस्मत्स्वामिनः संबन्धिभिः, यैश्च-
 रितैः करणभूतैः संततं सततमुत्सुकाः सोत्कण्ठाः सन्तो निशमयन्तश्चरितानि
 शृण्वन्तो मुदं प्रयान्ति । अत्र चरितानां मुत्प्राप्तौ शाब्दं करणत्वम् । अर्थान्निश-
 मनकर्मत्वमिति विवेकः । तानि चरितानि हसितेऽपि परिहासेऽपि कीर्ति-
 तानि परैरुच्चारितानि सन्ति यं मानिनं व्रीडयन्ति । मानित्वाद्बीडा, न तु
 चरितदोषात् । तेषामलंकाररूपत्वादिति भावः ॥ ४७ ॥

अन्यदोषमिव स स्वकं गुणं ख्यापयेत् कथमधृष्टताजडः ।

उच्यते स खलु कार्यवत्तया धिग्विभिन्नबुधसेतुमर्थिताम् ॥ ४८ ॥

अन्येति ॥ अधृष्टतया विकल्थनेन शालीनतया जडः स्तब्धः । अविकल्थन
 इत्यर्थः । सोऽस्मत्स्वामी । अन्यदोषं परावरगुणमिव स्वकं स्वकीयं गुणं कथं
 ख्यापयेत् प्रकटयेत् । 'आत्मप्रशंसां परगर्हामिव वर्जयेत्' इति स्मरणादिति
 भावः । तथापि कार्यवत्तया । कर्मार्थितयेत्यर्थः । सः स्वगुण उच्यते खलु ।
 कार्यार्थिनः कुतो गर्व इति भावः । निर्विण्ण इवाह—धिगिति । विभिन्नबुध-
 सेतुमतिक्रान्तसुजनमयां दाम् । अर्थितां याचनां धिक् । निन्दासीत्यर्थः । यदयम-

पीत्थं विकल्पयितुं प्रवृत्त इति भावः । 'धिङ्भिर्भर्त्सननिन्दयोः' इत्यमरः । 'अभि सर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु । द्वितीयाच्चेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते इति द्वितीया ॥ ४८ ॥

संप्रति स्वकृतोपकारं दर्शयति—

दुर्वचं तदथ मा स्म भून्मृगस्त्वय्यसौ यदकरिष्यदोजसा ।

नैनमाशु यदि वाहिनीपतिः प्रत्यपत्स्यत शितेन पत्रिणा ॥ ४९ ॥

दुर्वचमिति ॥ वाहिनीपतिः सेनापतिरस्मत्स्वामी शितेन पत्रिणा शरेण । एनं मृगम् । आशु न प्रत्यपत्स्यत यदि नाभियुञ्जीत चेत्, असौ मृग ओजसा बलेन त्वयि विषये यदकरिष्यत् यदनिष्टं कुर्यात् तदुर्वचं दुर्वाच्य-ममङ्गलतया वक्तुं न शक्यते । तदनिष्टम्, अथानन्तरमपि मा स्म भूदिति सौहार्दकथनम् । तदुपेक्षणे स मृगस्त्वां हन्यादिति भावः । 'लिङ्गिमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' इति करोतेः पद्यतेश्च लृङ् ॥ ४९ ॥

ननु मयैव हतो न तु सेनापतिना, तत्राह—

को न्विमं हरितुरङ्गमायुधस्थेयसीं दधतमङ्गसंहतिम् ।

वेगवत्तरमृते चमूपतेर्हन्तुमर्हति शरेण दंष्ट्रिणम् ॥ ५० ॥

क इति ॥ हरितुरङ्गमायुधमिन्द्रायुधं तद्वत् स्थेयसीं स्थिरतराम् । अकु-ष्ठितामित्यर्थः । 'स्थिर'शब्दादीयसुन् । 'प्रियस्थिर-' इत्यादिना स्थादेशः । अङ्गसंहतिमवयवसंघातं दधतं धारयन्तं वेगवत्तरं दुर्वारवेगम् । इमं दंष्ट्रिणं वराहं चमूपतेः किरातवाहिनीपतेर्ऋते चमूपतिं विना । 'अन्यारात्-' इत्यादिना पञ्चमी । को नु को वा शरेण । एकेनेति भावः । हन्तुमर्हति । न कोऽपीत्यर्थः ॥ ५० ॥

अस्तु स एव मृगस्य हन्ता, ततः किमित्यत आह—

मित्रमिष्टमुपकारि संशये मेदिनीपतिरयं तथा च ते ।

तं विरोध्य भवता निरासि मा सज्जनैकवसतिः कृतज्ञता ॥ ५१ ॥

मित्रमिति ॥ तथा च, तस्यैव मृगहन्तृत्वे सतीत्यर्थः । अयं मेदिनीपतिः किरातभूपतिः । ते तव संशये प्राणसंकटे । उपकारि उपकारकारकम्, इष्टं मित्रम् । ततोऽपि किं तत्राह—तमिति । तं मित्रभूतं विरोध्य सज्जनैकव-सतिः भवादृशसुजनमात्राधारा कृतज्ञता उपकारवेदित्वं मा निरासि न निरा-क्रियतां भवता । अन्यथा जगति कृतज्ञताऽस्तं यायात्, कृतज्ञता च ते भवेदित्यर्थः । अस्यतेः कर्मण्याशिषि माङ्गि लृङ् ॥ ५१ ॥

ननु सर्वस्यार्थमूलत्वात्स एवास्तु, किं मित्रेणेत्याशङ्क्य मित्रस्य सर्वाधिक्यं युग्मेनाह—

लभ्यमेकमुकृतेन दुर्लभा रक्षितारमसुरक्ष्यभूतयः ।

स्वन्तमन्तविरसा जिगीषतां मित्रलाभमनु लाभसंपदः ॥ ५२ ॥

लभ्यमिति ॥ जिगीषतां जेतुमिच्छताम् । जयतेः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः ।

१ 'वाहिनीपतिः' इति पाठः. २ 'विराध्य' इति पाठः. ३ 'असुरक्ष' इति पाठः.

दुर्लभाः कृच्छ्रेणापि लब्धुमशक्याः, तथापि असुरक्ष्यभूतयो रक्षितुमशक्यम-
हिमानः । तथापि नित्यं रक्षणादिक्लेशावहाश्चेति भावः । अन्तविरसाः । गत्वर्थ-
इत्यर्थः । लभ्यन्त इति लाभा अर्थास्तेषां संपदः । एकसुकृतेनैकोपकारेण
लभ्यं सुलभं न तु दुर्लभं रक्षितारं न तु रक्ष्यं स्वन्तं शुभावसानं न त्वन्तवि-
रसं मित्रलाभमनु मित्रलाभाद्धीनाः । निकृष्टा इत्यर्थः । 'हीने' इत्यनोः कर्म-
प्रवचनीयसंज्ञा । तद्योगे द्वितीया । अत्रोपमेयस्य मित्रलाभस्य लाभान्तरं प्रत्या-
धिक्याभिधानाद्ब्यतिरेकालंकारः ॥ ५२ ॥

चञ्चलं वसु नितान्तमुन्नता मेदिनीमपि हरन्त्यरातयः ।

भूधरस्थिरमुपेयमागतं माऽवमंस्त सुहृदं महीपतिम् ॥ ५३ ॥

चञ्चलमिति ॥ किंच, वसु धनं नितान्तं चञ्चलं मेदिनीमप्युन्नताः
प्रबला अरातयो हरन्ति । मित्रं तु न तथेत्याह—भूधर इति । भूधरवत्
स्थिरमुपेयमन्विव्य गन्तव्यं आगतं स्वतः प्राप्तमपि महीपतिम् । सर्वधुरीणमि-
त्यर्थः । सुहृदं मित्रं माऽवमंस्त मावज्ञासीत् । भवानिति शेषः । अन्यश्लोकगतो
'भवत्'शब्दो विभक्तिविपरिणामेनात्र द्रष्टव्यः । अन्यथा मध्यमपुरुषः स्यात् ।
मन्यतेः कर्तरि माडि लुङ् । अलंकारस्तु व्यतिरेक एव । भूधरस्थिरमित्युपमा-
संगतिसंकरः ॥ ५३ ॥

ननु मुमुक्षोः किं मित्रसंग्रहेणेत्यत्राह—

जेतुमेव भवता तपस्यते नायुधानि दधते मुमुक्षवः ।

प्राप्स्यते च सकलं महीभृता संगतेन तपसः फलं त्वया ॥ ५४ ॥

जेतुमिति ॥ भवता जेतुं जयार्थमेव तपस्यते तपश्चर्यते । 'कर्मणो रोमन्थ-'
इत्यादिना चरणे क्यङ् । ततो भावे लट् । कुतः । मुमुक्षवो मोक्षार्थिन आयु-
धानि न दधते न धारयन्ति । अतो मित्रसंग्रहः कार्य इति भावः । तथापि
किं भवत्स्वामिसख्येन, तत्राह—प्राप्स्यत इति । महीभृता सह संगतेन त्वया
सकलं च तपसः फलं प्राप्स्यते । अतस्ते सखाऽस्वत्स्वामी युक्त इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

नन्वकिंचनः कुत्रोपयुज्यते, तत्राह—

वाजिभूमिरिभराजकाननं सन्ति रत्ननिचयाश्च भूरिशः ।

काञ्चनेन किमिवास्य पत्रिणा केवलं न सहते विलङ्घनम् ॥ ५५ ॥

वाजीति ॥ तस्य भूपतेर्वाजिभूमिरश्वाकर इभराजानां काननं गजोत्पत्ति-
स्थानं भूरिशो रत्ननिचयाश्च । सन्तीति शेषः । नन्वीदगाढ्यः किमेकस्मै
काञ्चनपत्रकाण्डाय कलहायते, तत्राह—अस्य काञ्चनेन सौवर्णेन पत्रिणा
शरेण किमिव । न किंचित्प्रयोजनमस्तीत्यर्थः । परंतु केवलं विलङ्घनं व्यति-
क्रमं न सहते । नायं शरलुब्धः, किंत्वधिक्षेपासहिष्णुरित्यर्थः । अत्र प्रथमार्धे
समृद्धिमद्वस्तुवर्णनादुदात्तालंकारः ॥ ५५ ॥

१ 'उद्धता' इति पाठः. २ 'अपहरन्ति' इति पाठः. ३ 'चमूपतिम्' इति पाठः.
४ 'प्राप्स्यते' इति पाठः. ५ 'चमूभृता' इति पाठः.

नन्वीद्वग्लुब्धः किमुपकर्ता, तत्राह—

सावलेपमुपलिप्सिते परैरभ्युपैति विकृतिं रजस्यपि ।

अर्थितस्तु न महान्समीहते जीवितं किमु धनं धनायितुम् ॥५६॥

सावलेपमिति ॥ महानयं रजस्यपि धूलावपि परैः सावलेपं सगर्वम् । उपलिप्सित उपलब्धुमिष्टे जिघृक्षिते सति विकृतिमभ्युपैति । प्रकुप्यतीत्यर्थः । अर्थितो याचितस्तु जीवितं धनायितुं धनीकर्तुम् । क्यजन्तात्तुमुन् । न समीहते नोत्सहते । जीवितमप्यात्मनो नेच्छति । किंत्वर्थितः प्रयच्छतीत्यर्थः । तर्हि धनं किम् । धनमात्मन एषितुं धनायितुमिति विग्रहः । अत्र इच्छामात्र-मर्थः, अन्यथा धनमित्यनेन पौनरुक्त्यं स्यात् । 'सुप आत्मनः क्यच्' । 'अशना-योदन्यधनायाबुभुक्षापिपासागर्धेषु' इति निपातनादाकारः ॥ ५६ ॥

उक्तमर्थं निगमयति—

तत्तदीयविशिखातिसर्जनादस्तु वां गुरु यदृच्छयागतम् ।

राघवप्लवगराजयोरिव प्रेम युक्तमितरेतराश्रयम् ॥ ५७ ॥

तदिति ॥ तत् तस्मात् तदीयविशिखस्यातिसर्जनात् प्रत्यपंणात् । वां युवयोः । 'षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वानावौ' इति वामादेशः । राघवप्लवगरा-जयो रामसुग्रीवयोरिव यदृच्छया देवादागतं गुरु महत् युक्तमनुरूपम् । इतरेतराश्रयमन्योन्यविषयं प्रेम सख्यम् । अस्तु ॥ ५७ ॥

ननु शरलोभान्मिथ्याभियुज्यसे इत्याह—

नाभियोक्तुमनृतं त्वमिष्यसे कस्तपस्विविशिखेषु चादरः ।

सन्ति भूभृति शरा हि नः परे ये पराक्रमवसूनि वज्रिणः ॥५८॥

नेति ॥ त्वमनृतं मिथ्याऽभियोक्तुमभ्याख्यातुम् । ब्रूजोऽर्थग्रहणाद्विकर्म-कता । 'मिथ्याभियोगोऽभ्याख्यानम्' इत्यमरः । अस्माभिरिति शेषः । नेष्यसे नेष्टोऽसि । कुतः । तपस्वी मुनिः शोच्यश्च । 'मुनिशोच्यौ तपस्विनौ' इति शाश्वतः । तस्य, विशिखेषु क आदरः कास्था । न काचिदित्यर्थः । हि यस्मात्, नोऽस्माकं भूभृति शैले परेऽन्येऽपि शराः सन्ति, ये शरा वज्रिणः शकस्य पराक्रमवसूनि पराक्रमधनानि । शौर्यसर्वस्वभूता इत्यर्थः । 'वज्रि'ग्रहणाद्ब्रज्राद-प्यतिरिक्ता इति सूच्यते । अत्र शरेषु पराक्रमसाधनेषु पराक्रमरूपेण वस्तु व्यज्यते ॥ ५८ ॥

अथ ते शरापेक्षा चेत्तर्हि तथोच्यतामित्याह—

मार्गणैरथ तव प्रयोजनं नाथसे किमु पतिं न भूभृतः ।

त्वद्विधं सुहृदमेत्य सोऽर्थिनं किं न यच्छति विजित्य मेदिनीम् ५९

मार्गणैरिति ॥ अथ उत तव मार्गणैः शरैः प्रयोजनं कृत्यं तर्हि भूभृतो गिरेः पतिं प्रभुं किमु न नाथसे किमिति न याचसे । 'नाथ नाथ याज्ञोपता-पैश्वर्याशीःषु' इति धातोर्लृट् । न च याज्ञाभङ्गशङ्का कार्येत्याह—त्वदिति । सोऽस-

स्वामी तवेव विधा प्रकारो यस्य तं त्वद्विधं त्वाद्दशम् । महानुभावमित्यर्थः ।
तथापि सुहृदं मित्रभूतम्, अर्थिनमेत्य लब्ध्वा मेदिनीं विजित्य न यच्छति
न ददाति किम् । किं तु दास्यत्येव । किं पुनः शस्त्रनिधि भावः ॥ ५९ ॥

यदुक्तम्-‘त्वद्विधम्’ (श्लो० ५९) इत्यादि, तत्रोपपत्तिमाह—

तेन सूरिरुपकारिताधनः कर्तुमिच्छति न याचितं वृथा ।

सीदतामनुभवन्निवारिणां वेद यत्प्रणयभङ्गवेदनाम् ॥ ६० ॥

तेनेति ॥ तेन कारणेन सूरिविद्वान् अत एव, उपकारिताधन उपकार-
कत्वमात्रधनः स किरातभूपतिः । याचितं यात्रां वृथा व्यर्थं कर्तुं नेच्छति ।
कृतः । यत् येन कारणेन सीदतां क्लिश्यतामर्थिणां प्रणयभङ्गवेदनां यात्राभ-
ङ्गदुःखं स्वयमनुभवन्निव वेद वेत्ति । अतो न वैफल्यशङ्का कार्येत्यर्थः ॥ ६० ॥
ननु स्वयंग्राहिणः किं यात्रादन्यं तत्राह—

शक्तिरर्थपतिषु स्वयंग्रहं प्रेम कारयति वा निरत्ययम् ।

कारणद्वयमिदं निरस्यतः प्रार्थनाऽधिकबले विपत्फला ॥ ६१ ॥

शक्तिरिति ॥ अर्थपतिषु विषये शक्तिः सामर्थ्यं स्वयंग्रहं स्वाम्यनुज्ञां विना
ग्रहणं कारयति । यद्वा,—निरत्ययमपराधेऽप्यविकारि निर्बाधं प्रेम कर्तुं स्वयं-
ग्रहं कारयति । प्रबलः प्रियो वा परस्य धनं स्वयं गृह्णातीत्यर्थः । अन्यथा दोष-
माह—इदं पूर्वोक्तं कारणद्वयं निरस्यतस्त्यजतः । पुंस इति शेषः । अधिक-
बले प्रबले विषये प्रार्थना तद्धनजिघृक्षा विपत्फलाऽनर्थफलका । अशक्तस्या-
प्रियस्य सतः प्रबलधनग्रहणाशा फणिशिरोमणिग्रहणसाहसवदनर्थाय कल्पत
इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

ननु शस्त्रार्थसंपत्त्या शक्तत्वाभिमानः, तत्राह—

अस्त्रवेदमधिगम्य तत्त्वतः कस्य चेह भुजवीर्यशालिनः ।

जामदग्न्यमपहाय गीयते तापसेषु चरितार्थमायुधम् ॥ ६२ ॥

अस्त्रवेदमिति ॥ इह जगति तापसेषु तपस्विनां मध्ये । ‘यतश्च निर्धारणम्’
इति सप्तमी । जमदग्नेरपत्यं पुमान् जामदग्न्यः । ‘गर्गादिभ्यो यञ्’ । तम्, अप-
हाय । परशुरामं विनेत्यर्थः । अस्त्रवेदं तत्त्वतोऽधिगम्य । भुजवीर्येण शालन्त
इति भुजवीर्यशालिनः । उभयसंपन्नस्येत्यर्थः । शालनक्रियापेक्षया समानकर्तृ-
कत्वात् क्त्वानिर्देशः । कस्य चायुधं चरितः प्राप्तोऽर्थो येन तत् चरितार्थं
सार्थकं गीयते । न कस्यापीत्यर्थः । अतस्तवापि तापसत्वाद्किञ्चित्करस्य तेन
सह सख्यमेव मुख्यमिति भावः ॥ ६२ ॥

ननु युष्मन्मृगवधशरहरणाभ्यां द्रोहिणो मम तेन कथं सख्यं स्यादित्याशङ्क्य
सत्यं तथापि तावन्मृगवधापराधः क्षमिष्यत इत्याह—

अभ्यघानि मुनिचापलात्त्वया यन्मृगः क्षितिपतेः परिग्रहः ।

अक्षमिष्ट तदयं प्रमाद्यतां संवृणोति खलु दोषमज्ञता ॥ ६३ ॥

अभ्यघानीति ॥ त्वया मुनिचापलात् । ब्राह्मणचापल्यादित्यर्थः । क्षिति-

१ ‘मुनिना त्वया बलात्’ इति पाठः, २ ‘प्रमाज्यताम्’ इति पाठः.

पत्तेरस्मात्स्वामिनः । परिगृह्यत इति परिग्रहः । तेन स्वीकृत इत्यर्थः । 'परिग्रहः
परिजने पदयां स्वीकारमूलयोः' इति विश्वः । यन्मृगोऽभ्यघ्नानि अभिहत इति ।
हन्तेः कर्मणि लुङ् । तत् हननम् । अयमस्मात्स्वामी । अक्षमिष्ट गोदवानेव ।
तथा हि—प्रमाद्यताम्, अविमृश्यकारिणामित्यर्थः । दोषमपराधम् । अज्ञ-
ताऽज्ञानिता संवृणोति आच्छादयति । नाजस्यापराधो गणयत इत्यर्थः ॥ ६३ ॥

अथ सुहृद्भावेन हितमुपदिशति—

जन्मवेपतपसां विरोधिनीं मा कृथाः पुनरमूमपक्रियाम् ।

आपदेत्युभयलोकदूषणी वर्तमानमपथे हि दुर्मतिम् ॥ ६४ ॥

जन्मेति ॥ जन्म सत्कुलप्रसूतिः, वेपो जटावल्कलादिः, तपो नियमः, तेषां
विरोधिनीं विरुद्धाम् । अमूमेवंविधाम् । अपक्रियामपकारम् । पुनः । इतःप-
रमित्यर्थः । मा कृथाः मा कुरु । करोतेः कर्तरि माङि लुङ् । 'वयोवृद्ध्यर्थवा-
वेपश्रु ताभिनयकर्मणाम् । आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्वामशठां तथा ॥' इति स्मर-
णात् । उक्तवैपरीत्ये दोषमाह—आपदिति । हि यस्मान्, अपथे वर्तमानं दुर्म-
तिम् । पुरुषमिति शेषः । उभौ लोकां दूषयति हन्तीति उभयलोकदूषणी ।
'तद्धितार्थे' इत्यादिनोत्तरपदसमासः । आपत् । एति प्राप्नोति । समासविषय
'उभ'शब्दस्थाने 'उभय'शब्दप्रयोग एव साधुः । यदाह कैयटः—'उभादुदात्तो
नित्यमिति नित्यग्रहणस्येदं प्रयोजनं वृत्तिविषय 'उभ'शब्दस्य प्रयोगो मा भूत्,
'उभय'शब्दस्यैव रूपं यथा स्यादित्युभयत्रेत्यादि भवति' इति ॥ ६४ ॥

यदुक्तम् 'अभ्यघ्नानि' (श्लो० ६३) इति, तदेव स्फुटयति—

यष्टुमिच्छसि पितृन् सांप्रतं संवृतोऽर्चिचयिपुर्दिवौकसः ।

दातुमेव पदवीमपि क्षमः किं मृगेऽङ्ग विशिखं न्यवीविशः ॥६५॥

यष्टुमिति ॥ सांप्रतं संप्रति । 'संप्रतीदानीमधुना सांप्रतं तथा' इत्यमरः ।
पितृन् कव्यवाडादीन् यष्टुमर्चयितुं नेच्छसि । यतः, संवृत एकान्ते स्थितः ।
तथा, दिवौकसो देवान् । अर्चिचयिपुरप्यर्चयितुमिच्छुरपि नासि । अतो न
पित्रर्थेयं हिंसा, नापि देवतार्था । तदाराधने तद्विहितत्वादिति भावः । अथ 'सर्वत
आत्मानं गोपायीत' इति श्रुतेरात्मरक्षार्थमिति चेन्नेत्याह—दातुमिति । हे अङ्ग,
पदवीं मार्गं दातुमेव । न तु हन्तुम् । मुनित्वादिति भावः । क्षमोऽपि योग्यः
खन्नपि । किं किमर्थं मृगे विशिखं न्यवीविशो निवेशितवान् । विशतेर्ण्यन्ता-
ङ्गुङ् । अभिधावतो मृगादपसरणेनैवात्मरक्षणे कर्तव्ये यदवधीस्तच्चापलमेव । 'न
हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति श्रुतिनिषेधादिति भावः ॥ ६५ ॥

किं बहुना, परमार्थः श्रूयतामित्याह—

सज्जनोऽमि विजहीहि चापलं सर्वदा क इव वा सहिष्यते ।

वारिधीनिव युगान्तवायवः क्षोभयन्त्यनिभृता गुरुनपि ॥ ६६ ॥

सज्जन इति ॥ सज्जनोऽसि । अत एव चापलं चपलस्य कर्म विजहीहि
त्यत्र । जहानेर्लोट् । 'आ च ही' इतीकारः । सर्वदा क इव वा को वा सहि-

१ 'संप्रत' इति पाठः. २ 'न त्वमर्चि' इति पाठः. ३ 'यः' इति पाठः. ४ 'गुरु-
निव' इति पाठः.

प्यते । 'इव'शब्दो वाक्यालंकारे । 'वा'शब्दोऽवधारणे । असहने कारणमाह—
वारिधीनिति । अनिभृताश्चपलाः पुनःपुनरकार्यकारिणो गुरुन् धैर्ययुक्तानपि ।
अन्यत्र,—विशालानपि । युगान्तवायवः प्रलयपवना वारिधीनिव समुद्रानिव
क्षोभयन्ति । उपमानुप्राणितोऽयमर्थान्तरन्यासः ॥ ६६ ॥

नन्वयं किरातः क्षुभितः किं करिष्यति, तत्राह—

अस्त्रवेदविदयं महीपतिः पर्वतीय इति माऽवजीगणः ।

गोपितुं भुवमिमां मरुत्वता शैलवासमनुनीय लम्भितः ॥ ६७ ॥

अस्त्रेति ॥ अयं महीपतिः । अस्त्रवेदवित् । निग्रहानुग्रहसमर्थ इति भावः ।
अतः पर्वते भवः पर्वतीयः । 'पर्वताच्च' इति छप्रत्ययः । इति हेतोः माऽवजी-
गणः । वनेचरबुद्ध्या माऽवज्ञासीरित्यर्थः । गणयतेर्माङि लुङ् । 'ई च गणः' इती-
कारः । नन्वीदृशश्चेत्किमर्थमिह वने वसति, तत्राह—गोपितुमिति । मरुत्वता
इन्द्रेण । इमां भुवं गोपितुं रक्षितुम् । 'आयादय आर्धधातुके वा' इति विक-
ल्पात् 'गुपूधूप-' इत्यादिना न आयप्रत्ययः । अनुनीय प्रार्थ्य, शैलवासं
लम्भितः प्रापितः । 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' इति वचनादणि कर्तुः कर्मणि क्तः ।
'गतिबुद्धि-' इत्यादिनाऽणि कर्तुः कर्मत्वम् ॥ ६७ ॥

उपसंहरति—

तत्तितिक्षितमिदं मया मुनेरित्यवोचत वचश्चमूपतिः ।

बाणमत्रभवते निजं दिशन्नाप्नुहि त्वमपि सर्वसंपदः ॥ ६८ ॥

तदिति ॥ तत् तस्मान्मुनिचापलात् । मुनेः संबन्धि इदं मृगवधरूपमागो
मया तितिक्षितं सोढम्, इति वचश्चमूपतिरवोचत । शरद्रोहस्य प्रत्यर्पण-
मेव प्रतीकार इत्याह—अत्रभवते पूज्याय स्वामिने । अत्रभवान् व्याख्यातः ।
निजं बाणं तदीयमेव शरं दिशन् प्रत्यर्पयन्, त्वमपि सर्वसंपद आप्नुहि ।
सख्येनेति भावः ॥ ६८ ॥

ननु मह्यमेतत्सख्यमेव न रोचते, किं पुनस्तन्मूलाः संपदस्तत्राह—

आत्मनीनमुपतिष्ठते गुणाः संभवन्ति विरमन्ति चापदः ।

इत्यनेकफलभाजि मा स्म भूदर्थिता कथमिवार्यसंगमे ॥ ६९ ॥

आत्मनीनमिति ॥ आत्मने हितं आत्मनीनम् । 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तर-
पदात्त्वः' । उपतिष्ठते संगच्छते । 'उपाद्देवपूजासंगतिकरणमित्रकरणपथिषु' इति
वक्तव्यादात्मनेपदम् । गुणा विनयादयः संभवन्ति, आपदश्च विरमन्ति ।
'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । इत्यनेकफलभाजि नानाफलोत्पादक
आर्यसंगमे साधुसंगतौ । अर्थिताऽपेक्षा कथमिव मा स्म भूत् । सर्वदा
भवत्येव ॥ ६९ ॥

न चायं दूरे वर्तत इत्याह—

दृश्यतामयमनोकहान्तरे तिग्महेतिपृतनाभिरन्वितः ।

साहिवीचिरिव सिन्धुरुद्धतो भूपतिः समयसेतुवारितः ॥ ७० ॥

दृश्यतामिति ॥ तिग्महेतिभिस्तीक्ष्णायुधाभिः । 'हेतिर्ज्वालास्त्रसूर्यांशुषु' इति हेमचन्द्रः । पृतनाभिर्वाहिनीभिः । 'वाहिनी पृतना चमूः' इत्यमरः । अन्वितो भूपतिः । साहयः ससर्पा वीचयो यस्य स सिन्धुः समुद्र इवोद्धतः । किंतु समयो मर्यादा सेतुरिव स समयसेतुस्तेन वारितः सन् । हस्तेन निर्दिशन्नाह— अयमनोकहान्तरे द्रुमान्तर्धाने । वर्तत इति शेषः । दृश्यताम् । 'अनोकहः कुटः शालः पलाशी द्रुद्रुमागमाः' इत्यमरः ॥ ७० ॥

अथास्य विज्ञापनमेवाह—

सज्यं धनुर्वहति योऽहिपतिस्थवीयः

स्थेयाञ्जयन्हरितुरंगमकेतुलक्ष्मीम् ।

अस्यानुकूलय मतिं मतिमन्ननेन

सख्या सुखं समभियास्यसि चिन्तितानि ॥ ७१ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये त्रयोदशः सर्गः ।

सज्यमिति ॥ स्थेयान् स्थिरतरः । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना स्थादेशः । यश्च भूपतिः । हरितुरंगमकेतोरिन्द्रध्वजस्य लक्ष्मीं शोभां जयन् । अहिपतिः शेष इव स्थवीयः स्थूलतरम् । 'स्थूलदूर—' इत्यादिना पूर्वगुणयणादिपरलोपौ । सह ज्यया सज्यं धनुर्वहति । हे मतिमन्, अस्य चमूपतेः मतिमनुकूलयानुकूलां कुरु । सख्यं कुर्वित्यर्थः । मतिमत्तायाः फलमेतदिति भावः । कुतः । सख्याऽनेन चमूपतिना हेतुना सुखमक्लेशेन चिन्तितानि मनोरथान् समभियास्यसि प्राप्स्यसि । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-
काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां त्रयोदशः सर्गः समाप्तः ।

चतुर्दशः सर्गः ।

ततः किरातस्य वचोभिरुद्धतैः पराहतः शैल इवार्णवाम्बुभिः ।

जहौ न धैर्यं कुपितोऽपि पाण्डवः सुदुर्ग्रहान्तःकरणा हि साधवः ॥

तत इति ॥ ततः किरातवाक्यानन्तरम् । उद्धतैः प्रगल्भैः किरातस्य वचोभिः । अर्णवाम्बुभिः शैल इव पराहतोऽभिहतोऽत एव कुपितोऽपि पाण्डवो धैर्यं निर्विकारचित्तत्वं न जहौ न तत्याज । उत्पन्नमपि कोपं स्तम्भयामासेत्यर्थः । तथा हि—साधवः सज्जनाः सुदुर्ग्रहं सुष्ठु दुरासदमप्रतिकुप्यमन्तःकरणं वेपां ते सुदुर्ग्रहान्तःकरणा हि । अर्थान्तरन्यासः ॥ १ ॥

१ 'समं' इति पाठः. २ 'समुपयास्यसि' इति पाठः. ३ 'रुपितोऽपि' इति पाठः.
४ 'सुरय' इति पाठः.

सलेशमुल्लिङ्गितशात्रवेङ्गितः कृती गिरां विस्तरतच्चसंग्रहे ।

अयं प्रमाणीकृतकालसाधनः प्रशान्तसंरम्भ इवाददे वचः ॥ २ ॥

सलेशमिति ॥ सह लेशैः सलेशं सकलं यथा तथा, उल्लिङ्गितमुद्धृतलिङ्गितकृतम् । लिङ्गैस्तद्वाक्यभङ्गिभिरेव सम्यगवगतमित्यर्थः । शत्रुरेव शात्रवः । स्वार्थेऽणप्रत्ययः । तस्य इङ्गितमभिप्रायस्तदुल्लिङ्गितं येन सः । गिरां वाचां संवन्धिनि विस्तरे तत्त्वसंग्रहेऽर्थसंक्षेपे । वैभाषिको द्वन्द्वैकवद्भावः । कृती कुशलः प्रमाणीकृतं प्रधानीकृतं काल एव साधनं येन सः । अवसरोचितं विवक्षुरित्यर्थः । अयं पाण्डवः प्रशान्तसंरम्भः संक्षोभरहित इव वच आददे । उवाचेत्यर्थः ॥ २ ॥

सान्त्वपूर्वकमेवाह—

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम् ।

प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ॥ ३ ॥

विविक्तेति ॥ विविक्ताः संयोगादिना अश्लिष्टाः स्फुटोच्चारिता वर्णा अक्षराण्येव आभरणानि यस्याः सा । अन्यत्र तु,—विविक्तानि शुद्धानि वर्णो रूपमाभरणानि च यस्याः सा । 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतो वर्णं तु चाक्षरे' इत्युभयत्राप्यमरः । सुखा श्रुतिः श्रवणं यस्याः सा सुखश्रुतिः । श्राव्येत्यर्थः । अन्यत्र,—श्रूयत इति श्रुतिर्वाक् । सा सुखा यस्याः सा । मञ्जुभाषिणीत्यर्थः । द्विषामपि हृदयानि प्रसादयन्ती । किं पुनः सुहृदामिति भावः । प्रसन्नानि वाचकानि गम्भीराणि अर्थगुरुणि च पदानि सुसिद्धन्तरूपाणि यस्याः सा । अन्यत्र तु,—प्रसन्ना विमला गम्भीरपदाऽलसचरणा सरस्वती वाक्, स्त्रीरत्नं च । तथा चोक्तम्—'सरस्वती सरिद्धेदे गोवाग्देवतयोरपि । स्त्रीरत्ने च' इति । न कृतं पुण्यकर्म यैस्तेषां न प्रवर्तते न प्रसरति । किं तु सुकृतिनामेवेत्यर्थः । भवद्वाणी चैवंविधेति धन्यो भवानिति भावः । अत्र काचिन्नायिका वाग्देवता च प्रतीयते । तत्रादौ समासोक्तिरलंकारः । विशेषणमात्रसाम्येनाप्रस्तुतप्रतीतेः । अत एव न श्लेषः ॥ ३ ॥

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये ।

नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गभीरमर्थं कतिचित्प्रकाशताम् ॥ ४ ॥

भवन्तीति ॥ ते पुरुषा विपश्चितां विदुषाम् । 'विद्वान्विपश्चिदोपज्ञः' इत्यमरः । मध्ये सभ्यतमाः सभायां साधुतमा निपुणतमाः । 'साधुः समर्थो निपुणश्च' इति काशिकायाम् । भवन्ति । ये मनोगतं मनसा गृहीतं अर्थं वाचि निवेशयन्ति । वाचोद्गिरन्तीत्यर्थः । तेषु वकृष्वप्युपपन्ननैपुणाः संभावितकौशलाः कतिचिदेव गभीरं निगूढमर्थं प्रकाशतां स्फुटतां नयन्ति । लोके तावज्ज्ञातार एव दुर्लभाः, तत्रापि वक्तारः, तत्रापि निगूढार्थप्रकाशकाः । स्वयि सर्वमस्तीति स्तुतिः । वनेचरवाक्यरहस्यं ज्ञातमिति स्वयमपि तादृश एवेति हृदयम् ॥ ४ ॥

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसंपदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः ।

इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः ॥५॥

स्तुवन्तीति ॥ किंच, केचिद्गुर्वी महतीमभिधेयसंपदमर्थसंपत्तिं स्तुवन्ति । अपरे विपश्चित उक्तेः शब्दस्य विशुद्धिं सामर्थ्यं स्तुवन्ति । इति प्रतिपूरुषं रुचौ प्रीतौ स्थितायां व्यवस्थितायां सर्वमनोरमाः सर्वेषां शब्दार्थरुचीनां पुंसां मनोरमा गिरः सुदुर्लभाः । त्वद्विरस्तु सर्वमनोरमा उक्तसर्वगुणसंपत्त्येति भावः ॥ ५ ॥

समस्य संपादयता गुणैरिमां त्वया समारोपितभार भारतीम् ।

प्रगल्भमात्मा धुरि धुर्यं वाग्मिनां वनेचरेणापि सताधिरोपितः ६

समस्येति ॥ धुरं वहतीति धुर्यस्तत्संबोधने हे धुर्य हे कार्यनिर्वाहक । 'धुरो यद्भूकौ' इति यत्प्रत्ययः । अत एव समारोपितभार हे स्वामिना निहितसंध्या-दिकार्यभार । तदाह मनुः—'दूते संधिविपर्ययौ' इति । इमां 'शान्तताविनय-योगी'त्यादिकां भारतीं वाचं गुणैर्विविक्तवर्णत्वादिभिः समस्य संयोज्य प्रगल्भं निर्भीकं यथा तथा संपादयता रचयता । व्याहरतेत्यर्थः । त्वया वनेचरेणापीत्यर्थः । सता 'अपि'शब्दो विरोधद्योतनार्थम् । आत्मा स्वयं वाग्मिनां वाचोयुक्तिपटूनाम् । 'वाचोयुक्तिपटुर्वाग्मी' इत्यमरः । 'वाचो गिमनिः' इति मत्व-र्थीयो गिमनिप्रत्ययः । धुरि अग्रेऽधिरोपितः । स्थापित इत्यर्थः । 'रुहः पोऽन्य-तरस्याम्' इति पकारः । अत्र मनुः—'वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते' इति ॥ ६ ॥

वाग्मितामेवाह—

प्रयुज्य सामाचरितं विलोभनं भयं विभेदाय धियः प्रदर्शितम् ।

तर्थाभियुक्तं च शिलीमुखार्थिना यथेतरन्यायमिवावभासते ॥७॥

प्रयुज्येति ॥ 'शान्तताविनययोगी'त्यादिना साम सान्त्वम् । 'सामसान्त्व-मुभे समे' इत्यमरः । प्रयुज्य नियुज्य विलोभनं प्रलोभनं 'मित्रमिष्टम्' इत्यादि-नाऽऽचरितं संपादितम् । तथा धियो बुद्धेर्विभेदाय व्यामोहनार्थम् 'शक्तिर्य-पतिषु' इत्यादिना भयं प्रदर्शितम् । किंच, शिलीमुखार्थिना । न तु न्याया-र्थिनेति भावः । त्वयेति शेषः । 'नाभियोक्तुम्' (१३।५८) इत्यादिना तथाऽभि-युक्तं कथितं यथेतरत् न्यायादन्यत् । अन्यायमित्यर्थः । न्यायं न्यायादनपे-तमिवावभासत इत्युपमा । अनेन वाग्मिनामग्रेसरोऽसीति भावः ॥ ७ ॥

ततः किमत आह—

विरोधि सिद्धेरिति कर्तुमुद्यतः स वारितः किं भवता न भूपतिः ।

हिते नियोज्यः खलु भूतिमिच्छता सहार्थनाशेन नृपोऽनुजीविना ॥

विरोधीति ॥ किंतु सिद्धेः फलस्य विरोधि विघातकमिति इदमस्सदास्क-न्दनरूपं कर्म कर्तुमुद्यतः स भूपतिर्महीपतिर्भवता । धुर्येणेति भावः । किं

न वारितो न निवर्तितः । निवारणे हेतुमाह—भूतिमिच्छता इहामुत्र च श्रेयोर्थिना सहचरितावर्थनाशौ स्वार्थानर्थौ यस्य तेन सहार्थनाशेन । समानसुखदुःखेनेत्यर्थः । अनुजीविना भृत्येन नृपः स्वामी हिते नियोज्यो नियम्यः खलु । अन्यथा स्वामिद्रोहपातकी श्रेयसो भ्रष्टः स्यादिति भावः ॥ ८ ॥

तर्हि नो बाणः क्व गतः, किमत्र वा न्याय्यम्, तत्राह—

ध्रुवं प्रणाशः प्रहितस्य पत्रिणः शिलोच्चये तस्य विमार्गणं नयः ।
न युक्तमत्रार्यजनातिलङ्घनं दिशत्यपायं हि सतामतिक्रमः ॥ ९ ॥

ध्रुवमिति ॥ प्रहितस्य प्रयुक्तस्य पत्रिणः शरस्य प्रणाशोऽदर्शनं ध्रुवं निश्चितम् । प्रहितश्चेदिति भावः । तस्य नष्टस्य पत्रिणः शिलोच्चये शैले । ‘अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः’ इत्यमरः । विमार्गणमन्वेषणं नयो न्यायः । ‘अन्वेषणं विचयनं मार्गणं मृगणा मृगः’ इत्यमरः । अत्र विषये आर्यजनातिलङ्घनं सज्जनव्यतिक्रमो न युक्तम् । हि यस्मात्कारणात्, सतामतिक्रमोऽपायमनर्थं दिशति ददाति ॥ ९ ॥

यदुक्तम् ‘हर्तुमर्हसि’ (१३।४१) इति, तत्रोत्तरमाह—

अतीतसंख्या विहिता ममाग्निना शिलीमुखाः खाण्डवमत्तुमिच्छता ।
अनादृतस्यामरसायकेष्वपि स्थिता कथं शैलजनाशुगे धृतिः ॥१०॥

अतीतेति ॥ खाण्डवमिन्द्रवनम् । अत्तुं भक्षयितुम्, इच्छताऽग्निना ममातीतसंख्या असंख्याः शिलीमुखाः शरा विहिता दत्ताः । खाण्डवदाहेऽक्षयतूणीरदानमुक्तं भारते । अतोऽमरसायकेष्वपि अनादृतस्यादररहितस्य । भावे क्तः । ततो नञा बहुव्रीहिः । मम कथं शैलजनाशुगे किरातबाणे धृतिरास्था स्थिता । न कथंचिदित्यर्थः । अतो नापहारशङ्का कार्येत्यर्थः ॥ १० ॥

यदुक्तम् ‘स्मर्यते तनुभृताम्’ (१३।४२) इत्यादिना सदाचारः प्रमाणमिति, तत्रोत्तरमाह—

यदि प्रमाणीकृतमार्यचेष्टितं किमित्यदोषेण तिरस्कृता वयम् ।
अयातपूर्वा परिवादगोचरं सतां हि वाणी गुणमेव भाषते ॥११॥

यदीति ॥ आर्यचेष्टितं सचरितं प्रमाणीकृतं यदि । साधुत्वेनाङ्गीकृतं यदीत्यर्थः । तर्हि, अदोषेण दोषाभावेऽपि । ‘क्वचित्प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समासः’ इति भाष्यकारः । उपलक्षणे तृतीया । वयं किमिति तिरस्कृताः । न युक्तमित्यर्थः । हि यस्मात्, परिवादगोचरं परनिन्दास्पदम् । अयातपूर्वा सतां वाणी गुणमेव भाषते न दोषम् । अतस्ते मृषादोषभाषिणो न सदाचारप्रामाण्यबुद्धिरिति भावः । पूर्वं न यातेत्ययातपूर्वा । सुप्सुपेति समासः । परत्वात्सर्वनाम्नो निष्ठायाः पूर्वनिपातः । ‘स्त्रियाः पुंवत्-’ इत्यादिना पुंवद्भावः पूर्वलिङ्गता च । अर्थान्तरन्यासः ॥ ११ ॥

नन्वप्रत्यक्षा परबुद्धिः कथं दुष्टेति निश्चीयते, तत्राह—

गुणापवादेन तदन्यरोपणाद्भृशाधिरूढस्य समञ्जसं जनम् ।

द्विधेव कृत्वा हृदयं निगूहतः स्फुरन्नसाधोर्विवृणोति वागसिः १२

गुणेति ॥ गुणापवादेन विद्यमानगुणापह्वेन तदन्यरोपणात् तस्माद्गुणा-
दन्यस्य दोषस्याविद्यमानस्यैवारोपणाच्च समञ्जसं जनं सुजनं भृशाधिरूढस्या-
तिमात्रमाक्रम्य स्थितस्य । अभिक्षिप्तस्येत्यर्थः । कर्तरि क्तः । निगूहतो हृदयं
संवृण्वतोऽपि असाधोरनार्यस्य हृदयं कर्म स्फुरन् विलसन् वागेवासिर्द्विधा
कृत्वा भित्त्वेव विवृणोति । अतिदुष्टया वाचं वतत्पूर्विकाया बुद्धेरपि दौष्ट्य-
मनुमीयत इति भावः । वागसिरित्यत्र रूपकं द्विधाकरणरूपकसाधकम् ॥ १२ ॥

यदुक्तम् 'अभ्यघानि' (१३।६३) इति, तत्रोत्तरमाह—

वनाश्रयाः कस्य मृगाः परिग्रहाः शृणाति यस्तान्प्रसभेन तस्य ते ।
प्रहीयतामत्र नृपेण मानिता न मानिता चास्ति भवन्ति च श्रियः ॥

वनेति ॥ वनाश्रया अत एव मृगाः कस्य परिग्रहाः । न कस्यापीत्यर्थः ।
किंतु यस्तान् मृगान् प्रसभेन बलात्कारेण शृणाति हिनस्ति । 'शृ हिंसायाम्'
इति धातोर्लट् । ते मृगास्तस्य हन्तुः परिग्रहाः परिग्राह्याः, हन्ता चाहमेवेति
भावः । ननु ममायमित्यभिमानान्वपस्य स्वत्वमित्याशङ्क्याह—अत्रेति । अत्र मृगे
नृपेण मानिता ममेत्यभिमानिता प्रहीयतां त्यज्यताम् । कुत इत्याशङ्क्याभिमा-
नमात्रेण स्वत्वाभावादित्याह—नेति । मानिता चास्ति । श्रियः स्वानि च भव-
न्तीति न । किंतु न भवन्त्येव । सत्यामभिमानितायामित्यर्थः । अभिमानमात्रेण
स्वत्वेऽतिप्रसङ्गादिति भावः ॥ १३ ॥

'यष्टुमिच्छसि पितृन्' (१३।६५) इत्यादिना यन्निष्कारणमवधीरित्युपालब्धं,
तत्रोत्तरमाह—

न वर्त्म कस्मैचिदपि प्रदीयतामिति व्रतं मे विहितं महर्षिणा ।

जिघांसुरस्मान्निहतो मया मृगो व्रताभिरक्षा हि सतामलंक्रिया १४

नेति ॥ कस्मैचिदपि वर्त्म न प्रदीयतामिति एवं व्रतं महर्षिणा व्यासेन
मे मद्यं विहितम् । उपदिष्टमित्यर्थः । अस्मात् कारणात्, जिघांसुर्हन्तुमिच्छुरा-
पतन्नयं मृगो मया निहतः । हि यस्मात्, व्रताभिरक्षा सतामलंक्रिया, न
तु दोषः । अत आत्मरक्षणार्थमस्य वधो न निष्कारणमित्यर्थः ॥ १४ ॥

'दुर्बचं तत्' (१३।४९) इत्यादिना यत्संजातं बन्धुत्वमुक्तं, तत्राचष्टे—

मृगान्विनिघ्नन्मृगयुः स्वहेतुना कृतोपकारः कथमिच्छतां तपः ।

कूपेति चेदस्तु मृगः क्षतः क्षणादनेन पूर्वं न मयेति का गतिः १५

मृगानिति ॥ स्वमात्मैव हेतुस्तेन स्वहेतुना । स्वार्थमित्यर्थः । 'सर्वनाम्नस्त्वृतीया
च' इति तृतीया । मृगान् विनिघ्नन् प्रहरन् । मृगान्यातीति मृगयुर्व्याधः ।

१ 'रोपणेः' इति पाठः. २ 'विरूढस्य' इति पाठः. ३ 'अप्ययम्'; 'तपन्' इति पाठौ.
४ 'तथेति' इति पाठः.

‘मृगयुर्व्याधश्च’ इत्यौणादिको युप्रत्ययान्तो निपातः । ‘व्याधो मृगवधाजीवो मृग-
युर्लुब्धकोऽपि सः’ इत्यमरः । तप इच्छतां तपस्विनां कथं कृतोपकारः । न
कथंचिदित्यर्थः । अथ कृपा इति चेत् । व्याधस्यापीति शेषः । अस्तु । किं
शुष्ककलहेनेति भावः । परंतु यदुक्तं ‘निघ्नतः परनिबर्हितम्’ (१३।४६) इत्यादिना
तस्य प्रथमप्रहर्तृत्वं तदयुक्तमित्याह—मृगः क्षणात्क्षतः । आवाभ्यां युगपदेव
विद्ध इत्यर्थः । एवं सति, अनेन नृपेणैव पूर्वं हतो मया तु नेत्यत्र का गतिः
किं प्रमाणम् । पौर्वापर्यस्य दुर्लक्ष्यत्वादिति भावः । तथा च यदुक्तम् ‘व्रीडितव्यम्’
(१३।४६) इति, उपालम्भस्तस्यैव किं न स्यादिति भावः ॥ १५ ॥

पूर्वं ‘कृपेति चेदस्तु’ (श्लो० १५) इत्युक्तम्, संप्रति तदप्यसहमान आह—
अनायुधे सच्चजिघांसिते मुनौ कृपेति वृत्तिर्महतामकृत्रिमा ।

शरासनं विभ्रति सज्यसायकं कृतानुकम्पः स कथं प्रतीयते ॥१६॥

अनायुध इति ॥ अनायुधे निरायुधे सत्त्वेन केनचित्प्राणिना जिघांसिते
हन्तुमिष्टे । हन्तेः सन्नन्तात्कर्मणि क्तः । मुनौ विषये कृपेति वृत्तिर्व्यवहारो
महतां महात्मनाम्, अकृत्रिमाऽकपटा । सह ज्यया सज्यः सायको यस्मि-
स्तत्, शरासनं धनुर्विभ्रति दधति मयि स नृपः कथं कृतानुकम्पो मया
प्रतीयते ज्ञायते । इणः कर्मणि लट् । अक्षमे कृपा विहिता न तु क्षम इत्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ कृपामभ्युपगम्याह—

अथो शरस्तेन मदर्थमुज्झितः फलं च तस्य प्रतिकायसाधनम् ।

अविक्षते तत्र मयात्मसात्कृते कृतार्थता नन्वधिका चमूपतेः ॥ १७ ॥

अथो इति ॥ अथो प्रश्ने । ‘मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्वर्येष्वथो अथ’ इत्यमरः ।
तेन नृपेण मदर्थं यथा तथा । अर्थेन सह नित्यसमासः । शर उज्झितस्त्यक्तः ।
तस्य उज्झितस्य फलं च प्रतिकायस्य प्रतिपक्षस्य साधनं वधः ।
‘साधनं निर्वृतौ मेढ्रे सैन्ये सिद्धौ वधे गतौ’ इति विश्वः । अविक्षतेऽख-
ण्डिते तत्र तस्मिन्फले मयात्मसात्कृते स्वाधीनीकृते सति । ‘तदधीनवचने’
इति सातिप्रत्ययः । चमूपतेरधिका कृतार्थता साफल्यं ननु खलु । स्वायुधस्य
परत्राणशत्रुवधपात्रप्रतिपादनायैकहेलयो सिद्धेरित्यर्थः । तथाप्ययं शरलोभ इति
कृपालुताया मूलान्यपि निकृन्ततीति भावः ॥ १७ ॥

‘मार्गणैरथ तव प्रयोजनम्’ (१३।५९) इत्यादिना यदुक्तं, तन्निराचष्टे—

यदात्थ कामं भवता स याच्यतामिति क्षमं नैतदनल्पचेतसाम् ।

कथं प्रसह्याहरणैषिणां प्रियाः परावनत्या मलिनीकृताः श्रियः १८

यदिति ॥ स नृपः कामं भवता याच्यतामिति यदात्थ । मामिति शेषः ।
एतदनल्पचेतसां मनस्विनां न क्षमं न युक्तम् । कुतः । प्रसह्य बलात्,
आहरणैषिणामाहर्तुमिच्छूनाम् । ‘क्षत्रियस्य विजितम्’ इति स्मरणादिति भावः ।
परावनत्या याज्जादन्येन मलिनीकृताः श्रियः कथं प्रियाः । न कथंचि-
दित्यर्थः ॥ १८ ॥

अथ परेङ्गितमुद्गाढ्य भयं दर्शयति—

अभूतमासज्य विरुद्धमीहितं बलादलभ्यं तव लिप्सते नृपः ।

विजानतोऽपि ह्यनयस्य रौद्रतां भवत्यपाये परिमोहिनी मतिः १९

अभूतमिति ॥ तव नृपोऽभूतमनृतम्, आसज्य । मिथ्याभियुज्येत्यर्थः । 'युक्ते क्षमादावृते भूतम्' इत्यमरः । अलभ्यं लब्धुमशक्यं विरुद्धं विपरीतफल-कम्, ईहितं मनोरथं बलादलिप्सते लब्धुमिच्छति । न चैतच्चित्रमित्याह—हि यस्मात्, अनयस्य दुर्नयस्य रौद्रतां भयंकरत्वं विजानतोऽपि पुरुषस्य मति-बुद्धिः । अपाये विनाशकाले परिमोहिनी भवति । परिमुद्यतीति परिमोहिनी । संपृचादिसूत्रेण ताच्छील्ये धिनुणप्रत्ययः । तथा चोक्तम्—'विनिर्मितः केन न दृष्ट-पूर्वो हेनः कुरङ्गो न च कुत्र वार्ता । तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य विनाशकाले विप-रीतबुद्धिः' ॥ इति । तस्माद्विनाशकाले विपरीतबुद्धिर्भवतीति भावः ॥ १९ ॥

अथ सर्वथा लभ्यते शरस्तर्हि किमनेन, सुष्ठु विश्रब्धं याच्यतां शरोऽन्य-द्वेत्याह—

असिः शरा वर्म धनुश्च नोच्चकैर्विविच्य किं प्रार्थितमीश्वरेण ते ।

अथास्ति शक्तिः कृतमेव याञ्जया न दूषितः शक्तिमतां स्वयंग्रहः २०

असिरिति ॥ असिः खड्गः शरा वर्म कवचम्, उच्चकैरुच्चकृष्टं धनुश्च धनुर्वां ते तव ईश्वरेण स्वामिना विविच्य एकैकशो विभज्य किं न प्रार्थितं न याचि-तम् । येन प्रयोजनं तद्वास्यामीति भावः । नपुंसकैकशेषः । अथास्य वीराभिमा-निनो नृपस्य शक्तिरस्ति । चेदिति शेषः । याञ्जया कृतमेवालमेव । साध्या-भावात् याचितव्यमेवेत्यर्थः । गम्यमानक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीयेत्युक्तं प्राक् । 'कृतम्' इति निषेधार्थमव्ययम् । यतः शक्तिमतां स्वयंग्रहो बलाद्ग्रहणं न दूषितः । किंतु भूषणमेव वीराणामिति भावः ॥ २० ॥

'राघवप्लवगराजयोरिव' (१३।५७) इत्यादिनोपदिष्टं सख्यं प्रत्याचष्टे—

सखा स युक्तः कथितः कथं त्वया यदृच्छयाऽसूयति यस्तपस्यते ।

गुणार्जनोच्छ्रायविरुद्धबुद्धयः प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधवः ॥२१॥

सखेति ॥ स नृपः कथं त्वया युक्तो योग्यः सखा कथितः । न कथंचि-त्कथनीय इत्यर्थः । कुतः । यो नृपः तपस्यते तपश्चरते । अनपराधिन इत्यर्थः । 'कुधद्रुह—' इत्यादिना संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । यदृच्छया स्वैरवृत्त्या । 'यदृच्छा स्वैरिता' इत्यमरः । असूयति असूयां करोति । 'असूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि' इत्यमरः । प्रत्युत शत्रुरेवायमित्याह—हि यस्मात्, गुणानामर्जने य उच्छ्राय उत्कर्षस्तस्य विरुद्धा विमुखा बुद्धिर्येषां ते तथा, असाधवो दुष्टाः सतां सज्ज-नानां प्रकृत्यमित्राः प्रकृत्या शत्रवः । 'द्विद्विपक्षाहितामित्रदस्युज्ञान्नवशत्रवः' इत्यमरः ॥ २१ ॥

हीनजातिवृत्तित्वात् सख्यानर्हः स इत्याह—

वयं क्व वर्णाश्रमरक्षणोचिताः क्व जातिहीना मृगजीवितच्छिदः ।

सहोपकृष्टैर्महतां न संगतं भवन्ति गोमायुसखा न दन्तिनः ॥२२॥

वयमिति ॥ वर्णाश्रमरक्षणोचिता विशुद्धवृत्तयो वयं राजानः क्व । जातिहीना मृगजीवितच्छिदो हिंसाजीविनो व्याधाः क्व । फलितमाह— अपकृष्टैरुक्तीत्या जाता वृत्त्या च निकृष्टैः सह महतां जाता वृत्त्या चोत्कृष्टानां संगतं सख्यं न । घटत इति शेषः । तथा हि—दन्तिनो गजा गोमायूनां शृगालानां सखायो गोमायुसखा न भवन्ति । 'स्त्रियां शिवा भूरिमायगोमायु-मृगधूर्तकाः । शृगालवच्चक्रोष्टुफेरुफेरवजम्बुकाः ॥' इत्यमरः । अत्र विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २२ ॥

नीचसख्यं कथमधिक्षिप्यत इति चेत्तत्राह—

परोऽवजानाति यदज्ञताजडस्तदुन्नतानां न विहन्ति धीरताम् ।

समानवीर्यान्वयपौरुषेषु यः करोत्यतिक्रान्तिमसौ तिरस्क्रिया ॥२३॥

पर इति ॥ अज्ञताजडो मोहान्धः परोऽवजानाति यत्तत् अवज्ञानम्, उन्नतानां महतां धीरतां निर्विकारचित्त्वं न विहन्ति । न विकारं जनयतीत्यर्थः । क्रोष्टेव सिंहस्येति भावः । किंतु समानानि तुल्यानि वीर्यान्वयपौरुषाणि शक्तिकुलविक्रमा येषां तेषु मध्ये । निर्धारणे सप्तमी । यः कश्चिदित्यर्थः । अतिक्रान्तिमतिक्रमं करोति चेत्, असौ सदृशजनातिक्रमस्तिरस्क्रिया तिरस्कारः । यथा सिंहे सिंहस्येति भावः ॥ २३ ॥

तर्हि नीचे कीदृशी वृत्तिरित्याशङ्क्य सोपपत्तिक्रमाह—

यदा विगृह्णाति हतं तदा यशः करोति मैत्रीमथ दूषिता गुणाः ।

स्थितिं समीक्ष्योभयथा परीक्षकः करोत्यवज्ञोपहतं पृथग्जनम् ॥२४॥

यदेति ॥ यदा विगृह्णाति विरुद्धि । पृथग्जनेनेति शेषः । तदा यशो हतं नाशितं भवेत् । अथ मैत्रीं करोति तदा गुणा दूषिताः । भवेयुरिति शेषः । इति उभयथा स्थितिं समीक्ष्य प्रतर्क्य विमृश्य, परीक्षको विवेचकः पृथग्जनं नीचजनम्, अवज्ञयाऽनादरेण उपहतं तिरस्कृतं करोति । उपेक्षत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

उपसंहरन्नाह—

मया मृगान्हन्तुरनेन हेतुना विरुद्धमाक्षेपवचस्तिक्षितम् ।

शरार्थमेप्येत्यथ लप्स्यते गतिं शिरोमणिं दृष्टिविपाञ्जिघृक्षतः २५

मयेति ॥ अनेन हेतुना संधिविग्रहानर्हत्वेन कारणेन मया मृगान्हन्तु-ब्याधस्य संबन्धि । हन्तेस्तृन्प्रत्ययः । अत एव 'न लोक-' इत्यादिना पष्ठीप्रति-वेधः । विरुद्धमतिपरुषम्, आक्षेपवचस्तिरस्कारवचनं तितिक्षितं सोढम् । ननु सख्यानङ्गीकारे बलाच्छरं ग्रहीष्यतीत्याशङ्क्याह—शरेति । अथ शरार्थ-

१ 'पालनोचिताः' इति पाठः. २ 'अवकृष्टैः' इति पाठः. ३ 'प्रतीत' इति पाठः.

४ 'इति प्रतर्क्योभयथा' इति पाठः. ५ 'एष्यन्नथ' इति पाठः.

मेष्यति दृष्टौ विपं यस्य तस्मात् दृष्टिविपात् सर्पविशेषात् शिरोमणिं जिघृ-
क्षतो ग्रहीतुमिच्छतो गतिं दशां लप्स्यते प्राप्स्यति ॥ २५ ॥

इतीरिताकृतमनीलवाजिनं जयाय दूतः प्रतितर्ज्य तेजसा ।

ययौ समीपं ध्वजिनीमुपेयुषः प्रसन्नरूपस्य विरूपचक्षुषः ॥ २६ ॥

इतीति ॥ इतीत्यम्, ईरिताकृतमुक्ताभिप्रायम्, अनीलवाजिनं श्वेताश्व-
मर्जुनं दूतो जयाय तेजसा प्रतापेन प्रतितर्ज्य । अस्मानजित्वा क्व गमिष्य-
सीति भीषयित्वेत्यर्थः । ध्वजिनीमुपेयुषः सेनासंगतस्य प्रसन्नरूपस्य ।
अर्जुनं प्रतीति शेषः । विरूपचक्षुषस्यम्बकस्य समीपं ययौ ॥ २६ ॥

ततोऽपवादेन पताकिनीपतेश्चाल निर्हादवती महाचमूः ।

युगान्तवाताभिहतेव कुर्वती निनादमम्भोनिधिर्वीचिसंहतिः ॥ २७ ॥

तत इति ॥ ततः पताकिनीपतेः सेनापतेः अपवादेनादेशेन । 'अपवा-
दोऽप्यथादेशः' इति सज्जनः । निर्हादवती शब्दवती महाचमूः सेना युगा-
न्तवातैरभिहता आन्दोलिता अत एव निनादं कुर्वती, अम्भोनिधि-
वीचिसंहतिरर्णवोर्मिसमूह इव चचाल ॥ २७ ॥

रणाय जैत्रः प्रदिशन्निव त्वरां तरङ्गितालम्बितकेतुसंततिः ।

पुरो बलानां सघनाम्बुशीकरः शनैः प्रतस्थे सुरभिः समीरणः २८

रणायेति ॥ जेतैव जैत्रो जयनशीलः । अनुकूल इत्यर्थः । जयतेस्तृन्नात्प्र-
ज्ञादित्वात्स्वार्थेऽणप्रत्ययः । तरङ्गितं संजाततरङ्गं यथा तथा, आलम्बिता अव-
स्थिताः केतुसंततयो येन सः सह घनैः सान्द्रैरम्बुशीकरैः सघनाम्बुशीकरः
सुरभिः सुगन्धः समीरणो वायू रणाय त्वरां प्रदिशन्निव त्वरयन्निव
बलानां सैन्यानां पुरोऽग्रे शनैः प्रतस्थे प्रस्थितः । ववावित्यर्थः ॥ २८ ॥

जयारवक्ष्वेडितनादमूर्च्छितः शरासनज्यातलवारणध्वनिः ।

असंभवन्भूधरराजकुक्षिषु प्रकम्पयन्गामवतस्तरे दिशः ॥ २९ ॥

जयेति ॥ जयारवैर्बन्दिनां जयजयेतिशब्दैः क्ष्वेडितनादैः सिंहनादैश्च
मूर्च्छितो वर्धितः शरासनज्यानां धनुर्गुणानां तलवारणानां ज्याघातवार-
णानां च ध्वनिर्भूधरराजकुक्षिषु गिरिगुहासु असंभवन् अमान् । अवकाशम-
लभमान इत्यर्थः । अत एव गां भुवं प्रकम्पयन् । एतेन बलानां बाहुल्यमु-
क्तम् । दिशोऽवतस्तरे व्यानशे । 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' । अत्र 'मूर्च्छा'पदा-
र्थस्य विशेषणगत्याऽसंभवनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गं, रूपकं तु गिरिकुक्षिरूपापेक्षया ध्वने-
राधेयस्याधिक्योक्तेरधिकालंकारश्च । तेभ्यश्चैयमसंभवन्निति व्यञ्जकं विनोत्थाप्य-
मानोपात्तमूर्च्छागुणनिमित्ता प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षा । तैरङ्गाङ्गिभावेन संकीर्यत
इति संकरः ॥ २९ ॥

निशातरौद्रेषु विकसतां गतैः प्रदीपयद्भिः ककुभामिवान्तरम् ।

वनेसदां हेतिषु भिन्नविग्रहैर्विपुस्फुरे रश्मिमतो मरीचिभिः ॥ ३० ॥

निशातेति ॥ निशातास्तीक्ष्णा अत एव रौद्रा भीषणाश्च ये तेषु निशातरौ-
द्रेषु । विशेष्यविशेषणयोरन्यतरविशेष्यत्वविवक्षाया इष्टत्वाद्विशेषणसमासः ।
वने सीदन्तीति वनेसदां वनेचरणाम् । 'सत्सूद्विष-' इत्यादिना क्विप् । 'तत्पु-
रुपे कृति बहुलम्' इत्यलुक् । हेतिषु आयुधेषु । 'हेतिः शस्त्रेऽपि पुंस्त्रियोः' इति
केशवः । भिन्नविग्रहैः संक्रान्तमूर्तिभिरत एव विकसतां विसृत्वरतां गतैरत
एव ककुभां दिशाम्, अन्तरमवकाशं प्रदीपयद्भिः प्रज्वालयद्भिरिव स्थितैरि-
त्युत्प्रेक्षा । रश्मिमतः सूर्यस्य । 'मादुपधायाम् मतोर्वोऽयवादिभ्यः' इति मनुषो
मकारस्य न वकारः । मरीचिभिः करैः । 'भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोः'
इत्यमरः । विपुस्फुरे वभासे । स्फुरतेर्भावे लिट् ॥ ३० ॥

उदूढवक्षःस्थगितैकदिङ्मुखो विकृष्टविस्फारितचापमण्डलः ।

वितत्य पक्षद्वयमायतं वभौ विभुर्गुणानामुपरीव मध्यगः ॥ ३१ ॥

उदूढेति ॥ उदूढेनोन्नतेन वक्षसा स्थगितमाच्छादितमेकमेकतरं दिङ्मुखं
येन सः । विकृष्टमाकृष्टमत एव विस्फारितं निर्घोषितं चापमण्डलं येन स
विभुः शिवः । आयतं विस्तृतं पक्षद्वयं पार्श्वद्वयं वितत्य स्वमहिम्ना व्याप्य ।
'पक्षः साध्यगरुत्पार्श्वसहायबलभित्तिषु' इति वैजयन्ती । गुणानां मध्यगो म-
ध्यस्थोऽपि उपरि स्थित इव वभौ । सर्वोन्नतत्वात्तथा लक्षित इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

सुगेषु दुर्गेषु च तुल्यविक्रमैर्जवादहंपूर्विकया यियासुभिः ।

गणैरविच्छेदनिरुद्धमावभौ वनं निरुच्छ्वासमिवाकुलाकुलम् ॥ ३२ ॥

सुगेष्विति ॥ सुखेन दुःखेन च गच्छन्त्येष्विति सुगेषु सुगमेषु दुर्गेषु दुर्गमेषु
च । समविषमदेशेष्वित्यर्थः । सुदुरोरधिकरणार्थे डो वक्तव्यः । अत एव टिलोपः ।
तुल्यविक्रमैर्लाघवात्समसंचारः जवाद्देगात् । अहंपूर्विकयाऽहमहमिकया ।
'अहंपूर्वमहंपूर्वमित्यहंपूर्विका स्त्रियाम्' इत्यमरः । यियासुभिर्यातुमिच्छुभिः ।
यातेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । गणैः प्रमथैः । मनोज्ञादित्वाद्बुञ्प्रत्ययः । पृषोदरादित्वा-
द्बृच्चभावः । 'गणाः प्रमथसङ्घावाः' इति वैजयन्ती । अविच्छेदेन निरुद्धमत
एव, आकुलाकुलमाकुलप्रकारम् । 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः । वनं
निरुच्छ्वासं निरुद्धप्राणमिव । आवभौ इत्युत्प्रेक्षा ॥ ३२ ॥

तिरोहितश्चभ्रनिकुञ्जरोधसः समश्रुवानाः सहसातिरिक्तताम् ।

किरातसैन्यैरपिधाय रेचिता भुवः क्षणं निम्नतयेव भेजिरे ॥ ३३ ॥

तिरोहितेति ॥ किरातसैन्यैस्तिरोहितानि छन्नानि श्वभ्रनिकुञ्जरोधांसि
गतंकुञ्जतटानि यासां ताः । अत एव भुवः । प्रदेशाः सहसाऽतिरिक्ततामुत्ता-
नतां समश्रुवाना आमुवत्यः । तथा, अपिधायच्छाद्य रेचिता रिक्तीकृता मुक्ताः

१ 'विकासिताम्' इति पाठः. २ 'संग्रहैः' इति पाठः. ३ 'रश्मिवतः' इति पाठः.

४ 'समेषु' इति पाठः.

क्षणं निम्नतया गाम्भीर्येण भेजिर इव प्राप्ता इवेत्युत्प्रेक्षा । सैन्यैर्या भुवो
व्याप्तास्ता उत्तानाः प्रतीयन्ते । तर्मुक्तास्ता एव निम्नाः प्रतीयन्त इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

पृथूरुपर्यस्तवृहल्लताततिर्जवानिलाघूर्णितशालचन्दना ।

गणाधिपानां परितः प्रसारिणी वनान्यवाञ्चीव चकार संहतिः ३४

पृथ्विति ॥ पृथुभिर्विशालैरुरुभिः सक्थिभिः पर्यस्ताः क्षिप्ता वृहल्ल्यो
लताततयो यया सा जवानिलेन वेगमारुतेनाऽऽघूर्णिता भ्रामिताः शालाः
सर्जतरवश्चन्दनानि च यया सा । 'प्राकारवृक्षयोः सालः शालः सर्जतरुः स्मृतः'
इति शाश्वतः । परितः सर्वत्र प्रसारिणी प्रसरणशीला गणाधिपानां संहतिः
समूहो वनान्यवाञ्ची न्युञ्जानीव चकारेत्युत्प्रेक्षा । अवाञ्चल्यधोमुखीभवति ।
अवपूर्वादञ्चतेः क्विप् । 'स्यादवाञ्चल्यधोमुखः' इत्यमरः ॥ ३४ ॥

अथाष्टभिः श्लोकैरर्जुनं विशेषयन् गणानां तदभियोगमाह—

ततः सदर्पं प्रतनुं तपस्यया मदस्रुतिक्षाममिवैकवारणम् ।

परिज्वलन्तं निधनाय भूभृतां दहन्तमाशा इव जातवेदसम् ॥३५॥

तत इत्यादि ॥ ततः सदर्पं सगर्वं सान्तःसारं तपस्यया तपश्चर्यया । तपस्यतेः
क्यजन्तास्त्रियामप्रत्यये टाप् । प्रतनुं कृशमत एव मदस्रुत्या मदक्षरणेन क्षामं
कृशम् । 'क्षायो मः' इति निष्ठातकारस्य मकारः । एकवारणमेकाकिनं गजमिव
स्थितमित्युपमा । पुनः । भूभृतां राज्ञां निधनाय नाशाय परिज्वलन्तं तेज-
स्विनमत एव, आशा दिशो दहन्तं जातवेदसमग्निसिव स्थितमित्युपमालंकारः ।
'कृपीटयोनिज्वलनो जातवेदास्तनूनपात्' इत्यमरः ॥ ३५ ॥

अनादरोपात्तधृतैकसायकं जयेऽनुकूले सुहृदीव सस्पृहम् ।

शनैरपूर्णप्रतिकारपेलवे निवेशयन्तं नयने बलोद्धौ ॥ ३६ ॥

अनादरेति ॥ पुनश्च, अनादरेणावगणनया उपात्तो निपङ्गादुद्धृतो धृतश्चैकः
सायको येन तं, तथाऽनुकूले सुहृदीव जये सस्पृहम् । जयमिच्छन्त-
मित्यर्थः । पुनश्च, अपूर्णो न्यूनः प्रतिकारो बाणाहरणप्रत्यर्पणरूपो यस्य सः । अत
एव पेलवो लघुस्तस्मिन् अपूर्णप्रतिकारपेलवे बलोद्धौ सेनासमुद्रे शनैर-
संभ्रमेण नयने दृष्टी निवेशयन्तमिति वीरस्वभावोक्तिः । बलमुदधिरिवेत्युप-
मितसमासः । 'पेपंवासवाहनधिपु च' इत्युदकस्योदादेशः ॥ ३६ ॥

निपण्णमापत्प्रतिकारकारणे शरासने धैर्यं इवानपायिनि ।

अलङ्घनीयं प्रकृतावपि स्थितं निवातनिष्कम्पमिवापगापतिम् ॥३७॥

निपण्णमिति ॥ पुनश्च, आपदां प्रतिकारस्य कारणे साधनेऽनपायिनि
स्थिरे एवंभूते शरासने धैर्यं इव निपण्णं स्थितं प्रकृतौ स्वभावे स्थितमपि ।
निर्विकारमपीत्यर्थः । अत एव, अलङ्घनीयमनतिक्रमणीयमत एव निवातनि-
ष्कम्पं वाताभावाच्चिञ्चलम् । 'निवातावाश्रयावातौ' इत्यमरः । आपगापतिं
समुद्रमिव स्थितम् ॥ ३७ ॥

उपेयुपीं विभ्रतमन्तकद्युतिं वधाददूरे पतितस्य दंष्ट्रिणः ।

पुरः समावेशितसत्पशुं द्विजैः पतिं पशूनामिव हृतमध्वरे ॥ ३८ ॥

उपेयुपीमिति ॥ पुनश्च, अदूरे समीपे पतितस्य दंष्ट्रिणो वराहस्य । ब्रीह्या-
दिस्वादिनिप्रत्ययः । वधाद्वेतोः उपेयुपीं प्राप्ताम्, अन्तकस्येव यमस्येव द्युतिस्तां
विभ्रतं धारयन्तम् । तथा च द्विजैर्ब्राह्मणैः । अध्वरे यज्ञे । 'यज्ञः सवोऽध्वरो
यागः' इत्यमरः । हृतमाहृतं पुरोऽग्रे समावेशितः स्थापितः सत्पशुर्यज्ञीय-
पशुर्यस्य तम् । पशूनां पतिं रुद्रमिव स्थितम् ॥ ३८ ॥

निजेन नीतं विजितान्यगौरवं गभीरतां धैर्यगुणेन भूयसा ।

वनोदयेनेव घनोरुवीरुधा समन्धकारीकृतमुत्तमाचलम् ॥ ३९ ॥

निजेनेति ॥ पुनश्च, निजेन नैसर्गिकेण भूयसा बहुलेन धैर्यमेव गुणस्तेन
विजितमन्येषां गौरवं गाम्भीर्यं यस्मिन्कर्मणि तथा गभीरतां दुरवगाहत्वं
नीतम् । अत एव घनाः सान्द्रा उरवश्च महत्यो वीरुधो लताश्च यस्मिन्स्तेन घनो-
रुवीरुधा वनोदयेन अरण्यप्रादुर्भावेन समन्धकारीकृतं दुरवगाहीकृतम्,
उत्तमाचलमिव स्थितम् । समन्ततोऽन्धकारो यस्य स इति विग्रहः ॥ ३९ ॥

महर्षभस्कन्धमनूनकन्धरं बृहच्छिलावप्रघनेन वक्षसा ।

समुज्जिहीर्षुं जगतीं महाभरां महावराहं महतोऽर्णवादिव ॥ ४० ॥

महर्षभेति ॥ महर्षभस्य महावृषभस्य स्कन्ध इव स्कन्धावंसौ यस्य तम् ।
उपमानपूर्वपदत्वादुत्तरस्कन्धलोपः । 'ऋषभो वृषभो वृषः' इत्यमरः । 'स्कन्धो
भुजशिरोऽसोऽस्त्री' इत्यमरः । अनूनकन्धरं स्थूलग्रीवम् । 'अथ ग्रीवायां शिरोधिः
कन्धरेत्यपि' इत्यमरः । बृहच्छिलावप्रं महाशिलातटं तद्वत् घनेन कठिनेन
वक्षसा उपलक्षितम् । महाभरां दुष्टैरतिभारवतीं जगतीं महीं समुज्जिहीर्षुं
दुष्टराजकार्णवात् समुद्धर्तुमिच्छुम्, अत एव महतोऽर्णवाज्जगतीं समुज्जिहीर्षु-
मुक्तविशेषणविशिष्टं च महावराहमिव स्थितम् । अर्थसाधर्म्यादियसुप्रमा-
न श्लेषः, शब्दमात्रसाधर्म्येण तस्य विधानादिति रहस्यम् ॥ ४० ॥

हरिन्मणिश्याममुद्ग्रविग्रहं प्रकाशमानं परिभूय देहिनः ।

मनुष्यभावे पुरुषं पुरातनं स्थितं जलादर्श इवांशुमालिनम् ॥ ४१ ॥

हरिदिति ॥ पुनश्च, हरिन्मणिश्यामं मरकतमणिश्यामलम् । उद्ग्रविग्रह-
मुदारमूर्तिं देहिनः सत्त्वान् परिभूय तिरस्कृत्य प्रकाशमानम् । जलमेवा-
ऽऽदर्शो मुकुरस्तस्मिन्, अंशुमालिनं सूर्यमिव । मनुष्यभावे मनुष्यरूपे
स्थितं पुरातनं पुरुषम् । यो बदरीतपोवननिवासी नारायणसहचरो नरो
नाम स एवायमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

१ 'पोत्रिणः' इति पाठः. २ 'समावेदित' इति पाठः. ३ 'महच्छिला' इति पाठः.

गुरुक्रियारम्भफलैरलंकृतं गतिं प्रतापस्य जगत्प्रमाथिनः ।

गणाः समासेदुरनीलवाजिनं तपात्यये तोयघना घना इव ॥४२॥

गुर्विति ॥ गुरुभिः क्रियारम्भाणां फलैरलंकृतम् । सफलकर्मारम्भ-
मित्यर्थः । जगत्प्रमाथिनो जगद्विजयिनः प्रतापस्य तेजसो गतिं स्थानम् ।
अतोऽस्य बहुनामेकलक्ष्यत्वं च युज्यत इति संदर्भाभिप्रायः । पूर्वोक्तविशेषण-
विशिष्टम्, अनीलवाजिनं श्वेताश्वमर्जुनं गणाः प्रमथादयः तपात्यये तोय-
घनास्तोयभरिताः । वार्षिका इत्यर्थः । घना मेघा इव । महाचलमिति
शेषः । समासेदुः । अवापुरित्यर्थः । कुलकम् ॥ ४२ ॥

यथास्वमाशंसितविक्रमाः पुरा मुनिप्रभावक्षततेजसः परे ।

ययुः क्षणादप्रतिपत्तिमूढतां महानुभावः प्रतिहन्ति पौरुषम् ॥४३॥

यथास्वमिति ॥ पुरा पूर्वम् । स्वं स्वमनतिक्रम्य यथास्वम्, अहमेवैनं जेष्या-
मीति आशंसिताः काङ्क्षिताः कथिता वा विक्रमा यैस्ते परे शत्रवो मुनिप्र-
भावात्क्षततेजसो हतप्रभावाः सन्तः क्षणादप्रतिपत्तिमूढतां मोहान्धतां
ययुः । तथा हि—महानुभावोऽतिप्रतापः पौरुषं पुरुषस्य चेष्टित प्रतिहन्ति
नाशयति ॥ ४३ ॥

ततः प्रजहे सममेव तत्र तैरपेक्षितान्योन्यवलोपपत्तिभिः ।

महोदयानामपि सङ्घवृत्तितां सहायसाध्याः प्रदिशन्ति सिद्धयः ॥४४॥

तत इति ॥ तत एकैकस्याशक्तौ । अपेक्षिता वाञ्छिताऽन्योन्यवलोपपत्ति-
रन्योन्यशक्यवष्टम्भो यैः । तैः प्रमथैः । तत्रार्जुने । क्रियाधारत्वात्सप्तमी । समं
युगपदेव प्रजहे प्रहतम् । भावे लिट् । तथा हि—सहायसाध्याः सिद्धयः
कार्यसिद्धयो महोदयानामपि महानुभावानामपि । सङ्घेन वृत्तिव्यापारो
येषां तेषां भावस्तत्ता तां सङ्घवृत्तितां संभूयकारितां प्रदिशन्ति । अतो
गणानामपि संभूयकारित्वं न दोष इति भावः ॥ ४४ ॥

किरातसैन्यादुरुचापनोदिताः समं समुत्पेतुरुपात्तरंहसः ।

महावनादुन्मनसः खगा इव प्रवृत्तपत्रध्वनयः शिलीमुखाः ॥४५॥

किरातेति ॥ उरुभिर्वृद्धिश्चापैर्नोदिताः प्रक्षिप्ता उपात्तरंहसः प्रासवेगाः
प्रवृत्तपत्रध्वनयः संजातपक्षस्वनाः शिलीमुखा वाणाः । महावनादुन्मनसः
कापि गन्तुमुत्सुकाः । तथा, उक्तविशेषणविशिष्टाश्च खगाः पक्षिण इव ।
किरातसैन्यात् समं समन्ततः समुत्पेतुः ॥ ४५ ॥

गभीररन्ध्रेषु भृशं महीभृतः प्रतिस्वनैरुन्नमितेन सानुषु ।

धनुर्निनादेन जवादुपेयुषा विभिद्यमाना इव दध्वनुर्दिशः ॥४६॥

गभीरेति ॥ गभीररन्ध्रेषु गम्भीरगह्वरेषु महीभृतः सानुषु ये प्रतिस्वना-

१ 'महाचलम्' इति पाठः. २ 'प्रभावात्' इति पाठः. ३ 'दीनतान्' इति पाठः.
४ 'प्रविहन्ति' इति पाठः. ५ 'महोदयेभ्योऽपि हि' इति पाठः. ६ 'उन्नमितेषु' इति पाठः.
७ 'विभिन्यमाना' इति पाठः.

सैर्भृशमुन्नमित्तेनोत्थापितेन दीर्घीकृतेन जवादुपेयुषा प्राप्तवता धनुषो
निनादेन दिशा विभिद्यमाना विदीर्यमाणा इव दध्वनुर्ध्वनिं चक्रुः ॥ ४६ ॥

विधूनयन्ती गहनानि भूरुहां तिरोहितोपान्तनभोदिगन्तरा ।

महीयसी वृष्टिरिवानिलेरिता रवं वितेने गणमार्गणावलिः ॥ ४७ ॥

विधूनयन्तीति ॥ भूरुहां गहनानि वनानि । 'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं
वनम्' इत्यमरः । विधूनयन्ती कम्पयन्ती तिरोहितानि छादितानि उपा-
न्तानि प्रान्तानि नभोऽन्तरिक्षं दिगन्तराणि च यथा सा । गणमार्गणावलिः
प्रमथशरसंहतिः । अनिलेन वायुना । ईरिता प्रेरिता । महीयसी वृष्टिरिव
रवं वितेने विस्तारयामास ॥ ४७ ॥

त्रयीमृतूनामनिलाशिनः सतः प्रयाति पोषं वपुषि प्रहृष्यतः ।

रणाय जिष्णोर्विदुपेव सत्वरं घनत्वमीये शिथिलेन वर्मणा ॥ ४८ ॥

त्रयीमिति । ऋतूनां त्रयीं षणमासान् । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया ।
अनिलाशिनो वायुभक्षकस्य । कृशस्येत्यर्थः । सतः, तथापि रणाय रणं कर्तुं
प्रहृष्यत उत्सहमानस्य । 'क्रियार्थोप-' इत्यादिना चतुर्थी । जिष्णोरर्जुनस्य
वपुषि पोषमुपचयं प्रयाति गच्छति सति शिथिलेन । प्रथममिति शेषः ।
वर्मणा कवचेन विदुपेवानन्तरकरणीयं जानतेवेत्युत्प्रेक्षा । सत्वरं शीघ्रं घनत्वं
दृढत्वम् । ईये प्राप्तम् । अन्यथानुपयोगादिति भावः । इणः कर्मणि लिट् ॥ ४८ ॥

पतत्सु शस्त्रेषु वितत्य रोदसी समन्ततस्तस्य धनुर्दुधूपतः ।

सरोपमुल्केव पपात भीषणा बलेषु दृष्टिर्विनिपातशंसिनी ॥ ४९ ॥

पतत्स्विति ॥ शस्त्रेषु रोदसी द्यावापृथिव्यौ । 'द्यावापृथिव्यौ रोदस्यौ' इत्य-
मरः । समन्ततो वितत्य व्याप्य पतत्सु सत्सु धनुर्दुधूपतः कम्पितुमिच्छतः ।
आस्फालयत इत्यर्थः । धूजः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः । 'स्वरतिसूतिसूर्यतिधूजदितो
वा' इति विकल्पादिडभावः । तस्यार्जुनस्य संबन्धिनी । भीषयत इति भीषणा ।
नन्द्यादित्वाह्युः । विनिपातशंसिनी विनाशसूचिका दृष्टिरुक्तविशेषणा उल्केव
बलेषु सरोपं यथा तथा पपात ॥ ४९ ॥

दिशः समूहन्निव विक्षिपन्निव प्रभां रवेराकुलयन्निवानिलम् ।

मुनिश्चचाल क्षयकालदारुणः क्षितिं सशैलां चलयन्निवेपुभिः ॥ ५० ॥

दिश इति ॥ क्षयकालः कल्पान्तकाल इव । 'संवर्तः प्रलयः कल्पः क्षयः
कल्पान्त इत्यपि' इत्यमरः । दारुणो रोद्रो मुनिरर्जुनः । इषुभिर्बाणैः । दिशः समू-
हन्निव एकत्र समाहरन्निव । अन्यथा तासां पारदर्शनं न स्यादिति भावः । रवेः
प्रभां विक्षिपन्निव अधः प्रक्षिपन्निव । अन्यथा सा कथं न दृश्यत इति भावः ।
तथा, अनिलं वायुमाकुलयन्निपुभिरन्तराल आघूर्णयन्निव । तस्य तथा गति-
विघातादिति भावः । सशैलां क्षितिं चलयन्निव कम्पयन्निव । तथा संक्षोभा-
दिति भावः । चचाल गतिमकरोत् । सर्वत्र 'इव'शब्द उत्प्रेक्षायाम् ॥ ५० ॥

विमुक्तमाशंसितशत्रुनिर्जयैरनेकमेकावसरं वनेचरैः ।

सं निर्जघानायुधमन्तरा शरैः क्रियाफलं काल इवातिपातितः ॥५१॥

विमुक्तमिति ॥ आशंसितः काङ्क्षितः शत्रुनिर्जयो यैस्तैः । अहमहमिकया शत्रुं विजिगीषद्विरित्यर्थः । वनेचरैरेकावसरं समकालम् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । विमुक्तं प्रयुक्तमनेकं बहु आयुधम् । जातावेकवचनम् । सोऽर्जुनः क्रियाफलमतिपातितोऽतिक्रान्तः काल इव । अतिक्रान्तकालस्य कर्मणो निष्फलत्वादिति भावः । अन्तरा मध्ये शरैर्निर्जघान ॥ ५१ ॥

गतैः परेषामविभावनीयतां निवारयद्भिर्विपदं विदूरगैः ।

भृशं बभूवोपचितो बृहत्फलैः शरैरुपायैरिव पाण्डुनन्दनः ॥ ५२ ॥

गतैरिति ॥ पाण्डुनन्दनोऽर्जुनः परेषामविभावनीयतां लघुप्रयोगात्, अन्यत्र,—गूढप्रयोगाच्च अदृश्यतामप्रकाशयतां च गतैर्विपदमनर्थं निवारयद्भिर्विदूरगैर्दूरलक्ष्यगैः परमण्डलप्रविष्टैश्च बृहत्फलैरायताग्रैर्महालाभश्च । ‘फलं बाणाप्रलाभयोः’ इति शाश्वतः । शरैरुपायैः सामादिभिरिव भृशमुपचितः प्रबृद्धो बभूव । अत्र शब्दमात्रसाधर्म्यात् प्रकृताप्रकृतश्लेषः । उपमेति केचित् ॥ ५२ ॥

दिवः पृथिव्याः ककुभां नु मण्डलात्पतन्ति विम्बादुत तिग्मतेजसः ।

सकृद्विकृष्टादथ कार्मुकान्मुनेः शराः शरीरादिति तेऽभिमेनिरे ५३

दिव इति ॥ शरा दिवोऽन्तरिक्षात् पृथिव्या भूगोलाद्वा ककुभां मण्डलान्नु दिशां मण्डलाद्वा, उत तिग्मतेजसोऽर्कस्य विम्बात् मण्डलाद्वा, अथ वा सकृद्विकृष्टात् कार्मुकाद्वा, मुनेः शरीराद्वा पतन्तीति ते गणा अभिमेनिरे ज्ञातवन्तः । अन्यथा कथममी विश्वमन्तर्धाय शराः संभाव्यन्त इति भावः । अत्र सर्वतः शरसंपातदर्शनत्वं संभावनया पृथिव्यादीनामन्यतमस्यापादानत्वोत्प्रेक्षा । सा च प्रतीयमाना व्यञ्जकाप्रयोगात् । ‘नु’शब्दादयस्तु संशये ॥ ५३ ॥

गणाधिपानामविधाय निर्गतैः परासुतां मर्मविदारणैरपि ।

जवादतीये हिमवानधोमुखैः कृतापराधैरिव तस्य पत्रिभिः ॥ ५४ ॥

गणेति ॥ मर्मविदारणैरपि । मर्मस्थानान्येव विदारयद्भिः पीत्यर्थः । गणाधिपानां परासुतां मरणं अविधायकृत्वा निर्गतैः । तेषाममर्त्यत्वादिति भावः । तस्य मुनेः पत्रिभिः शरैः कृतापराधैरिव स्वामिकार्याकरणात् सापराधैरिवेत्युत्प्रेक्षा । अधोमुखैः सद्भिः जवाद्धिमवानतीयेऽतिचक्रमे । तत्र प्रविष्टमित्यर्थः । लज्जितस्य क्वचिन्निलयनमुचितमिति भावः ॥ ५४ ॥

द्विषां क्षतीर्याः प्रथमे शिलीमुखा विभिद्य देहावरणानि चक्रिरे ।

न तासु पते विशिखैः पुनर्मुनेररुंतुदत्त्वं महतां ह्यगोचरः ॥ ५५ ॥

द्विषामिति ॥ प्रथमे । प्रथममुक्ता इत्यर्थः । शिलीमुखा मुनिशरा द्विषां देहावरणानि वर्माणि विभिद्य याः क्षतीः प्रहारान् चक्रिरे तासु क्षतिषु पुनः पश्चात्प्रयुक्तैर्मुनेर्विशिखैर्न पते न पतितम् । पिष्टपेषणदोषापातादिति भावः ।

तथा हि—अरुंतुदत्वं पीडितपीडनं महतां सतामगोचरोऽविषयं हि । सन्तः पीडितपीडां न कुर्वन्तीत्यर्थः । ‘न हन्याद्वयसनप्राप्तं नातं नातिपरिक्षतम्’ इति निषेधस्मरणादिति भावः । अरुर्वणं तुदतीति अरुंतुदः । ‘व्रणोऽस्त्रियामीर्ममरुः’ इत्यमरः । ‘विध्वरूपोस्तुदः’ इति खड्प्रत्ययः । ‘अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्’ इति मुमागमः ॥ ५५ ॥

समुज्झिता यावदराति निर्यती सहैव चापान्मुनिवाणसंहतिः ।

प्रभा हिमांशोरिव पङ्कजावलिं निनाय संकोचमुमापतेश्चमूम् ॥५६॥

समुज्झितेति ॥ यावन्तोऽरातयो यावदराति । ‘यावदवधारणे’ इत्यव्ययी-भावः । यावदराति यथा तथा समुज्झिताऽरातिसमसंख्यया मुक्ता मुनिचापा-त्सह संभूय एव निर्यती निष्क्रामन्ती । तादृक् तस्य कौशलमिति भावः । यातेः शतरि ङीप् । मुनिवाणसंहतिरुमापतेश्चमूं हिमांशोः प्रभा पङ्कजावलि-मिव संकोचं निनाय प्रापयामास । दुहादिपाठान्नयतिर्द्विकर्मकः ॥ ५६ ॥

अजिह्वमोजिष्ठममोघमक्लमं क्रियासु बह्वीषु पृथङ्गियोजितम् ।

प्रसेहिरे सादयितुं न सादिताः शरौघमुत्साहमिवास्य विद्विषः ५७

अजिह्वमिति ॥ अजिह्वं स्वरूपतो गत्या वाऽवक्रम् । अन्यत्र तु—जिह्वस्थान-प्रवृत्तो न भवतीत्यजिह्वस्तम् । ओजिष्ठमोजस्विनं सारवत्तमं तेजिष्ठं च । उभ-यत्रापि ‘ओजस्वि’शब्दाद्विन्नन्तादिष्ठन् । ‘विन्मतोर्लुक्’ इति लुक् । टिलोपश्च । अमोघमवन्ध्यं अक्लमं निरन्तरव्यापारेऽप्यश्रान्तं बह्वीषु क्रियासु छेदनभेदन-पातनादिकर्मसु पृथक् भेदेन नियोजितम् । कर्मानुगुण्येन विनियुक्तमित्यर्थः । अस्य मुनेः शरौघमुत्साहमौत्सुक्यमिव । वीररसस्य स्थायिभूतं प्रयत्नविशेष-मिवेत्यर्थः । सादिताः कर्षिता विद्विषः शत्रवः सादयितुं प्रतिकर्तुं न प्रसे-हिरे न शेकुः । तस्योत्साहवदेव शरवर्षं दुर्धर्ममभूदिति भावः ॥ ५७ ॥

शिवध्वजिन्यः प्रतियोधमग्रतः स्फुरन्तमुग्रेषुमयूखमालिनम् ।

तमेकदेशस्थमनेकदेशगा निदध्युरर्कं युगपत्प्रजा इव ॥ ५८ ॥

शिवेति ॥ अनेकदेशगा नानादेशस्थाः शिवध्वजिन्यो हरसेनाः । उग्रेषुवो मयूखा इवेत्युपमितसमासः । अन्यत्र तु,—उग्रेषुव इव मयूखा इति मयूरव्यंस-कादिस्वात्समासः । तेषां मालाऽस्यास्तीति तं उग्रेषुमयूखमालिनम् । व्रीह्यादि-त्वादिनिः । एकदेशस्थमेकत्रैव स्थितं तं मुनिमर्कं प्रजा इव युगपत् प्रतियोधं योधं योधं प्रति । ‘अव्ययं विभक्ति-’ इत्यादिना प्रत्यर्थे वीप्सायामव्ययीभावः । अग्रतः स्फुरन्तं निदध्युर्दृश्युः । यथैकोऽर्क एकत्रैव स्थितोऽपि नानादेश-स्थानामपि प्रतिपुरुषं ममेवाग्रे वर्तते इति युगपत् प्रतीयते तद्वद्वाणवर्षी मुनिरपि प्रतियोधं तथैव प्रत्यभादित्यर्थः ॥ ५८ ॥

मुनेः शरौघेण तदुग्ररंहसा बलं प्रकोपादिव विष्वगायता ।

विधूनितं भ्रान्तिमियाय सङ्गिनीं महानिलेनेव निदाघजं रजः ५९

मुनेरिति ॥ प्रकोपात् अमर्षादिव विष्वक् समन्तात् । आयताऽऽगच्छता, उग्ररंहसा तीव्रवेगेन मुनेः शरौघेणोक्तविशेषणेन । महानिलेन वास्यवा

निदाघजं ग्रीष्मोत्थं रज इव । विधूनितं व्याहतं तत् बलं प्रमथानां सैन्यं
सङ्गिनीमनुबन्धिनीम् । अविच्छिन्नामिति यावत् । भ्रान्तिमनवस्थानम् ।
इयाय प्राप ॥ ५९ ॥

अथ त्रिभिर्विशेषकमाह—

तपोबलेनैष विधाय भूयसीस्तनूरदृश्याः स्वदिंषून्निरस्यति ।

अमुष्य मायाविहतं निहन्ति नः प्रतीपमागत्य किमु स्वमायुधम् ॥

तप इत्यादि ॥ एष मुनिः । तपोबलेन तपःसामर्थ्येन भूयसीर्बह्वीः । अदृ-
श्यास्तनूरात्मनः शरीराणि विधाय सृष्ट्वा, इषून्निरस्यति स्वित् क्षिपति किम् ।
अथवा, अमुष्यास्य मुनेः । मायया विहतं प्रतिहतं स्वं स्वकीयमिव आयुधं
प्रतीपं प्रतिकूलम् । आगत्य । प्रत्यावृत्त्यर्थः । नोऽस्माकं निहन्ति किमु ।
'जासिनिप्रहण—' इत्यादिसूत्रेण कर्मणि षष्ठी । शेषाविवक्षायां तु द्वितीया ॥ ६० ॥

हता गुणैरस्य भयेन वा मुनेस्तिरोहिताः स्वित्प्रहरन्ति देवताः ।

कथं न्वमी संततमस्य सायका भवन्त्यनेके जलधेरिवोर्मयः ॥ ६१ ॥

हता इति ॥ यद्वा,—अस्य मुनेर्गुणैः शान्त्यादिभिः हता आकृष्टाः । वशीकृता
इति यावत् । भयेन दरेण वा । भयाद्विभ्यत्य एवेत्यर्थः । देवतास्तिरोहिताः
सत्यः प्रहरन्ति स्वित् । तत्कृतः । अन्यथा, अस्य मुनेः । अमी सायका जल-
धेरूर्मय इव कथं नु संततमनेकेऽसंख्या भवन्ति । एतच्चोद्यमन्यसपक्ष-
संभवेन न संभवतीत्यर्थः । ('एक'शब्दस्यैकशेषे कृते एक इति रूपमिति केचित् ।
'नु'शब्दस्त्वन्यार्थे) ॥ ६१ ॥

जयेन कच्चिद्विरमेदयं रणाद्भवेदपि स्वस्ति चराचराय वा ।

तताप कीर्णा नृपसूनुमार्गणैरिति प्रतर्काकुलिता पताकिनी ॥ ६२ ॥

जयेनेति ॥ कच्चिदयं रणाज्जयेन विरमेत् । अस्माञ्चित्वा कच्चिदयं युद्ध-
मुपसंहरेदित्यर्थः । अपि चराचराय स्वस्ति भवेत् कच्चित् । अपि स्थावरज-
ङ्गमं जगन्न विनश्येदित्यर्थः । 'अपि'शब्दः संभावनायाम् । प्रार्थनायां लिङ् । इति
प्रतर्काकुलिताः पूर्वोक्ता ये प्रतर्कास्तैः आकुलिता विह्वला । अत्र सहेतुकं
विशेषणमाह—नृपसूनुमार्गणैरर्जुनबाणैः कीर्णा क्षिप्ता पताकिनी सेना ।
किरातपतेरिति शेषः । तताप तापं प्राप ॥ ६२ ॥

अमर्षिणा कृत्यमिव क्षमाश्रयं मदोद्धतेनेव हितं प्रियं वचः ।

बलीयसा तद्विधिनेव पौरुषं बलं निरस्तं न रराज जिष्णुना ॥ ६३ ॥

अमर्षिणेति ॥ अमर्षिणा क्रोधवता क्षमाश्रयं शान्तिसाध्यं कृत्यमिव ।
क्षमासाध्यं हि कृत्यं सामर्षैर्निरस्यते, तच्च निरस्तं न शोभते । मदोद्धतेन
पुंसा हितं प्रियं वचो निरस्तं तिरस्कृतमिव । यथा बलीयसा बलवत्तरेण
विधिना दैवेन निरस्तं पौरुषमिव । बलीयसा दैवेन प्रतिहतपुरुषव्यापारस्य
निष्फलत्वादिति भावः । तथा जिष्णुनाऽर्जुनेन निरस्तं क्षिप्तं बलं किरातसैन्यं
न रराज । मालोपमा ॥ ६३ ॥

प्रतिदिशं पुत्रगाधिपलक्ष्मणा विशिखसंहतितापितमूर्तिभिः ।

रविकरग्लपितैरिव वारिभिः शिवबलैः परिमण्डलता दधे ॥ ६४ ॥

प्रतिदिशमिति ॥ पुत्रगानामधिपोऽधीशो लक्ष्म यस्य तेन वानरंचिह्नेन । 'कपिप्लवङ्गप्लवग-' इति, 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इति चामरः । अर्जुनेन विशिखसंहतितापितमूर्तिभिरिति । विशिखा बाणास्तेषां संहतयः समूहाः । 'स्त्रियां तु संहतिर्वृन्दम्' इत्यमरः । ताभिस्तापिताः पीडिता मूर्तयो देहा येषां तैस्तथाभूतैः । शरनिकरकर्तितकलेवरैरित्यर्थः । शिवबलैः प्रमथसैन्यैः कर्तृभिः, रविकरेण ग्लपितैः सूर्यकिरणशोषितैर्वारिभिरुदकैरिव प्रतिदिशं दिक्षु परिमण्डलता । परितश्चक्राकारमण्डलतेति यावत् । दधेऽधारि । प्रतिदिशं मण्डलाकारेण स्थितमित्यर्थः । धाजः कर्मणि लिट् । आतपतसं हि नीरं परिभ्रमति तद्वन्मुनिपीडितं सैन्यं बभ्रामेत्यर्थः । द्रुतविलम्बितं छन्दः—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ॥ ६४ ॥

प्रविततशरजालच्छन्नविश्वान्तराले

विधुवति धनुराविर्मण्डलं पाण्डुसूनौ ।

कथमपि जयलक्ष्मीभीतभीता विहातुं

विषमनयनसेनापक्षपातं विषेहे ॥ ६५ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये चतुर्दशः सर्गः ।

प्रविततेति ॥ प्रविततानि विस्तृतानि यानि शरजालानि तैः छन्नमाच्छादितं विश्वान्तरालं येन तस्मिञ्छरसमूहपूरितब्रह्माण्डोदरे पाण्डुसूनौ अत एव आविर्मण्डलमाविर्भूतमण्डलं धनुः । आविर्भूतं मण्डलं यस्य धनुष इति वृत्तौ भूतार्थस्यानुप्रवेशात् 'भूत'शब्दस्याप्रयोगः । विधुवति कम्पयत्यास्फालयति सति भीतभीतेव भीतप्रकारेव जयलक्ष्मीर्विजयश्रीः कथमपि केनचित्प्रकारेण । महता कष्टेन वा । विषमनयनसेनापक्षपातं शिवसैन्यानुरागं विहातुं त्यक्तुं विषेहे । शशाकेत्यर्थः । मालिनीवृत्तम् । लक्षणं तूक्तम् ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-
काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां चतुर्दशः सर्गः समाप्तः ॥

पञ्चदशः सर्गः ।

अथ भूतानि वार्त्रघ्नशरेभ्यस्तत्र तत्रसुः ।

भेजे दिशः परित्यक्तमहेष्वासा च सा चमूः ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथानन्तरम् । तत्र रणे भूतानि सर्वप्राणिनः । वृत्रं हतवानिति वृत्रहेन्द्रः । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' । तस्यापत्यं पुमान् वार्त्रघ्नोऽर्जुनः । 'तस्यापत्यम्'

१ 'शिवगणैः' इति पाठः. २ 'आददे' इति पाठः. ३ 'प्रमहति शर' इति पाठः.

४ 'भीतेव हातुम्' इति पाठः.

इत्यप्रत्ययः । तस्य शरेभ्यस्तत्रसुर्विभ्युः । 'वा जृभ्रमुत्रसाम्' इति विकल्पा-
देत्वाभ्यासलोपाभावः । सा चमूश्च । इषवोऽस्यन्त एभिरितीष्वासा धनूंषि ।
'धनुश्चापोऽस्त्रमिष्वासः' इति हेमचन्द्रः । 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति
करणे घञ् । परित्यक्ता महान्त इष्वासा यथा सा । परित्यक्तायुधेत्यर्थः ।
दिशो भेजे । पलायांचक्र इत्यर्थः । अत्र भूतत्राससेनापलायनयोः समुच्चय-
कथनाद्भिन्नविषयः क्रियासमुच्चयोऽलंकारः । 'गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः' इति
सामान्यलक्षणम् । तस्य यमकेन संसृष्टिः ॥ १ ॥

अपश्यद्भिरिवेशानं रणान्निवृत्ते गणैः ।

मुह्यत्येव हि कृच्छ्रेषु संभ्रमज्वलितं मनः ॥ २ ॥

अपश्यद्भिरिति ॥ गणैः प्रमथैः । ईशानं स्वामिनं शिवम् । पुरोवर्तिनमिति
भावः । अपश्यद्भिरिव रणान्निवृत्ते निवृत्तम् । भावे लिट् । तथा हि—
कृच्छ्रेषु आपत्सु संभ्रमेण साध्वसेन उ्वलितं तप्तम् । 'संभ्रमः साध्वसेऽपि
स्यात्' इति विश्वः । मनो मुह्यत्येव । अतः पुरोवर्तिनोऽप्यदर्शनमुपपद्यत इति
भावः ॥ २ ॥

खण्डिताशंसया तेषां पराङ्मुखतया तथा ।

आविवेश कृपा केतौ कृतोच्चैर्वानरं नरम् ॥ ३ ॥

खण्डितेति ॥ खण्डिता ध्वस्ता आशंसा जयाशा यस्यास्तया तेषां गणानां
संबन्धिन्या तथा । अतिसंनिकृष्टयेत्यर्थः । पराङ्मुखतया रणवैमुख्येन । पला-
यनेनेत्यर्थः । केतौ ध्वजे कृत आरोपित उच्चैरुन्नतो वानरो हनूमान् येन तं नरं
पुरुषम् । कपिध्वजमित्यर्थः । कृपा करुणा । आविवेश । तदीयदुर्दशां दृष्ट्वा स
कृपाविष्टोऽभूदित्यर्थः । यमकालंकारः ॥ ३ ॥

ननु शत्रुषु कथं करुणा तत्राह—

आस्थामालम्ब्य नीतेषु वशं क्षुद्रेष्वरातिषु ।

व्यक्तिमायाति महतां माहात्म्यमनुकम्पया ॥ ४ ॥

आस्थामिति ॥ आस्थां यत्नमालम्ब्य । 'आस्था त्वालम्बनास्थानयत्नापेक्षासु
कथ्यते' इति विश्वः । वशं नीतेषु क्षुद्रेषु दुष्टेषु अरातिषु शत्रुषु विषयेऽनु-
कम्पया कृपया महतां वीराणां माहात्म्यं महानुभावत्वं व्यक्तिं स्फुटताम् ।
आयाति प्राप्नोति । स्वपौरुषनिर्जितेष्वरातिष्वपि करुणा भूषणमेव महतामिति
भावः ॥ ४ ॥

स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययाययः ।

ललौ लीलां ललोऽलोलः शशीशशिशुशीः शशन् ॥ ५ ॥

(एकाक्षरपादः ।)

स सासिरिति ॥ सहासिना वर्तमानः सासिः सखङ्गः असून् सुवन्ति प्रेरयन्ती-
त्यसुसुवो बाणाः । 'पू प्रेरणे' इति धातोः 'सत्सूद्विष-' इत्यादिना क्तिप् । असु-
सूभिः सह वर्तत इति सासुसूः सबाणः । अस्यन्ते क्षिप्यन्ते शरा अनेनेत्यासो
धनुः । 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति घञ् । आसेन सह वर्तत इति सासः
सचापः । सर्वत्र 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । येया यातव्या यान-

साध्याः अयेया अयातव्या यानं विनैव साध्याः । 'भचो यत्' इति यत्प्रत्ययः ।
येयाश्च अयेयाश्च येयायेयाः, तेषां द्वयानामाये स्वर्णगजादिलाभे याति प्राप्नोतीति
येयायेयायः । अयः शुभावहदैवं यातीत्यययः । येयायेयाययश्चासौ अययश्चेति
येयायेयाययाययः । याधातोर्भयत्रापि 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः ।
अतो ललति विलसतीति ललः । 'लल विलासे' पचाद्यच् । अलोलोऽचपलः ।
शशिन ईशः शिवस्तस्य शिशुः स्कन्दस्तं शृणाति हिनस्तीति शशीशशिशुशीः ।
क्विप् । शशन् हुतगतिं कुर्वन् । 'शश हुतगतौ' इति धातोः शतृप्रत्ययः । सोऽर्जुनो
लीलां शोभां ललौ प्राप । 'ला आदाने' कर्तरि लिट् ॥ ५ ॥

त्रासजिह्वं यतश्चैतान् मन्दमेवान्वियाय सः ।

नातिपीडयितुं भग्नानिच्छन्ति हि महौजसः ॥ ६ ॥

त्रासेति ॥ सोऽर्जुनः । त्रासजिह्वं भयक्लिष्टं यथा तथा यतो गच्छतः ।
पलायमानानित्यर्थः । एतान् गणान् मन्दमेव । अन्वियायानुजगाम । तथा
हि—महौजसो महानुभावा भग्नानतिपीडयितुं नेच्छन्ति ॥ ६ ॥

अथाग्रे हसता साचिस्थितेन स्थिरकीर्तिना ।

सेनान्या ते जगदिरे किञ्चिदायस्तचेतसा ॥ ७ ॥

(निरौष्ठ्यम् ।)

अथेति ॥ अथाग्रे । बलानामित्यर्थः । हसता तद्गङ्गदर्शनात्स्मयमानेन सा-
चिस्थितेन तन्निवारणाय तिर्यग्व्यवस्थितेन । 'तिर्यगर्थे साचि तिरः' इत्यमरः ।
स्थिरकीर्तिना । स्वयमभङ्गत्वादिति भावः । किञ्चिदीषत् आयस्तं खिन्नं चेतो
यस्य तेन स्वकीयगणभङ्गादीषत्खिन्नचित्तेन सेनान्या स्कन्देन । 'पार्वतीनन्दनः
स्कन्दः सेनानीरग्निभूर्गुहः' इत्यमरः । ते गणाः प्रमथादयो जगदिर उक्ताः ।
ओष्ठ्यवर्णाभावान्निरौष्ठ्यमेतत् ॥ ७ ॥

अथैकविंशतिभिः श्लोकैः स्कन्दवाक्यमेवाह—

मा विहासिष्ट समरं समरन्तव्यसंयतः ।

क्षतं क्षुण्णासुरगणैरगणैरिव किं यशः ॥ ८ ॥

(पादान्तादियमकम् ।)

मा विहासिष्टेत्यादि ॥ रन्तव्यं रमणं क्रीडा । बहुलग्रहणाद्भावे तव्य-
प्रत्ययः । संयद्युद्धम् । 'समुदायः स्त्रियः संयत्समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः ।
समे रन्तव्यसंयती येषां ते समरन्तव्यसंयतः तुल्यक्रीडासंगरा इति तेषां
संबोधनम् । यूयं समरं सङ्ग्रामं मा विहासिष्ट न त्यजत । जहातेर्माङ्ङि लुङ् ।
मध्यमबहुवचनम् । क्षुण्णाः पराजिता असुरगणा यैस्तैः । भवन्निरिति शेषः ।
अगणैरिव गणेभ्योऽन्यैरिव किं किमर्थं यशः क्षतं नाशितम् । नैतद्युक्तं
महाशूराणां भवादृशानामित्यर्थः ॥ ८ ॥

विवस्वदंशुसंश्लेषद्विगुणीकृततेजसः ।

अमी वो मोघमुद्गूर्णा हसन्तीव महासयः ॥ ९ ॥

विवस्वदिति ॥ विवस्वदंशुसंश्लेषेण सूर्यकिरणसंपर्केण द्विगुणीकृतानि
उत्तेजितानि तेजांसि येषां ते तथोक्ता मोघं व्यर्थं उद्गूर्णा उद्यताः । 'गुरी उद्य-

मने' इति धातोः कर्मणि क्तः । वो युष्माकम् । अमी महासयः खड्गा हसन्तीवेत्युत्प्रेक्षा । किं पलायमानानां खड्गैरिति हासः ॥ ९ ॥

वनेऽवने वनसदां मार्गं मार्गमुपेयुषाम् ।

वाणैर्वाणैः समासक्तं शङ्केऽशं केन शाम्यति ॥ १० ॥

(पादादियमकम् ।)

वन इति ॥ वनसदां वनेचरणाम् । अवने रक्षके वने मार्गं मृगसंबन्धिनं मार्गं पन्थानम् । उपेयुषाम् । पलायमानानामित्यर्थः । युष्माकमिति शेषः । वाणो ध्वनिरेषामस्तीति तैर्वाणैर्ध्वनियुक्तैः । 'वण संशब्दने' इति धातोर्धञ् । ततः 'अर्शआदिभ्यः—' इत्यचप्रत्ययः । यमकत्वाद्भवयोरभेदः । उक्तं च—'रलयो-र्दलयोस्तद्गजययोर्भवयोरपि । शसयोर्मनयोश्चान्ते सविसर्गाविसर्गयोः । सविन्दु-काविन्दुकयोः स्यादभेदेन कल्पनम् ॥' इति । वाणैः शरैः समासक्तं समास-ञ्जितं अशं दुःखं तत् केन शाम्यतीति शङ्के । केनोपायेन शाम्येदिति विचारयामीत्यर्थः ॥ १० ॥

पातितोत्तुङ्गमाहात्म्यैः संहतायतकीर्तिभिः ।

गुर्वी कामापदं हन्तुं कृतमावृत्तिसाहसम् ॥ ११ ॥

पातितेति ॥ पातितं भ्रंशितं उत्तुङ्गमाहात्म्यमुन्नतभावो यैस्तैः संहता आहता आयता विस्तृताः कीर्तयो यैस्तैः । युष्माभिरिति शेषः । कां गुर्वीमा-पदं हन्तुम् । न कांचिदपीत्यर्थः । आवृत्तिर्युद्धान्निवृत्तिः सैव साहसं कृतम् । अतः पापादन्यन्न किञ्चित्फलमस्तीति भावः । तदुक्तं मनुना—'यस्तु भीतः परा-वृत्तः सङ्ग्रामे हन्यते परैः । भर्तुर्यदुष्कृतं किञ्चित्त्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् । भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥' इति ॥ ११ ॥

नासुरोऽयं न वा नागो धरसंस्थो न राक्षसः ।

ना सुखोऽयं नवाभोगो धरणिस्थो हि राजसः ॥ १२ ॥

(गोमूत्रिकाबन्धः ।)

नेति ॥ किञ्च, अयमसुरो दैत्यो न । नागो नागराजो वा पन्नगश्च न । धर इव संस्था यस्य स धरसंस्थः पर्वताकारः । 'अहार्यधरपर्वताः' इत्यमरः । 'संस्था व्यवस्थाप्रणिधिसमाप्त्याकारमृत्युषु' इति वैजयन्ती । राक्षसो न । किंतु अयं सुखयतीति सुखः । सुखसाध्य इत्यर्थः । नवाभोगोऽभिनवप्रयत्नः । महोत्साह इत्यर्थः । 'आभोगो वरुणच्छत्रे पूर्णतायत्नयोरपि' इति विश्वः । धर-णिस्थो भूतलचारी राजसो रजोगुणप्रधानो ना पुरुषो हि । कश्चिन्मानुष इत्यर्थः । 'पुरुषाः पूरुषा नरः । मनुष्या मानुषा मर्त्या मनुजा मानवा नराः' इत्यमरः । अतो न पलायनमुचितमिति भावः । गोमूत्रिकाबन्धः—'वर्णानामेक-रूपत्वं यद्येकान्तरमर्धयोः । गोमूत्रिकेति तत्प्राहुर्दुष्करं तद्विदो विदुः ॥' इति लक्षणात् । षोडशकोष्ठद्वयेऽर्धद्वयं क्रमेण विलिख्यैकान्तरविनिमयेन वाचने श्लोकनिष्पत्तिरित्युद्धारः ॥ १२ ॥

मन्दमस्यन्निपुलतां घृणया मुनिरेष वः ।

प्रणुदत्यागतावज्ञं जघनेषु पशूनिव ॥ १३ ॥

मन्दमिति ॥ एष मुनिर्घृणया कृपया । इषुं लतां शाखामिव मन्दमस्यन्
क्षिपन् वो युष्मान् पशूनिवागतावज्ञं यथा तथा जघनेषु प्रणुदति
चोदयति । किमतः परं कष्टमस्तीति भावः ॥ १३ ॥

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु ।

नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥ १४ ॥

(एकाक्षरः ।)

नेति ॥ पदच्छेदस्तावत्—न ना ऊननुन्नः नुन्नोनः ना अना नानाननाः ननु ।
नुन्नः अनुन्नः ननुन्नेनः ना अनेनाः नुन्ननुन्ननुत् ॥ अथ योजना—हे नानानना
नानाप्रकाराण्यनानानि येषां ते । नानाविधास्या इत्यर्थः । ऊनेन निकृष्टेन नुन्नो
विद्ध ऊननुन्नो यः स ना न पुरुषो न । तथा नुन्न ऊनो येन स नुन्नोनो ना
पुरुषोऽना ननु अपुरुषः खलु । ऊनाद्धीतः पलायमानस्तु किं वक्तव्यमिति भावः ।
किंच, नुन्न इनः स्वामी यस्य स नुन्नेनः । स न भवतीति ननुन्नेनः । नञर्थस्य
'न'शब्दस्य सुप्सुपेति समासः । स नुन्नो विद्धोऽपि अनुन्नोऽविद्ध एव । यूय-
मनुन्नस्वामिकत्वादनुन्ना एवेति भावः । तथा नुन्ननुन्ननुदतिशयेन नुन्ना नुन्ननुन्ना-
स्तानुदतीति नुन्ननुन्ननुत् । अतिपीडितपीडको ना पुरुषोऽनेना निर्दोषो न
भवतीति, किंतु सदोष एवेति । 'नार्तं नातिपरिक्षतम्' इति निषेधादित्यर्थः । अयं
तु नैतादृश इति न पलायितव्यमिति भावः । अयमेकव्यञ्जनः । अन्त्यस्तकारस्तु
न दोषावहः, 'नान्त्यवर्णस्तु भेदकः' इत्यभ्यनुज्ञानात् ॥ १४ ॥

वरं कृतध्वस्तगुणादत्यन्तमगुणः पुमान् ।

प्रकृत्या ह्यमणिः श्रेयान्नालंकारश्च्युतोपलः ॥ १५ ॥

वरमिति ॥ कृताः पूर्वमुत्पादिताः पश्चाद्धस्ता नष्टास्ते कृतध्वस्ताः । 'पूर्वकाल-'
इत्यादिना समासः । कृतध्वस्ता गुणा यस्य तस्मात् पुंसः । अत्यन्तमतिशये-
नागुणो निर्गुणः पुमान् वरं मनाकिप्रयः । किंचित्प्रिय इत्यर्थः । 'वरं क्लीबं मना-
किप्रये' इत्यमरः । तथा हि—प्रकृत्या स्वभावेन । अमणिर्मणिरहितोऽलंकारः
श्रेयान् । च्युतोपलो अष्टरत्नो न श्रेयान् । 'उपलः प्रस्तरे रत्ने' इति विश्वः ।
पलायितुः समरादसमर एव वरमिति भावः । अत्र समानविषयारोपयोः प्रति-
विम्बकरणाद्दृष्टान्तालंकारः ॥ १५ ॥

स्यन्दना नो चतुरगाः सुरेभा वाविपत्तयः ।

स्यन्दना नो च तुरगाः सुरेभा वा विपत्तयः ॥ १६ ॥

(समुद्रकः ।)

स्यन्दना इति ॥ स्यन्दन्ते प्रद्रवन्तीति स्यन्दना जवनाः । स्यन्दना रथा नो
सन्ति । नन्धादित्वाल्हयुः । चतुरं गच्छन्तीति चतुरगाः । तुरगाश्च अश्वा नो
सन्ति । सुरेभाः शोभनबृंहणाः । सुरेभा वा सुरगजाश्च नो सन्ति । अविप-
त्तयो विपत्तिरहिताः विपत्तयो वा विशिष्टाः पदातयो नो सन्ति । अतो न भेत्-
व्यमिति भावः । अत्र पूर्वोत्तरार्धगतानां विशेषणानां विशेष्याणां चोद्देशोद्देश्यी-
भूतानां यथासंख्यसंबन्धानुक्रममाद्यथासंख्यालंकारो यमकेन संसृष्टः ॥ १६ ॥

भवद्भिरधुनारातिपरिहापितपौरुषैः ।

हृदैरिवार्कनिष्पीतैः प्राप्तः पङ्को दुरुत्तरः ॥ १७ ॥

भवद्भिरिति ॥ अधुनाऽरातिभिः परिहापितानि त्याजितानि पौरुषाणि
यैस्तैर्भवद्भिः । अर्कनिष्पीतैर्केण संशोपितैर्हृदैरिव । दुरुत्तरो दुस्तरः पङ्क
इव पङ्को दुष्कीर्तिरूपः प्राप्तः ॥ १७ ॥

वेत्रशाककुजे शैलेऽलेशैजेऽकुकशात्रवे ।

यात किं विदिशो जेतुं तुंजेशो दिवि किंतया ॥ १८ ॥

(प्रतिलोमानुलोमपादः ।)

वेत्रेति ॥ वेत्राणि वंशाः फलिन्यो वा शाका बर्बराश्च कुजा वृक्षा यस्मिंस्तस्मिन्
वेत्रशाककुजे । शत्रुणा दुःप्रवेश्य इत्यर्थः । 'वेत्रं वंशफलिन्योश्च' इति विश्वः ।
'शाकबर्बरवर्धकाः' इत्यमरः । लेशेन स्तोकेनाप्येजते कम्पत इति लेशैजः । स न
भवतीति अलेशैजस्तस्मिन् । अत्यन्ताकम्पन इत्यर्थः । 'एज् कम्पने' । पचाद्यच् ।
न कोकते नादत्त इत्यकुको ग्रहणासमर्थः शात्रवो यस्मिंस्तस्मिन् अकुकशात्रवे ।
'कुक आदाने' । पचाद्यच् । शैले पर्वते । केषां भावः किंता कुत्सितता तयो-
पलक्षिताः सन्तः । 'कुत्साप्रश्रवितर्केषु क्षेपे किंशब्द इष्यते' इति शाश्वतः ।
विदिशो जेतुं यात गच्छत किम् । यातेः संप्रश्ने लोट् । मध्यमपुरुषबहुवच-
नम् । दिवि स्वर्गेऽपि । तुंजेश इति तेषां संबोधनम् । तुजन्त इति तुजा
हिंसका दैत्याः । 'तुजि हिंसायाम्' पचाद्यच् । तेभ्यो दैत्येभ्य ईशत इति तुंजेशः ।
ईशेः क्तिप् । तेभ्योऽपि शक्ता इत्यर्थः । स्वर्गेऽप्यसुरविजयिनां युष्माकमेव क्षुद्र-
स्थले क्षुद्रशत्रौ पलायनमनुचितमिति भावः ॥ १८ ॥

अथेशे तिष्ठति पलायनमेतद्वो न युक्तमित्याह—

अयं वः क्लैब्यमापन्नान् दृष्टपृष्ठानरातिना ।

इच्छतीशश्च्युताचारान् दारानिव निगोपितुम् ॥ १९ ॥

अयमिति ॥ अयमीशः स्वामी शिवः क्लैब्यं निष्पौरुषत्वम् । आपन्नान्
प्राप्तांस्तथा अरातिना दृष्टपृष्ठान् । पलायमानानित्यर्थः । वो युष्मान् च्युता-
चारान् स्वलितव्रतान् दारान् कलत्राणीव । 'अथ पुंभूश्चि दाराः' इत्यमरः ।
निगोपितुं गोप्तुम् । ऊदित्वादिङ्गिकल्पः । दारदोषं भर्तव स्वमहिम्ना युष्मदोषं
संवरितुम् । इच्छति । अतः कुतो युष्माकमनर्थ इत्यर्थः ॥ १९ ॥

ननु हो मथना राघो घोरा नाथमहो नु न ।

तयदातवदा भीमा माभीदा बत दायत ॥ २० ॥

(प्रतिलोमानुलोमार्धः ।)

नन्विति ॥ 'ननु' इत्यामन्त्रणे । 'हो' इत्याह्वाने । 'हे है व्यस्तौ समस्तौ च
हूतिसंबोधनार्थयोः । हो हौ चैवंविधौ ज्ञेयो संबुद्ध्याह्वानयोरपि' इति विश्वः ।
मथन्तीति मथनाः । 'मथ विलोडने' कर्तरि ल्युट् । राघन्ति समर्था भव-
न्तीति राघः । 'राघृ सामर्थ्ये' । क्तिप् । घोराः क्रूराः । शत्रूणामिति भावः ।
नाथं महयन्ति पूजयन्तीति नाथमहः । दृशिग्रहणात्कर्मण्युपपदे क्तिप् । तयन्ति
रक्षन्तीति तथा रक्षकाः । पचाद्यच् । दायन्तीति दाताः शुद्धाः । 'दैप् शोधने'

१ 'वाञ्छति' इति पाठः. २ 'विगोपितुम्' इति पाठः.

कर्तरि क्तः । वदन्तीति वदा वक्तारः । पचाद्यच् । तेषां द्वन्द्वः तयदातवदाः । भीमा भयंकराः । माभीः । नजर्थ'मा'शब्दस्य सुप्सुपेति समासः । तां ददतीति माभीदा अभयप्रदाः । एवंविधा यूयमिति शेषः । 'वत' इति खेदे । बवयोरभेदः । न दायत नु न शुद्धाः किम् । 'नु' पृच्छायाम् । किंतु शुद्धा एव । न काकुरत्रानुसंधेया । 'दैप् शोधने' लोट् मध्यमपुरुषबहुवचनम् ॥ २० ॥

किं त्यक्तापास्तदेवत्वमानुष्यकपरिग्रहैः ।

ज्वलितान्यगुणैर्गुर्वी स्थिता तेजसि मानिता ॥ २१ ॥

किमिति ॥ अपास्तोऽवधीरितो देवत्वमानुष्यकयोः परिग्रहः स्वीकारो यैस्तैः । अतिदेवमानुषैरित्यर्थः । मनुष्याणां भावो मानुष्यकम् । 'योपधाद्गुरुपोत्तमाद्गुञ्' । ज्वलितान्यगुणैः ज्वलिता उज्वलिताः । प्रकाशिता इति यावत् । अन्यगुणा असदृशगुणा यैस्तैः । 'अन्यौ विभिन्नासदृशौ' इति वैजयन्ती । ईदृशैः । भवद्भिरिति शेषः । तेजसि प्रतापे स्थिता प्रतापैकशरणा मानिता शूरत्वाभिमानिता किमिति त्यक्ता । किमिति निर्लज्जैः पलाय्यत इति भावः ॥ २१ ॥

निशितासिरतोऽभीको न्येजतेऽमरणा रुचा ।

सारतो न विरोधी नः स्वाभासो भरवानुत ॥ २२ ॥

निशितेति ॥ हे अमरणा मरणरहिताः, निशितासिरतोऽतितीक्ष्णखङ्गरतः । अभीको निर्भीकः । रुचा तेजसोपलक्षितः सुष्टुभासत इति स्वाभासो रमणीयः पचाद्यच् । उतात्यर्थमतिशयेन भरवान् । रणभरसहिष्णुरित्यर्थः । 'उतात्यर्थविकल्पयोः' इति विश्वः । ईदृशो नोऽस्माकं विरोधी शत्रुः सारतो बलतो न न्येजते न कम्पते । न प्रचलतीत्यर्थः । 'एजृ कम्पने' । लट् । अतो भवद्भिरपि स्थातव्यमेव । न चलितव्यमिति भावः ॥ २२ ॥

नन्वयं न चलतीति कथं ज्ञायते, तत्राह—

तनुवारभसो भास्वानधीरोऽविनतोरसा ।

चारुणा रमते जन्ये कोऽभीतो रसिताशिनि ॥ २३ ॥

(प्रतिलोमानुलोमेन श्लोकद्वयम् ।)

तन्विति ॥ तनुमावृणोत्याच्छादयतीति तनुवारं वर्म । कर्मण्यण् । तेन बभस्ति भासत इति तनुवारभसः । 'भस दीप्तौ' । पचाद्यच् । भास्वान् तेजस्वी चारुणा भास्वताऽविनतेनोन्नतेन । उरसा वक्षःस्थलेनोपलक्षितः । एवंविधोऽपि अधीरो धैर्यरहितो रसितेन शब्दितेनैवाश्नाति ग्रसतीति रसिताशी तस्मिन् । रवेणैव विश्वप्राणहारिणीत्यर्थः । आभीक्ष्ये णिनिः । जन्ये युद्धे । 'युद्धमायोधनं जन्यम्' इत्यमरः । अभीतो निर्भीकः सन् को रमते कः क्रीडति । यदि रमते तर्ह्ययमेवेति भावः । निर्भयसंचारादेवास्य निश्चलत्वं निश्चीयत इत्यर्थः । पूर्वश्लोकस्यायं प्रतिलोमः ॥ २३ ॥

अथ पञ्चभिः कुलकमाह—विभिन्नेत्यादिभिः ॥

विभिन्नपातिताश्वीयनिरुद्धरथवर्त्मनि ।

हतद्विर्पनगष्ट्यूतरुधिराम्बुनदाकुले ॥ २४ ॥

आहवं विशिनष्टि—विभिन्नानि विदारितान्यत एव पातितान्यश्वीया
अश्वसमूहाः । पूर्वकाल— इति समासः । तैरश्वसमूहैर्निरुद्धानि रथानां वर्त्मनि
यस्मिंस्तथोक्ते । 'वृन्दे त्वश्वीयमाश्ववत्' इत्यमरः । 'केशाश्वभ्यां यञ्छावन्यतर-
स्याम्' इति छप्रत्ययः । हतास्ताडिता द्विपा गजा एव नगाः शैलाः । 'शैल-
वृक्षौ नगावगौ' इत्यमरः । तैः ष्ट्यूतानि उज्झितानि । धीवतेः कर्मणि क्तः ।
'द्वोः शूडनुतासिके च' इत्यूटादेशः । तानि रुधिराण्येवाम्बूनि तेषां नदैः
प्रवाहैराकुले व्यासे ॥ २४ ॥

देवाकानिनि कावादे वाहिकास्वस्वकाहि वा ।

काकारेभभरे काका निस्वभव्यव्यभस्वनि ॥ २५ ॥

(सर्वतोभद्रः ।)

देवेति ॥ पुनश्च, देवानाकनयत्युदीपयत्युत्साहयतीति देवाकानी तस्मिन्
देवाकानिनि । 'कन दीप्तौ' इति धातोर्ण्यन्ताणिनिः । यद्वा,—कै शब्दे
इति धातोराङ्पूर्वस्य भावे ल्युटि आकानं आशब्दनमीषद्वदनमिति यावत् ।
देवानां तद्वतीत्यर्थः । कावाद् ईषद्वादो वाक्कलहः । 'ईषदर्थे' इति 'कु'शब्दस्य
कादेशः । तद्वति कावादे । अर्शआदिभ्योऽच् । वाहिका पर्यायेण रणभारोद्-
हनम् । वहेः पर्याये धात्वर्थनिर्देशे ण्वुत्वक्तव्यः । वाहिकया क्रमप्राप्तरणक्रियया
सुष्टु शोभनं यथा तथाऽस्वकान् परानाजिहीतेऽभियुक्ते । योजयतीति यावत् ।
वाहिकास्वस्वकाहास्तस्मिन् । योद्धधर्मो युद्ध उपचर्यते । 'ओहाङ् गतौ' इति
धातोर्विच्प्रत्ययः । 'सोमपा'शब्दवत्प्रक्रिया । 'वा'शब्दश्चार्थे । कं मदोदकमा-
क्रिरन्तीति काकारा मदस्त्राविणः । किरतेराङ्पूर्वात्कर्मण्यण् । एवंविधा इभभरा
गजघटा यत्र तस्मिन् काकारेभभरे । काका इव काका गर्ह्या इति लक्षणया
तेषामामन्त्रणम् । निस्वा निरुत्साहा भव्याः सोत्साहास्तानुभयान्वययन्ति संवृ-
ण्वन्तीति निस्वभव्यव्याः 'व्येञ् संवरणे' । 'आतोऽनुपसर्गे कः' । तैर्बभस्ति
भासत इति निस्वभव्यव्यभस्वांस्तस्मिन् । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति कनिप् ।
सर्वतो भ्रमणात्मसर्वतोभद्राख्यश्चित्रबन्धः । यथाह दण्डी—'तदिदं सर्वतोभद्रं
भ्रमणं यदि सर्वतः' इति । उद्धारस्तु—चतुष्कोष्ठे चतुरङ्गबन्धक्रमेणाद्यपङ्क्तिचतुष्टये
पादचतुष्टयं विलिख्यानन्तरपङ्क्तिचतुष्टयेऽप्यधः क्रमेण पादचतुष्टयलेखने प्रथमासु
चतसृषु पङ्क्तिषु प्रथमः पादः सर्वतो वाच्यते, द्वितीयादिषु द्वितीय इत्यादि ॥ २५ ॥

प्रनृत्तशववित्रस्तुरगाक्षिप्तसारथौ ।

मारुतापूर्णतूणीरविक्रुष्टहतसादिनि ॥ २६ ॥

प्रनृत्तेति ॥ प्रनृत्तशवेभ्यो नृत्यत्कबन्धेभ्यो वित्रस्तैः क्षुभितैस्तुरगैराक्षिप्ता
अवधूताः सारथयो यत्र तस्मिन् । तथा मारुतेनापूर्णैर्व्यासैस्तूणीरानिपङ्क्तिर्वि-

१ 'निभिन्न' इति पाठः. २ 'द्विपाङ्गनिष्ठयूत' इति पाठः.

कुष्ठाः शब्दायमाना हतास्ताडिताः सादिनस्तौरङ्गिका यत्र तस्मिन् । पाठान्तरे मारुतापूर्णतूणिरैर्विकृष्टा आकर्षिता अत एव हता मारिताः सादिनोऽश्ववारा यत्र तस्मिन् ॥ २६ ॥

ससच्चरतिदे नित्यं सदरामर्पनाशिनि ।

त्वराधिककसन्नादे रमकत्वमकर्षति ॥ २७ ॥

(अर्धभ्रमकः ।)

ससच्चेति ॥ ससत्त्वानां सत्त्ववतां रतिदे रागप्रदे नित्यं सदराणां सभयानाममर्पनाशिनि क्रोधहारिणि त्वरयोत्साहेन अधिकं कसन्तो विकसन्तो नादा यत्र तस्मिन् । रमयतीति रमकः । रमधातोर्बुञ् । तस्याकादेशः तद्भावो रमकत्वम् । रणकर्मणा पररञ्जकत्वम् । अकर्षत्यपनुदति । वीराणां परस्परमुत्साहं रणकर्मणा स्फोरयतीत्यर्थः ॥ २७ ॥

आसुरे लोकवित्रासविधायिनि महाहवे ।

युष्माभिरुन्नतिं नीतं निरस्तमिह पौरुषम् ॥ २८ ॥

आसुर इति ॥ एवंविध आसुरेऽसुरसंबन्धिनि लोकवित्रासविधायिनि लोकभयंकरे महाहवे महायुद्धे युष्माभिरुन्नतिं वृद्धिं नीतं प्रापितं पौरुषं पुरुषकर्म निरस्तं नाशितम् । इह सङ्ग्रामे । कुलकम् ॥ २८ ॥

इति शासति सेनान्यां गच्छतस्ताननेकधा ।

निषिध्य हसता किञ्चित्तस्थे तत्रान्धकारिणा ॥ २९ ॥

(निरौघ्रम् ।)

इतीति ॥ इति इत्थं सेनान्यां स्कन्दे शासत्याज्ञापयति । अनेकधा गच्छतः पलायमानांस्तान्गणान्निषिध्य निषार्य, अन्धकारिणा हरेण किञ्चिद्दसता तस्थे स्थितम् । भावे लिट् ॥ २९ ॥

मुनीपुद्गहनातप्तौल्लङ्गया निविवृत्सतः ।

शिवः प्रह्लादयामास तान्निषेधहिमाम्बुना ॥ ३० ॥

मुनीति ॥ मुनेरिषव एव दहनस्तेनाऽऽतप्तान् पीडितांस्तथा लङ्गया रणभङ्गाच्छालीनत्वेन निविवृत्सतो निवर्तितुकामान् । 'वृच्च्यः स्यसनोः' इति विकल्पात्परस्मैपदम् । तान् गणान् शिवो निषेधो मा भेष्ट मा पलायतेति निवारणवचनं स एव हिमाम्बु शीतोदकं तेन । प्रह्लादयामास । रूपकालंकारः ॥३०॥

दूनास्तेऽरिबलादूना निरेभा बहु मेनिरे ।

भीताः शितशराभीताः शंकरं तत्र शंकरम् ॥ ३१ ॥

(पादाद्यन्तयमकम् ।)

दूना इति ॥ दूनाः शरतप्ताः । 'ल्लादिभ्यः' इति निष्ठानत्वम् । अरिबलात् शत्रुबलात् । ऊना ऊनबलाः । 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । निरेभा

निःशब्दाः । कुतः । भीतास्त्रस्ताः । कुतः । यतः शितैस्तीक्ष्णैः शरैरभीता अभि-
व्यासाः । इणः कर्मणि क्तः । ते गणास्तत्र रणे शंकरमभयवचनेन सुखकरं
शंकरं शिवं बहु यथा तथा मेनिरेऽमन्यन्त ॥ ३१ ॥

महेषुजलधौ शत्रोर्वर्तमाना दुरुत्तरे ।

प्राप्य पारमिवेशानमाशश्वास पताकिनी ॥ ३२ ॥

महेष्विति ॥ दुरुत्तरे दुस्तरे शत्रोः संबन्धिनि महेषुजलधौ महति बाण-
सागरे वर्तमाना पताकिनी सेना । ईशानं शिवं पारं परतीरमिव । 'पारावारे
पारवाची' इत्यमरः । प्राप्य, आशश्वास प्राणिति स्म ॥ ३२ ॥

स बभार रणापेतां चमूं पश्चादवस्थिताम् ।

पुरःसूर्यादपावृत्तां छायामिव महातरुः ॥ ३३ ॥

स इति ॥ स शिवो रणापेतां रणादपवृत्तां पराञ्जुखीभूतामत एव पश्चात्
पृष्ठभागेऽवस्थितां चमूं पुरोऽग्रे स्थितः सूर्यः पुरःसूर्यः । रणोपमानमेषः ।
तस्मात्, अपावृत्तां परावृत्तां छायां महातरुरिव बभार । छायां तरुरिवात्मै-
कशरणां तां चमूं न मुमोचेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

मुञ्चतीशे शराञ्जिष्णौ पिनाकस्वनपूरितः ।

दध्वान ध्वनयन्नाशाः स्फुटन्निव धराधरः ॥ ३४ ॥

मुञ्चतीति ॥ ईशे हरे कर्तारि जिष्णावर्जुने विषये शरान्मुञ्चति सति
पिनाकस्य शिवकामुकस्य स्वनेन ध्वनिना पूरितो धराधर इन्द्रकीलः स्फुट-
न्निव विदीर्यमाण इवेत्युत्प्रेक्षा । आशा दिशो ध्वनयन् शब्दयुक्ताः कुर्वन्
दध्वान शब्दमकरोत् । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः ३४

तद्गणा ददृशुर्भीमं चित्रसंस्था इवाचलाः ।

विस्मयेन तयोर्युद्धं चित्रसंस्था इवाचलाः ॥ ३५ ॥

(द्विचतुर्थ्यमकम् ।)

तदिति ॥ भीमं तयोर्हस्पाण्डवयोः । तत् प्रसिद्धं युद्धं गणाः प्रमथाश्चि-
त्रसंस्थाश्चित्राकारा अचलाः शैला इव । तथा चित्र आलेख्ये संस्था स्थितिर्येषां
ते चित्रसंस्थाश्चित्रलिखिता इव अचला आश्चर्यवशान्निश्चलाः सन्तो विस्मयेन
ददृशुः ॥ ३५ ॥

परिमोहयमाणेन शिक्षालाघवलीलया ।

जैष्णवी विशिखश्रेणी परिजहे पिनाकिना ॥ ३६ ॥

परीति ॥ शिक्षालाघवलीलयाऽभ्यासपाटवातिशयेन हेतुना परिमोहय
माणेन व्यामोहयता । 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' इति परस्मैपदे प्राप्ते 'न
पादमि-' इत्यादिना तत्प्रतिषेधादात्मनेपदं शानच् । 'जेर्विभाषा' इति कृत्स्थस्य
नस्य वा णत्वम् । पिनाकिना हरेण जिष्णोर्जुनस्येयं जैष्णवी विशिखश्रेणी
बाणसंघातः परिजहे निरस्ता ॥ ३६ ॥

अवद्यन्पत्रिणः शंभोः सायकैरवसायकैः ।

पाण्डवः परिचक्राम शिक्षया रणशिक्षया ॥ ३७ ॥

(आद्यन्तयमकम् ।)

अवद्यन्निति ॥ पाण्डवोऽर्जुनः । अवसायकैरवसानकैः । स्यतेर्ण्यन्ताण्वुल्प्र-
त्ययः । सायकैर्बाणैः शंभोः पत्रिणः शरान् । अवद्यन् खण्डयन् । द्यतेः शतृ-
प्रत्ययः । 'ओतः इयनि' इत्योकारलोपः । शिक्षया शक्तुं प्रभवितुमिच्छया ।
उत्साहेनेत्यर्थः । रणे शिक्षयाऽभ्यासेन च परिचक्राम । उत्साहनपुण्याभ्यां
चचारेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

चारचुञ्चुश्चिरारेची चञ्चचीररुचा रुचः ।

चचार रुचिरश्चारु चारैराचारचञ्चुरः ॥ ३८ ॥

(द्व्यक्षरः ।)

चारैरिति ॥ चारैर्गतिविशेषैर्वित्त इति चारचुञ्चुः । 'तेन वित्तञ्चुञ्चुचणपौ'
इति चुञ्चुप्रत्ययः । चिरमारेचयति रिच्छीकरोति शत्रूनि चिरारेची । चञ्चत-
श्चलतश्चीरस्य वलकलस्य रुचा प्रभया । रोचत इति रुचः शोभमानः । 'इगु-
पध-' इति कः । रुचिरः सुन्दरः । चञ्चर्यते भृशं चरतीति चञ्चुरः । चरतेर्यङ-
न्तात्पचाद्यच् । 'चरफलोश्च' इति नुमागमः । 'यडोऽचि च' इति यडो लुक् ।
आचारस्य युद्धव्यवहारस्य चञ्चुरो भृशमाचरितः स मुनिश्चारु यथा तथा
चारैश्चक्रादिवन्धैर्गतिविशेषैः । चचार । 'चारः प्रियालवृक्षे स्याद्गतौ बन्धापस-
र्षयोः' इति विश्वः ॥ ३८ ॥

स्फुरत्पिशङ्गमौर्विकं धुनानः स बृहद्भुनुः ।

धृतोल्कानलयोगेन तुल्यमंशुमता बभौ ॥ ३९ ॥

स्फुरदिति ॥ स मुनिरर्जुनः स्फुरन्ती पिशङ्गी पिशङ्गवर्णा मौर्वी ज्या यस्य
तत्तथोक्तम् । 'नद्यतश्च' इति कप्रत्ययः । बृहद्भुनुर्गाण्डीवं धुनानः कम्पयन् ।
उल्कैवानलस्तेन धृतो योगो येन तेन । अंशुमताऽर्केण सूर्येण तुल्यं बभौ ।
उपमा ॥ ३९ ॥

पार्थवाणाः पशुपतेराववृर्विशिखावलीम् ।

पयोमुच इवारन्ध्राः सावित्रीमंशुसंहतिम् ॥ ४० ॥

पार्थेति ॥ पार्थवाणा अर्जुनशराः पशुपतेर्विशिखावलीं शरसंघातम् ।
सवितुरियं सावित्री ताम् । अंशुसंहतिं किरणसमूहम् । अरन्ध्रा निबिडाः
पयोमुचो मेघा इव । आववृस्तिरोदधुः ॥ ४० ॥

शरवृष्टिं विधूयोर्वीमुदस्तां सव्यसाचिना ।

रुरोध मार्गणैर्मार्गं तपनस्य त्रिलोचनः ॥ ४१ ॥

शरेति ॥ त्रिलोचनः शिवः । सव्येन सचते समवैतीति तेन सव्यसाचि-
नाऽर्जुनेन । उदस्तां क्षिप्तामुर्वी महतीं शरवृष्टिं मार्गणैः शरैर्विधूय निरस्य
तपनस्य र्वेर्मार्गं रुरोधाववे ॥ ४१ ॥

तेन व्यातेनिरे भीमा भीमार्जनफलाननाः ।

न नानुकम्प्य विशिखाः शिखाधरजवाससः ॥ ४२ ॥

(शृङ्खलायमकम् ।)

तेनेति ॥ तेन शिवेन भीमा भयंकरास्तथा भियो भयस्य मार्जनं निरामस्त-
देव फलं प्रयोजनं येषां तान्याननान्यग्राणि येषां ते भीमार्जनफलाननाः ।
तथा शिखाधरा मयूरास्तेषु जातानि शिखाधरजानि बर्हाणि तानि वासांसीव
वासांसि पक्षा येषां ते शिखाधरजानि मयूरपक्षिण इत्यर्थः । विशिखा वाणा
अनुकम्प्य कृपां कृत्वा न व्यातेनिर इति न । किं त्वनुकम्प्यैवेत्यर्थः । अनु-
जिघृक्षुत्वादिति भावः । संभाव्यनिषेधने द्वौ प्रतिषेधावित्युक्तम् ॥ ४२ ॥

द्युवियद्रामिनी तारसंरावंविहतश्रुतिः ।

हैमीषुमाला शुशुभे विद्युतामिव संहतिः ॥ ४३ ॥

(गूढचतुर्थपादः ।)

द्युवियदिति ॥ द्यां स्वर्गं वियदन्तरिक्षं च गामिनी व्यापिनी द्युवियद्रामिनी ।
द्वितीयाप्रकरणे श्रितादिषु गम्यादीनामुपसंख्यानात्समासः । तारेणोच्चैस्तरेण
संरावेण नादेन विहता विद्धाः श्रुतयः कर्णा यया सा तथोक्ता । हैमी हेम-
मयी इषुमाला शिवशरावलिर्विद्युतां संहतिरिवोक्तविशेषणा विद्युन्मालेव ।
शुशुभे । चतुर्थपादवर्णानां त्रिपाद्यां संभवाद्गूढचतुर्थपादमाहुः ॥ ४३ ॥

विलङ्घ्य पत्रिणां पङ्क्तिं भिन्नः शिवशिलीमुखैः ।

ज्यायो वीर्यमुपाश्रित्य न चकम्पे कपिध्वजः ॥ ४४ ॥

विलङ्घयेति ॥ शिवशिलीमुखैः पत्रिणां पङ्क्तिं निजशरावलिं विलङ्घ्याति-
क्रम्य भिन्नो विद्धः कपिध्वजोऽर्जुनो ज्यायः प्रशस्तम् । 'वृद्धप्रशस्त्योर्ज्यायान्'
इत्यमरः । वीर्यं सत्त्वम् । उपाश्रित्यावस्थाय न चकम्पे न चचाल । किंतु
तान्सहन्नवतस्थावित्यर्थः ॥ ४४ ॥

जगतीशरणे युक्तो हरिकान्तः सुधासितः ।

दानवर्षी कृताशंसो नागराज इवावभौ ॥ ४५ ॥

(अर्थत्रयवाची ।)

जगतीति ॥ अर्थत्रयवाची श्लोकोऽयम् । तत्रादौ अगाराज इति पदच्छेदमा-
श्रित्य प्रथमोऽर्थोऽभिधीयते—(१) ईशस्य रणे युक्तः शक्तः । अन्यत्र,—जगती-
शरणे भूरक्षणे युक्तः स्थितः । विधिनेति शेषः । हरिः सिंह इव कान्तो
मनोहरः । अन्यत्र,—हरीणां सिंहानां कान्त आवासदानात्प्रियः । सुष्ठु दधाति
पालयति प्रजा इति सुधाः । क्विबन्तः । असितः कृष्णवर्णः । ततो विशेषण-
समासः । अन्यत्र,—सुधा लेपद्रव्यविशेषस्तद्वत् सितो धवलः । दानवर्षी बहुप्रदः
कृताशंसः कृतजयाभिलाषः । अन्यत्र,—दानवैर्द्वैत्यैर्कृपिभिः इना कामेन च
कृताशंसा नानाफलाभिलाषो यस्मिन्स ना नरोऽर्जुनः । अगाराजो हिमवानिव

जगत्यावभावित्येकोऽर्थः ॥ (२) ॥ अथ ऐरावतसाम्यमुच्यते—जगतीं भुवं
इयन्ति तनुकृवंन्तीति ते जगतीशा राक्षसास्तेषां रणस्तत्र युक्तो विहित-
समर्थः । हरिकान्त इन्द्रप्रियः । उभयत्रापि समानमेतत् । सुधासितोऽमृतः
स्वच्छः । एकत्र,—शीलतः, अन्यत्र,—वर्णत इति विवेकः । दानवर्षी धनप्रदो
मदस्त्रावी च । कृताशंस उभयत्र कृतजिगीषः । पार्थो नागराज इव ऐरावत
इव । आवभाविति द्वितीयोऽर्थः ॥ (३) ॥ अथ शेषौपम्यमुच्यते—जग-
तीशरणे भूरक्षणे युक्तो नियुक्तः । दैवेनेति शेषः । ‘शरणं गृहरक्षित्रोः’ इत्य-
मरः । हरिकान्तः कृष्णप्रियः । उभयत्रापि तुल्यम् । सुष्ठु दधातीति सुधा ।
वसुधेति केचित् । एकदेशग्रहणात् समुदायग्रहणम् । तत्र सितो बद्धः ।
‘पिबू बन्धने’ क्तः । अन्यत्र,—सुधयाऽमृतेन सितो बद्धः । अमृतप्रिय इत्यर्थः ।
दानवाश्च ऋपयश्च (ईर्लक्ष्मीश्च ताभिः) तैः कृताशंसो विहितप्रशंसः । उभय-
त्रापि तुल्यमेतत् । सोऽर्जुनो नागराजः शेष इवावभाविति तृतीयोऽर्थः ॥ ४५ ॥

विफलीकृतयत्नस्य क्षतवाणस्य शंभुना ।

गाण्डीवधन्वनः खेभ्यो निश्चक्राम हुताशनः ॥ ४६ ॥

विफलीति ॥ शंभुना क्षतवाणस्य अत एव विफलीकृतयत्नस्य निष्फल-
प्रयत्नस्य गाण्डीवं धनुर्यस्य तस्य गाण्डीवधन्वनोऽर्जुनस्य । ‘वा संज्ञायाम्’
इत्यनडादेशः । खेभ्य इन्द्रियरन्ध्रेभ्यः । ‘खमिन्द्रिये सुखे स्वर्गे’ इति विश्वः ।
हुताशनोऽग्निः । निश्चक्राम निष्क्रान्तः । क्रोधादिति भावः ॥ ४६ ॥

स पिशङ्गजटावलिः किरन्तुरु तेजः परमेण मन्युना ।

ज्वलितौषधिजातवेदसा हिमशैलेन समं विदिद्युते ॥ ४७ ॥

स इति ॥ पिशङ्गजटावलिः पिशङ्गजटाजूटः परमेणोत्कृष्टेन मन्युना
क्रोधेन । उरु महत्तेजः किरन् विक्षिपन् सोऽर्जुनो ज्वलिता ओषधयस्तृण-
ज्योतींषि जातवेदा दवाग्निश्च यस्मिंस्तेन हिमशैलेन समं तुल्यं हिमाद्रिरिव
विदिद्युते हिमाद्रिवच्छुशुभ इति विम्बप्रतिविम्बभावोपमा ॥ ४७ ॥

शतशो विशिखानवद्यते भृशमस्मै रणवेगशालिने ।

प्रथयन्ननिवार्यवीर्यतां प्रजिघायेपुमघातुकं शिवः ॥ ४८ ॥

शतश इति ॥ शिवः शतशो विशिखानवद्यते खण्डयते रणवेगशा-
लिने रणसंरम्भशोभिनेऽस्मै पार्थाय भृशमत्यर्थम् । अनिवार्यवीर्यताम् ।
निजामिति शेषः । तस्मै प्रथयन् दर्शयन् । किं तु अघातुकममारकम् । ‘लष-
पत-’ इत्यादिना हन्तेरुक्ञ् । इपुम् । जातावेकवचनम् । प्रजिघाय प्रयुयुजे ।
‘हि गतौ’ इति धातोर्लिट् । ‘हेरचडि’ इति कुत्वम् ॥ ४८ ॥

शंभोर्धनुर्मण्डलतः प्रवृत्तं तं मण्डलादंशुमिवांशुभर्तुः ।

निवारयिष्यन्विदधे सिताश्वः शिलीमुखच्छायवृतां धरित्रीम् ४९

शंभोरिति ॥ सिताश्वोऽर्जुनः शंभोर्धनुर्मण्डलतो धनुर्बलयात् प्रवृत्तं
निष्क्रान्तं तमिषुम् । अंशुभर्तुरेकस्य मण्डलात् प्रवृत्तं अंशुमिव । अत्रापीषुव-
जातावेकवचनम् । निवारयिष्यन् निवारयितुकामः । क्रियार्थक्रियायां लटि तस्य

शत्रादेशः । धरित्रीं भुवं शिलीमुखानां छाया शिलीमुखच्छायम् । 'छाया बाहुल्ये' इति नपुंसकत्वम् । तेन वृतां व्यासां विदधे कृतवान् । शरजालच्छायावृतां धरित्रीमकरोदित्यर्थः । उपमाङ्कारः ॥ ४९ ॥

घनं विदार्यार्जुनबाणपूगं ससारवाणोऽयुगलोचनस्य ।

घनं विदार्यार्जुनबाणपूगं ससार बाणोऽयुगलोचनस्य ॥ ५० ॥

घनमिति ॥ अयुगलोचनस्य विषमनेत्रस्येशस्यालोचनस्य । लोच्यतेऽसौ लोचनः । कर्मणि ल्युट् । न लोचनोऽलोचनस्तस्य अलोचनस्याचाक्षुषज्ञानविषयस्य संबन्धी सारो बलं वाणः शब्दस्ताभ्यां सारवाणाभ्यां स्थिरशब्दाभ्यां सह वर्तते इति ससारवाणः । बवयोरभेद इत्युक्तम् । न युज्यते कुत्रापित्ययुक् सङ्गरहितः । क्विप् । बाणः शरः । जातावेकवचनम् । घनं सान्द्रं अर्जुनस्य बाणपूगं शरघ्रातं विदार्य विभिद्य घनं निबिडं विदार्यो भूमिकूष्माण्ड्यो लताविशेषा अर्जुनाः ककुभवृक्षा वाणा नीलसैरेयकाः पूगाः क्रमुकास्तेषाम् । 'विभाषा वृक्ष-' इत्यादिना द्वन्द्वैकवद्भावः । विदार्यार्जुनबाणपूगं ससार । विवेशेत्यर्थः । 'सृ गतौ' । यद्वा,—तदानीमेव युगलोचनस्यार्जुनस्य बाणः ससारेत्यर्थः ॥ ५० ॥

रुजन्महेषून्बहुधाशुपातिनो मुहुः शरौघैरपवारयन्दिशः ।

चलाचलोऽनेक इव क्रियावशान्महर्षिसंघैर्बुबुधे धनंजयः ॥ ५१ ॥

रुजन्नित्यादि ॥ बहुधाशुपातिनः शीघ्रमापततो महेषून् मुहुः शरौघै रुजन् भङ्गयन् । तथा दिशश्चापवारयन्नाच्छादयन् । क्रियावशात् युद्धकर्मायत्ततया । चलाचलोऽतिचञ्चलो धनंजयोऽर्जुनो महर्षिसंघैरनेको बहुविध इव बुबुधे दृश्ये ॥ ५१ ॥

विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः ।

विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः ॥ ५२ ॥

(महायमकम् ।)

विकाशमिति ॥ जगतीशस्य पृथिवीपतेरर्जुनस्य मार्गणा बाणा विकाशं प्रसारम् । ईयुः । तथा, जगति लोक ईशमार्गणाः शंभुशरा विकाशं विषमगतिम् । ईयुः । भङ्गमीयुरित्यर्थः । तथा जगतीं पृथ्वीं इयन्ति तनूकुर्वन्तीति जगतीशा दानवाः । 'आतोऽनुपसर्गे कः' । तानमारयन्तीति जगतीशमारः । म्रियतेर्ष्यन्तात्क्विप् । ते च ते गणाः प्रमथाः जगतीशमार्गणा विकाशमुल्लासं हर्षम् । ईयुः । प्रापुरित्यर्थः । अहो देवेऽप्यस्य पराक्रमप्रसर इति विस्मयादिति भावः । तदानीं मार्गयन्तीति मार्गणा अन्वेषकाः । कर्तेरि ल्युट् । जगतीशस्य त्रैलोक्यनाथस्य मार्गणा अन्वेषकाः शिवद्रष्टारो देवर्ष्यादयो वीनां पक्षिणां काशो गतिरत्रेति विकाशमाकाशम् । ईयुः । दिदृक्षयेति भावः ॥ ५२ ॥

संपश्यतामिति शिवेन वितायमानं
लक्ष्मीवतः क्षितिपतेस्तनयस्य वीर्यम् ।
अज्ञान्यभिन्नमपि तत्त्वविदां मुनीनां
रोमाञ्चमश्रिततरं विभरांबभूवुः ॥ ५३ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये पञ्चदशः सर्गः ।

संपश्यतामिति ॥ इति इत्थं शिवेन वितायमानं विस्तार्यमाणम् । 'तनो-
तेर्यकि' इति वैकल्पिक आकारादेशः । लक्ष्मीवतो जयश्रीमतः । 'मादुप-
धायाः-' इत्यादिना मतुपो मस्य वकारः । क्षितिपतेस्तनयस्यार्जुनस्य वीर्यं
शौर्यं संपश्यतां तत्त्वविदामपि हरेशावतारोऽयमिति विदुषामपि । किमुता-
न्येषामिति भावः । मुनीनामज्ञानि गात्राणि । अभिन्नमविरलम् । अश्रित-
तरमतिरुचिरतरं रोमाञ्चं रोमहर्षं विभरांबभूवुर्बभूवुः । 'भीढी-' इत्यादिना
विकल्पादाभ्युत्थयः ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमहिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-
काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां पञ्चदशः सर्गः समाप्तः ।

षोडशः सर्गः ।

ततः किराताधिपतेरलध्वीमाजिक्रियां वीक्ष्य विवृद्धमन्युः ।
स तर्कयामास 'विविक्ततर्कश्चिरं विचिन्वन्निति कारणानि ॥ १ ॥

तत इति ॥ ततोऽनन्तरं किराताधिपतेः संबन्धिनीम् । अलध्वीं गुर्वाम् ।
आजिक्रियां रणकर्म वीक्ष्य विवृद्धमन्युर्विवृद्धकोपो विविक्तो निष्कलङ्क-
स्तर्क ऊहो ज्ञानं वा यस्य सोऽर्जुनः कारणानि रणभराशक्तिकारणानि विचि-
न्वन् विमृशन् । इति इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण तर्कयामासाभ्युहितवान् ॥ १ ॥

अथ त्रयोविंशतिश्लोकैर्वितर्कमेवाह—

मदस्रुतिश्यामितगण्डलेखाः क्रामन्ति विक्रान्तनराधिरूढाः ।
सहिष्णवो नेह युधामभिज्ञा नागा नगोच्छ्रायमिवाक्षिपन्तः ॥ २ ॥

मदेत्यादि ॥ इहास्मिन्युद्धे मदस्रुतिभिर्मदप्रवाहैः श्यामाः कृता इति
श्यामिता गण्डलेखाः कपोलभागा येषां ते विक्रान्ताः पराक्रमं कुर्वन्तः ।
कर्तरि क्तः । 'शूरो वीरश्च विक्रान्तः' इत्यमरः । तैर्नरैरधिरूढाः सहिष्णवो
रणभरक्षमा युधां युद्धानामभिज्ञाः । शिक्षिता इत्यर्थः । कृद्योगात्कर्मणि षष्ठी ।
किञ्च, नगानामुच्छ्रायं पर्वतानामौन्नत्यम् । घञन्तेनोपसर्गस्य समासो नोपसृष्टा-
द्वन्प्रत्ययः । 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' इत्यत्रानुपसर्ग इति निषेधात् । आक्षिपन्तः
प्रतिषेधयन्त इव स्थिताः । तथोन्नता इत्यर्थः । नागा गजा इह सङ्ग्रामे न
क्रामन्ति न चरन्ति । यथा युद्धान्तरेष्विति शेषः । एवमुत्तरत्रापि सर्वत्र द्रष्ट-
व्यम् । तथापि कथं मे शक्तिहासोऽयमिति सर्वत्र तात्पर्यार्थः ॥ २ ॥

१ 'विवृत्त' इति पाठः.

विचित्रया चित्रयतेव भिन्नां रुचं रवेः केतनरत्नमासा ।

महारथौघेन न संनिरुद्धा पयोदमन्द्रध्वनिना धरित्री ॥ ३ ॥

विचित्रेति ॥ विचित्रया नानावर्णया केतनानां रत्नानि तेषां भासा प्रभया भिन्नां संबलितां रवे रुचं कान्ति चित्रयता विचित्रवर्णां कुर्वता इव स्थितेनेति केतनौन्नत्यनिमित्तेयमुप्येक्षा । पयोदमन्द्रध्वनिना मेघगम्भीरघोषेण महतां रथानामोघेन समूहेन धरित्री न संनिरुद्धा नावृता ॥ ३ ॥

समुल्लसन्प्रासमहोर्मिमालं परिस्फुरच्चामरफेनपङ्क्ति ।

विभिन्नमर्यादमिहातनोति नाश्वीयमाशा जलधेरिवाम्भः ॥ ४ ॥

समुल्लसदिति ॥ इह युद्धे प्रासाः कुन्ताः । 'प्रासस्तु कुन्तः' इत्यमरः । ते महोर्मय इव तेषां मालाः समुल्लसन्त्यो यत्र तत् समुल्लसत्प्रासमहोर्मिमालम् । चामराणि फेना इव चामरफेनास्तेषां पङ्क्तयः परिस्फुरन्त्यश्चामरफेनानां पङ्क्तयो यत्र तत्तथोक्तम् । अश्वीयमश्वसमूहः । 'वृन्दे त्वश्वीयमाश्ववत्' इत्यमरः । जलधेरम्भ इव विभिन्नमर्यादमुन्मर्यादमुच्छृङ्खलं यथा तथा, आशा दिशो नातनोति नावृणोति ॥ ४ ॥

हताहतेत्युद्धतभीमघोषैः समुज्झिता योद्धृभिरभ्यमित्रम् ।

न हेतयः प्राप्ततडित्विपः खे विवस्वदंशुज्वलिताः पतन्ति ॥ ५ ॥

हतेति ॥ हत प्रहरत । आहत विध्यत । हन्तेर्लोद । मध्यमपुरुषबहुवचनम् । 'अनुदात्तोपदेश-' इत्यादिनाऽनुनासिकलोपः । आहतेत्यत्र कर्मणः प्रयोगासंभवेऽपि हन्तेः स्वाभाविकसकर्मकत्वस्यानपायात् । अकर्मकत्वस्य चात्र विवक्षितत्वेन कर्मनिवृत्त्यैव तन्निवृत्तेः 'आडो यमहनः' इत्यात्मनेपदम् । इत्येवमुद्धताः प्रगल्भा भीमाश्च घोषा येषां तैः । योद्धृभिर्योद्धैः । अभ्यमित्रममित्रानभि समुज्झिता मुक्ता विवस्वतोऽशुभिः । प्रतिफलितैरिति भावः । ज्वलिता दीपिता अत एव प्राप्तास्तडितां त्विप इव त्विपो याभिस्ता हेतयः शस्त्राणि खे न पतन्ति । समुल्लसन्तो न दृश्यन्त इत्यर्थः । 'हेतिः स्यादायुधे' इति विश्वः ॥ ५ ॥

अभ्यायतः संततधूमधूमं व्यापि प्रभाजालमिवान्तकस्य ।

रजः प्रतूर्णाश्वरथाङ्गनुन्नं तनोति न व्योमनि मातरिश्वा ॥ ६ ॥

अभीति ॥ अभ्यायतो वीरान्हन्तुमभ्यागच्छतः । इणः शतृप्रत्ययः । अन्तकस्य कालस्य संबन्धि संततं सततं धूमवद्भूमं व्यापि व्यापकं प्रभाजालमिव स्थितं प्रतूर्णैर्वेगवद्भिरश्वै रथाङ्गै रथचक्रैश्च नुन्नं प्रेरितं रजो मातरिश्वा मस्तु । व्योमन्यन्तरिक्षे न तनोति न विस्तारयति ॥ ६ ॥

१ 'अभिस्फुरत्'; 'अतिस्फुरत्' इति पाठौ. २ 'संप्रति' इति पाठः. ३ 'धूमम्' इति पाठः.

भूरेणुना रासभधूसरेण तिरोहिते वर्त्मनि लोचनानाम् ।

नास्त्यत्र तेजस्विभिरुत्सुकानामह्नि प्रदोषः सुरसुन्दरीणाम् ॥ ७ ॥

भूरेणुनेति ॥ अत्राहवे रासभो गर्दभस्तद्ब्रह्मसरेणेषत्पाण्डुना । 'रासभो गर्दभः खरः' इत्यमरः । 'इषत्पाण्डुस्तु धूसरः' इति च । भूरेणुना रजसा लोचनानां वर्त्मनि चक्षुर्मार्गं तिरोहिते सति तेजस्विभिस्तेजस्विषु वीरेषु । उत्सुकानाम् । वीरवरणार्थमागतानामित्यर्थः । 'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च' इति विकल्पात्तृतीया । सुरसुन्दरीणामह्नि दिवस एव प्रदोषो रात्रिमुखं नास्ति । अन्धकारवत्त्वाद्दृष्टेस्तिरोधानाद्वात्रिभ्रमः स्यादिति भावः ॥ ७ ॥

रथाङ्गसंक्लीडितमश्वहेषा बृहन्ति मत्तद्विपबृंहितानि ।

संघर्षयोगादिव मूर्च्छितानि हादं निगृह्णन्ति न दुन्दुभीनाम् ॥ ८ ॥

रथाङ्गेति ॥ रथाङ्गसंक्लीडितं रथचक्रकूजितम् । अश्वानां च हेषा हेषितानि शब्दितानि । 'अश्वानां हेषा हेषा च निःस्वनः' इत्यमरः । बृहन्ति महान्ति मत्तद्विपानां बृंहितानि । 'बृंहितं करिगर्जितम्' इत्यमरः । संघर्षयोगादिव परस्परस्पर्धासंबन्धादिव मूर्च्छितानि वृद्धिं गतानि सन्ति । 'नपुंसकमनपुंसक-' इत्यादिना नपुंसकैकशेषः । दुन्दुभीनां भेरीणां हादं निर्घोषम् । 'स्वाननिर्घोषनिर्हाद-' इत्यमरः । न निगृह्णन्ति न तिरस्कुर्वन्ति ॥ ८ ॥

अस्मिन्यशःपौरुषलोलुपानामरातिभिः प्रत्युरसं क्षतानाम् ।

मूर्च्छान्तरायं मुहुरुच्छिनत्ति नासारशीतं करिशीकराम्भः ॥ ९ ॥

अस्मिन्निति ॥ अस्मिन् रणे यशःपौरुषयोर्लोलुपानां गृध्रनामत एव अरातिभिः प्रत्युरसमुरसि । 'प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात्' इति समासान्तः । क्षतानां विद्वानां संबन्धिनं मूर्च्छैवान्तरायो रणविघ्नस्तम् । आसारशीतं वर्षधाराशीतलम् । 'धारासंपात आसारः' इत्यमरः । करिणां शीकर एव अम्भः कर्तुं मुहुर्नोच्छिनत्ति न नाशयति ॥ ९ ॥

असृङ्गदीनामुपचीयमानैर्विदारयद्भिः पदवीं ध्वजिन्याः ।

उच्छ्रायमायान्ति न शोणितौघैः पङ्कैरिवाश्यानघनैस्तटानि ॥ १० ॥

असृगिति ॥ असृङ्गदीनां तटान्युपचीयमानैरुपचयं नीयमानैस्तेषां ध्वजिन्याः पदवीं विदारयद्भिर्दुःसंचारां कुर्वद्भिः । 'विदारयद्भिः' इति पाठे विदूरां दूरसंचारां कुर्वद्भिः । आश्याना इषच्छुष्काः । 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इति श्यायतेर्निष्ठानत्वम् । घनाः सान्द्रास्तैः । आश्यानघनैः शोणितौघैः पङ्कैरिवोच्छ्रायं वृद्धिं नायान्ति न प्राप्नुवन्ति ॥ १० ॥

परिक्षते वक्षसि दन्तिदन्तैः प्रियाङ्गशीता नभसः पतन्ती ।

नेह प्रमोहं प्रियसाहसानां मन्दारमाला विरलीकरोति ॥ ११ ॥

परीति ॥ इह रणे दन्तिदन्तैर्गजदन्तैः परिक्षते ताडिते वक्षसि नभसः

पतन्ती प्रियाया अङ्ग इव शीता शीतला सुखकरी मन्दारमाला । सुरैर्मु-
क्तेति शेषः । प्रियं साहसं येषां तेषां प्रियसाहसानाम् । यतो गजाभियाधि-
नामिति भावः । प्रमोहं प्रहारमूर्च्छां न विरलीकरोति न मन्दीकरोति ।
नापनयतीति यावत् ॥ ११ ॥

निषादिसंनाहमणिप्रभौघे परीयमाणे करिशीकरेण ।

अर्कत्विषोन्मीलितमभ्युदेति न खण्डमाखण्डलकार्मुकस्य ॥ १२ ॥

निषादीति ॥ करिणां शीकरेण पुष्करतुषारेण परीयमाणे व्याप्यमाने
निषादिनो हस्त्यारोहाः । 'हस्त्यारोहा निषादिनः' इत्यमरः । तेषां संनाहाः
कवचानि तेषां मणिप्रभौघे रत्नांशुजाले । अर्कस्य त्विषा तेजसा । उन्मीलित-
मुत्पादितं । आखण्डलकार्मुकस्य इन्द्रधनुषः । 'आखण्डलः सहस्राक्षः' इत्यमरः ।
खण्डं नाभ्युदेति ॥ १२ ॥

महीभृता पक्षवतेव भिन्ना विगाह्य मध्यं परवारणेन ।

नावर्तमाना निनदन्ति भीममपां निधेराप इव ध्वजिन्यः ॥ १३ ॥

महीति ॥ पक्षवता सपक्षेण महीभृता मैनाकेनेव परवारणेन शत्रुगजेन
मध्यं विगाह्य प्रविश्य भिन्नाः क्षोभिता ध्वजिन्यः सेनाः । 'ध्वजिनी वाहिनी
सेना' इत्यमरः । अपां निधेः सागरस्य । आप इव । आवर्तमाना भ्रमन्त्यः
सत्यः । 'स्यादावर्तोऽभ्रसां भ्रमः' इत्यमरः । भीमं न निनदन्ति ॥ १३ ॥

महारथानां प्रतिदन्त्यनीकमधिस्यदस्यन्दनमुत्थितानाम् ।

आमूललूनैरतिमन्युनेव मातङ्गहस्तैर्व्रियते न पन्थाः ॥ १४ ॥

महारथानामिति ॥ प्रतिदन्त्यनीकं दन्तिसैन्यं प्रति । 'अनीकं तु रणे सैन्ये'
इति विश्वः । अधिस्यदा महारथाः स्यन्दना रथा यत्र तत्तथा । 'रंहस्तरसी तु
रथः स्यदः' इत्यमरः । उत्थितानां प्रस्थितानां महारथानां रथिकविशेषाणाम् ।
'आत्मानं सारथिं चाश्वान् रक्षन्नुध्येत यो नरः । स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीति-
कोविदाः ॥' इति लक्षणात् । पन्था मार्गं आमूलात् लूनैश्छिन्नैः । मातङ्ग-
हस्तैर्नागकरैः । अतिमन्युनाऽतिक्रोधेनेव न व्रियते न निरुध्यते ॥ १४ ॥

धृतोत्पलापीड इव प्रियायाः शिरोरुहाणां शिथिलः कलापः ।

न बर्हभारः पतितस्य शङ्कोर्निषादिवक्षःस्थलमातनोति ॥ १५ ॥

धृतेति ॥ पतितस्य वक्षसि मग्नस्य शङ्कोस्त्रोमरस्य संबन्धी । 'वा पुंसि शल्यं
शङ्कुर्ना सर्वला तोमरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । बर्हभारस्तन्मूलबद्धो लाञ्छनपि-
च्छकलापो धृत उत्पलापीडः कुवलयशेखरो यस्मिन्स प्रियायाः संबन्धी
शिथिलः सस्तः शिरोरुहाणां कलापः केशपाश इव निषादिनो हस्त्या-
रोहस्य वक्षःस्थलं नातनोति न व्याप्नोति ॥ १५ ॥

उज्झत्सु संहार इवास्तसंख्यमहाय तेजस्विषु जीवितानि ।

लोकत्रयास्वादनलोलजिह्वं न व्याददात्याननमत्र मृत्युः ॥ १६ ॥

उज्झत्स्विति ॥ अत्र आहवे । संहारे कल्पान्त इव तेजस्विषु वीरेषु । अस्त-
संख्यमसंख्यं यथा तथा, अहाय इटिति । 'स्नाग्गतिल्यञ्जसाहाय' इत्यमरः ।
जीवितान्युज्झत्सु त्यजत्सु सत्सु मृत्युर्लोकत्रयस्यास्वादने भक्षणे लोला
गृधुर्जिह्वा यस्मिस्तत् । आननं न व्याददाति न विवृणोति । 'आहो दोऽना-
स्यविहरणे' इत्यत्रानास्यविहरण इति निषेधात् परस्मैपदम् ॥ १६ ॥

सत्यमेवं, तथापि किमेतत्कुत्सितम् ; तत्राह—

इयं च दुर्वारमहारथानामाक्षिप्य वीर्यं महतां बलानाम् ।

शक्तिर्ममावस्यति हीनयुद्धे सौरीव ताराधिपधाम्नि दीप्तिः ॥१७॥

इयमिति ॥ इयं मम शक्तिश्च दुर्वाराः पराक्रमिणो महारथा येषु तेषां
महतां बलानां वीर्यमाक्षिप्य निरस्य ताराधिपधाम्नि चन्द्रतेजसि । सूर्य-
स्येयं सौरी । 'सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः' इति स्त्रियां ङीष् । यका-
रस्य लोपः । दीप्तिरिव हीनयुद्धे किरातरणे । अवस्यत्यवसीदति । एतच्च
विरुद्धमत्यद्भुतं चेति भावः । 'षोऽन्तकर्मणि' इति धातोर्लट् ॥ १७ ॥

माया खिदेषा मतिविभ्रमो वा ध्वस्तं नु मे वीर्यमुताहमन्यः ।

गाण्डीवमुक्ता हि यथापुरा मे पराक्रमन्ते न शराः किराते ॥१८॥

मायेति ॥ एषा शक्तिहासरूपा माया खित् देवताक्षोभणं नाम । मतिवि-
भ्रमो बुद्धिविपर्ययो वा । अथवा मे वीर्यं ध्वस्तं नष्टं नु । उताहमन्योऽजुनो
न वा । कुतः । हि यस्मात्, गाण्डीवमुक्ता मे शराः यथापुरा यथापूर्वम् ।
परिपन्थिष्विवेत्यर्थः । किराते न पराक्रमन्तेऽप्रतिबन्धेन न प्रवर्तन्ते । 'उप-
पराभ्याम्' इति वृत्तावात्मनेपदम् । वृत्तिरप्रतिबन्धः ॥ १८ ॥

पुंसः पदं मध्यममुत्तमस्य द्विधेव कुर्वन्धनुषः प्रणादैः ।

नूनं तथा नैष यथास्य वेषः प्रच्छन्नमप्युहयते हि चेष्टा ॥ १९ ॥

पुंस इति ॥ किंच, उत्तमस्य पुंसः पुरुषोत्तमस्य मध्यमं पदमाकाशं
धनुषः प्रणादैः । 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्वम् । द्विधा
कुर्वन्निव विदारयन्निव स्थितः स एष किरातो नूनं तथा तथाभूतो न । कीदृश-
स्तत्राह—अस्य पुरुषस्य यथा यथाभूतो वेषः । वर्तत इति शेषः । वेषत एवायं
किरातो न स्वरूपत इत्यर्थः । कुतः । हि यस्मात्, चेष्टा व्यापारः प्रच्छन्नमपि
निगूढमपि स्वरूपम् । ऊहयते तर्कयते । तस्याः स्वभावादव्यभिचारादिति भावः १९
अथ चतुर्भिश्चेष्टामेवाचष्टे—

धनुः प्रबन्धध्वनितं रूपेव सकृद्विकृष्टा विततेव मौर्वी ।

संधानमुत्कर्षमिव व्युदस्य मुष्टेरसंभेद इवापवर्गे ॥ २० ॥

धनुरिति ॥ धनू रूपेव प्रबन्धेनाविच्छेदेन ध्वनितम् । ध्वनतेः कर्तरि

१ 'कीर्तिम्' इति पाठः. २ 'दीपः' इति पाठः. ३ 'तथा पुरेव'; 'तथा पुरैव' इति
पाठौ. ४ 'रूपेव' इति पाठः.

क्तः । मौर्वी च सकृद्विकृष्टा विततेवैकवाराकर्षणादेव विततेव स्थिता ।
संधानं बाणसंधानमुत्कर्षे तूणादुद्धरणं द्युदस्येव वर्जयित्वा । किमु कृतमिनि
शेषः । अपवर्गे बाणमोक्षेऽपि मुष्टेरसंभेदोऽसंघटनमिव । मुष्टिबन्धं विनैव
बाणमोक्षः कृत इवेति हस्तलाघवोक्तिः ॥ २० ॥

अंसाववष्टब्धनतौ समाधिः शिरोधराया रहितप्रयासः ।

धृता विकारांस्त्यजता मुखेन प्रसादलक्ष्मीः शशलाञ्छनस्य ॥२१॥

अंसाविति ॥ किंच, अंसाववष्टब्धौ स्थिराववस्थापितां च तौ नतौ चाव-
ष्टब्धनतौ शिरोधरायाः कंधरायाः समाधिः संस्थानविशेषश्च रहितः प्रयासो
यस्य स तथोक्तः । निःप्रयास इत्यर्थः । तथा विकारांस्त्यजता । अमृतत्वा-
न्निर्विकारेणेत्यर्थः । मुखेन शशलाञ्छनस्य इन्दोः प्रसादलक्ष्मीर्धृता ।
असंभवत्संबन्धो निदर्शनालंकारः ॥ २१ ॥

प्रहीयते कार्यवशागतेषु स्थानेषु विष्टब्धतया न देहः ।

स्थितप्रयातेषु ससौष्टवश्च लक्ष्येषु पातः सदृशः शरणाम् ॥ २२ ॥

प्रहीयत इति ॥ तस्य देहः कार्यवशेन प्रयोजनवशेन आगतेषु स्थानेष्वाली-
ढादिस्थानकेषु विष्टब्धतया स्थिरतया कर्त्या न प्रहीयते न त्यज्यते । किंतु स्थिर
इव तिष्ठतीत्यर्थः । सुष्ठु भावः सौष्टवं लाघवम् । उद्गात्रादित्वादन्प्रत्ययः । तेन
सह वर्तमानः ससौष्टवः शराणां पातश्च स्थितान्यचलानि प्रयातानि चलानि
तेषु स्थितप्रयातेषु चलाचलेषु लक्ष्येषु विषये सदृश एकरूपः ॥

परस्य भूयान्विवरेऽभियोगः प्रसह्य संरक्षणमात्मरन्ध्रे ।

भीष्मेऽप्यसंभाव्यमिदं गुरौ वा न संभवत्येव वनेचरेषु ॥ २३ ॥

परस्येति ॥ किंच, परस्य विवरे रन्ध्रे । अल्पेऽपीति शेषः । भूयान् भूयिष्ठः
प्रसह्य झटिति अभियोगो ज्ञातृत्वम् । परस्य रन्ध्रज्ञातृत्वात्प्रहारोद्योग इत्यर्थः ।
आत्मनो रन्ध्रे विवरे । अनल्पेऽपीति शेषः । प्रसह्य झटिति संरक्षणं गोपनं
च । भूयिष्ठमिति शेषः । इदं द्वयं भीष्मेऽपि गुरौ वा द्रोणे वापि असंभाव्यं
दुर्वितर्क्य वनेचरेषु न संभवत्येव । अतो नायं किरातः, किंत्वेष तिरोहितवेषः
कोऽप्यमानुषः पुरुष इति भावः ॥ २३ ॥

अप्राकृतस्याहवदुर्मदस्य निवार्यमस्यास्त्रबलेन वीर्यम् ।

अल्पीयसोऽप्यामयतुल्यवृत्तेर्महापकाराय रिपोर्विवृद्धिः ॥ २४ ॥

अप्राकृतस्येति ॥ अप्राकृतस्योक्तरीत्याऽसाधारणस्य । आहवदुर्मदस्य रण-
मत्तस्य । अस्य किरातस्य वीर्यं तेजोऽस्त्रबलेन दिव्यशस्त्रमहिम्ना निवार्यं निवा-
रणीयम् । अन्यथाऽनिवार्यत्वमस्येति भावः । तथा हि—अल्पीयसोऽप्यत्यल्प-
स्वापि । आमयतुल्यवृत्ते रोगसमानविक्रियस्य । 'रोगव्याधिगदामयाः' इत्यमरः ।
रिपोर्विवृद्धिर्महापकाराय, किंत्वयं महानुभाव इति भावः । कुलकम् ॥२४॥

१ 'अवष्टम्भ' इति पाठः. २ 'विकारम्' इति पाठः. ३ 'स्थिर' इति पाठः.
४ 'वदम्'; 'इत्यम्' इति पाठौ.

स संप्रधार्यैवमहार्यसारः सारं विनेष्यन् सगणस्य शत्रोः ।

प्रस्वापनास्त्रं द्रुतमाजहार ध्वान्तं घनानद्ध इवार्धरात्रः ॥ २५ ॥

स इति ॥ अहार्यसारोऽनिवार्यवीर्यः सोऽर्जुन एवं संप्रधार्य निश्चित्य सगणस्य सानुगस्य शत्रोः सारं सत्त्वं विनेष्यन् अपनेष्यन् । प्रस्वाप्यते शाय्यतेऽनेनेति प्रस्वापनं तदेव अस्त्रम् । घनानद्धो मेघव्याप्तोऽर्धरात्रो निशीथः । 'अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ' इत्यमरः । 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासः । 'अहःसर्वैकदेश-' इत्यादिना समासान्तः । 'रात्राह्लाहाः पुंसि' इति पुल्लिङ्गता । ध्वान्तमिव द्रुतमाजहाराचकर्ष ॥ २५ ॥

प्रसक्तदावानलधूमधूम्रा निरुन्धती धाम सहस्ररश्मेः ।

महावनानीव महातमिस्रा छाया ततानेशबलानि काली ॥ २६ ॥

प्रसक्तेति ॥ प्रसक्तः संततो यो दावानलधूमस्तद्द्रुमधूमरा सहस्ररश्मे-
र्धाम तेजो निरुन्धती आवृण्वती काली कृष्णवर्णा । 'जानपद-' इत्यादिना ङीष् ।
छाया कान्तिः । ईशबलानि महातमिस्रा महती तमःसंततिः । 'तमिस्रा तु
तमस्ततिः' इति विश्वः । महावनानीव ततान व्यानशे । युग्मम् ॥ २६ ॥

आसादिता तत्प्रथमं प्रसह्य प्रगल्भतायाः पदवीं हरन्ती ।

सभेव भीमा विदधे गणानां निद्रा निरासं प्रतिभागुणस्य ॥ २७ ॥

आसादितेति ॥ तदेवासादनं प्रथमं तत्प्रथमं यथा तथा प्रसह्यासादिता
कल्पिता प्रगल्भताया व्यवहारधार्यस्य पदवीं हरन्ती भीमा भयंकरी निद्रा
उक्तविशेषणा सभा संसदिव । गणानां प्रतिभा प्रज्ञाशक्तिः सैव गुणस्तस्य
निरासं प्रतिभाक्षयं विदधे चक्रे ॥ २७ ॥

गुरुस्थिराण्युत्तमवंशजत्वाद्विज्ञातसाराण्यनुशीलनेन ।

केचित्समाश्रित्य गुणान्वितानि सुहृत्कुलानीव धनूंषि तस्थुः ॥ २८ ॥

गुर्विति ॥ केचिदुत्तमवंशजत्वात् वंशो वेणुः कुलं च । 'वंशो वेणौ कुले
च' इति विश्वः । गुरुणि महान्ति स्थिराणि दृढानि च गुरुस्थिराणि । अनुशी-
लनेन परिचयबलेन विज्ञातः सारो बलं येषां तानि गुणैर्मौर्वीभिः शौर्यादि-
भिश्च अन्वितानि धनूंषि सुहृत्कुलानि मित्रकुलानीव समाश्रित्य तस्थुः ।
धनूंष्यवष्टभ्य निदंध्युरित्यर्थः ॥ २८ ॥

कृतान्तदुर्वृत्त इवापरेषां पुरः प्रतिद्वन्द्विनि पाण्डवास्त्रे ।

अतर्कितं पाणितलान्निपेतुः क्रियाफलानीव तदायुधानि ॥ २९ ॥

कृतान्तेति ॥ कृतान्तदुर्वृत्ते दैवदुश्चेष्टित इव । 'कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवा-
कुशलकर्मसु' इति विश्वः । पाण्डवास्त्रे पुरः प्रतिद्वन्द्विनि प्रतिकूलवर्तिनि
सति तदा तस्मिन्काले । अपरेषामायुधानि क्रियाफलानीव कृत्यादिफला-
नीव अतर्कितमविचारितमेव पाणितलान्निपेतुः ॥ २९ ॥

१ 'घनारब्ध' इति पाठः. २ 'संरुन्धती' इति पाठः. ३ 'निशातमिस्रा' इति पाठः.
४ 'गुणान्वितानि' इति पाठः.

अंसस्थलैः केचिदभिन्नधैर्याः स्कन्धेषु संश्लेषवतां तरूणाम् ।

मदेन मीलन्नयनाः सलीलं नागा इव स्रस्तकरा निषेदुः ॥ ३० ॥

अंसेति ॥ अभिन्नधैर्यास्तदानीमप्यक्षतधैर्याः केचिदंसस्थलैरंसभागैः सह संश्लेषवतां संगच्छतां तरूणां स्कन्धेषु प्रकाण्डेषु मदेन मीलन्ति नयनानि येषां ते नागा गजा इव स्रस्तकराः स्रस्तहस्ताः सन्तः सलीलं निषेदुर्निषण्णाः ॥ ३० ॥

तिरोहितेन्दोरथ शंभुमूर्ध्नः प्रणम्यमानं तपसां निवासैः ।

सुमेरुशृङ्गादिव विम्बमार्कं पिशङ्गमुच्चैरुदियाय तेजः ॥ ३१ ॥

तिरोहितेति ॥ अथ तिरोहितेन्दोः किरातमायया छन्नचन्द्रात् शंभुमूर्ध्नः सकाशात् । सुमेरुशृङ्गात् अर्कसंबन्धि विम्बमिव । तपसां निवासैस्तापसैः प्रणम्यमानमभिवन्द्यमानं पिशङ्गं तेज उच्चैरुर्ध्वम् । उदियाय प्रकटीबभूव । तच्च न चान्द्रमिति भावः ॥ ३१ ॥

छायां विनिर्धूय तमोमयीं तां तत्त्वस्य संवित्तिरिवापविद्याम् ।

ययौ विकासं द्युतिरिन्दुमौलेरालोकमभ्यादिशती गणेभ्यः ॥ ३२ ॥

छायामिति ॥ इन्दुमौलेर्द्युतिः कान्तिः । तत्त्वस्य संवित्तिस्तत्त्वज्ञानम् । अपविद्यामविद्यामिव तां तमोमयीं छायां निद्रां विनिर्धूय निरस्य गणेभ्य आलोकं वस्तुप्रकाशं चिरं अभ्यादिशती वितरन्ती विकासं विस्तारं ययौ ३२

त्विषां ततिः पाटलिताम्बुवाहा सा सर्वतः पूर्वसरीव संध्या ।

निनाय तेषां द्रुतमुल्लसन्ती विनिद्रतां लोचनपङ्कजानि ॥ ३३ ॥

त्विषामिति ॥ सर्वतः पाटलिताः पाटलीकृता अम्बुवाहा यया सा तथोक्ता त्विषां तेजसां ततिः । पूर्वा सरतीति पूर्वसरी । 'पूर्वे कर्तरि' इति टप्रत्यये ङीप् । 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति 'पूर्वा'शब्दस्य पुंवद्भावः । संध्या प्रातःसंध्येव उल्लसन्ती प्रसरन्ती तेषां गणानां लोचनपङ्कजानि द्रुतं विनिद्रतां विकासं निनाय ॥ ३३ ॥

पृथग्विधान्यस्त्रविरामबुद्धाः शस्त्राणि भूयः प्रतिपेदिरे ते ।

मुक्ता वितानेन बलाहकानां ज्योतींषि रम्या इव दिग्विभागाः ३४

पृथगिति ॥ अस्त्रविरामेण प्रस्वापनाच्चोपरमेण बुद्धा विनिद्रास्ते गणा बलाहकानां वितानेन मेघपटलेन मुक्ता अत एव रम्या दिग्विभागा दिगन्ता ज्योतींषि नक्षत्राणीव । 'ज्योतिस्ताराग्निभाज्ज्वालालाट्कप्रकाशरमात्मसु' इति वैजयन्ती । पृथग्विधानि नानाविधानि शस्त्राणि भूयः प्रतिपेदिरे । जगद्दुरित्यर्थः ॥ ३४ ॥

घौरुन्ननामेव दिशः प्रसेदुः स्फुटं विसस्रे सवितुर्मयूखैः ।

क्षयं गतायामिव यामवत्यां पुनः समीयाय दिनं दिनश्रीः ॥३५॥

घोरिति ॥ तदा यामवत्यां रात्रौ क्षयं गतायां विभातायामिव घौरन्त-
रिक्षम् । उन्ननामेव ऊर्ध्वमुत्पपातेवेत्युत्प्रेक्षा । दिशः प्रसेदुः । सवितुर्मयूखैः
स्फुटं स्पष्टं विसस्रे विस्तृतम् । भावे लिट् । दिनश्रीर्वस्रकान्तिः पुनर्दिनं
समीयाय संजगाम । अत्र वैयधिकरण्येन गुणक्रिययोः समुच्चयेन समुच्चयोऽलं-
कारः । तस्य च समुच्चमनोत्प्रेक्षया 'इव'शब्दवाच्ययानुप्रवेशलक्षणः संकरः ।
दिक्प्रसादो गुणः । शेषाः क्रियाः ॥ ३५ ॥

महास्रदुर्गे शिथिलप्रयत्नं दिग्वारणेनेव परेण रुग्णे ।

भुजङ्गपाशान्भुजवीर्यशाली प्रबन्धनाय प्रजिघाय जिष्णुः ॥ ३६ ॥

महास्रेति ॥ भुजवीर्यशाली जिष्णुर्जुनो महास्रं प्रस्वापनास्रं तदुर्गमिव
तस्मिन् महास्रदुर्गे दिग्वारणेनेव दिग्गजेनेव परेण शत्रुणा शिथिलप्रय-
त्नमल्पप्रयासं यथा तथा रुग्णे भग्ने सति । 'रुजो भग्ने' कर्मणि क्तः । 'ओदि-
तश्च' इति निष्ठातकारस्य नत्वम् । प्रबन्धनाय प्रकर्षणं बन्धनाय भुजङ्गा एव
पाशास्तान् । प्रजिघाय प्रहितवान् ॥ ३६ ॥

जिह्वाशतान्युल्लसयन्त्यजस्रं लसत्तडिल्लोलविषानलानि ।

त्रासान्निरस्ता भुजगेन्द्रसेना नभश्चरैस्तत्पदवीं विवत्रे ॥ ३७ ॥

जिह्वेति ॥ लसन्तस्तडिल्लोला विद्युच्चञ्चला विषानला विषामयो येषु तानि
जिह्वाशतान्यजस्रमुल्लसयन्ती चलयन्ती भुजगेन्द्रसेना त्रासाद्गयात् ।
नभश्चरैर्निरस्ता त्यक्ता तेषां नभश्चराणां पदवीं मार्गं विवत्रे विशेषेण रूढे ३७

दिङ्गागहस्ताकृतिमुद्रहद्भिर्भोगैः प्रशस्तासितरत्ननीलैः ।

रराज सर्पावलिरुल्लसन्ती तरङ्गमालेव नभोर्णवस्य ॥ ३८ ॥

दिङ्गागेति ॥ दिङ्गागहस्ताकृतिमुद्रहद्भिर्दिक्करिकराकारैस्तथा प्रशस्तानि
समीचीनानि असितरत्नानीन्द्रनीलमणयस्तद्वन्नीलैर्भोगैः कायैरुपलक्षिता
सर्पावलिरुल्लसन्ती प्रक्षुभ्यन्ती नभ एव अर्णवस्तस्य तरङ्गमालेव रराज ।
रूपकोस्थापितेयमुत्प्रेक्षा ॥ ३८ ॥

निःश्वासधूमैः स्थगितांशुर्जालं फणावतामुत्फणमण्डलानाम् ।

गच्छन्निवास्तं वपुरभ्युवाह विलोचनानां सुखमुष्णरश्मिः ॥ ३९ ॥

निःश्वासेति ॥ उष्णरश्मिरस्तं गच्छन्निवोन्नमितानि फणामण्डलानि
येषां तेषां फणावतां सर्पाणां निःश्वासेषु ये धूमास्तैः स्थगितमाच्छादित-

१ 'स्पष्टम्' इति पाठः. २ 'भग्ने' इति पाठः. ३ 'भुजङ्गमास्रम्' इति पाठः.

४ 'निबन्धनाय' इति पाठः. ५ 'असक्तम्' इति पाठः. ६ 'निरस्ता' इति पाठः.

७ 'विसस्रे' इति पाठः. ८ 'जालः' इति पाठः.

मंशुजालं यस्य तत्तथोक्तम् । अत एव विलोचनानां सुखं सुखकरं वपुर-
भ्युवाह ॥ ३९ ॥

प्रतप्तचामीकरभासुरेण दिशः प्रकाशेन पिशङ्गयन्त्यः ।

निश्चक्रमुः प्राणहरेक्षणानां ज्वाला महोल्का इव लोचनेभ्यः ॥४०॥

प्रतप्तेति ॥ प्राणहराणीक्षणानि येषां तेषां प्राणहरेक्षणानां दृष्टिविषाणां सर्पविशेषाणां लोचनेभ्यो नेत्रेभ्यः । 'लोचनं नयनं नेत्रम्' इत्यमरः । प्रतप्तं यच्चामीकरं सुवर्णं तद्बद्धासुरेण । 'भङ्गभासमिदो घुरच्' इति घुरच्प्रत्ययः । प्रकाशेन तेजसा दिशः पिशङ्गयन्त्यो ज्वाला महोल्का इव निश्चक्रमु-
निर्जग्मुः ॥ ४० ॥

आक्षिप्तसंपातमपेतशोभमुद्बहि धूमैराकुलदिग्विभागम् ।

वृतं नभो भोगिकुलैरवस्थां परोपरुद्धस्य पुरस्य भेजे ॥ ४१ ॥

आक्षिप्तेति ॥ आक्षिप्तः प्रतिषिद्धः संपातः संचारो यस्मिंस्तत् । सिद्धानां पक्षिणां चेति शेषः । अपेता गता शोभा यस्मात्तत् अपेतशोभं गतश्रीकम् । उद्गतः प्रदीप्तो वह्निर्यस्मिंस्तत् उद्बहि सर्वत उद्भूतदहनम् । धूमैराकुला व्याप्ता दिग्विभागा दिगन्ता यस्मिंस्तत् । भोगिकुलैः सर्पकुलैर्वृतमावृतं नभः परोप-
रुद्धस्य शत्रुवेष्टितस्य पुरस्यावस्थामिव, अवस्थां दशां भेजे । उक्तरीत्या तत्सा-
धर्म्यं प्राप्तमित्यर्थः । निदर्शनालंकारः ॥ ४१ ॥

तमाशु चक्षुःश्रवसां समूहं मन्त्रेण ताक्षर्योदयकारणेन ।

नेता नयेनेव परोपजापं निवारयामास पतिः पशूनाम् ॥ ४२ ॥

तमिति ॥ पशूनां पतिः शिवस्तं चक्षुःश्रवसां सर्पाणां समूहं ताक्षर्यो-
दयकारणेन गरुडाविर्भावहेतुना मन्त्रेण नेता नायको नयेन नीत्या परेषा-
सुपजापं परोपजापं परकृतं स्वमण्डलभेदमिव । 'भेदोपजापावुपधा' इत्य-
मरः । आशु निवारयामास ॥ ४२ ॥

प्रतिघ्नतीभिः कृतमीलितानि द्युलोकभाजामपि लोचनानि ।

गरुत्मतां संहतिभिर्विहायः क्षणप्रकाशाभिरिवावतेने ॥ ४३ ॥

प्रतीति ॥ द्युलोकभाजामपि अनिमेषाणामपि कृतं मीलनं निमेषो येषां
तानि लोचनानि दृष्टीः प्रतिघ्नतीभिः प्रतिबध्नतीभिः । हन्तेः शतरि ङीप् ।
गरुत्मतां ताक्षर्याणां संहतिभिः समूहैः क्षणप्रकाशाभिर्विद्युद्भिरिव । तासां
सौवर्णत्वादिति भावः । विहायोऽन्तरिक्षम् । अवतेने व्यानशे ॥ ४३ ॥

ततः सुपर्णव्रजपक्षजन्मा नानागतिर्मण्डलयञ्जवेन ।

जरत्तृणानीव वियन्निनाय वनस्पतीनां गहनानि वायुः ॥ ४४ ॥

तत इति ॥ ततः सुपर्णव्रजानां ताक्षर्यकुलानां पक्षेभ्यो जन्म यस्य स
नानागतिर्विचित्रगतिर्वायुः । वनस्पतीनां वृक्षाणां गहनानि जरत्तृणानि जी-
णतृणानीव जवेन मण्डलयन् भ्रमयन् वियदन्तरिक्षं निनाय ॥ ४४ ॥

१ 'लोचनस्थाः' इति पाठः. २ 'अस्त्रेण' इति पाठः. ३ 'क्षण' इति पाठः.
४ 'संहतिभिः' इति पाठः.

मनःशिलाभङ्गनिभेन पश्चान्निरुध्यमानं निकरेण भासाम् ।

व्यूढैरुभिश्च विनुद्यमानं नभः ससर्पेव पुरः खगानाम् ॥ ४५ ॥

मनःशिलेति ॥ मनःशिला धातुविशेषस्तस्या भङ्गश्छेदस्तन्निभेन तत्सदृशेन भासां निकरेण कान्तिपुञ्जेन पश्चान्नागे निरुध्यमानमाव्रियमाणं व्यूढैर्विशालैः उरोभिर्वक्षोभिश्च । 'उरो वत्सं च वक्षश्च' इत्यमरः । विनुद्यमानं प्रेर्यमाणं नभः खगानां गरुडानां पुरः ससर्पेव ससारेव । उत्तरोत्तरदेशतिरोधानेन गच्छतां खगानामपूर्वोऽपि पुरोभागः सादृश्यात्पूर्ववदुपलभ्यमानतया नभस एव छेदनात्पुरः ससर्पेवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ४५ ॥

दरीमुखैरासवरागताम्रं विकासि रुक्मच्छदधाम पीत्वा ।

जवानिलाघूर्णितसानुजालो हिमाचलः क्षीव इवाचकम्पे ॥ ४६ ॥

दरीति ॥ जवानिलेनाघूर्णितानि भ्रमितानि सानुजालानि यस्य स हिमाचलः । आसवस्य रागो रक्तता तद्वत् ताम्रम् । गुणयोरेवोपमानोपमेयभावः । विकासि विकस्वरं रुक्मच्छदाः सुवर्णपक्षास्ताक्षर्यास्तेषां धाम तेजो दरीभिर्मुखैरिव दरीमुखैः पीत्वा क्षीवो मत्त इवाचकम्प आचचाल । उपमाव्यापितेयमुत्प्रेक्षा ॥ ४६ ॥

प्रवृत्तनक्तं दिवसंधिदीप्तैर्नभस्तलं गां च पिशङ्गयद्भिः ।

अन्तर्हिताकैः परितः पतद्भिश्छायाः समाचिक्षिपिरे वनानाम् ४७

प्रवृत्तेति ॥ नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम् । 'अचतुर-' इत्यादिना सप्तम्यर्थवृत्तोरप्यव्यययोर्द्वन्द्वैकवद्भावनिपाते समासान्तः । लक्षणया त्वहोरात्रमात्रवाची । प्रवृत्तः प्रादुर्भूतो यो नक्तं दिवस्य संधिः संध्या तद्वद्दीप्तैः शोभितैः । नभस्तलं गां भुवं च पिशङ्गयद्भिः पिशङ्गीकुर्वद्भिः । अन्तर्हित आच्छादितोऽर्को यैस्तैः पतद्भिः पक्षिभिः परितः सर्वतो वनानां छायाः समाचिक्षिपिरे समाक्षिप्ताः । अन्तर्बहिश्च तेजःप्रवेशात्काप्यन्तर्हिता इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

स भोगिसङ्घः शममुग्रधाम्नां सैन्येन निन्ये विनतासुतानाम् ।

महाध्वरे विध्यपचारदोषः कर्मन्तरेणेव महोदयेन ॥ ४८ ॥

स इति ॥ स भोगिसङ्घः सर्पसमूह उग्रधाम्नां तेजस्विनां विनतासुतानां ताक्षर्यपक्षिणां सैन्येन महाध्वरे महाकृतां विध्यपचारदोषः कर्मस्खलनदोषो महोदयेन महासामर्थ्येन, अथवा महता फलेन । तन्मूलेन प्रकृतक्रियासिद्धेरिति । कर्मन्तरेण प्रायश्चित्तेनैव शमं शान्तिं निन्ये प्रापितः ॥ ४८ ॥

साफल्यमस्त्रे रिपुपौरुषस्य कृत्वा गते भाग्य इवापवर्गम् ।

अनिन्धनस्य प्रसभं समन्युः समाददेऽस्त्रं ज्वलनस्य जिष्णुः ॥ ४९ ॥

साफल्यमिति ॥ अस्त्रे सर्पास्त्रे । भाग्ये प्राग्भवीये शुभे कर्मणीव । रिपुपौरुषस्य रिपुपराक्रमस्य साफल्यं कृत्वा, अपवर्गमवसानं समाप्तिं गते सति ।

१ 'महाचलः' इति पाठः. २ 'नभस्यलम्' इति पाठः. ३ 'क्षयम्' इति पाठः.

४ 'कार्यान्तरेण' इति पाठः.

स्वनिवृत्त्या परसाफलयात्सफलीकरणोपचारः । समन्युः सक्रोधो जिष्णुरर्जुनो-
ऽनिन्धनस्येन्धनं विनैवोत्पादितस्य ज्वलनस्य ज्वलनप्रदीपकं अस्त्रमाग्नेयास्त्रं
प्रसभं शीघ्रं समाददे जग्राह ॥ ४९ ॥

ऊर्ध्वं तिरश्चीनमधश्च कीर्णैर्ज्वालासटैर्लङ्घितमेघपङ्क्तिः ।

आयस्तसिंहाकृतिरुत्पपात प्राण्यन्तमिच्छन्निव जातवेदाः ॥ ५० ॥

ऊर्ध्वमिति ॥ ऊर्ध्वं तिरश्चीनं तिर्यक् । 'विभाषाञ्चेरद्विस्त्रयाम्' इति खप्र-
त्ययः । अधश्च कीर्णैर्विस्तृतैर्ज्वाला एव सटाः केसराः । 'सटा जटाकेस-
रयोः' इति विश्वः । तैः, लङ्घितमेघपङ्क्तिरतिक्रान्तजलदालिः । आयस्तस्य
लङ्घनोद्यतस्य सिंहस्येवाकृतिर्यस्य स जातवेदा अग्निः प्राण्यन्तं प्राणिनां
संहारमिच्छन्निवोत्पपात ॥ ५० ॥

भित्त्वेव भाभिः सवितुर्मयूखाञ्ज्वाल विष्वग्विसृतस्फुलिङ्गः ।

विशीर्यमाणाश्मनिनादधीरं ध्वनिं वितन्वन्नकृशः कृशानुः ॥ ५१ ॥

भित्त्वेति ॥ भाभिस्तेजोभिः सवितुर्मयूखान् किरणान् । 'किरणोस्त्रमयू-
खांशु-' इत्यमरः । भित्त्वेवाभिहत्येव विष्वक् समन्ताद्विसृताः स्फुलिङ्गा
यस्य सः । स्फुलिङ्गोदयस्य मयूखाभिघातहेतुकत्वमुत्प्रेक्षते । 'त्रिषु स्फुलिङ्गोऽग्नि-
कणः' इत्यमरः । अकृशोऽतनु कृशानुर्वह्निः । विशीर्यमाणस्य विदलतोऽश्मनो
निनादमिव धीर्मुद्गतं ध्वनिं वितन्वन् ज्वाल ॥ ५१ ॥

चयानिवाद्रीनिव तुङ्गशृङ्गान् क्वचित्पुराणीव हिरण्मयानि ।

महावनानीव च किंशुकानां ततान वह्निः पवनानुवृत्त्या ॥ ५२ ॥

चयानिति ॥ वह्निः पवनानुवृत्त्या वायुवशेन चयानिव हिरण्मयान्प्राका-
रानिव । 'चयः समूहे प्राकारे' इति विश्वः । तुङ्गशृङ्गानद्रीनिव क्वचिद्धिरण्म-
यानीति 'दाण्डिनायन-' इत्यादिना निपातनात्साधुः । पुराणि नगराणीव
तथा किंशुकानां पलाशतरुणाम् । 'पलाशे किंशुकः पर्णः' इत्यमरः । महाव-
नानीव । पुष्पितानीति शेषः । ततान वितस्तार । तदाकारेण ज्वालेत्यर्थः ५२

मुहुश्चलत्पल्लवलोहिनीभिरुच्चैः शिखाभिः शिखिनोऽवलीढाः ।

तलेषु मुक्ताविशदा बभूवुः सान्द्राञ्जनश्यामरुचः पयोदाः ॥ ५३ ॥

मुहुरिति ॥ सान्द्राञ्जनश्यामरुचो घनकज्जलश्यामरुचः पयोदा मुहुश्चल-
न्त्यश्च ताः पल्लवलोहिन्यो लोहितवर्णाश्च ताभिश्चलत्पल्लवलोहिनीभिः ।
'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' इति ङीप् । तकारस्य नकारः । शिखिनोऽग्नेः ।
उच्चैरुन्नताभिः शिखाभिर्ज्वालाभिः । अवलीढाः । दग्धा इत्यर्थः । अत एव
तलेषु अधोभगेषु मुक्ताविशदा मौक्तिकधवला बभूवुः । जलसंशोषणादिति
भावः । 'अधःस्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः ॥ ५३ ॥

लिलिक्षतीव क्षयकालरौद्रे लोकं विलोलाचिंषि रोहिताश्वे ।
पिनाकिना हूतमहाम्बुवाहमस्त्रं पुनः पाशभृतः प्रणिन्ये ॥ ५४ ॥

लिलिक्षतीवेति ॥ क्षयकालरौद्रे कल्पान्तकालवद्भयावहे विलोलाचिंषि
चलज्वाले रोहिताश्वे ज्वलने । 'रोहिताश्वो वायुसखः' इत्यमरः । लोकं
लिलिक्षति लेढुमिच्छति जिघत्सति सतीव । लिहः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः । पिना-
किना पुनर्हूता आहूता आकारिता महाम्बुवाहा येन तत् । पाशभृतो वरु-
णस्य । अस्त्रं प्रणिन्ये प्रयुक्तम् ॥ ५४ ॥

ततो धरित्रीधरतुल्यरोधसस्ताडिल्लतालिङ्गितनीलमूर्तयः ।

अधोमुखाकाशसरिन्निपातिनीरपः प्रसक्तं मुमुचुः पयोमुचः ॥५५॥
तत इति ॥ ततो वरुणास्त्रप्रयोगानन्तरं धरित्रीधरतुल्यरोधसः पर्वत-
समप्रान्ताः । 'रोधः स्यात्प्रान्तकूलयोः' इति विश्वः । तडिल्लताभिरालिङ्गिता
नीलमूर्तयो नीलाङ्गानि येषां ते पयोमुचो मेघा अधोमुखा आकाशसरिदिव
निपतन्तीति अधोमुखाकाशसरिन्निपातिनीः । 'कर्तर्युपमाने' इति णिनिः ।
अपो जलानि प्रसक्तमनुबन्धमविच्छिन्नं यथा तथा मुमुचुः । इतःप्रभृति
वंशस्थवृत्तम् ॥ ५५ ॥

पराहतध्वस्तशिखे शिखावतो वपुष्यधिक्षिप्तसमिद्धतेजसि ।

कृतास्पदास्तप्त इवायसि ध्वनिं पयोनिपाताः प्रथमे वितेनिरे ॥५६॥
पराहतेति ॥ पराहता अभिहता अतो ध्वस्ता निर्वापिताः शिखा ज्वाला यस्य
तस्मिन् पराहतध्वस्तशिखे । अधिक्षिप्तं प्रहारितं नाशितम् । ताडितमिति
यावत् । अतः समिद्धं झटिति प्रदीप्तं तेजो यस्य तस्मिन् । शिखावतो-
ऽमेर्वपुषि स्वरूपे । तप्तेऽयसि लोह इव कृतास्पदाः कृतस्थितयः । 'आस्पदं
प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । प्रथमे पयोनिपाता जलपाता ध्वनिं वितेनिरे
विस्तारयामासुः ॥ ५६ ॥

महानले भिन्नसिताभ्रपातिभिः समेत्य सद्यः कथनेन फेनताम् ।

ब्रजद्भिरार्द्रेन्धनवत्परिक्षयं जलैर्वितेने दिवि धूमसंततिः ॥ ५७ ॥
महानल इति ॥ महानलेऽग्नौ भिन्नानि खण्डितानि सिताभ्राणीव पतन्तीति
भिन्नसिताभ्रपातिभिः । 'कर्तर्युपमाने' इति णिनिप्रत्ययः । अत एव सद्यः
कथनेन पाकेन फेनतां समेत्य प्राप्य परिक्षयं नाशं ब्रजद्भिर्जलैरार्द्रेन्ध-
नवत् आर्द्रकाष्ठैस्तुल्यम् । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिप्रत्ययः । दिवि
गगने धूमसंततिर्वितेने विस्तारिता । फेनादिकमार्द्रेन्धनेऽपि तुल्यम् ॥ ५७ ॥

स्वकेतुभिः पाण्डुरनीलपाटलैः समागताः शक्रधनुःप्रभाभिदः ।

असंस्थितामादधिरे विभावसोर्विचित्रचीनांशुकचारुतां त्विषः ५८

स्वकेतुभिरिति ॥ पाण्डुरनीलैः पाटलैश्च पाण्डुरनीलपाटलैर्विचित्रैः स्व-

केतुभिर्धूमैः समागताः संगताः । अत एव शक्रधनुषः प्रभाभिद् इन्द्रधनु-
द्युतिभाजो विभावसोरग्नेस्त्वषोऽसंस्थितामस्थिरां विचित्रस्य चीनांशु-
कस्य पट्टवस्त्रविशेषस्य चारुतामादधिरे दधुः ॥ ५८ ॥

जलौघसंमूर्च्छनमूर्च्छितस्वनः प्रसक्तवियुल्लसितैधितद्युतिः ।

प्रशान्तिमेष्यन्धृतधूममण्डलो बभूव भूयानिव तत्र पावकः ॥५९॥

जलौघेति ॥ जलौघानामुदकप्रवाहाणां संमूर्च्छनेन मेलनेन मूर्च्छित-
स्वनः प्रवृद्धघोषः । 'मूर्च्छनं मेलने प्रोक्तं वृद्धौ मूर्च्छितमेव वा' इति सज्जनः ।
प्रसक्तैः संगतैर्वियुतां तडिल्लतानां लसितैः स्फुरणैरेधिता वर्धिता द्युतिर्यस्य
स धृतधूममण्डलो जलाघातात्संभूतधूमपटलः पावकः प्रशान्तिमेष्यन्,
तत्र देशे भूयानिव बभूव । भूयस्तया स्थापित इवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

प्रवृद्धसिन्धूमिचयस्थवीयसां चयैर्विभिन्नाः पयसां प्रपेदिरे ।

उपात्तसंध्यारुचिभिः सरूपतां पयोदविच्छेदलवैः कृशानवः ॥६०॥

प्रवृद्धेति ॥ प्रवृद्धानां सिन्धोः समुद्रस्य उर्मीणां चया राशय इव स्थवी-
यसां स्थूलतराणां पयसां चयैः पूरैर्विभिन्ना विश्लेषिताः कृशानवोऽग्नय
उपात्तसंध्यारुचिभिः प्राप्तसंध्यारागैः पयोदानां विच्छिद्यन्त इति विच्छेदा
विच्छिन्ना विक्षिप्ता ये लवाः शकलास्तैः सरूपतां समानरूपतां प्रपेदिर
इत्युपमा ॥ ६० ॥

उपैत्यनन्तद्युतिरप्यसंशयं विभिन्नमूलोऽनुदयाय संक्षयम् ।

तथा हि तोयौघविभिन्नसंहतिः स हव्यवाहः प्रययौ पराभवम् ६१

उपैतीति ॥ अनन्तद्युतिर्महातेजा अपि विभिन्नमूलो नष्टमूलोऽसंशयं
यथा तथाऽनुदयाय पुनरनुत्थानाय संक्षयं नाशम् । उपैति । तथा हि—
तोयौघैर्विभिन्ना संहतिः संघातो यस्य स तथोक्तः हव्यवाहोऽग्निः पराभवं
नाशं प्रययौ । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६१ ॥

अथ विहितविधेयैराशु मुक्ता वितानै-

रसितनगनितम्बश्यामभासां घनानाम् ।

विकसदमलधाम्नां प्राप नीलोत्पलानां

श्रियमधिकविशुद्धां वह्निदाहादिव द्यौः ॥ ६२ ॥

अथेति ॥ अथ अग्निनिर्वाणानन्तरम् । विहितविधेयैः कृतकृत्यैः । असितन-
गस्याञ्जनाद्ग्रेर्नितम्बः कटकस्तद्वत् श्यामभासां घनानां वितानैः पटलैर्मुक्ता
द्यौराकाशो वह्निदाहादिवेत्युत्प्रेक्षा । विकसन्ति च तानि अमलधामानि
स्वच्छकान्तीनि च तेषां नीलोत्पलानामधिकविशुद्धामत्युज्ज्वलां श्रियं
प्राप । निदर्शनालंकारः ॥ ६२ ॥

इति विविधमुदासे सव्यसाची यदस्त्रं
बहुसमरनयज्ञः सादयिष्यन्नरातिम् ।
विधिरिव विपरीतः पौरुषं न्यायवृत्तेः

सपदि तदुपनिन्ये रिक्ततां नीलकण्ठः ॥ ६३ ॥

इतीति ॥ बहुसमरनयाननेकरणोपायान् जानातीति बहुसमरनयज्ञः ।
'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । न तु 'इगुपध-' इत्यादिनाऽऽकारान्तात्
'अनुपपदात्कर्मोपपदो भवति विप्रतिषेधेन' इति वार्तिकव्याख्याने भाष्यकारेण
'अर्थज्ञ'शब्दमुदाहृत्यास्य 'अर्थज्ञ'शब्दस्य कर्मोपपदत्वं दर्शितम् । सव्यसाची
अर्जुनः । अरातिं किरातपतिं सादयिष्यन् । अवसादयितुकामः सन्नित्यर्थः ।
क्रियार्थक्रियायां लृटि तस्य शत्रादेशः । इति पूर्वोक्तप्रकारेण विविधं यदस्त्रमु-
दासे । प्रयुक्तवानित्यर्थः । 'उपसर्गादस्यत्यूहोर्वेति वाच्यम्' इत्यात्मनेपदम् ।
विपरीतो विधिः प्रतिकूलं दैवम् । विधिर्विधाने दैवेऽपि' इत्यमरः । न्यायेन
नीत्या वृत्तिर्वर्तनं यस्य तस्य नीतिनिष्ठस्य पौरुषमिव नीलकण्ठः शिवः
सपदि तत् अस्त्रं रिक्ततां व्यर्थताम् । उपनिन्ये । संहतवानित्यर्थः । मालिनी-
वृत्तम् ॥ ६३ ॥

वीतप्रभावतनुरप्यतनुप्रभावः

प्रत्याचकाङ्क्ष जयिनीं भुजवीर्यलक्ष्मीम् ।

अस्त्रेषु भूतपतिनापहतेषु जिष्णु-

वर्षिष्यता दिनकृतेव जलेषु लोकः ॥ ६४ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये षोडशः सर्गः ।

वीतेति ॥ भूतपतिना शंभुना । अनुग्रहीष्यतेति शेषः । अस्त्रेष्वपहतेषु
सत्सु वर्षिष्यता, उत्तरत्र, -सहस्रगुणं वितरेष्यता दिनकृता सूर्येण जलेष्वपह-
तेषु सत्सु लोक इव वीतप्रभावो गतास्त्रमहिमा । अन्यत्र, -गतशक्तिः । अत एव
तनुः क्षीणो वीतप्रभावतनुः, तथाऽप्यतनुप्रभावो निसर्गतः सामर्थ्यादधिकः ।
अन्यत्र, -उद्योगवान् । ततो जिष्णुरर्जुनो जयिनीं जयशीलाम् । 'जिहृक्षि-'
इत्यादिनेनिप्रत्ययः । भुजवीर्यलक्ष्मीं भुजपराक्रमसंपदम् । उभयत्रापि पुरुषका-
रमिति यावत् । तत्कालकुण्ठतामिति शेषः । प्रत्याचकाङ्क्ष । प्रत्याहर्तुमियेषे-
त्यर्थः । यथा लोको नद्यादिजलापहारेऽप्युपायान्तरेण कूपादिना जीवितुमि-
च्छति तद्वदस्त्रबलापहारेऽपि भुजबलेनैव जेतुमियेषेति भावः । वसन्ततिलका-
वृत्तम् ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-
काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां षोडशः सर्गः समाप्तः ॥

सप्तदशः सर्गः ।

अथ पञ्चभिः पार्थ विशेषयन् षड्भिः कुलकमाह—अथेत्यादिभिः ॥ १ ॥

अथापदामुद्धरणक्षमेषु मित्रेष्विवास्त्रेषु तिरोहितेषु ।

धृतिं गुरुश्रीगुरुणाभिपुष्यन् स्वपौरुषेणेव शरासनेन ॥ १ ॥

अथ जयलक्ष्मीप्रत्याकाङ्क्षानन्तरम् । आपदामुद्धरणक्षमेषु आपन्नवारणस-
मर्थेषु । अस्त्रेषु प्रस्वापनादिषु तादृशेषु मित्रेष्विव तिरोहितेष्वन्तर्हितेषु सत्सु
गुरुणा महता स्वपौरुषेणेव तादृशेन शरासनेन धृतिं धैर्यम् । अभिपुष्यन्
वर्धयन् । अद्यापि धनुषि पौरुषे च सति कियानयं किरात इति धैर्यमवलम्बमान
इत्यर्थः । अत एव गुरुश्रीः प्रवृद्धशोभासंपत्तिः । 'पद्मा मा लक्ष्मीः श्रीर्निग-
द्यते' इति शाश्वतः ॥ १ ॥

भूरिप्रभावेण रणाभियोगात्प्रीतो विजिह्वश्च तदीयवृद्ध्या ।

स्पष्टोऽप्यविस्पष्टवपुःप्रकाशः सर्पन्महाधूम इवाद्रिवह्निः ॥ २ ॥

भूरीति ॥ पुनश्च, भूरिप्रभावेण महानुभावेन सह रणाभियोगात् युद्ध-
लाभात् प्रीतः, तदीयवृद्ध्या शत्रुवृद्ध्या विजिह्वो विश्वथश्च तथा स्पष्टो दीह्या
प्रज्वलन्नप्यविस्पष्टो वपुःप्रकाशो यस्य सः । कुतः । सर्पन् प्रसरन् महान्धूमो
यस्य स सर्पन्महाधूमोऽद्रिवह्निरिव स्थितः ॥ २ ॥

तेजः समाश्रित्य परैरहार्यं निजं महन्मित्रमिवोरुधैर्यम् ।

आसादयन्नस्खलितस्वभावं भीमे भुजालम्बमिवारिदुर्गे ॥ ३ ॥

तेज इति ॥ पुनश्च, परैरभिरहार्यमभेद्यं निजं स्वकीयं महत्तेजो वीर्यं
मित्रमिव समाश्रित्य । अत एव भीमे भयानकेऽरिरेव दुर्गं तस्मिन् अरि-
दुर्गे शत्रुसंकटे । अस्खलितस्वभावमचलशीलमुरु महत् धैर्यं भुजालम्बमिव
हस्तावष्टम्भमिव आसादयन् प्राप्नुवन् । ईदृशे संकटेऽपि महावीर्यत्वाद्धैर्यम-
त्यजन्नित्यर्थः ॥ ३ ॥

वंशोचितत्वादभिमानवत्या संप्राप्तया संप्रियतामसुभ्यः ।

समक्षमादित्सतया परेण वध्वेव कीर्त्या परितप्यमानः ॥ ४ ॥

वंशेति ॥ पुनश्च, अभिमानो ममताबुद्धिस्तद्वत्या । विषयतया कर्मणि
कर्तृत्वोपचारः । अभिमानास्पदेनेत्यर्थः । अन्यत्र,—कुलशीलाद्यभिमानवत्या ।
वंशोचितत्वात् स्वकुलानुरूपत्वात् । असुभ्यः प्राणेभ्योऽपि संप्रियतां
संप्राप्तया परेण शत्रुणाऽक्ष्णोः समीपे समक्षमक्ष्यग्रतः । अव्ययीभावे शरत्प्र-
भृतिभ्यः' इति समासान्तष्टप्रत्ययः । आदातुं ग्रहीतुमिष्टयाऽऽदित्सतया ।
आजिहीर्षितयेत्यर्थः । आङ्पूर्वाद्दातेः सन्नन्तात्कर्मणि क्तः । वध्वेव कीर्त्या
हेतुना परितप्यमानः । कर्तरि शानच् 'हेतौ' इति तृतीया । कन्यया शोक
इतिवत् ॥ ४ ॥

पतिं नगानामिव बद्धमूलमुन्मूलयिष्यंस्तरसा विपक्षम् ।

लघुप्रयत्नं निगृहीतवीर्यस्त्रिमार्गगावेग इवेश्वरेण ॥ ५ ॥

पतिमिति ॥ पुनश्च, नगानां पतिं हिमवन्तमिव बद्धमूलं विपक्षं शत्रुं तरसा बलेन । उन्मूलयिष्यन् उत्पाटयिष्यन् । किंच, त्रिभिर्मार्गैर्गच्छतीति त्रिमार्गगा गङ्गा । उत्तरपदसमासः । तस्या वेग इव । ईश्वरेण लघुप्रयत्नमल्पप्रयासं यथा तथा निगृहीतवीर्यः प्रतिबद्धशक्तिः । हतास्त्रशक्तिरिति यावत् । पुरा किल हिमाद्रिविदलनाय गगनात्पतन्तं गङ्गाप्रवाहं गङ्गाधरो निज-जटाजूटेन निजग्राहेति पौराणी कथा तद्वदित्यर्थः ॥ ५ ॥

संस्कारवत्त्वाद्रमयत्सु चेतः प्रयोगशिक्षागुणभूषणेषु ।

जयं यथार्थेषु शरेषु पार्थः शब्देषु भावार्थमिवाशंसे ॥ ६ ॥

संस्कारेति ॥ एवंभूतः पार्थः संस्कारवत्त्वात् संस्कारश्चित्तवासना । अन्यत्र,—साधुत्वम् । असाधूनां प्रयोगनिषेधादिति भावः । अथवा संस्कारो व्युत्पत्तिस्तद्वत्त्वात् चेतो रमयत्सु । प्रयोगः संधानमोक्षादिः शिक्षाऽभ्यासो गुणस्तदाहितोऽतिशयो मौर्वी वा, अन्यत्र तु,—प्रयोगोऽभियुक्तव्यवहारः शिक्षाऽभ्यासो गुणाः स्वस्वस्थानकरणादयः श्लेषप्रसादादयो वा ते भूषणं येषां तेषु । यथा यथाभूता अर्था येषां तेषु यथार्थेषु । अन्यत्र,—नियतार्थेषु । शृणन्ति हिंसन्तीति शरास्तेषु जयम् । तन्निर्वाहकत्वात्तदाधारत्वविवक्षायां सप्तमी । शब्देषु पदेषु भावः प्रवृत्तिनिमित्तं सामान्यादिः स एव अर्थस्तमिव । आश-शंसे आचकाङ्क्षे । शास्तिशंसत्योराङ्पूर्वयोरिच्छायामात्मनेपदमुपसंख्यानात् । यथा शाब्दिकाः शब्दैरर्थं साधयन्ति तद्वदयं शरैर्जयं साधयितुमियेषेत्यर्थः ॥ ६ ॥

भूयः समाधानविवृद्धतेजा नैवं पुरा युद्धमिति व्यथावान् ।

सं निर्ववामास्रममर्षनुन्नं विषं महानाग इवेक्षणाभ्याम् ॥ ७ ॥

भूय इति ॥ भूयः पुनरपि समाधानेन युद्धाय मनोव्यवस्थापनेन विवृद्धतेजाः प्रवृद्धप्रतापः पुरा पुरातनं युद्धमेवमित्थं शक्तिसादकरं नाभवत्, इति हेतोर्व्यथावान् परितापवान् सोऽर्जुन ईक्षणाभ्यां दृष्टिभ्यां महानागो महासर्पो विषमिवामर्षनुन्नं क्रोधोत्थापितम् । अस्त्रमश्रु निर्ववाम निर्जगार । सात्त्विकानां रससाधारण्याद्गौद्रेऽश्रुदयोक्तिः । 'स्तंभः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः । वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः' ॥ ७ ॥

तस्याहवायासविलोलमौलेः संरम्भताम्रायतलोचनस्य ।

निर्वापयिष्यन्निव रोषतप्तं प्रस्नापयामास मुखं निदाघः ॥ ८ ॥

तस्येति ॥ आहवायासेन युद्धायासेन विलोलमौलेः स्वस्तकेशबन्धस्य । 'चूडा किरीटं केशाश्च संयता मौलयस्त्रयः' इत्यमरः । संरम्भताम्रे कोपारुणे आयते विस्तृते लोचने यस्य । 'संरम्भः संभ्रमे कोपे' इति विश्वः । तस्यार्जुनस्य । रोषतप्तं मुखं निदाघो घर्मो निर्वापयिष्यन् शिशिरीकरिष्यन्निवेत्यु-

१ 'जयार्थेषु' इति पाठः. २ 'शनैर्ववाम' इति पाठः. ३ 'निवापयिष्यन्' इति पाठः.

त्प्रेक्षा । प्रस्नापयामास सिषेच । खेदं जनयामासेत्यर्थः । स्नातेर्मित्त्वविकल्पा-
ङ्गस्वविकल्पः ॥ ८ ॥

क्रोधान्धकारान्तरितो रणाय भ्रूमेदरेखाः स बभार तिस्रः ।

घनोपरुद्धः प्रभवाय वृष्टेरूर्ध्वाशुराजीरिव तिग्मरश्मिः ॥ ९ ॥

क्रोधेति ॥ क्रोधोऽन्धकार इव तेनान्तरित आवृतः सोऽर्जुनो घनोप-
रुद्धो मेघावृतस्तिग्मरश्मी रविवृष्टेः प्रभवाय वर्षणाय तिस्र ऊर्ध्वाशूनां
राजीरिव । अर्कस्योर्ध्वाशुरेखोदये वृष्टिलिङ्गमित्यागमः । रणाय रणप्रवृत्तये
तिस्रस्त्रिसंख्या भ्रूमेदो भ्रूभङ्गस्तस्य रेखा बभार ॥ ९ ॥

सं प्रध्वनय्याम्बुदनादि चापं हस्तेन दिङ्गाग इवाद्रिशृङ्गम् ।

बलानि शंभोरिषुभिस्तताप चेतांसि चिन्ताभिरिवाशरीरः ॥ १० ॥

स इति ॥ साऽर्जुनोऽम्बुदवन्नदतीति अम्बुदनादि । 'कर्तयुपमाने' इति
णिनिः । चापं दिङ्गागो दिग्गजोऽद्रिशृङ्गमिव हस्तेन करेण प्रध्वनय्य ध्वन-
यित्वा शंभोर्बलानि सैन्यानि । अशरीरोऽनङ्गः कामश्चेतांसि युवमनांसि
चिन्ताभिः प्रेयोजनध्यानैरिव । इषुभिस्तताप तापयामास । तपतिः सक-
र्मकः । अत्र 'इषु'शब्दः स्त्रीलिङ्गः । अन्यथोपमानोपमेययोर्भिन्नलिङ्गतादोषात् ।
'पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः ॥ १० ॥

सद्वादितेवाभिनिविष्टबुद्धौ गुणाभ्यसूयेव विपक्षपाते ।

अगोचरे वागिव चोपरेमे शक्तिः शराणां शितिकण्ठकाये ॥ ११ ॥

सद्वादितेति ॥ अभिनिविष्टा शास्त्रनिश्चिता बुद्धिर्यस्य स तस्मिन् अभिनिवि-
ष्टबुद्धौ शास्त्रनिष्ठतमतौ विषये सद्वादिता प्रामाणिकार्थसमर्थकतेव । न हि
सम्यग्भ्यस्तशास्त्रं प्रति सद्वाद्यपि शक्नोतीति व्याचक्षते केचित् । अन्ये त्वभिनि-
विष्टबुद्धावाग्रहाविष्टचित्ते विषये सद्वादिता हितोपदेष्टृत्वमिव । न ह्याग्रही हितं
गृह्णातीति भावः । विपक्षपाते वीतरागे विषये गुणाभ्यसूया गुणासहिष्णु-
तेव । स हि समदर्शी द्विषन्तमपि न द्वेष्टीति भावः । अगोचरेऽवाङ्मनसगोचरे
ब्रह्मणि वागिव । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेरिति
भावः । शराणां शक्तिः शितिकण्ठकाये शिवशरीरे विषये उपरेम उप-
रता । तस्याक्षोभ्यमहिमत्वादिति भावः । 'विभाषाकर्मकात्' इत्यस्य वैकल्पिक-
त्वात्पक्ष आत्मनेपदम् । अत्र मालोपमा ॥ ११ ॥

उमापतिं पाण्डुसुतप्रणुन्नाः शिलीमुखा न व्यथयांबभूवुः ।

अभ्युत्थितस्याद्रिपतेर्नितम्बमर्कस्य पादा इव हैमनस्य ॥ १२ ॥

उमेति ॥ पाण्डुसुतेन प्रणुन्नाः प्रक्षिप्ताः शिली शल्यं मुखे येषां ते
शिलीमुखा बाणा उमापतिं शिवम् । अभ्युत्थितस्याभ्युन्नतस्य । अद्रिपते-
र्नितम्बं कटकम् । हेमन्ते भवस्य हैमनस्य । 'सर्वत्राण्च तलोपश्च' इत्यणप्रत्ययः
तकारलोपश्च । अर्कस्य पादा रश्मय इव । 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्याशाः' इत्यमरः ।

१ 'भ्रूभङ्गरेखाः' इति पाठः. २ 'घनावरुद्धः' इति पाठः. ३ 'घर्मरश्मिः' इति पाठः.
४ 'स ध्वानयन्'; 'प्रध्वानयन्' इति पाठौ. ५ 'अभ्युच्छ्रितस्य' इति पाठः.

न व्यथयांबभूवुः । 'मध्ये स्थितस्यासुमतां समूहमर्कस्य' इति पाठान्तरे मध्ये स्थितस्य हैमनस्यार्कस्य पादाः किरणा असुमतां प्राणिनां समूहमिवेति न दुःख-मुत्पादयामासुरिति योजना ॥ १२ ॥

संप्रीयमाणोऽनुबभूव तीव्रं पराक्रमं तस्य पतिर्गणानाम् ।

विषाणभेदं हिमवानसह्यं वप्रानतस्येव सुरद्विपस्य ॥ १३ ॥

समिति ॥ गणानां पतिः शिवः । तीव्रं तस्यार्जुनस्य पराक्रमं वप्रे रोधसि आनतस्य परिणतस्य । तटप्रहारिण इत्यर्थः । सुरद्विपस्यासह्यं विषाणभेदं दन्तप्रहारं हिमवानिव संप्रीयमाणः संहृष्यन्, अनुबभूवानुभवति स्म । तस्याक्षोभ्यत्वादनुजिघृक्षुत्वाच्चेति भावः ॥ १३ ॥

तस्मै हि भारोद्धरणे समर्थं प्रदास्यता बाहुमिव प्रतापम् ।

चिरं विषेहेऽभिभवस्तदानीं स कारणानामपि कारणेन ॥ १४ ॥

तस्मै हीति ॥ तस्मै पार्थाय भारस्य भूभारस्य उद्धरण उद्धहने समर्थं प्रतापं बाहुमिव । अवष्टम्भतयेति शेषः । अन्यथा भारोद्धहनस्य दुष्करत्वादिति भावः । 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः । प्रदास्यता वितरिष्यता कारणानां ब्रह्मादीनामपि कारणेन जनकेन देवेन सोऽभिभवोऽर्जुनपरिभवः । तदानीं चिरं विषेहे सोढः । वात्सल्यादिति भावः ॥ १४ ॥

अथ त्रिभिर्भगवदभिप्रायमाविष्कुर्वंश्चतुर्भिः कलापकमाह—

प्रत्याहतौजाः कृतसत्त्ववेगः पराक्रमं ज्यायसि यस्तनोति ।

तेजांसि भानोरिव निष्पतन्ति यशांसि वीर्यज्वलितानि तस्य ॥ १५ ॥

प्रत्याहतेति ॥ प्रत्याहतौजाः परेण प्रतिहतबलः सन्नपि कृतसत्त्ववेगः कृतोत्साहातिशयः सन् यः पुमान् ज्यायसि स्वस्वादप्यधिके पराक्रमं तनोति तस्य पुंसो भानोरर्कस्य तेजांसीव वीर्येण शौर्येण ज्वलितानि प्रकाशितानि यशांसि निष्पतन्ति । उद्भवन्तीत्यर्थः । हीनस्याधिकाभियोगो यशस्कर इति भावः ॥ १५ ॥

ततः किमित्यत आह—

दृष्टावदानाद्ग्रथतेऽरिलोकः प्रध्वंसमेति व्यथिताच्च तेजः ।

तेजोविहीनं विजहाति दर्पः शान्तार्चिषं दीपमिव प्रकाशः ॥ १६ ॥

दृष्टेति ॥ दृष्टमवदानं महत्कर्म यस्य तस्मात् दृष्टावदानाद्दृष्टपांरुषात् । अरि-लोकः शत्रुजनो व्यथते बिभेति । व्यथिताङ्गीतात् तेजः प्रध्वंसं नाशम् । एति । तेजोविहीनं दर्प उक्साहः शान्तार्चिषं निर्वाणज्वालं दीपं प्रकाश इव विजहाति त्यजति ॥ १६ ॥

१ 'भारोद्धहने' इति पाठः. २ 'प्रसेहे' इति पाठः. ३ 'क्षत' इति पाठः. ४ 'विलोकः' इति पाठः. ५ 'प्रजहाति' इति पाठः.

ततः प्रयात्यस्तमदावलेपः स जय्यतायाः पदवीं जिगीषोः ।

गन्धेन जेतुः प्रमुखागतस्य प्रतिद्विपस्येव मतङ्गजौघः ॥ १७ ॥

तत इति ॥ ततो दर्पहान्यनन्तरम् । अस्तौ क्षयं गतौ मदावलेपौ मदगर्वौ यस्य सोऽरिलोको गन्धेन मदगन्धेनेव जेतुर्जयनशीलस्य । शीलार्थं तृचप्रत्ययः । प्रमुखागतस्याभिमुखागतस्य प्रतिद्विपस्यान्यो मतङ्गजौघो मत्तगजसमूह इव जिगीषोर्नायकस्य जय्यतायाः पदवीं प्रयाति प्राप्नोति । विजिगीषुणा जेतुं शक्यो भवतीत्यर्थः । 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' इति निपातः । अत्र श्लोकद्वये ज्यायसि पराक्रमकरणादीनां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वकथनात् कारण-मालाख्योऽलंकारः । लक्षणं तूक्तम् ॥ १७ ॥

एवं प्रतिद्वन्द्विषु तस्य कीर्तिं मौलीन्दुलेखाविशदां विधास्यन् ।

इयेष पर्यायजयावसादां रणक्रियां शंभुरनुक्रमेण ॥ १८ ॥

एवमिति ॥ एवमुक्तरीत्या प्रतिद्वन्द्विषु प्रत्यर्थिषु मध्ये तस्यार्जुनस्य मौली-न्दुलेखाविशदां कीर्तिं विधास्यन् करिष्यन्, अनुक्रमेणाविपर्यासेन पर्यायेण जयोऽवसादो भङ्गश्च तौ जयावसादौ यस्यां तां पर्यायजयावसादां रणक्रियायाम् । इयेषेच्छति स्म । जयानन्तरं भङ्गो भङ्गानन्तरं जय इति पर्यायार्थः । तस्य विपर्यासोऽन्यतरनैरन्तर्यं तदभावोऽनुक्रम इत्यपौनरुक्त्यम् ॥ १८ ॥

मुनेर्विचित्रैरिषुभिः स भूयान्निन्ये वशं भूतपतेर्बलौघः ।

सहात्मलाभेन समुत्पतद्भिर्जातिस्वभावैरिव जीवलोकः ॥ १९ ॥

मुनेरिति ॥ मुनेर्विचित्रैरिषुभिः स भूयान् असंख्यो भूतपतेर्बलौघ आत्मलाभेन जन्मना सह समुत्पतद्भिर्जातिस्वभावैरिव जीवलोकः । आजन्मसिद्धैरित्यर्थः । जातयो गोत्वमनुष्यत्वादयः, स्वभावा जातिनियता धर्मास्तैः जातिस्वभावैर्जीवलोकः प्राणिजातमिव वशं निन्ये नीतः । कर्मणि लिट् । प्राणिनो जातिधर्मानिव गणा मुनिशरान्नातिक्रमितुं शेकुरित्यर्थः । कलापकम् ॥ १९ ॥

वितन्वतस्तस्य शरान्धकारं त्रस्तानि सैन्यानि रवं निशेमुः ।

प्रवर्षतः संततवेपथूनि क्षपाघनस्येव गवां कुलानि ॥ २० ॥

वितन्वत इति ॥ त्रस्तानि सैन्यानि संततवेपथूनि निरन्तरकम्पानि गवां कुलानि वृन्दानि प्रवर्षतो वृष्टिं कुर्वतः क्षपाघनस्य रात्रिमेघस्येव शरैर्योऽन्धकारस्तं वितन्वतो विस्तारयतः तस्य मुनेः संबन्धिनं रवं शरवर्षघोषं निशेमुः शुश्रुवुः । न तु किञ्चिद्दृश्युः । चेष्टा तु दूरापास्तेति भावः ॥ २० ॥

स सायकान्साध्वसविपुतानां क्षिपन्परेषामतिसौष्टवेन ।

शशीव दोषावृतलोचनानां विभिद्यमानः पृथगाबभासे ॥ २१ ॥

स इति ॥ अतिसौष्टवेनातिलाघवेन सायकान् शरान् क्षिपन् सोऽर्जुनः साध्वसेन विपुतानां भ्रान्तानां परेषां द्विषां दोषेण काचकामलादिरोगेण आवृतलोचनानां दुष्टचक्षुषां शशीव पृथग्विभिद्यमान आबभासे । यथा सदोषचक्षुषैकश्चन्द्रो नानेव लक्ष्यते तद्वदेकोऽप्यनेक इव दृष्ट इति भावः ॥ २१ ॥

क्षोभेण तेनाथ गणाधिपानां भेदं ययावाकृतिरीश्वरस्य ।
तरङ्गकम्पेन महाहृदानां छायामयस्येव दिनस्य कर्तुः ॥ २२ ॥

क्षोभेणेति ॥ अथ गणाधिपानां संबन्धिना तेन क्षोभेण कम्पेन । ईश्वर-
स्याकृतिराकारो मूर्तिः । महाहृदानां तरङ्गकम्पेन छायामयस्य प्रतिबिम्ब-
रूपस्य दिनस्य कर्तुर्दिवाकरस्याकृतिरिव भेदं विकारं ययौ प्राप । स्वयं निर्वि-
कारोऽपि प्रतिमासूर्यवत् परसंसर्गात्तथा प्रतीयत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

यदि देवोऽपि विकृतस्तर्हि कोपः किं न कृतः, तत्राह—
प्रसेदिवांसं न तमाप कोपः कुतः परस्मिन्पुरुषे विकारः ।
आकारवैषम्यमिदं च भेजे दुर्लक्ष्यचिह्ना महतां हि वृत्तिः ॥ २३ ॥

प्रसेदिवांसमिति ॥ प्रसेदिवांसमर्जुनं प्रति प्रसन्नचित्तं तं देवं कोपो नाप
न प्राप । तत्राप्यनुग्रहं ययाविति भावः । तत्र हेतुः—परस्मिन्पुरुषे परात्मनि
देवे । स्वतो निर्विकार इत्यर्थः । विकारः कोपरूपः कुतः । न कुतश्चिदित्यर्थः ।
ननु तस्य निर्विकारस्य कथं बहिराकारभेदः कारणाभावादिति चेन्न विद्म इत्याह—
इदं पूर्वोक्तम् । आकारवैषम्यं च भेजे । किंतु केनापि कारणेन न कुप्यती-
त्यर्थः । ननु निर्विकारे कुत आकारभेदस्तत्राह—महतां वृत्तिश्चेष्टा दुर्लक्ष्य-
चिह्ना दुर्ग्रहहेतुका हि ॥ २३ ॥

वैषम्यमेवाह—

विस्फार्यमाणस्य ततो भुजाभ्यां भूतानि भर्त्रा धनुरन्तकस्य ।
भिन्नाकृतिं ज्यां ददृशुः स्फुरन्तीं क्रुद्धस्य जिह्वामिव तक्षकस्य ॥२४॥

विस्फार्यमाणस्येति ॥ ततोऽनन्तरं भूतानि भर्त्रा भूतपतिना । भृजस्तृचप्र-
त्ययः । अत एव 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । भुजाभ्याम् । कर्तृकर-
णयोस्तृतीया । विस्फार्यमाणस्याकृष्यमाणस्य धनुरन्तक इव तस्य धनुरन्तकस्य
संबन्धिनीं स्फुरन्तीं चलन्तीमत एव भिन्ना द्विधेव दृश्यमानाऽऽकृतिर्यस्यास्तां
ज्यां धनुर्युगं क्रुद्धस्य तक्षकस्य नागविशेषस्य जिह्वामिव ददृशुः । द्विधा-
भावाद्भयंकरत्वाच्चेति भावः ॥ २४ ॥

सव्यापसव्यध्वनितोग्रचापं पार्थः किराताधिपमाशशङ्के ।
पर्यायसंपादितकर्णतालं यन्ता गजं व्यालमिवापराद्धः ॥ २५ ॥

सव्येति ॥ पार्थः सव्यापसव्याभ्यां वामदक्षिणगतिभ्यां ध्वनितं नादित-
मुग्रचापं येन तं किराताधिपम् । अपराद्धः प्रमत्तो यन्ता पर्यायेणायौग-
पद्येन संपादितः कर्णयोस्ताल आस्फालनं येन तं व्यालं दुष्टम् । 'भेद्यलिङ्गः
ज्ञाते व्यालः' इत्यमरः । गजमिवाशशङ्के । तच्चापचातुर्यदर्शनाद्गुर्जयः कोऽप्यय-
मनर्थकरश्चेति शङ्कितवानित्यर्थः ॥ २५ ॥

निजघ्नरे तस्य हरेषुजालैः पतन्ति वृन्दानि शिलीमुखानाम् ।
ऊर्जस्विभिः सिन्धुमुखागतानि यादांसि यादोभिरिवाम्बुराशेः ॥२६॥

निजघ्निर इति ॥ हरेषुजालैस्तस्यार्जुनस्य पतन्ति आगच्छन्ति शिली-
मुखानां शराणां वृन्दानि । ऊर्जस्विभिः प्रबलैः । अम्बुराशेर्यादोभिर्जल-
ग्राहैः सिन्धुमुखेन नदीमुखेन आगतानि यादांसीव निजघ्नरे हतानि ॥२६॥

विभेदमन्तः पदवीनिरोधं विध्वंसनं चाविदितप्रयोगः ।

नेतारिलोकेषु करोति यद्यत्तच्चकारास्य शरेषु शंभुः ॥ २७ ॥

विभेदमिति ॥ अन्तर्विभेदं व्यूहविश्लेषणमुपजापं च पदवीनिरोधं मार्ग एव
प्रतिबन्धनम्, अन्यत्र तु-आसारप्रसारप्रतिबन्धं विध्वंसनं खण्डनं दुर्गलुण्ठ-
नदाहादिकं चेत्यादि यद्यन्नेता नायको जिगीषुः । अविदितप्रयोगः संवृतमन्त्र-
त्वादविज्ञातोपायप्रयोगः सन्, अरिलोकेषु शत्रुकुलेषु करोति तत्तच्छंभु-
रविदितप्रयोगोऽज्ञातबाणसंधानमोक्षादिकः सन्, अस्यार्जुनस्य शरेषु चकार
कृतवान् । कर्तरि लिट् । श्लेषालंकारः ॥ २७ ॥

सोढावगीतप्रथमायुधस्य क्रोधोज्झितैर्वेगितया पतद्भिः ।

छिन्नैरपि त्रासितवाहिनीकैः पते कृतार्थैरिव तस्य बाणैः ॥ २८ ॥

सोढेति ॥ सोढानि परैरवगीतानि गर्हितानि प्रथमायुधानि सर्वोत्सृष्ट-
बाणा यस्य तस्यार्जुनस्य संबन्धिभिः क्रोधोज्झितैः पूर्वबाणवैफल्यात्कोपेन त्यक्तैः ।
अत एव वेगितया वेगेन पतद्भिर्गतिं कुर्वद्भिः अत एव छिन्नैरपि त्रासिता
वाहिन्यो यैस्तैरत एव कृतार्थैरिव बाणैः पते । भावे लिट् । वस्तुतस्त्व-
कृतार्था एवेत्यर्थः ॥ २८ ॥

अलंकृतानामृजुतागुणेन गुरुपदिष्टां गतिमास्थितानाम् ।

सतामिवापर्वणि मार्गणानां भङ्गः स जिष्णोर्धृतिमुन्ममाथ ॥२९॥

अलमिति ॥ ऋजुताऽवक्राकारत्वमवक्रशीलत्वं च सैव गुणस्तेन अलंकृतानां
गुरुभिर्धनुर्विद्यागुरुभिर्धर्मशास्त्रगुरुभिश्च उपदिष्टां दर्शितां गतिं गमनमाचारं च
आस्थितानां प्राप्तानां मार्गणानां शराणां सतां साधूनामिव । अपर्वण्यग्रन्थौ ।
अन्यत्र,—अप्रस्तावे । अकाण्ड इत्यर्थः । 'पर्व स्यादुत्सवे ग्रन्थौ प्रस्तावे लक्षणान्तरे'
इति विश्वः । स ईश्वरकृतो भङ्गश्छेदो व्यसनं च जिष्णोरर्जुनस्य कस्यचिजित्व-
रस्य च । 'जिष्णुः शक्रे धनंजये । जित्वरे' इति विश्वः । धृतिं धैर्यम् । उन्म-
माथ । जहारेत्यर्थः । अकाण्डे साधुविपत्तिदर्शनादिव शरभङ्गदर्शनाद्धैर्यभङ्गोऽभू-
दित्यर्थः ॥ २९ ॥

१ 'चास्य' इति पाठः. २ 'तेजस्विभिः' इति पाठः. ३ 'अर्णवस्य' इति पाठः.
४ 'विच्छेदम्' इति पाठः. ५ 'प्रध्वंसनम्' इति पाठः. ६ 'जेता' इति पाठः. ७ 'प्रमथा-
युधस्य' इति पाठः.

वाणच्छिदस्ते विशिखाः स्मरारेवाञ्जुखीभूतफलाः पतन्तः ।

अखण्डितं पाण्डवसायकेभ्यः कृतस्य सद्यः प्रतिकारमापुः ॥३०॥

वाणेति ॥ वाणच्छिदः पार्थशरच्छेदिनस्ते स्मरारेर्विशिखा अवाञ्जुखी-
भूतफला विमुखाग्रा विफलाश्च सन्तः पतन्तः पाण्डवसायकेभ्यः । क्रिया-
ग्रहणाच्चतुर्थी । पाण्डवसायकानां कृतस्य फलभङ्गरूपस्य स्वकर्मणः सद्योऽख-
ण्डितं प्रतिकारमापुः । अत्युत्कटं कर्म सद्यो दर्शयतीति भावः ॥ ३० ॥

पुनरर्जुनस्य जयमाह—

चित्रीयमाणानतिलाघवेन प्रमाथिनस्तान्भवमार्गणानाम् ।

समाकुलाया निचखान दूरं वाणान्ध्वजिन्या हृदयेष्वरातिः ॥३१॥

चित्रीयमाणानिति ॥ अरातिरर्जुनः । अतिलाघवेनातिशीघ्रत्वात् चित्रीय-
माणांश्चित्रमाश्चर्यं कुर्वाणान् । 'नमोवरिवश्चित्रदः क्यच्' । भवमार्गणानां
प्रमाथिनः खण्डयतः तान् वाणान् । समाकुलायाः संश्रुभिताया ध्वजिन्याः
सेनाया हृदयेषु दूरं गाढं निचखान निखातवान् ॥ ३१ ॥

तस्यातियत्नादतिरिच्यमाने पराक्रमेऽन्योन्यविशेषणेन ।

हन्ता पुरां भूरि पृषत्कवर्षं निरास नैदाघ इवाम्बु मेघः ॥ ३२ ॥

तस्येति ॥ तस्यार्जुनस्य पराक्रमेऽतियत्नाद्धेतोः । अन्योन्यस्य विशेषणे-
नातिशयकरणेन । अतिरिच्यमान उत्कृष्यमाणे सति पुरां हन्ता त्रिपुरविजयी
हरो भूरि प्रभूतं पृषत्कवर्षं वाणवर्षम् । 'पृषत्कवाणविशिखाः' इत्यमरः ।
निदाघे भवो नैदाघो मेघोऽम्बुवाहोऽम्बु जलमिव निरास मुमोच । अस्य-
तेर्लिङ् । 'निदाघ'ग्रहणं वर्षणस्यातितीव्रत्वद्योतनार्थम् ॥ ३२ ॥

अनामृशन्तः क्वचिदेव मर्म प्रियैषिणानुप्रहिताः शिवेन ।

सुहृत्प्रयुक्ता इव नर्मवादाः शरा मुनेः प्रीतिकरा बभूवुः ॥ ३३ ॥

अनामृशन्त इति ॥ प्रियैषिणा प्रियचिकीर्षुणा शिवेनानुप्रहिताः प्रयुक्ता
अत एव क्वचिदेव मर्मानामृशन्तोऽस्पृशन्तः शराः सुहृन्मित्रं सोऽपि
प्रियैषी तेन प्रयुक्ता उच्चारिता नर्मवादाः प्रियवादा इव मुनेरर्जुनस्य प्रीति-
कराः प्रीतिजनका बभूवुः ॥ ३३ ॥

अस्त्रैः समानामतिरेकिणीं वा पश्यन्निष्पूणामपि तस्य शक्तिम् ।

विषादवक्तव्यबलः प्रमाथी स्वमाललम्बे बलमिन्दुमौलिः ॥ ३४ ॥

अस्त्रैरिति ॥ अस्त्रैः स्वायुधैः समानां तुल्याम् । अतिरेकिणीं ततोऽधिकां
वा तस्य मुनेः । इष्पूणामपि शक्तिं पश्यन् विषादेनोत्साहभङ्गेन वक्तव्यानि
निर्वाच्यानि बलानि सैन्यानि यस्य स प्रमाथी शत्रुमर्दन इन्दुमौलिर्महादेवः
स्वं बलमात्मीयं महिमानम् । आललम्बे स्वसामर्थ्यमवलम्बितवान् ॥ ३४ ॥

ततस्तपोवीर्यसमुद्धतस्य पारं यियासोः समारणवस्य ।

महेषुजालान्यखिलानि जिष्णोरर्कः पयांसीव समाचचाम ॥ ३५ ॥

तत इति ॥ ततो महिमप्रादुर्भावनन्तरं देवस्तपोवीर्याभ्यां समुद्धतस्य प्रगल्भस्य समर एवारणवस्तस्य पारमन्तं यियासोर्जिगमिषोर्जिष्णोरर्जुनस्य अखिलानि महेषुजालानि समग्रबाणसमूहान् । अर्कः सूर्यः पयांसीव जलानीव समाचचाम संजहार ॥ ३५ ॥

रिक्ते सविस्त्रम्भमथार्जुनस्य निषङ्गवक्त्रे निपपात पाणिः ।

अन्यद्विपापीतजले सतर्षं मतङ्गजस्येव नगाश्मरन्ध्रे ॥ ३६ ॥

रिक्त इति ॥ अथ बाणान्तर्धानानन्तरम् । अर्जुनस्य पाणिः करो रिक्ते बाणशून्ये निषङ्गवक्त्रे तूणीरमुखेऽन्यद्विपेन गजान्तरेण आपीतजले पीततोये नगस्याचलस्याश्मरन्ध्रे शिलागर्ते । प्रदर इत्यर्थः । सतर्षं सतृष्णं यथा स्यात्तथा मतङ्गजस्य पाणिर्लक्षणया कर इव सविस्त्रम्भं सन्त्येव बाणा इति सविश्वासं निपपात ॥ ३६ ॥

च्युते स तस्मिन्निषुधौ शरार्थाद्ध्वस्तार्थसारे सहसेव बन्धौ ।

तत्कालमोघप्रणयः प्रपेदे निर्वाच्यताकाम इवाभिमुख्यम् ॥ ३७ ॥

च्युत इति ॥ शरा एव अर्थो धनं तस्मात् । च्युते भ्रष्टे तस्मिन्निषुधौ निषङ्गे सहसा झटिति ध्वस्तार्थसारेऽकाण्डे नष्टधनसारे बन्धाविव तत्काले मोघो वितथः प्रणयः प्रीतिर्यस्य सः । तत्कालकृतव्यर्थप्रार्थनः । पूर्वं कृतार्थ एवेति भावः । स पाणिः । निर्वाच्यतां कृतज्ञत्वापवादराहित्यं कामयत इति निर्वाच्यताकामः । 'शीलिकाभिभक्ष्याचरिभ्यो णः' स इवेत्युत्प्रेक्षा । आभिमुख्यं प्रपेदे । यथा कश्चित्कृतज्ञस्तत्कालेऽकृतोपकारमपि बन्धुं पूर्वोपकारस्मरणान्पुनः पुनरनुबध्नाति तद्वदित्यर्थः ॥ ३७ ॥

आघट्टयामास गतागताभ्यां सावेगमग्राङ्गुलिरस्य तूणौ ।

विधेयमार्गे मतिरुत्सुकस्य नयप्रयोगाविव गां जिगीषोः ॥ ३८ ॥

आघट्टयामासेति ॥ अस्य मुनेः । अग्रं चासावङ्गुलिश्चेत्यग्राङ्गुलिः । 'हस्ताग्रग्रहस्तयोर्गुणगुणिनोर्भेदाभेदात्' इति वामनः । विधेयमार्गे कर्तव्यान्वेषण उत्सुकस्य प्रवृत्तस्य गां भुवं जिगीषोर्नायकस्य मतिर्बुद्धिर्नयः पाङ्गुण्यं प्रयोग उपायस्तौ नयप्रयोगाविव तूणौ निषङ्गौ सावेगं ससंभ्रमम् । 'इष्टानिष्टागमाज्ञाने आवेगश्चित्तसंभ्रमः' इति शाश्वतः । गतागताभ्यां यातायाताभ्यामावापोद्वापाभ्यां चाऽऽघट्टयामास । अन्यत्र तु, -वितर्कयामास । शरग्रहणाय पुनःपुनस्तूणयोः पाणिं व्यापारयामासेत्यर्थः ॥ ३८ ॥

बभार शून्याकृतिरर्जुनस्तौ महेषुधी वीतमहेषुजालौ ।

युगान्तसंशुष्कजलौ विजिह्वः पूर्वापरौ लोक इवाम्बुराशी ॥ ३९ ॥

बभारेति ॥ शून्याकृतिरिष्टनाशान्निस्तेजस्करूपोऽर्जुनः । तौवीतमहेषुजालौ

वीतानि गतानि महेषुजालानि ययोस्तौ महेषुधी महानिषङ्गौ विजिह्वः
शून्यो लोको युगान्ते संशुष्कजलौ । 'शुषः कः' इति निष्ठातकारस्य ककारः ।
पूर्वापरावम्बुराशी समुद्राविव बभार ॥ ३९ ॥

तेनानिमित्तेन तथा न पार्थस्तयोर्यथा रिक्ततयानुतेपे ।

स्वामापदं प्रोज्झ्य विपत्तिमग्रं शोचन्ति सन्तो ह्युपकारिपक्षम् ४०

तेनेति ॥ पार्थस्तयोस्तूणयो रिक्ततया हेतुना यथाऽनुतेपे शुशोच तथा
तेनानिमित्तेन बाणक्षयरूपेण दुर्निमित्तेन न शुशोच । तथा हि—सन्तः
स्वामापदं प्रोज्झ्य विसृज्य विपत्तिमग्रमुपकारिणां पक्षं वर्गं शोचन्ति ।
स्वव्यसनापेक्षया परकीयव्यसनमेव सतामनुतापकमित्यर्थः ॥ ४० ॥

प्रतिक्रियायै विधुरः स तस्मात्कृच्छ्रेण विश्लेषमियाय हस्तः ।

पराङ्मुखत्वेऽपि कृतोपकारात्तूणीमुखान्मित्रकुलादिवार्यः ॥ ४१ ॥

प्रतीति ॥ प्रतिक्रियायै विधुरः प्रतिकर्तुमसमर्थः । 'तुमर्थाच्च भाववच-
नात्' इति चतुर्थी । अर्जुनस्य स हस्तः पाणिः । पराङ्मुखत्वेऽपि तत्कालवै-
मुख्येऽपि कृतोपकारात्तस्मात्तूणीमुखान्मित्रकुलादार्यः साधुः कृतज्ञ इव ।
'आर्यः साधुकुलीनयोः' इति विश्वः । कृच्छ्रेण महाकष्टेन विश्लेषमियाय ।
गौरादित्वात् 'तूण'शब्दान्डीष् ॥ ४१ ॥

पश्चात्क्रिया तूणयुगस्य भर्तुर्जज्ञे तदानीमुपकारिणीव ।

संभावनायामधरीकृतायां पत्युः पुरः साहसमासितव्यम् ॥ ४२ ॥

पश्चादिति ॥ तदानीं भर्तुः स्वामिनः । कर्तरि षष्ठी । पश्चात्क्रिया पृष्ठतः-
करणं तूणयुगस्योपकारिणीव उपकारिकेव जज्ञे । जाता । तथा हि—संभा-
वनायां स्वयोग्यतायाम् । अधरीकृतायामफलीकृतायां पत्युः स्वामिनः
पुरोऽग्र आसितव्यमासितं स्थितिः । बहुलग्रहणाद्भावे तव्यप्रत्ययः । साहसं
न क्षमं न योग्यम् । भर्त्रा संभावितस्यावसरेऽनुपकर्तुरनुजीविनस्तत्सांमुख्यमनु-
चितमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

तं शंभुराक्षिप्तमहेषुजालं लोहैः शरैर्मर्मसु निस्तुतोद ।

हतोत्तरं तत्त्वविचारमध्ये वैक्तेव दोषैर्गुरुभिर्विपक्षम् ॥ ४३ ॥

तमिति ॥ शंभुराक्षिप्तानि आहतानि महेषुजालानि यस्य तं मुनिं तत्त्व-
विचारमध्ये वादमध्ये हतोत्तरं निरुत्तरीकृतं विपक्षं प्रतिवादिनं वक्ता वादी
गुरुभिर्दोषैर्निग्रहस्थानैरिव लोहैर्लोहमयैः शरैर्मर्मसु निस्तुतोद व्यथ-
यामास ॥ ४३ ॥

जहार चास्मादचिरेण वर्म ज्वलन्मणिद्योतितहैमलेखम् ।

चण्डः पतङ्गान्मरुदेकनीलं तडित्वतः खण्डमिवाम्बुदस्य ॥ ४४ ॥

जहारेति ॥ किञ्च, अस्मान्मुनेः । अचिरेण शीघ्रं ज्वलद्भिर्मणिभिर्द्यौ-

१ 'शुशोच' इति पाठः. २ 'वर्गम्' इति पाठः. ३ 'विफलीकृतायाम्'; 'अधरीकृता-
याम्' इति पाठौ. ४ 'विचारमार्गैः'; 'विचारणायाम्' इति पाठौ. ५ 'वादीव' इति पाठः.
६ 'हैमलेखम्' इति पाठः.

तिता हैम्यः सौवर्ण्यो लेखा यस्य तत्तथोक्तं वर्म कवचम् । चण्डो मरुत्
पवनः पतङ्गात् सूर्यात् । एकनीलं केवलकृष्णवर्णम् । 'एके मुख्यान्यकेवलाः'
इत्यमरः । तडित्वतस्तडिद्युक्तस्याम्बुदस्य खण्डमिव जहार । तदा
भगवन्मायया मुक्तकञ्चुको मुनिर्मेघनिर्मुक्तः सूर्य इव दिदीपे इति भावः ॥४४॥

अथ युग्मेनाह—

विकोशनिर्धौततनोर्महासेः फणावतश्च त्वचि विच्युतायाम् ।

प्रतिद्विपाबद्धरुषः समक्षं नागस्य चाक्षिप्तमुखच्छदस्य ॥ ४५ ॥

विकोशेति ॥ सोऽर्जुनः । तनुं त्रायत इति तनुत्रं वर्म । 'आतोऽनुपसर्गे कः'
इति कप्रत्ययः । तेन विना । विकोशः कोशादुद्धृतो निर्धौततनुः शाणोल्लीढ-
मूर्तिः । ततो विशेषणसमासः । तस्य विकोशनिर्धौततनोर्महासेर्महाखड्गस्य
तथा त्वचि विच्युतायां सत्यां फणावतश्च मुक्तकञ्चुकस्याहेश्च प्रतिद्विपे प्रति-
गज आबद्धरूपो बद्धकोपस्य समक्षं प्रतिगजस्याग्र आक्षिप्तमुखच्छदस्य
निरस्तमुखावरणस्य नागस्य गजस्य च ॥ ४५ ॥

विबोधितस्य ध्वनिना घनानां हरेरपेतस्य च शैलरन्ध्रात् ।

निरस्तधूमस्य च रात्रिवह्नेर्विना तनुत्रेण रुचिं स भेजे ॥ ४६ ॥

विबोधितस्येति ॥ घनानां ध्वनिना गर्जितेन विबोधितस्य । शैलरन्ध्रात्
कंदरात् । अपेतस्य निष्क्रान्तस्य हरेः सिंहस्य च । तथा, निरस्तधूमस्य गत-
धूमस्य रात्रिवह्नेश्च रुचिं शोभां भेजे । एतेनास्य तीक्ष्णत्ववैरनिर्यातनत्वरणदु-
र्मदत्वमनस्वित्त्वतेजस्वित्वान्युक्तानि । अत्र रुचिमिव रुचिमिति सादृश्याक्षेपाद-
संभवद्रस्तुसंबन्धी निदर्शनालंकारो मालया संसृष्टः ॥ ४६ ॥

अचित्तायामपि नाम युक्तामनूर्ध्वतां प्राप्य तदीयकृच्छ्रे ।

महीं गतौ ताविषुधी तदानीं विव्रतुश्चेतनयेव योगम् ॥ ४७ ॥

अचित्तायामिति ॥ तदानीं कवचपतनसमये महीं गताविषुधी निषङ्गा
अचित्तायामप्यचेतनत्वेऽपि तदीयकृच्छ्रे स्वामिव्यसने युक्तां योग्याम् ।
नाम किल । अकिञ्चित्करत्वादिति भावः । अनूर्ध्वतामवाञ्छुखत्वं प्राप्य चेत-
नया प्राणिसाधारणज्ञानेनेव योगं संबन्धं विव्रतुरिवेत्युत्प्रेक्षा । अचेतनत्वेऽ-
प्यवाञ्छुखत्वादिचेतनधर्मयोगादिति भावः ॥ ४७ ॥

स्थितं विशुद्धे नभसीव सत्त्वे धाम्ना तपोवीर्यमयेन युक्तम् ।

शस्त्राभिघातैस्तमजस्रमीशस्त्वष्टा विवस्वन्तमिवोल्लिलेख ॥ ४८ ॥

स्थितमिति ॥ विशुद्धे निर्मले नभसि सत्त्वे सत्त्वगुणे स्थितं तपोवीर्य-
मयेन तपोवीर्याभ्यामागतेन धाम्ना तेजसा युक्तं तमर्जुनम् । ईशस्त्वष्टा
विश्वकर्मा विवस्वन्तं सूर्यमिवाजस्रं निरन्तरं शस्त्राभिघातैः शस्त्रकर्षणैः ।
उल्लिलेख ततश्च ॥ ४८ ॥

१ 'निर्धूत' इति पाठः. २ 'सरोषम्' इति पाठः. ३ 'रुचम्' इति पाठः. ४ 'लेभे'
इति पाठः.

संरम्भवेगोज्झितवेदनेषु गात्रेषु बाधिर्यमुपागतेषु ।

मुनेर्बभूवागणितेषुराशेर्लौहस्तिरस्कार इवात्ममन्युः ॥ ४९ ॥

संरम्भेति ॥ संरम्भवेगेन संभ्रमातिशयेन उज्झितवेदनेषु त्यक्तदुःखेषु गात्रेषु बाधिर्यं सौमित्रमुपागतेषु सत्सु न गणिता इषुराशयो येन तस्य अगणितेषुराशेर्मुनेरर्जुनस्य आत्ममन्युः स्वकोपो लोहस्य विकारो लौहः काष्णा-यसः तिरस्क्रियत आच्छाद्यतेऽनेनेति तिरस्कारः कञ्चुक इव बभूव । रोषव-शान्न किञ्चित्प्रहारदुःखमज्ञासीदित्यर्थः । क्रोधैकवर्मणां वीराणां किमन्यैर्लोहभारै-रिति भावः ॥ ४९ ॥

अथ युग्मेनाह—

ततोऽनुपूर्वायतवृत्तबाहुः श्रीमानक्षरल्लोहितदिग्धदेहः ।

आस्कन्ध वेगेन विमुक्तनादः क्षितिं विधुन्वन्निव पार्ष्णिघातैः ५०

तत इति ॥ ततोऽनन्तरम् । अनुपूर्वौ पूर्वमनुगतौ गोपुच्छाकारौ आयतौ दीर्घौ वृत्तौ वर्तुलौ च बाहू यस्य स श्रीमान् शोभावान् क्षरल्लोहितदिग्ध-देहः स्रवद्गुधिरलिसगात्रः । पार्ष्णिघातैश्चरणतलाघातैः । 'तद्गन्धी घुटिके गुल्फौ स्त्रियां पार्ष्णिरधस्तयोः' इत्यमरः । क्षितिं विधुन्वन् प्रकम्पयन्निव वेगेनास्क-न्धाभिद्रुत्य विमुक्तनादः सोऽर्जुनः ॥ ५० ॥

साम्यं गतेनाशनिना मघोनः शशाङ्कखण्डाकृतिपाण्डुरेण ।

शंभुं विभित्सुर्धनुषा जघान स्तम्भं विषाणेन महानिवेभः ॥ ५१ ॥

साम्यमिति ॥ मघोन इन्द्रस्य अशनिना वज्रेण सह साम्यं गतेन वज्रक-ल्पेन शशाङ्कस्य खण्डं शकलं तस्येवाकृतिर्यस्य । तद्बद्धक्रमित्यर्थः । पाण्डुरं च । तद्देवेति भावः । तेन शशाङ्कखण्डाकृतिपाण्डुरेण धनुषा शंभुं विभि-त्सुर्भेतुमिच्छुः सन् । महानिभो गजो विषाणेन दन्तेन स्तम्भमिव जघान ५१

रयेण सा संनिदधे पतन्ती भवोद्भवेनात्मनि चापयष्टिः ।

समुद्धता सिन्धुरनेकमार्गा परे स्थितेनौजसि जहुनेव ॥ ५२ ॥

रयेणेति ॥ रयेण वेगेन पतन्ती सा चापयष्टिर्भवस्य संसारस्योद्भव उत्प-त्तिर्यस्मात्तेन भवोद्भवेन ईश्वरेण पर ओजसि परमे ज्योतिषि स्थितेन जहुना राजर्षिणा समुद्धताऽत्युत्कटाऽनेकमार्गा त्रिस्तोताः सिन्धुर्गङ्गेवात्मनि संनि-दधे सम्यङ्निहिता । अन्तर्निलायितेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

विकारमुकः कर्मसु शोचनीयः परिच्युतौदार्य इवोपचारः ।

विचिक्षिपे शूलभृता सलीलं स पत्रिभिर्दूरमदूरपातैः ॥ ५३ ॥

विकारमुक इति ॥ विकारमुको भग्नचापोऽत एव परिच्युतौदार्यौ दानवर्जित

१ 'चेतनेषु' इति पाठः. २ 'चाधैर्यम्' इति पाठः. ३ 'बभूव तस्य' इति पाठः.
४ 'अगणिताहितेषोः' इति पाठः. ५ 'धातुदिग्धः'; 'पङ्कदिग्धः' इति पाठौ. ६ 'पार्ष्णि-
भागैः' इति पाठः. ७ 'शशाङ्कलेखा' इति पाठः. ८ 'स्तम्भम्' इति पाठः. ९ 'परिस्थि-
तेन' इति पाठः. १० 'शोच्यपूज्यः' इति पाठः.

उपचारः सत्कार इव कर्मसु रणक्रियासु कृत्येषु च शोचनीयः शोच्योऽपू-
ज्यश्च सत्त्वावष्टम्भेनाभग्नचित्तत्वाच्च सोऽर्जुनः शूलभृता शिवेन सलीलं सहेलं
यथा तथाऽदूरपातैरतिगाढप्रहारैः पत्रिभिः शरैर्दूरमत्यन्तं विचिक्षिपे बुध्नः ५३

उपोढकल्याणफलोऽभिरक्षन् वीरव्रतं पुण्यरणाश्रमस्थः ।

जपोपवासैरिव संयतात्मा तेपे मुनिस्तैरिषुभिः शिवस्य ॥ ५४ ॥

उपोढेति ॥ उपोढमासन्नं कल्याणफलमखलाभरूपं स्वर्गादिकं च यस्य स
वीरव्रतमाहवादनिवृत्तिरूपं तीव्रं तपश्च अभिरक्षन् पालयन् पुण्यो यो रण
एवाश्रमस्तत्र तिष्ठतीति पुण्यरणाश्रमस्थः संयतात्मा नियमितचित्तो मुनिर-
र्जुनः कश्चित्तपस्वी च तैः शिवस्य महादेवस्य । इषुभिः शरैः । जपोपवासैरिव
तेपे तप्तः । तपतेः कर्मणि लिट् ॥ ५४ ॥

ततोऽग्रभूमिं व्यवसायसिद्धेः सीमानमन्यैरतिदुस्तरं सः ।

तेजःश्रियामाश्रयमुत्तमासिं साक्षादहंकारमिवाललम्बे ॥ ५५ ॥

तत इति ॥ ततश्चापान्तर्धानानन्तरम् । सोऽर्जुनोऽग्रभूमिं विपदि गन्तव्य-
स्थानम् । शरण्यमित्यर्थः । कुतः । व्यवसायसिद्धेर्युद्धोद्योगसिद्धेः सीमानम-
वधिम् । साधकतममित्यर्थः । अन्यैः परैः । अतिदुस्तरं दुरतिक्रमं तेजःश्रियां
प्रतापसंपदामाश्रयम् । हेतुमित्यर्थः । उत्तमासिं महाखड्गम् । 'सन्महत्-'
इत्यादिना समासः । साक्षादहंकारं सविग्रहमभिमानमिवाललम्बे जग्राह ५५
शरानवद्यन्नवद्यकर्मा चचार चित्रं प्रविचारमार्गैः ।

हस्तेन निखिंशभृता स दीप्तः सार्काशुना वारिधिरूर्मिणेव ॥ ५६ ॥

शरानिति ॥ अनवद्यकर्माऽगर्ह्यकर्मा । 'अवद्यपण्य-' इत्यादिना निपातः ।
शरानवद्यन् खण्डयन् वीरो निखिंशभृता खड्गयुक्तेन हस्तेन सार्काशुना
अर्काशुसहितेन ऊर्मिणा तरङ्गेण वारिधिरिव दीप्तो दीपितः सोऽर्जुनः प्रवि-
चारमार्गैः खड्गिनां गतिभेदैश्चित्रं यथा तथा चचार ॥ ५६ ॥

यथा निजे वर्त्मनि भाति भाभिश्छायामयश्चाप्सु सहस्ररश्मिः ।

तथा नभस्याशु रणस्थलीषु स्पष्टद्विमूर्तिर्दृष्टे स भूतैः ॥ ५७ ॥

यथेति ॥ भाभिर्दीप्तिभिरुपलक्षितः । 'स्युः प्रभारुगुचिस्त्वङ्गाभाश्छविद्युति-
दीप्तयः' इत्यमरः । सहस्ररश्मिको यथा निजे वर्त्मनि नभसि छायामयः
प्रतिबिम्बरूपः सन्, अप्सु स्पष्टद्विमूर्तिर्भाति तथा सोऽर्जुनो नभसि आकाशे
रणस्थलीषु च स्पष्टे द्वे मूर्ती यस्य सः स्पष्टद्विमूर्तिः सन् भूतैर्गणैर्दृष्टे दृष्टः ।
यथैकोऽर्को नभस्यप्सु चानेक इव दृश्यते तथा सोऽपि दिवि भुवि चाशुसंचारा-
द्यौगपद्यभ्रमादेवैकोऽप्यनेक इव गणैर्दृष्ट इत्युत्प्रेक्षा ॥ ५७ ॥

१ 'महोपवासैः'; 'व्रतोपवासैः' इति पाठौ. २ 'प्रतिचार' इति पाठः. ३ 'अतिदीप्तः'
इति पाठः. ४ 'भ्रमन्नाशु' इति पाठः. ५ 'वनस्थलीषु' इति पाठः.

शिवप्रणुन्नेन शिलीमुखेन त्सरुप्रदेशादपवर्जिताङ्गः ।

ज्वलन्नसिस्तस्य पपात पाणेर्घनस्य वप्रादिव वैद्युतोऽग्निः ॥ ५८ ॥

शिवेति ॥ शिवेन प्रणुन्नः क्षिसस्तेन शिलीमुखेन त्सरुप्रदेशात् मुष्टि-
प्रदेशमवधिं कृत्वा । 'त्सरुः खङ्गादिमुष्टौ स्यात्' इत्यमरः । अपवर्जिताङ्गो
लूनविग्रहोऽसिः खङ्गः । तस्यार्जुनस्य पाणेः करात् । घनस्य मेघस्य वप्रात्तयात् ।
वैद्युतो विद्युत्संबन्ध्यग्निरिव ज्वलन् पपात ॥ ५८ ॥

आक्षिप्तचापावरणेषुजालच्छिन्नोत्तमासिः स मृधेऽवधूतः ।

रिक्तः प्रकाशश्च बभूव भूमेरुत्सादितोद्यान इव प्रदेशः ॥ ५९ ॥

आक्षिप्तेति ॥ आक्षिप्तान्यपहतानि चापावरणेषुजालानि धनुर्वर्मबाण-
समूहा यस्य स छिन्नोत्तमासिर्लूनमहाखङ्गो मृधे रणे । 'मृधमास्कन्दनं
संख्यम्' इत्यमरः । अवधूतो निरस्तः सोऽर्जुन उत्सादितमुत्पादितमुद्यानं
यस्य स भूमेः प्रदेशो भूमिभाग इव रिक्तः शून्यः प्रकाशो निःसंबाधश्च ।
दृश्य इति यावत् । बभूव ॥ ५९ ॥

स खण्डनं प्राप्य परार्दमर्षवान् भुजद्वितीयोऽपि विजेतुमिच्छया ।

ससर्ज वृष्टिं परिरुग्णपादपां द्रुवेतरेषां पयसामिवाश्मनाम् ॥ ६० ॥

स इति ॥ परात् परस्माच्छत्रोः । 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति विकल्पान्न
स्मादादेशः । खण्डनं भङ्गं प्राप्य, अमर्षवान् सोऽर्जुनो भुजद्वितीयो भुज-
मात्रसहायः सन्नपि विजेतुमिच्छया द्रुवेभ्य इतराणि तेषां द्रुवेतरेषां कठि-
नानां पयसामिव । करकाणामिवेत्यर्थः । अश्मनां संबन्धिनीं परिरुग्णा
भग्नाः पादपा यथा सा तां वृष्टिं ससर्ज । अश्मभिर्जघानेत्यर्थः ॥ ६० ॥

नीरन्ध्रं परिगमिते क्षयं पृषत्कैर्भूतानामधिपतिना शिलाविताने ।

उच्छ्रायस्थगितनभोदिगन्तरालं चिक्षेप क्षितिरुहजालमिन्द्रसूनुः ६१

नीरन्ध्रमिति ॥ शिलाविताने शिलाजाले भूतानामधिपतिना शिवेन
पृषत्कैर्बाणैः क्षयं परिगमिते नीते सति, इन्द्रसूनुरर्जुन उच्छ्रायेणोत्सेधेन
स्थगितमाच्छादितं नभो दिशामन्तरालं च येन तन्नीरन्ध्रं सान्द्रम् । रोह-
न्तीति रुहाः । इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः । क्षितौ रुहा वृक्षास्तेषां जालं चिक्षेप
प्रेरयामास । 'उच्छ्रायं गमितवति' इति प्रामादिकः पाठः ॥ ६१ ॥

निःशेषं शकलितवल्कलाङ्गसारैः कुर्वद्भिर्भुवमभितः कषायचित्राम् ।

ईशानः सकुसुमपल्लवैर्नैर्गैस्तरातेने बलिमिव रङ्गदेवताभ्यः ॥ ६२ ॥

निःशेषमिति ॥ ईशानः शिवः । शानच्प्रत्ययः । निःशेषं यथा तथा शक-
लितानि वल्कलानि त्वचोऽङ्गानि शाखाः सारो मज्जा च येषां तैर्भुवम-

१ आदर्शान्तरे प्रथमद्वितीयपादयोर्व्युत्क्रमो दरीदृश्यते. २ 'अभिभूतः' इति पाठः.
३ 'उत्पादितः'; 'उत्सारित' इति पाठौ. ४ 'खण्डनाम्' इति पाठः. ५ 'अमर्षात्' इति
पाठः. ६ 'जवेन मेघः' इति पाठः. ७ 'नीरन्ध्रे परिगमिते'; 'नीरन्ध्रैरुपगमिते' इति पाठौ.
८ 'वनौघैः' इति पाठः.

मितः कषायो यो रागः । स्वरसेन रञ्जनमिति यावत् । 'रागे काथे कषायोऽस्त्री'
इति वैजयन्ती । तेन चित्रां विचित्रवर्णां कुर्वद्भिः सकुसुमपल्लवैस्तैर्नगैर्वृक्षै
रङ्गे रणरङ्गे या देवतास्ताभ्यो बलिं पूजामिव । आतेने ॥ ६२ ॥

उन्मज्जन्मकर इवामरापगाया वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्याः ।

गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वृक्षः

उन्मज्जनिति ॥ गाण्डीवी अर्जुनः । उन्मज्जन्नुत्तरन् मकरो जलग्रहविशेषोऽम-
रापगाया गङ्गाया इव बाणनद्या बाणप्रवाहाद्वेगेन प्रतिमुखमभिमुखम् ।
एत्यागत्य कनकशिलानिभम् । 'कनक'ग्रहणं काठिन्यातिशयद्योतनार्थम् ।
विषमविलोचनस्य त्र्यम्बकस्य वक्षो हृदयं भुजाभ्यामाजघ्ने ताडितवान् ।
अत्रात्मनेपदं विचार्यम् । 'आडो यमहनः' इत्यत्राकर्मकाधिकारात् 'स्वाङ्गकर्म-
काच्च' इति वक्तव्यत्वात् । न च शिवस्य प्रतिमुखमित्यन्वयात् कनकशिलानिभं
कनकनिकषतुल्यं श्यामं स्ववक्ष आजघ्न इत्यर्थं इति वाच्यम्, अनौचित्याचरणात् । न
हि युद्धाय संनद्धा निपुणा अपि मल्लाः स्ववक्षस्ताडनमाचरन्ति, किं तु स्वभुजा-
स्फालनम् । किंच, अनन्तरं वक्ष्यमाणभवकर्तृकाविनयसहनरोधाद्वक्ष एवेत्य-
न्वयस्याव्यवधानाच्च पूर्वैरेव दूषितत्वात् । अतो व्याकरणान्तराद्गृह्यम् । केचित्तु
'त्र्यम्बकस्य वक्षः प्राप्य' इत्यध्याहारं स्वीकृत्यात्मकर्मकत्वादात्मनेपदमाहुः ॥ ६३ ॥

अभिलषत उपायं विक्रमं कीर्तिलक्ष्म्यो-

रसुगममरिसैन्यैरङ्गमभ्यागतस्य ।

जनक इव शिशुत्वे सुप्रियस्यैकसूनो-

रविनयमपि सेहे पाण्डवस्य स्मरारिः ॥ ६४ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये सप्तदशः सर्गः ।

अभिलषत इति ॥ कीर्तिलक्ष्म्योरुपायं साधनभूतम् । अरिसैन्यैरसुगमं
दुरासदं विक्रममभिलषतः । सूनुपक्षे, -यत्किञ्चिन्महत्फलं प्रार्थयमानस्येत्यर्थः ।
अत एव, अङ्गमन्तिकमभ्यागतस्योत्सङ्गमारूढस्य च पाण्डवस्याविनयं
स्मरारिः । अनेन भक्तवात्सल्यमेव सहनकारणमिति सूच्यते । शिशुत्वे शैशवे
सुप्रियस्य परमप्रेमास्पदस्य । कुतः । एक एव सूनुस्तस्य एकसूनोरविनयं जनक
इव सेहे सोढवान् ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-
काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां सप्तदशः सर्गः समाप्तः ।

अष्टादशः सर्गः ।

तत उदग्र इव द्विरदे मुनौ रणमुपेयुषि भीमभुजायुधे ।

धनुरपास्य सबाणधि शंकरः प्रतिजघान धनैरिव मुष्टिभिः ॥ १ ॥

तत इति ॥ ततो मुष्टिनियुद्धानन्तरम् । उदग्रे महति द्विरदे गज इव भीमे

१ 'असुकरम्' इति पाठः. २ 'शरैः' इति पाठः.

भुजावेव आयुधे यस्य तथाभूते रणमुपेयुषि मुनौ शंकरः स्वयमपि सबाणधि-
सत्पूर्णं धनुरपास्य त्यक्त्वा मुष्टिभिर्धनैर्लोहमुद्गरैरिव प्रतिजघान । प्राङ्मु-
निकृताघातस्य प्रतिघातं कृतवानित्यर्थः । 'घनाः कठिनसंघातमेघकाठिन्यमुद्गराः'
इति वैजयन्ती । 'घनस्तु लोहमुद्गरे' इति विश्वः । यद्यपि 'मुष्टि'शब्दः 'मुष्ट्या'
तु बद्धया । सरत्निः स्यादरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना' इत्यमरः । इत्युभयथा प्रयो-
गाद्विलिङ्गस्तथाप्यत्रोपमानसारूप्यात् पुलिङ्गो प्राह्यः । द्रुतविलम्बित वृत्तम् ॥१॥

हरपृथासुतयोर्ध्वनिरुत्पतन्नमृदुसंवलितान्जुलिपाणिजः ।

स्फुटदनल्पशिलारवदारुणः प्रतिननाद् दरीषु दरीभृतः ॥ २ ॥

हरेति ॥ हरपृथासुतयोः शिवार्जुनयोरमृदु निबिडं यथा तथा संवलितः
संघटिता अङ्गुलयो येषां ते । मुष्टिकृता इत्यर्थः । तेषु पाणिषु जातस्तथोक्तः ।
स्फुटन्तीनां विदलन्तीनामनल्पशिलानामारव इव दारुणो भीषणो ध्वनि-
रुत्पतन् उद्गच्छन् दरीभृतो गिरेर्दरीषु गुहासु प्रतिननाद् प्रतिदध्वान ॥२॥

शिवभुजाहतिभिन्नपृथुक्षतीः सुखमिवानुबभूव कपिध्वजः ।

क इव नाम बृहन्मनसां भवेदनुकृतेरपि सत्त्ववतां क्षमः ॥ ३ ॥

शिवेति ॥ कपिध्वजः शिवस्य भुजाहतिभिर्मुष्टिघातैर्भिन्ना विदीर्णा याः
पृथवो महत्यः क्षतयः प्रहारा व्रणास्ताः सुखमिवानुबभूव । दुःखकरीरपीति
भावः । क्षतिदुःखं नाजीगणदित्यर्थः । ननु दुःसहदुःखवेगेषु कथमगणनेत्यत्राह—
क इति । क इव नाम को नु खलु सत्त्ववतां सत्त्वाधिकानां बृहन्मनसां
तेजस्विनाम् । अनुकृतेरनुकरणस्यापि क्षमो भवेत् । मनस्विनां चरितं नटवदनु-
कर्तुमपि न कश्चिदीष्टे, तस्याचरणं तु दूरापास्तमिति भावः । रौद्ररसाविष्टमनसां
मनस्विनां कुतः सुखदुःखगणनेति भावः ॥ ३ ॥

व्रणमुखच्युतशोणितंशीकरस्थगितशैलतटाभभुजान्तरः ।

अभिनवौषसरागभृता बभौ जलधरेण समानमुमापतिः ॥ ४ ॥

व्रणेति ॥ व्रणमुखेभ्यश्च्युतस्य क्षरितस्य शोणितस्य शीकरैः स्थगित-
मावृतं शैलतटाभं शिलासदृशं भुजान्तरं वक्षो यस्य स तथोक्त उमापतिर-
भिनवमौषसरागं संध्यारागं विभर्तीति तथोक्तेन जलधरेण समानं तुल्यं
यथा तथा वभावित्युपमा ॥ ४ ॥

उरसि शूलभृतः प्रहिता मुहुः प्रतिहतिं ययुर्जुनमुष्टयः ।

भृशरया इव सद्यमहीभृतः पृथुनि रोधसि सिन्धुमहोर्मयः ॥ ५ ॥

उरसीति ॥ शूलभृतः शिवस्य । उरसि प्रहिताः प्रयुक्ता अर्जुनस्य मुष्टयः
पृथुनि विशाले सद्यमहीभृतः सद्याद्रे रोधसि तटे भृशरयास्तीव्रवेगाः
सिन्धोः समुद्रस्य महोर्मय इव मुहुः प्रतिहतिं ययुः ॥ ५ ॥

निपतितेऽधिशिरोधरमायते सममरत्नियुगेऽयुगचक्षुषः ।

त्रिचतुरेषु पदेषु किरीटिना लुलितदृष्टि मदादिव चस्खले ॥ ६ ॥

निपतित इति ॥ अयुगानि चक्षूंषि यस्य तस्य अयुगचक्षुषस्त्रिलोचनस्य । आयते दीर्घे अरत्नियुगे अरत्नयोर्बद्धमुष्ट्योर्हस्तयोर्युगे युग्मे । 'हस्तो मुष्ट्या तु बद्धया । सरत्निः स्यादरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना' इत्यमरः । प्रकृते तु मुष्टिमात्रविवक्षया प्रयोगः । शिरोधरायामधीति अधिशिरोधरमधिकंधरं समं युगपन्निपतिते सति । किरीटिनाऽर्जुनेन मदादिव त्रीणि चत्वारि वा त्रिचतुराणि । 'संख्ययाव्ययासन्न-' इत्यादिना बहुव्रीहिः । चतुरोऽचक्ररणे 'त्र्युपाभ्यामुपसंख्यानम्' इति समासान्तोऽचप्रत्ययः । तेषु त्रिचतुरेषु पदेषु लुलितदृष्टि वृणितनेत्रं यथा तथा चस्खले स्खलितम् । भावे लिट् ॥ ६ ॥

अभिभवोदितमन्युविदीपितः समभिसृत्य भृशं जवमोजसा ।

भुजयुगेन विभज्य समाददे शशिकलाभरणस्य भुजद्वयम् ॥ ७ ॥

अभिभवेति ॥ अभिभवेनोक्तरूपेण परिभवेन उदित उत्पन्नो यो मन्युः क्रोधस्तेन विदीपितः प्रज्वलितः सोऽर्जुनो भृशं जवं समभिसृत्य समभिद्रुत्य, ओजसा बलेन शशिकलाभरणस्येन्दुमौलेः शिवस्य भुजद्वयं भुजयुगेन विभज्य वियोज्य समाददे जग्राह ॥ ७ ॥

प्रववृतेऽथ महाहवमल्लयोरचलसंचलनाहरणो रणः ।

करणशृङ्खलसंकलनागुरुर्गुरुभुजौयुधगर्वितयोस्तयोः ॥ ८ ॥

प्रववृत इति ॥ अथ महाहवे महारणे मल्लयोर्बलीयसोः । 'मल्लः पात्रे कपोले च मत्स्यभेदे बलीयसि' इति विश्वः । गुरु भुजावेव आयुधं तेन गर्वितयोस्तयोः शिवार्जुनयोः करणानि करचरणबन्धनान्येव शृङ्खलानि तेषां संकलना संघटना तथा गुरुर्दुस्तरस्तथाऽचलस्य हिमाद्रेः संचलनं कम्पस्तस्याहरण आरोपकः । कर्तरि ल्युट् । रणः प्रववृते प्रवृत्तः ॥ ८ ॥

अयमसौ भगवानुत पाण्डवः स्थितमवाञ्जुनिना शशिमौलिना ।

समधिरूढमजेन नु जिष्णुना स्विदिति वेगवशान्मुमुहे गणैः ॥९॥

अयमिति ॥ अयं पुरोवर्ती पुमान् । असौ भगवान् प्रसिद्धो देवः । तदुक्तम्—'इदमः समक्षरूपं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् । अदसन्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥' इति । उत पाण्डवः । अयं हि तिष्ठदवस्थायां भ्रम इति वेदितव्यम् । अथ पतनावस्थायामाह—मुनिनाऽवाक् अधः स्थितमुत शशिमौलिना । अजेन देवेन नु समधिरूढमुपरि स्थितमथ जिष्णुना स्विदर्जुनेन वा समधिरूढम्, इत्येवं गणैः प्रमथैर्वेगवशान्मुमुहे भ्रान्तम् । 'मुह वैचित्ये' । भावे लिट् ॥ ९ ॥

प्रचलिते चलितं स्थितमास्थिते २ विनमिते नतमुन्नतमुन्नतौ ।

वृषकपिध्वजयोरसहिष्णुना मुहुरभावभयादिव भूभृता ॥ १० ॥

प्रचलित इति ॥ असहिष्णुना तयोर्भारमसहमानेन भूभृता शैलेन । अभाव-
भयाद्विनाशभयादिव मुहुर्वृषश्च कपिश्च ध्वजे ययोस्तयोर्वृषकपिध्वजयोः
प्रचलिते चलने सति चलितं प्रचले । आस्थिते तूष्णीमवस्थाने स्थितं
तथैव तस्थे । विनमिते सम्यगाक्रमणे सति नतं नम्रीभूतम् । अनामीति
यावत् । उन्नताबुद्धमने सति उन्नतमुदनामि । सर्वत्र भावे क्तः ॥ १० ॥

करणशृङ्खलानिःसृतयोस्तयोः कृतभुजध्वनि वल्गु विवल्गतोः ।

चरणपातनिपातितरोधसः प्रससृपुः सरितः परितः स्थलीः ॥११॥

करणेति ॥ करणानि करचरणबन्धविशेषास्तान्येव शृङ्खलानि तेभ्यो
निःसृतयोः । मुहुस्त्यक्तबन्धयोरित्यर्थः । कृतो भुजध्वनिर्भुजास्फोटनशब्दो
यस्मिन्कर्मणि तत्तथा वल्गु सुन्दरं च यथा तथा विवल्गतोरुत्प्लवमानयोस्त-
योर्हरपार्थयोश्चरणपातैः पादक्षेपैर्निपातितानि रोधांसि यासां ताः सरितो
नद्यः स्थलीः परितः स्थलीषु प्रससृपुः प्रसृताः । 'अभितःपरितः-' इत्यादिना
द्वितीया । 'जानपद-' इत्यादिना कृत्रिमाथे डीष् । कूलपातक्षोभादुद्वेलसलिलाः
सरितः स्थलानि प्रामज्जयन्नित्यर्थः । एतेन तयोर्भार उक्तः ॥ ११ ॥

वियति वेगपरिप्लुतमन्तरा समभिसृत्य रयेण कपिध्वजः ।

चरणयोश्चरणानमितक्षितिर्निजगृहे तिसृणां जयिनं पुराम् ॥ १२ ॥

वियतीति ॥ वियत्यन्तरिक्षे वेगेन परिप्लुतमुत्पतितं तिसृणां पुरां
जयिनं त्रिपुरान्तकम् । 'जिदक्षि-' इत्यादिनेनिप्रत्ययः । कपिध्वजोऽर्जुनश्चर-
णाभ्यां पादाभ्यामानमितक्षितिः सन् । रयेण वेगेन समभिसृत्याभिद्रुत्य,
अन्तरा मध्येमार्गं चरणयोः पदयोर्निजगृहे निगृहीतवान् । उत्पतितस्य
भगवतश्चरणौ स्वकराभ्यां जग्राहेत्यर्थः ॥ १२ ॥

विस्मितः सपदि तेन कर्मणा कर्मणां क्षयकरः परः पुमान् ।

क्षेमुकाममवनौ तैमक्लमं निष्पिपेष परिरभ्य वक्षसा ॥ १३ ॥

विस्मित इति ॥ तेन कर्मणा चरणग्रहणरूपेण सपदि विस्मितः सविस्मयः
कर्मणां क्षयकरः । मोक्षप्रद इत्यर्थः । परः पुमान् हरोऽवनौ क्षितौ क्षेमं
कामो यस्य तम् । 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः । अक्लममक्लान्तं
तं पार्थ वक्षसा परिरभ्य निष्पिपेष । गाढमालिलिङ्गैत्यर्थः । रथोद्धता-
वृत्तम् ॥ १३ ॥

१ 'प्रचलितं चलिते'; 'प्रचलने चलितम्'; 'प्रचलितं चलने' इति पाठाः. २ 'विन-
मने' इति पाठाः. ३ 'विभ्रम' इति पाठाः. ४ 'आहति' इति पाठाः. ५ 'गतक्लमम्'
इति पाठाः.

तपसा तथा न मुदमस्य ययौ भगवान्यथा विपुलसत्त्वतया ।

गुणसंहतेः समतिरिक्तमहो निजमेव सत्त्वमुपकारि सताम् ॥ १४ ॥

तपसेति ॥ भगवान् देवः । अस्यार्जुनस्य विपुलसत्त्वतया बहुसत्त्वसं-
पदा । धैर्यसंपत्त्येति यावत् । यथा मुदं ययौ तथा तपसा मुदं न ययौ ।
तथा हि—सतां गुणसंहतेस्तपःसेवादिगुणसंघातात् समतिरिक्तमतिशयितं
निजं सत्त्वमेवोपकार्युपकारकमहो । प्रमिताक्षरावृत्तम् ॥ १४ ॥

अथ हिमशुचिभस्मभूषितं शिरसि विराजितमिन्दुलेखया ।

स्ववपुरतिमनोहरं हरं दधतमुदीक्ष्य ननाम पाण्डवः ॥ १५ ॥

अथेति ॥ अथ हिमशुचिना हिमशुभ्रेण भस्मना भूषितं शिरसीन्दु-
लेखया विराजितं शोभितम् अतिमनोहरं सुन्दरं स्ववपुर्दधतं किरात-
रूपं विहाय निजविग्रहं दधानं हरमुदीक्ष्य पाण्डवो ननाम प्रणतवान् ।
अपरवक्रं वृत्तम्—‘अयुजि ननरला गुरुः समे तदपरवक्रमिदं नजौ जरौ’ इति
लक्षणात् ॥ १५ ॥

सहशरधि निजं तथा कार्मुकं वपुरतनु तथैव संवर्मितम् ।

निहितमपि तथैव पश्यन्नसिं वृषभगतिरुपाययौ विस्मयम् ॥ १६ ॥

सहेति ॥ वृषभस्येव गतिर्यस्य सोऽर्जुनस्तस्मिन्समये सह शरधिभ्यां वर्तत
इति सहशरधि सनिषङ्गम् । ‘वोपसर्जनस्य’ इति विकल्पात् ‘सह’शब्दस्य न
सभावः । निजं कार्मुकं गाण्डीवं तथैव पूर्ववदेव संवर्मितं सम्यक्वचितम-
तनु महन्नजं वपुस्तथैव निहितं यथापूर्वं स्थापितमसिमपि खङ्गं च तथैव
पश्यन् विस्मयमुपाययौ । क्वचित्तु ‘वृषभगतिम्’ इति पाठः । तत्र वृषभगतिं
शिवं च पश्यन् विस्मयमुपाययावित्यर्थः । प्रमुदितवदना वृत्तम्—‘प्रमुदितवदना
भवेन्नौ ररौ’ इति लक्षणात् ॥ १६ ॥

सिषिचुरवनिमम्बुवाहाः शनैः सुरकुसुममियाय चित्रं दिवः ।

विमलरुचि भृशं नभो दुन्दुभेर्ध्वनिरखिलमनाहतस्यानशे ॥ १७ ॥

सिषिचुरिति ॥ अम्बुवाहाः शनैरवनिं सिषिचुरुक्षांचक्रुः । दिवोऽन्तरि-
क्षाच्चित्रं विचित्रं सुरकुसुमं मन्दारकुसुमानि । जातावेकवचनम् । इयायाज-
गाम । अनाहतस्याताडितस्य दुन्दुभेः । जातावेकवचनम् । ध्वनिः शब्दो
विमलरुचि प्रसन्नमखिलं नभो भृशमानशे व्याप । अताडिता एव दुन्दु-
भयो नेदुरित्यर्थः । सर्वमिदमस्य सर्वलोकहितार्थित्वादिति वेदितव्यम् ॥ १७ ॥

आसेदुषां गोत्रभिदोऽनुवृत्त्या गोपायकानां भुवनत्रयस्य ।

रोचिष्णुरत्नावलिभिर्विमानैर्घौराचिता तारकितेव रेजे ॥ १८ ॥

आसेदुषामिति ॥ गोत्रभिद इन्द्रस्य । अनुवृत्त्याऽनुसरणेन । आसेदुषा-

मासन्नानां भुवनत्रयस्य गोपायकानां रक्षकाणां लोकपालादीनाम् । 'गुप-
धूप-' इत्यादिनायप्रत्ययः । तदन्ताण्वुल् । रोचिष्णवः प्रकाशनशीला रत्ना-
वलयो येषां तैः । 'अलंकृञ्-' इत्यादिनेष्णुचप्रत्ययः । विमानैः पुष्पकैराचिता
व्यासा द्यौस्तारकिता संजाततारकेव रेजे । उत्प्रेक्षालंकारः ॥ १८ ॥

हंसा बृहन्तः सुरसन्नवाहाः संह्रादिकण्ठाभरणाः पतन्तः ।

चक्रुः प्रयत्नेन विकीर्यमाणैर्व्योम्नः परिष्वङ्गमिवाग्रपक्षैः ॥ १९ ॥

हंसा इति ॥ बृहन्तो महान्तः सुरसन्नानि विमानानि वहन्तीति सुरसन्न-
वाहाः । कर्मण्यण् । संह्रादीनि निहादीनि मुखराणि कण्ठाभरणानि किङ्किण्यो
येषां ते । पतन्तो धावन्तो हंसाः प्रयत्नेन विकीर्यमाणैर्विशिष्यमाणैः ।
अग्रपक्षैः पक्षाग्रैः । व्योम्नः परिष्वङ्गमालिङ्गनं चक्रुरिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ १९ ॥

मुदितमधुलिहो वितानीकृताः स्रज उपरि वितत्य सांतानिकीः ।

जलद इव निषेदिवांसं वृषे मरुदुपसुख्यांबभूवेश्वरम् ॥ २० ॥

मुदितेति ॥ अथ मरुद्वायुः । जलदे मेघ इव वृषे निषेदिवांसमुपविष्टमीश्वरं
मुदिता मधुलिहो भृङ्गा याभिस्ता वितानीकृता उल्लोचाकाराः कृताः ।
'अस्त्री वितानमुल्लोचः' इत्यमरः । सांतानिकीः संतानकुसुमविकाराः स्रजः ।
मन्दारमाला इत्यर्थः । 'संतान'शब्दाद्विकारार्थे ठक् । 'संतानः कल्पवृक्षश्च' इत्य-
मरः । उपरि वितत्य विस्तार्य । उपसुख्यांबभूव प्रह्लादयामास ॥ २० ॥

कृतधृति परिवन्दितेनोच्चकैर्गणपतिभिरभिन्नरोमोद्गमैः ।

तपसि कृतफले फलज्यायसी स्तुतिरिति जगदे हरेः सूनुना २१

कृतेति ॥ अभिन्नरोमोद्गमैरविरलरोमाञ्चैर्गणपतिभिः प्रमथमुख्यैरुच्चकैः
परिवन्दितेन साधु साधु इति संस्तुतेन । 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' । कर्मणि
क्तः । हरेः सूनुनाऽर्जुनेन तपसि कृतं फलं भगवत्साक्षात्कारलक्षणं येन तस्मिन् ।
कृतफले सतीत्यर्थः । कृतधृति कृतसंतोषं यथा तथा फलज्यायसी फलाधि-
केति वक्ष्यमाणा स्तुतिर्जगदे कथिता ॥ २१ ॥

शरणं भवन्तमतिकारुणिकं भव भक्तिगम्यमधिगम्य जनाः ।

जितमृत्यवोऽजित भवन्ति भये ससुरासुरस्य जगतः शरणम् ॥ २२ ॥

शरणमिति ॥ हे अजित अपराजित हे भव, अतिकारुणिकमतिदयालुम् ।
'तदस्य प्रयोजनम्' इति ठक् । भक्तिगम्यं भक्तिमात्रसुलभं भवन्तं शरणं
रक्षकमधिगम्य जितमृत्यवो विगतमरणाः । अमरा भूत्वेत्यर्थः । जनाः
ससुरासुरस्य जगतो भय आपदि शरणं स्वयं रक्षितारो भवन्ति । 'शरणं
गृहरक्षित्रोः' इति विश्वः । प्रमिताक्षरावृत्तम् ॥ २२ ॥

विपदेति तावदवसादकरी न च कामसंपदभिकामयते ।

न नमन्ति चैकपुरुषं पुरुषास्तव यावदीश न नतिः क्रियते ॥ २३ ॥

विपदिति ॥ हे ईश, यावत्तव नतिः प्रणामो न क्रियते । पुरुषेणेति

शेषः । तावदेव एकं पुरुषमेकाकिनं सन्तमवसादकरी क्षयकरी विपदेति प्राप्नोति । कामसंपत् मनोरथसंपन्न नाभिकामयते नेच्छति । पुरुषाश्चान्धे लोकास्तमेकं पुरुषं तव स्तुतिमकुर्वाणं न नमन्ति न वशे वर्तन्ते । नानिष्टनिवृत्ति-
र्नापीष्टप्राप्तिरित्यर्थः । यदा तु त्वां प्रणमन्ति तदैव सर्वं लभ्यत इति भावः ॥ २३ ॥

संसेवन्ते दानशीला विमुक्त्यै 'संपश्यन्तो जन्मदुःखं पुमांसः ।

यन्निःसङ्गस्त्वं फलस्यानतेभ्यस्तत्कारुण्यं केवलं न स्वकार्यम् २४

संसेवन्त इति ॥ दानं शीलं स्वभावो निजधर्मो येषां ते दानशीलाः । त्वामेवोद्दिश्य दानं कुर्वन्त इत्यर्थः । 'तस्माद्दानं परमं वदन्ति' इति श्रुतेरिति भावः । कुतः । यतो जन्मदुःखं संपश्यन्तोऽनुभवन्तः पुमांसो विमुक्त्यै मोक्षाय संसेवन्ते । भवन्तमिति शेषः । न च तच्चित्रम्, किंतु आनतेभ्यः प्रणम्रेभ्यो निःसङ्गो निःस्पृहस्त्वं यत् फलसि फलं ददासि । तेषां फलार्थि-
त्वादिति भावः । तत् केवलं निरुपाधिकं कारुण्यं करुणा । स्वार्थं व्यञ् । 'कारुण्यं करुणा घृणा' इत्यमरः । न स्वकार्यम् । एतदेव चित्रम् । केवलं परा-
र्थत्वादिति भावः । शालिनीवृत्तम् ॥ २४ ॥

प्राप्यते यदिह दूरमगत्वा यत्फलत्परलोकगताय ।

तीर्थमस्ति न भवार्णवबाह्यं सार्वकामिकमृते भवतस्तत् ॥ २५ ॥

प्राप्यत इति ॥ यत् तीर्थम् । इहास्मिंलोके दूरमगत्वा प्राप्यते । स्मृतिमात्र-
सुलभमित्यर्थः । गङ्गादिकं तु न तथेति भावः । यत्तीर्थमपरलोकगताय फलति फलं प्रयच्छति । अत्रापि स्मरणमात्रादेवेति भावः । भवः संसारः स एव अर्णवस्ततो बाह्यं बहिर्भवं संसारातीतम् । मोक्षपदमित्यर्थः । 'बहिर्देवपञ्च-
जनेभ्यश्चेति वक्तव्यम्' इति व्यप्रत्ययः । सर्वे कामाः प्रयोजनमस्येति सार्वका-
मिकम् । 'तदस्य प्रयोजनम्' इति ठक् । तत् तादृक् । तरन्त्यनेनेति तीर्थं तारकं भवतस्त्वदृते । 'अन्यारात्-' इत्यादिना पञ्चमी । अन्यन्नास्ति । औप-
च्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ २५ ॥

व्रजति शुचि पदं त्वयि प्रीतिमान्प्रतिहतमतिरेति घोरां गतिम् ।

इयमनघ निमित्तशक्तिः परा तव वरद न चित्तभेदः क्वचित् २६

व्रजतीति ॥ हे वरद, त्वयि प्रीतिमान् नरः शुचि निर्मलं पदं कैवल्यं मुक्तिं व्रजति । 'मुक्तिः कैवल्यनिर्वाण-' इत्यमरः । प्रतिहतमतिरुपहत-
बुद्धिः । त्वद्वेषीत्यर्थः । घोरां गतिं तीव्रं नरकम् । एति प्राप्नोति । न चैता-
वता तव रागद्वेषकलङ्कपङ्क इत्याह—इयमिति । हे अनघ निष्कलङ्क, इयम् । भक्ताभक्तयोरिति शेषः । विधेयप्राधान्यात्स्त्रीलिङ्गता । परा दुस्तरा निमित्त-
शक्तिर्निमित्तभूता शक्तिः स्वचेष्टितमहिमा । तव क्वचिद्भक्ते द्वेषिणि वा कुत्रापि चित्तभेदो बुद्धिवैषम्यं नास्ति । स्वकर्मणैव जन्तुस्तरति पतति वा । त्वं साक्षितया सर्वत्र सम इत्यर्थः ॥ २६ ॥

दक्षिणां प्रणतदक्षिण मूर्तिं तत्त्वतः शिवकरीमविदित्वा ।

रागिणापि विहिता तव भक्त्या संस्मृतिर्भव भवत्यभवाय ॥ २७ ॥

दक्षिणामिति ॥ हे भव, हे प्रणतदक्षिण प्रणतेषु दाक्षिण्यसंपन्न, दाक्षिण्यं परच्छन्दानुवर्तित्वम् । 'दक्षिणः सरलावामपरच्छन्दानुवर्तिषु' इति विश्वः । शिवकरीं श्रेयस्करीम् । 'कृजो हेतु-' इत्यादिना टप्रत्यये डीप् । तव दक्षिणां मूर्तिं तत्त्वतो याथार्थ्येन अविदित्वापि रागिणा रागद्वेषवतापि भक्त्या विहिता तव संस्मृतिः सम्यक्सरणमभवाय संसारनिवृत्तये । प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समास इव्यते । भवति । तत्त्वज्ञानं विनापि भक्तिपूर्विका तव संस्मृतिरेव मुक्तिनिदानमित्यर्थः । स्वागतावृत्तम् ॥ २७ ॥

दृष्ट्वा दृश्यान्याचरणीयानि विधाय

प्रेक्षाकारी याति पदं मुक्तमपायैः ।

सम्यग्दृष्टिस्तस्य परं पश्यति यस्त्वां

यश्चोपास्ते साधु विधेयं स विधत्ते ॥ २८ ॥

दृष्ट्वेति ॥ प्रेक्षया बुद्ध्या करोतीति प्रेक्षाकारी विमृश्यकारी दृश्यानि दृष्ट्व्यानि दृष्ट्वा ज्ञात्वा आचरणीयानि कर्तव्यानि च विधाय कृत्वा, अपायैर्मुक्तं नाशवर्जितं पदं याति । 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' इति श्रुतेः । ज्ञानकर्मभ्यां मुक्तिरित्यर्थः । किंतु तेऽपि ज्ञानकर्मणी त्वद्विषय एव मुक्तिसाधनं नान्यविषय इत्याशयेनाह—सम्यगिति । यः पुमान् परं पुरुषोत्तमत्वेन सर्वोत्कृष्टं त्वां पश्यति तस्य सम्यग्दृष्टिः सम्यग्ज्ञानम् । यश्च त्वामुपास्ते सेवते स एव साधु विधेयं विधत्ते । साधुकारीत्यर्थः । मत्तमयूरं वृत्तम् । लक्षणं वृत्तम् ॥ २८ ॥

युक्ताः स्वशक्त्या मुनयः प्रजानां हितोपदेशैरुपकारवन्तः ।

समुच्छिनत्सि त्वमचिन्त्यधामा कर्माण्युपेतस्य दुरुत्तराणि ॥ २९ ॥

युक्ता इति ॥ मुनयो व्यासादयः स्वशक्त्या निजयोगमहिम्ना युक्ताः । तथा हितोपदेशैर्विधिनिषेधवाक्यैः स्मृतीतिहासपुराणमुखेन प्रजानामुपकारवन्तः कृतोपकाराश्च । मोक्षप्रदस्तु तेषामन्येषां च त्वमेवेत्याह—समिति । अचिन्त्यधामाऽचिन्त्यमहिमा त्वमेव उपेतस्य शरणं प्राप्तस्य प्रपन्नस्य संबन्धीनि दुरुत्तराणि सुदुस्तराणि कर्माणि बन्धकानि पुण्यपापानि समुच्छिनत्सि नाशयसि । ते त्वन्नासमर्था एवेति भावः ॥ २९ ॥

संनिबद्धमपहर्तुमहार्यं भूरि दुर्गतिभयं भुवनानाम् ।

अद्भुताकृतिमिमामतिमायस्त्वं विभर्षिं करुणामय मायाम् ॥३०॥

संनिबद्धमिति ॥ अतिक्रान्तो मायां बन्धरूपामतिमायः । 'अत्यादयः क्रान्ता-

१ 'मुक्ताः' इति पाठः. २ 'सुदुस्तराणि' इति पाठः. ३ 'अद्भुताकृतिमयीमतिचित्राम्' इति पाठः.

द्यथे द्वितीयया' इति समासः । हे करुणामय हे कृपालो, संनिबद्धं स्वकर्मणा दृढबद्धमत एव, अहार्यमन्यैरनुच्छेद्यं भूरि प्रभूतं भुवनानां दुर्गतिभयं नरक-
भयम् । 'स्यान्नारकस्तु नरको निरयो दुर्गतिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । अपहर्तुमद्भु-
ताकृतिं विचित्ररूपामिमां मायां दृश्यमानां लीलाविग्रहरूपां विभर्षि । अन्येषां
कर्मानुबन्धी विग्रहपरिग्रहः । भवतस्तु परोपकारार्थं इत्यर्थः ॥ ३० ॥

न रागि चेतः परमा विलासिता वधूः शरीरेऽस्ति न चास्ति मन्मथः ।
नमस्क्रिया चोषसि धातुरित्यहो निसर्गदुर्बोधमिदं तवेहितम् ॥३१॥

न रागीति ॥ हे देव, चेतस्तव चित्तं रागि रागयुक्तं न । परमयोगित्वादिति
भावः । तथापि परमा निरतिशया विलासिता शृङ्गारादिचेष्टाशीलता । भिक्षा-
टनादिषु विहरणेन तौर्यत्रिकव्यसनितया चेति भावः । किंच, शरीरेऽर्धाङ्गे वधू-
रस्ति । प्रसिद्धं चैतदिति भावः । तथापि मन्मथः कामश्च नास्ति । तस्य
भस्मीकरणादिति भावः । किंच, उषसि प्रातःसंध्यायां धातुर्ब्रह्मणो नम-
स्क्रिया वन्दनम् । स्वयं जगद्बन्धस्यापीत्यर्थः । इतीत्थं विरुद्धमिदमुक्तं तवे-
हितं चेष्टितं निसर्गतो दुर्बोधं दुराकलनीयम् । दुर्ग्रहमित्यर्थः । अदृष्टपूर्वत्वा-
दिति भावः । वंशस्थं वृत्तम् ॥ ३१ ॥

तवोत्तरीयं करिचर्म साङ्गजं ज्वलन्मणिः सारसनं महानहिः ।
स्रगास्यपङ्क्तिः शवभस्म चन्दनं कला हिमांशोश्च समं चकासति ३२

तवेति ॥ हे देव, तव साङ्गजं सलोमकं करिचर्मोत्तरीयं संव्यानम् ।
दुःस्पर्शमिति भावः । 'संव्यानमुत्तरीयं च' इत्यमरः । ज्वलन्मणिर्ज्वलद्ब्रह्मो
महानहिः सारसनं कटिभूषाविशेषः । योऽन्येषां प्राणहर इत्यर्थः । 'क्रीबे
सारसनं चाथ पुंस्कव्यां शृङ्खलं त्रिषु' इत्यमरः । आस्यपङ्क्तिः कपालमाला स्रक्
माल्यम् । शवभस्म चन्दनम् । उभयत्राप्यस्पृश्यममङ्गलं चेति भावः । किंच,
एतानि वस्तूनि हिमांशोः कला च समं तुल्यतया चकासति दीप्यन्ते ।
त्वदाश्रयवशादरम्यस्यापि रम्यतेति किमशक्यं तवेति भावः ॥ ३२ ॥

अविग्रहस्याप्यतुलेन हेतुना समेतभिन्नद्वयमूर्तिं तिष्ठतः ।
तवैव नान्यस्य जगत्सु दृश्यते विरुद्धवेषाभरणस्य कान्तता ॥३३॥

अविग्रहस्येति ॥ अविग्रहस्य वस्तुतोऽशरीरस्यापि सतोऽतुलेन दुर्बोधत्वा-
दसदृशेन हेतुना । केनापि कारणेनेत्यर्थः । समेता संगता भिन्ना विलक्षणा च
द्वयी द्विविधा स्त्रीपुंसात्मिका मूर्तिर्यस्मिन्कर्मणि तत् समेतभिन्नद्वयमूर्तिं यथा
यथा तिष्ठतः । अशरीरस्य शरीरमेव विरुद्धम् । तदपि नारीनरात्मकमिति किम-
तश्चित्रमस्तीति भावः । एवंविधस्य तवैव जगत्सु विरुद्धे वेषाभरणे पूर्वोक्ते यस्य
तस्य विरुद्धवेषाभरणस्यापि सतः कान्तता रमणीयता दृश्यते । अन्यस्य
न दृश्यते । तस्मादचिन्त्योऽसौ तव महिमेति भावः ॥ ३३ ॥

१ 'शरीरेण तवास्ति' इति पाठः. २ 'समेत्य' इति पाठः. ३ 'जनस्य' इति पाठः.

४ 'विद्यते' इति पाठः.

आत्मलाभपरिणामनिरोधैर्भूतसंघ इव न त्वमुपेतः ।

तेन सर्वभुवनातिग लोके नोपमानमसि नाप्युपमेयः ॥ ३४ ॥

आत्मेति ॥ हे देव, त्वं भूतसंघ इव शरीरादिसंघात इव । आत्मलाभ-
परिणामनिरोधैर्जन्मजरामरणैः । उपेतो युक्तो नासि । तेन कारणेन हे
सर्वभुवनातिग सर्वं लोकोत्तर उपमीयतेऽनेनेत्युपमानं नासि । उपमीयते
यत्तदुपमेयमपि नासि । न कश्चित्त्वादृशोऽस्ति । त्वमपि नान्यसदृशः । अनन्य-
साधारणत्वादित्यर्थः । वृत्तमुक्तम् ॥ ३४ ॥

त्वमन्तकः स्थावरजङ्गमानां त्वया जगत्प्राणिति ३ देव ३ विश्वम् ।

त्वं योगिनां हेतुफले रुणत्सि त्वं कारणं कारणकारणानाम् ॥३५॥

त्वमिति ॥ हे देव, त्वं स्थावरजङ्गमानामन्तकः संहर्ता । त्वया हेतुना
विश्वं सर्वं जगत् प्राणिति जीवति । त्वं योगिनां हेतुः प्रवर्तकं कर्म फलं
भोगश्च ते हेतुफले रुणत्सि निवर्तयसि । तेषां त्वमेव बन्धविमोचक इत्यर्थः ।
किंच, त्वं कारणानि भूतानि तेषां कारणानि भूतसूक्ष्माणि परमाणवो वा तेषां
कारणकारणानां कारणं प्रकृत्यादिद्वारोत्पत्तिस्थानम् । अत्र सर्वत्र 'यतो वा
इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति
श्रुतिः प्रमाणमिति भावः ॥ ३५ ॥

रक्षोभिः सुरमनुजैर्दितेः सुतैर्वा

यल्लोकेष्वविकलमाप्तमाधिपत्यम् ।

पाविन्याः शरणगतार्तिहारिणे तै-

न्माहात्म्यं भव भवते नमस्क्रियायाः ॥ ३६ ॥

रक्षोभिरिति ॥ रक्षोभी राक्षसैः सुरमनुजैः सुराश्च मनुजाश्च तैर्देवमनुष्यै-
र्दितेः सुतैर्देवैर्वा लोकेषु यदविकलं संपूर्णमाधिपत्यमाप्तं प्राप्तं, तत् हे
भव, शरणगतानामार्तिहारिणे दुःखनाशकाय भवते तुभ्यं नमस्क्रियायाः ।
'नमःस्वस्ति-' इत्यादिना चतुर्थी । पाविन्याः पापहारिण्या माहात्म्यं सामर्थ्यम् ।
'न कस्या उन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः' इति भावः । प्रहर्षिणीवृत्तम् ॥३६॥

अथाष्टमूर्तिषु काश्चित्तुवन् वायुमूर्तिं तावदाह—

तरसा भुवनानि यो विभर्ति ध्वनति ब्रह्म यतः परं पवित्रम् ।

परितो दुरितानि यः पुनीते शिव तस्मै पवनात्मने नमस्ते ॥३७॥

तरसेति ॥ यः पवनः । तरसा बलेन । 'तरसी बलरंहसी' इति विश्वः । भुव-
नानि विभर्ति प्राणात्मना धारयति । यतो यत्प्रेरणात् पवित्रं परं परमं ब्रह्म
वर्णात्मकं ध्वनति नदति । 'सोदीर्णो मूर्धर्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः । वर्णा-

१ 'अपि' इति पाठः. २ 'नाथ' इति पाठः. ३ 'सर्वम्' इति पाठः. ४ 'यम्' इति
पाठः. ५ 'पावन्या' इति पाठः. ६ 'ते' इति पाठः. ७ 'तव भव तत्' इति पाठः.

जनयते' इति वचनात् । यः पवनः परितो दुरितानि पातकानि पुनीते शोधयति । नाशयतीति यावत् । हे शिव, तस्मै पावयतीति पवनो वायुः स एवात्मा यस्य तस्मै पवनात्मने ते तुभ्यं नमः । वृत्तमुक्तम् ॥ ३७ ॥

अथाग्निमूर्तिं स्तौति—

भवतः स्मरतां सदासने जयिनि ब्रह्ममये निषेदुषाम् ।

दहते भवबीजसंततिं शिखिनेऽनेकशिखाय ते नमः ॥ ३८ ॥

भवत इति ॥ जयिनि जयशीले सर्वोत्कृष्टे ब्रह्ममये ब्रह्मप्रधाने । तत्प्राप्त्युपायत्वात् । सदासने सम्यगासने । योगासन इत्यर्थः । निषेदुषामुपविष्टानां भवतः स्मरतां भवन्तं ध्यायताम् । 'अधीगर्थ—' इत्यादिना शेषे कर्मणि षष्ठी । भवबीजसंततिं संसारनिदानसमूहं भवनिदानकर्मसंघातं दहते भस्मीकुर्वते-ऽनेकशिखाय बहुज्वालाय शिखिने वह्निमूर्तये ते तुभ्यं नमः ॥ ३८ ॥

अथ जलमूर्तिं स्तौति—

आबाधामरणभयार्चिषा चिराय

प्लुष्टेभ्यो भव महता भवानलेन ।

निर्वाणं समुपगमेन यच्छते ते

बीजानां प्रभव नमोऽस्तु जीवनाय ॥ ३९ ॥

आबाधेति ॥ हे भव, बीजानां प्रभव कारणभूत । 'जीवानाम्' इति पाठे तेषां त्वत्प्रतिबिम्बत्वादिति भावः । आबाधाऽध्यात्मिकादिदुःखं मरणं पञ्चत्वं ताभ्यां भयं तदेवार्चिर्यस्य तेन महता भवानलेन संसाराग्निना चिराय चिरं प्लुष्टेभ्यो दग्धेभ्यः समुपगमेन संसेवया निर्वाणं संतापशान्तिं यच्छते ददते जीवयतीति जीवनं तस्मै जीवनाय जलात्मने ते तुभ्यं नमः ॥ ३९ ॥

इदानीं नभोमूर्तिं स्तौति—

यः सर्वेषामावरीता वरीयान् सर्वैर्भवैर्नावृतोऽनादिनिष्ठः ।

मार्गातीतायेन्द्रियाणां नमस्तेऽविज्ञेयाय व्योमरूपाय तस्मै ॥ ४० ॥

य इति ॥ भवेत्यनुवर्तते । भवत्यस्मादयं प्रपञ्च इति भवस्तत्संबुद्धौ । सकल-जगज्जनकेति यावत् । वरीयानुरुतरः । विभुरित्यर्थः । 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना 'उरु'-शब्दस्य वरादेशः । यस्त्वं सर्वेषां वस्तूनां आवरीताऽऽच्छादयिता । वृणोतेस्तृ-चप्रत्ययः । सर्वैर्भवैः पदार्थैर्नावृतः केनापि कदाचिदप्यनावृतः, स्वयं व्यापकत्वा-दिति भावः । अविद्यमाने आदिनिष्ठे उत्पत्तिनाशौ यस्यासावनादिनिष्ठो नित्यः । 'निष्ठानिष्पत्तिनाशान्ताः' इत्यमरः । इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मार्गातीतायाती-न्द्रियाय । अत एव, अविज्ञेयायापरिच्छेद्याय तस्मै व्योमरूपाय ते तुभ्यं नमः ॥ ४० ॥

१ 'ब्रह्मपद' इति पाठः. २ 'संहतिम्' इति पाठः. ३ 'शिव' इति पाठः.

४ 'जीवानां प्रसव' इति पाठः. ५ 'सर्वैश्च त्वत्', 'सर्वैः शश्वत्' इति पाठौ.

अणीयसे विश्वविधारिणे नमो नमोऽन्तिकस्थाय नमो दवीयसे ।

अतीत्य वाचां मनसां च गोचरं स्थिताय ते तत्पतये नमो नमः ॥४१॥

अणीयस इति ॥ हे भवेत्यनुवर्तते । हे भव, अणीयसे सूक्ष्मतराय तथापि विश्वधारिणे जगद्धारकाय ते तुभ्यं नमः । अन्तिकस्थायान्तर्यामितया संनिकृष्टाय सते । तथापि दवीयसे दुर्ग्रहत्वाद्दूरतराय ते तुभ्यं नमः । वाचां मनसां च गोचरं विषयं अतीत्य स्थितायावाङ्मनसगोचराय । तत्पतये तेषां वाङ्मनसामध्यक्षाय । तदध्यक्षसैरेव न दृश्यत इति विरोधः । ते तुभ्यं नमो नमः । 'चापले द्वे भवत इति वक्तव्यम्' इति द्विरुक्तिः । 'संभ्रमेण प्रवृत्ति-श्चापलम्' इति काशिका । भक्त्युद्रेकाच्च संभ्रमः । विरोधाभासोऽलंकारः ॥ ४१ ॥

असंविदानस्य ममेश संविदां तितिक्षितुं दुश्चरितं त्वमर्हसि ।

१ विरोध्य मोहात्पुनरभ्युपेयुषां गतिर्भवानेव दुरात्मनामपि ॥ ४२ ॥

असंविदानस्येति ॥ संविदां ज्ञानानामीश । 'ईशानः सर्वविद्यानाम्' इति श्रुतेरिति भावः । 'प्रेक्षोपलब्धिश्चित्संवित्' इत्यमरः । असंविदानस्याज्ञानस्य । 'समो गम्यच्छि-' इत्यादिना विदेः संपूर्वादकर्मकाच्छानच्प्रत्ययः । मम दुश्चरितं शस्त्रप्रयोगरूपं दुश्चेष्टितं तितिक्षितुं सोढुम् । तिजेः सन्नन्तात्तुमुन्प्रत्ययः । त्वमर्हसि योग्योऽसि । ननु तव महानपराधः कथं सोढव्यस्तत्राह—विरोध्येति । मोहादज्ञानात् विरोध्य वैरमुत्पाद्य पुनरभ्युपेयुषां पश्चाच्छरणागतानां दुरात्मनामपि भवानेव गतिः । त्वं हि शरणागतानामपराधं न गणयसीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

संप्रति वरं याचते—

आस्तिक्यशुद्धमवतः प्रियधर्म धर्म

धर्मात्मजस्य विहितागसि शत्रुवर्गे ।

संप्राप्त्यां विजयमीश यया समृद्ध्या

तां भूतनाथ विभुतां वितराहवेषु ॥ ४३ ॥

आस्तिक्येति ॥ हे प्रियो धर्मो यस्येति प्रियधर्म । 'समासान्तो विधिरन्तित्यः' इति न समासान्तोऽनिच्प्रत्ययः । परलोके मतिरस्तीत्यास्तिकः पारलौकिकः । 'अस्ति नास्ति दिष्टम्-' इति ठक् । तस्य भाव आस्तिक्यं विश्वासस्तेन शुद्धं विमलं धर्मं वैदिकाचारम् । अवतः पालयतो धर्मात्मजस्य युधिष्ठिरस्य विहितागसि कृतापराधे शत्रुवर्गे विषये हे ईश, यया समृद्ध्याऽस्त्वैभवेन विजयं संप्राप्त्यां भजेयम् । हे भूतनाथ, आहवेषु तां विभुतां विभूतिमस्त्रविद्यां वितर देहि ॥ ४३ ॥

इति निगदितवन्तं सूनुमुच्चैर्मघोनः
प्रणतशिरसमीशः सादरं सान्त्वयित्वा ।
ज्वलदनलपरीतं रौद्रमस्त्रं दधानं

धनुरूपपदमस्मै वेदमभ्यादिदेश ॥ ४४ ॥

इतीति ॥ इत्युच्चैर्निगदितवन्तं प्रणतशिरसं मघोन इन्द्रस्य सूनुमर्जु-
नम् । ईशो महादेवः सादरं यथा तथा सान्त्वयित्वोपसान्त्वय, अस्मै
अर्जुनाय ज्वलताऽनलेन तेजसा परीतं व्यासं रौद्रं रुद्रदेवताकं पाशुपतमस्त्रं
दधानं धनुरूपपदं 'धनुः'शब्दोपपदं वेदम् । धनुर्वेदमित्यर्थः । अभ्यादि-
देश ददौ । अध्यापयामासेत्यर्थः । 'धनुरूपपदं वेदम्' इत्यत्र धनुरूपपदत्वं
'वेद'शब्दस्य न तु संज्ञिनस्तदर्थस्येति संज्ञायाः संज्ञिगतत्वाभावादवाच्यवचन-
दोषमाहुरालंकारिकाः । तदुक्तम्—'यदेवावाच्यवचनमवाच्यवचनं हि तत्'
इति । समाधानं तु 'धनुः'शब्दविशेषितेन 'वेद'शब्देन । शब्दपरेणेत्यर्थः ।
परोपदेशयोग्यो धनुर्वेदो लक्ष्यत इति कथञ्चित्संपाद्यम् ॥ ४४ ॥

स पिङ्गाक्षः श्रीमान् भुवनमहनीयेन महसा

तनुं भीमां बिभ्रत्त्रिगुणपरिवारप्रहरणः ।

परीत्येशानं त्रिः स्तुतिभिरुपगीतः सुरगणैः

सुतं पाण्डोर्वीरं जलदमिव भास्वानभिययौ ॥ ४५ ॥

स इति ॥ पिङ्गाक्षः पिङ्गलाक्षः श्रीमान् शोभावान् भुवनमहनीयेन
लोकपूज्येन महसा तेजसा भीमां तनुं बिभ्रत् । त्रिगुणस्त्रिशिखः परिवारः
आकारो यस्य तत् त्रिगुणपरिवारं त्रिशूलं तदेव प्रहरणमायुधं यस्य स
तथोक्तः । सूर्यपक्षे तु,—गुणत्रयपरिवारस्त्रय्यात्मक इति योज्यम् । स धनुर्वेदः
सुरगणैः स्तुतिभिरुपगीतः सन् । ईशानं शिवं त्रिस्त्रिवारम् । 'द्वित्रि-
चतुर्भ्यः सुच्' इति सुच्प्रत्ययः । परीत्य प्रदक्षिणीकृत्य वीरं पाण्डोः सुतमर्जु-
नम् । भास्वान् सूर्यो जलदमिव । अभिययौ । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४५ ॥

अथ शशधरमौलेरभ्यनुज्ञामवाप्य

त्रिदशपतिपुरोगाः पूर्णकामाय तस्मै ।

अवितथफलमाशीर्वादमारोपयन्तो

विजयि विविधमस्त्रं लोकपाला वितेरुः ॥ ४६ ॥

अथेति ॥ अथ शशधरमौलिवरप्रदानानन्तरं त्रिदशपतिपुरोगा इन्द्रादयो
लोकपालाः शशधरमौलेः शंभोः अभ्यनुज्ञामवाप्य पूर्णकामाय तस्मै
पाण्डवाय अवितथफलममोघफलम् । आशीर्वादमारोपयन्तः प्रयुजाना

विजयि जयशीलं विविधं नानाविधम् अस्त्रमैन्द्रादिकं वितेरुदंडुः । मालिनी-
वृत्तम् ॥ ४६ ॥

असंहार्योत्साहं जयिनमुदयं प्राप्य तरसा
धुरं गुर्वी वोढुं स्थितमनवसादाय जगतः ।
स्वधाम्ना लोकानां तमुपरि कृतस्थानममरा-
स्तपोलक्ष्म्या दीप्तं दिनकृतमिवोच्चैरुपजगुः ॥ ४७ ॥

असंहार्योत्साहमिति ॥ तरसा बलेन वेगेन च जयिनं जयशीलमुदयम-
स्त्रलाभरूपमभ्युदयम् । अन्यत्र, -उदयाद्रिं च प्राप्य, असंहार्योत्साहं संहर्तु-
मशक्यमुद्योगं जगतोऽनवसादाय क्षेमाय गुर्वी धुरं दुष्टनिग्रहभरं तमोप-
संहाररूपं च भारं वोढुं स्थितम् । स्वधाम्ना स्वतेजसा लोकानामुपरि
कृतस्थानं कृतपदम् । अन्यत्र, -उपरि वर्तमानम् । तपोलक्ष्म्या दीप्तं तं
पाण्डवम् । अमरा इन्द्रादयो दिनकृतं सूर्यमिवोच्चैरुपजगुः साधु महा-
भाग्योऽसीति तुष्टुवुः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४७ ॥

ब्रज जय रिपुलोकं पादपद्मानतः सन्
गदित इति ^१शिवेन श्लाघितो देवसंघैः ।

निजगृहमथ गत्वा सादरं पाण्डुपुत्रो
धृतगुरुजयलक्ष्मीर्धर्मसूनुं ननाम ॥ ४८ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीयेऽष्टादशः सर्गः ।

ब्रजेति ॥ शिवेन ब्रज स्वपुरं गच्छ, रिपुलोकं जयेति गदित उक्तः । यतः
पादपद्मानतः शिवपादपङ्कजानतः सन्, तथा देवसंघैः श्लाघितः स्तुतोऽत एव
धृता गुर्वी जयलक्ष्मीर्येन स पाण्डुपुत्रोऽर्जुनो निजगृहं स्वाश्रमं गत्वा
प्राप्य, अथ सादरं यथा तथा धर्मसूनुं युधिष्ठिरं ननाम नमश्चक्रे ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-
काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायामष्टादशः सर्गः समाप्तः ।

॥ समाप्तमिदं किरातार्जुनीयं नाम महाकाव्यम् ॥

किरातार्जुनीयश्लोकानामकारादिवर्णक्रमसूची ।

	स०श्लो०		स०श्लो०
अकृत्रिमप्रेमरसाभिरामं ...	३ ३७	अथ हिमशुचिभस्म ...	१८ १५
अखण्डमाखण्डल ...	१ २९	अथाग्रे हसता साचि ...	१५ ७
अखिलमिदममुष्य ...	५ २१	अथापदामुद्धरणक्षमेषु ...	१७ १
अगूढहासस्फुटदन्त ...	८ ३६	अथाभिपश्यन्निव ...	३ ५६
अग्रसानुषु नितान्त ...	९ ७	अथामर्षान्निसर्गाच्च ...	११ १
अचकमत सपल्लावां ...	१० ४९	अथोच्चकैरासनतः ...	२ ५७
अचित्ततायामपि ...	१७ ४७	अथो शरस्तेन मदर्थ ...	१४ १७
अचिरेण परस्य ...	२ ९	अथोष्णभासेव सुमेरु ...	३ ३२
अजन्मा पुरुषस्तावत् ...	११ ७०	अदीपितं वैद्युतजातवेदसा ...	४ २९
अजिह्वमोजिष्ठममोघ ...	१४ ५७	अद्य क्रियाः कामदुघाः ...	३ ६
अणीयसे विश्वविधा ...	१८ ४१	अधरीचकार च विवेक ...	६ २१
अणुरप्युपहन्ति ...	२ ५१	अधिगम्य गुह्यकगणादिति ...	६ ३८
अतिपातितकाल ...	२ ४२	अधिरुह्य पुष्पभरनम्रशिखैः ...	६ १७
अतिशयितवनान्तर ...	१० ८	अनादरोपात्तधृतैक ...	१४ ३६
अतीतसंख्या विहिता ...	१४ १०	अनाप्तपुण्योपचयै ...	३ ५
अत्यर्थं दुरुपसदादुपेत्य ...	७ ९	अनामृशन्तः क्वचिदेव ...	१७ ३३
अथ कृतकविलोभनं ...	१० १७	अनायुधे सत्त्वजिघांसिते ...	१४ १६
अथ क्षमामेव ...	१ ४४	अनारतं तेन पदेषु ...	१ १५
अथ चेद्वधिः ...	२ १६	अनारतं यौ मणिपीठ ...	१ ४०
अथ जयाय नु मेरुमही ...	५ १	अनिर्जयेन द्विषतां ...	११ ७१
अथ दीपितवारिवाहवर्त्मा ...	१३ २०	अनुकूलपात्तिनमचण्ड ...	६ २५
अथ दीर्घतमं तमः ...	१३ ३०	अनुकूलमस्य च विचिन्त्य ...	१२ ४३
अथ परिमलजामवाप्य ...	१० १	अनुचरेण धनाधिपतेरथो ...	५ १६
अथ भूतभव्यभवदीश ...	१२ १९	अनुजगुरथ दिव्यं ...	३ ६०
अथ भूतानि वार्त्रघ्न ...	१५ १	अनुजानुमध्यमवसक्त ...	१२ २२
अथ वासवस्य वचनेन ...	१२ १	अनुद्धताकारतया ...	३ ३
अथ विहितविधेयै ...	१६ ६२	अनुपालयता मुदे ...	२ १०
अथवैष कृतज्ञयेव पूर्व ...	१३ ५	अनुभाववता गुरु स्थिर ...	१३ १५
अथ शशधरमौलैरभ्य ...	१८ ४६	अनुशासतमित्यना ...	२ ५४
अथ स्फुरन्मीनविधूत ...	८ २७	अनुसानु पुष्पितलता ...	६ १
अथ स्वमायाकृतमन्दिरो ...	८ ८	अनुहेमवप्रमरुणैः समतां ...	६ ८

	स०श्लो०		स०श्लो०
अनेकराजन्यरथाश्व...	१ १६	अयमच्युतश्च वचनेन ...	१२ ३५
अनेन योगेन विवृद्ध	३ २८	अयमसौ भगवानुत ...	१८ ९
अन्तकः पर्यवस्थाता	११ १३	अयमेव मृगव्यसत्रकाम ...	१३ ९
अन्तिकान्तिकगतेन्दु	९ २१	अयं वः क्लैब्यमापन्नान् ...	१५ १९
अन्यदीयविशिखे न	१३ ४६	अलकाधिपमृत्यदर्शितं ...	३ ५९
अन्यदोषमिव स स्वकं	१३ ४८	अलंकृतानामृजुता ...	१७ २९
अन्योन्यरक्तमनसा...	९ ७४	अलङ्घ्यं तत्तदुद्वीक्ष्य ...	११ ६०
अपनेयमुदेतुमिच्छता	२ ३६	अलङ्घ्यत्वाज्जनैः ...	११ ४०
अपयन्धनुषः शिवान्तिक	१३ २३	अलमेष विलोकितः ...	५ १७
अपरागसमीरणे ...	२ ५०	अलसपदमनोरमं प्रकृत्या ...	१० ६०
अपवर्जितविप्लवे ...	२ २६	अवचयपरिभोगवन्ति ...	१० ५
अपवादादभीतस्य ...	११ ५६	अवद्यन्पत्रिणः शंभोः ...	१५ ३७
अपश्यद्भिरिवेशानं ...	१५ २	अवधूतपङ्कजपराग...	६ ३
अपहस्येऽथवा सद्भिः	११ ६८	अवधूयारिभिर्नीता ...	११ ५८
अप्राकृतस्याहव ...	१६ २४	अवन्ध्यकोपस्य ...	१ ३३
अभितस्तं पृथासूनुः	११ ८	अवरुग्णतुङ्गसुरदारु...	६ ५
अभिद्रोहेण भूतानाम्	११ २१	अवलीढसनाभिरश्वसेनः ...	१३ ११
अभिनयमनसः ...	१० ४२	अवहितहृदयो विधाय ...	२ ५८
अभिभवति मनः कदम्ब	१० २३	अविग्रहस्याप्यतुलेन ...	१८ ३३
अभिभवोदितमन्यु ...	१८ ७	अविज्ञातप्रबन्धस्य ...	११ ४३
अभिमानधनस्य ...	२ १९	अवितृप्ततया तथापि ...	२ २९
अभिमानवतो ...	२ १३	अविभावितनिष्क्रम...	१३ २७
अभिमुनि सहसा ...	१० ४५	अविमृष्यमेतदभिलष्यति ...	६ ४४
अभियोग इमान ...	२ ४६	अविरतो जिह्नतवारि ...	५ ६
अभिरश्मिमालि विमलस्य	१२ २	अविरलफलिनीवन ...	१० २८
अभिलषत उपायं ...	१७ ६४	अविरलमलसेषु ...	१० ४३
अभिवर्षति योऽनु ...	२ ३१	अविलङ्घ्यविकर्षणं ...	३ ५७
अभूतमासज्य विरुद्ध	१४ १९	अविवेकनृथाश्रमा ...	१३ २९
अभ्यघानि मुनिचापलात्	१३ ६३	असकलनयनेक्षितानि ...	१० ५९
अभ्यायतः संततधूम	१६ ६	असक्तमाराधयतो ...	१ ११
अमर्षिणा कृत्यमिव ...	१४ ६३	असमापितकृत्य ...	२ ४८
अमी पृथुस्तम्बभृतः	४ २६	असावनास्थापरया ...	४ ३४
अमी समुद्भूतसरोज	४ ३५	असिः शरा वर्म धनुश्च ...	१४ २०
अयथार्थक्रियारम्भैः	११ ५२	असृङ्गवीनामुपचीय...	१६ १०

	स०श्लो०		स०श्लो०
असंविदानस्य ममेश ...	१८ ४२	आसक्तभरनीकाशै ...	११ ५
असंशयं न्यस्तमुपान्त ...	८ ३८	आसक्ता धूरियं ...	११ ७७
असंशयालोचितकार्यं ...	३ ३३	आसन्नद्विपपदवीमदा ...	७ २४
असंहार्योत्साहं जयिन ...	१८ ४७	आसादिता तत्प्रथमं ...	१६ २७
अस्रवेदमधिगम्य तत्त्वतः...	१३ ६२	आसुरे लोकवित्रास ...	१५ २८
अस्रवेदविदयं मही ...	१३ ६७	आसेदुषां गोत्रभिदो ...	१८ १८
अस्रैः समानामति ...	१७ ३४	आस्तिक्यशुद्धमवतः ...	१८ ४३
अस्मिन्नगृह्यत पिनाक ...	५ ३३	आस्थामालम्ब्य नीतेषु ...	१५ ४
अस्मिन्यशःपौरुष ...	१६ ९	आस्थितः स्थगित ...	९ ९
अंशुपाणिभिरतीव ...	९ ३	आहिते नु मधुना ...	९ ६९
अंसस्थलैः केचिद् ...	१६ ३०	इच्छतां सह वधूभि ...	९ १३
अंसाववष्टब्धनतौ ...	१६ २१	इतरेतरानभिभवेन ...	६ ३४
आकारमाशंसितभूरि ...	३ २७	इति कथयति तत्र ...	४ ३७
आकीर्णं बलरजसा ...	७ ३६	इति गां विधाय विरतेषु ...	१२ ३२
आकीर्णा मुखनलिनै ...	७ १८	इति चालयन्नचलसानु ...	१२ ५२
आकुमारमुपदेष्टु ...	१३ ४३	इति तानुदारमनुनीय ...	१२ ४०
आकुलश्चलपतत्रि ...	९ ८	इति तेन विचिन्त्य चाप ...	१३ १४
आक्षिप्तचापावरणेषु ...	१७ ५९	इति दर्शितविक्रियं ...	२ २५
आक्षिप्तसंपातमपेत ...	१६ ४१	इति निगदितवन्तं ...	१८ ४४
आक्षिप्यमाणं रिपुभिः ...	३ ५०	इति ब्रुवाणेन महेन्द्र ...	३ ३०
आघट्टयामास गता ...	१७ ३८	इति विविधमुदासे ...	१६ ६३
आघ्राय क्षणमतिवृष्य ...	७ ३४	इति विषमितचक्षुषा ...	१० ५६
आतपे धृतिमता ...	९ ३०	इति शासति सेनान्यां ...	१५ २९
आतिथेयीमथासाद्य ...	११ ९	इतीरयित्वा गिरमात्त ...	१ २६
आत्मनीनमुपतिष्ठते ...	१३ ६९	इतीरिताकूतमनील ...	१४ २४
आत्मलाभपरिणाम ...	१८ ३४	इत्थं विहृत्य वनिताभि ...	८ ५५
आदृता नखपदैः ...	९ ४९	इत्युक्तवन्तं परिरभ्य ...	११ ८०
आबाधामरणभया ...	१८ ३९	इत्युक्तवन्तं व्रज साधये ...	३ २४
आमत्तभ्रमरकुला ...	७ १०	इत्युक्तवानुक्तिविशेष ...	३ १०
आमोदवासितचला ...	९ ७७	इत्युक्त्वा सपदि हितं ...	५ ५१
आयस्तः सुरसरिदोघ ...	७ ३२	इदमीदृशगुणोपेतं ...	११ ४१
आरोढुः समवनतस्य ...	७ ३३	इमान्यमूनीत्यपवर्जिते ...	८ २०
आशंसितापचिति ...	६ ४६	इमामहं वेद न तावकीं ...	१ ३७
आशु कान्तमभिसारित ...	९ ३८	इयमिष्टगुणाय रोचतां ...	३ ५

	स०	श्लो०
इयं च दुर्वारमहारथानां ...	१६	१७
इयं शिवाया नियते ...	४	२१
इह दुरधिगमैः किञ्चिदेवा ...	५	१८
इह वीतभयास्त्रपोऽनुभावा ...	१३	४
इह सनियमयोः सुराप ...	५	४०
ईशार्थमम्भसि चिराय ...	५	२९
उच्यतां स वचनीय ...	९	३९
उज्जती शुचमिवाशु ...	९	१८
उज्जत्सु संहार इवा ...	१६	१६
उत्फुल्लस्थलनलिनी ...	५	३९
उत्सङ्गे समविषमे समं ...	७	२१
उत्सृष्टध्वजकुथकङ्कटा ...	७	३०
उदस्य धैर्यं दयितेन ...	८	५०
उदारकीर्तेरुदयं ...	१	१८
उदाहरणमाशीःषु ...	११	६५
उदितोपलस्खलन ...	६	४
उरीरितां तामिति ...	३	५५
उदूढवक्षःस्थगितैक ...	१४	३१
उद्गतेन्दुमविभिन्न ...	९	२४
उन्मज्जन्मकर इवा ...	१७	६३
उपकार इवासति ...	१३	३३
उपकारकमाहते ...	२	४३
उपजापसहान्विल ...	२	४७
उपपत्तिरुदाहता ...	२	२८
उपलभ्य चञ्चलतरङ्ग ...	६	१४
उपलाहतोद्धततरङ्ग ...	६	१०
उपाधत्त सपत्नेषु ...	११	५०
उपारताः पश्चिमरात्रि ...	४	१०
उपेयुपीणां वृहतीरधि ...	८	१२
उपेयुपीं विभ्रतमन्तक ...	१४	३८
उपैति सस्यं परिणाम ...	४	२२
उपैत्यनन्तद्युतिरप्य ...	१६	६१
उपोढकल्याणफलो ...	१७	५४
उमापतिं पाण्डुसुत ...	१७	१२

	स०	श्लो०
उरसि शूलभृतः प्रहिता ...	१८	५
उरु सत्त्वमाह विपरि ...	६	३५
ऊर्ध्वं तिरश्चीनमधश्च ...	१६	५०
ऋषिवंशजः स यदि ...	६	३६
एकतामिव गतस्य ...	९	१२
एवं प्रतिद्वन्द्विषु तस्य ...	१७	१८
ओजसापि खलु नून ...	९	३३
ओष्ठपल्लवविदंश ...	९	५७
औषसातपभयादप ...	९	११
ककुदे वृषस्य कृत ...	१२	२०
कच्छान्ते सुरसरितो ...	१२	५४
कतिपयसहकारपुष्प ...	१०	३०
कथमिव तव संमति ...	१०	३६
कथं वाऽऽदीयतामर्वाङ् ...	११	७६
कथाप्रसङ्गेन जनैः ...	१	२४
कपोलसंश्लेषि विलो ...	४	९
करणशृङ्खलनिःसृतयो ...	१८	११
करिष्यसे यत्र सुदुश्च ...	३	२९
करुणमभिहितं त्रपा ...	१०	५८
करोति योऽशेषजनाति ...	३	५१
करौ धुनाना नवपल्लवाकृती		
[पयस्यगाधे ...	८	४८
करौ धुनाना नवपल्लवाकृती		
[वृथा कृथा ...	८	७
कलत्रभारेण विलोल ...	८	१७
कवचं स बिभ्रदुपवीत ...	१२	९
कषणकम्पनिरस्तमहा ...	५	४७
कान्तदूत्य इव कुङ्कुम ...	९	६
कान्तवेश्म बहु संदिशती ...	९	३७
कान्तसंगमपराजित ...	९	५२
कान्ताजनं सुरतखेद ...	९	७६
कान्तानां कृतपुलकः ...	७	५
किं गतेन न हि युक्त ...	९	४०
किं त्यक्तापास्तदेवत्व ...	१५	२१

	स०श्लो०		स०श्लो०
किमपेक्ष्य फलं ...	२ २१	क्षोभेण तेनाथ गणा ...	१७ २२
किमसामयिकं वित... ..	२ ४०	खण्डिताशंसया तेषां ...	१५ ३
किमुपेक्षसे कथय ...	१२ ३१	गणाधिपानामविधाय ...	१४ ५४
किरातसैन्यादुरुचाप ...	१४ ४५	गतवति नखलेखा ...	९ ७८
कुप्यताशुभवतानत ...	९ ५३	गतान्पशूनां सहजन्म ...	४ १३
कुररीगणः कृतरवस्तरवः ...	५ २५	गतैः परेषामविभाव ...	१४ ५२
कुरु तन्मतिमेव ...	२ २२	गतैः सहावैः कलहंस ...	८ २९
कुरु तात तपांस्वमार्ग ...	१३ १३	गन्धमुद्धतरजःकण ...	९ ३१
कुसुमनगवनान्युपैतु ...	१० ३१	गभीररन्ध्रेषु भृशं मही ...	१४ ४६
कुसुमितमवलम्ब्य ...	१० ५३	गम्यतामुपगते नयनानां ...	९ ४
कृतधृति परिवन्दिते ...	१८ २१	गुणसंपदा समधिगम्य ...	५ २४
कृतप्रणामस्य महीं ...	१ २	गुणानुरक्तमनुरक्त ...	१ ३१
कृतं पुरुषशब्देन ...	११ ७२	गुणापवादेन तदन्य ...	१४ १२
कृतवानन्यदेहेषु ...	११ २६	गुरुक्रियारम्भफलै ...	१४ ४२
कृतानतिर्व्याहृतसा ...	३ ३१	गुरुस्थिराण्युत्तम ...	१६ २८
कृतान्तदुर्वृत्त इवा ...	१६ २९	गुरुन्कुर्वन्ति ते वंश्यान् ...	११ ६४
कृतारिषड्वर्गज्ञेन ...	१ ९	गूढोऽपि वपुषा राजन् ...	११ ६
कृतावधानं जितबर्हि ...	४ ३३	प्रसमानमिवौजांसि ...	११ ७३
कृतोर्मिरेखं शिथिलत्व ...	४ ६	ग्रहविमानगणानभितो ...	५ १४
कृष्णद्वैपायनादेशात् ...	११ ४६	घनपोत्रविदीर्णशाल ...	१३ ३
को न्विमं हरितुरङ्ग ...	१३ ५०	घनं विदार्यार्जुन ...	१५ ५०
कोऽपवादः स्तुतिपदे ...	११ २५	घनानि कामं कुसुमानि ...	८ ४
क्रान्तानां ग्रहचरितात्प ...	७ १२	चञ्चलं वसु नितान्त ...	१३ ५३
क्रामद्भिर्घनपदवीमनेक ...	५ ३४	चतसृष्वपि ते विवेकिनी ...	२ ६
क्रियासु युक्तैर्नृप ...	१ ४	चमरीगणैर्गणबलस्य ...	१२ ४७
क्रोधान्धकारान्तरितो ...	१७ ९	चयानिवादीनिव ...	१६ ५२
क्रान्तोऽपि त्रिदशवधू ...	७ २९	चलनेऽवनिश्चलति ...	१२ २८
क चिराय परिग्रहः ...	२ ३९	चारचुञ्चुश्चिरारेची ...	१५ ३८
क्षत्रियस्तनयः पाण्डोः ...	११ ४५	चिचीषतां जन्मवतां ...	३ ११
क्षययुक्तमपि स्वभावजं ...	२ ११	चित्तनिर्वृतिविधायि ...	९ ७१
क्षितिभःसुरलोक ...	५ ३	चित्तवानसि कल्याणी ...	११ १४
क्षिपति योऽनुवनं ...	५ ४५	चित्रीयमाणानति ...	१७ ३१
क्षीणयावकरसोऽप्यति ...	९ ६२	चिरनियमकृशोऽपि ...	१० १४
क्षुभिताभिनिःसृत ...	१२ ४५	चिरमपि कलितान्य ...	१० ४८

	स०श्लो०		स०श्लो०
च्युते स तस्मिन्निषुधौ ...	१७ ३७	ततः स संप्रेक्ष्य शरद्गुण ...	४ २०
छायां विनिर्धूय तमोमयीं ...	१६ ३२	ततः सुपर्णत्रजपक्ष ...	१६ ४४
जगतीशरणे युक्तो ...	१५ ४५	ततस्तपोवीर्यसमुद्भूतस्य ...	१७ ३५
जगत्प्रसूतिर्जगदेक... ..	४ ३२	ततोऽप्रभूमिं व्यवसाय ...	१७ ५५
जटानां कीर्णया केशैः ...	११ ३	ततो धरित्रीधरतुल्य ...	१६ ५५
जनैरुपग्राममनिन्द्य ...	४ १९	ततोऽनुपूर्वायतवृत्त... ..	१७ ५०
जन्मवेषतपसां विरोधिनीं ...	१३ ६४	ततोऽपवादेन पताकिनी ...	१४ २७
जन्मिनोऽस्य स्थितिं ...	११ ३०	तत्तदीयविशिखा ...	१३ ५७
जपतः सदा जपमुपांशु ...	१२ ८	तत्तितिक्षितमिदं ...	१३ ६८
जयमत्रभवान्नून ...	११ १८	तत्र कार्मुकमृतं ...	१३ ३५
जयारवक्ष्वेडितनाद ...	१४ २९	तथा न पूर्वं कृतभूषणा ...	८ ४१
जयेन कच्चिद्विरमेदयं ...	१४ ६२	तथापि जिह्नः स ...	१ ८
जरतीमपि विभ्राण ...	११ ७	तथापि निम्नं नृप ...	३ १२
जलदजालघनैरसिता ...	५ ४८	तदनघ तनुरस्तु ...	१० ५०
जलौघसंमूर्च्छनमूर्च्छित ...	१६ ५९	तदभूरिवासरकृतं ...	६ २९
जहातु नैनं कथमर्थ ...	३ १४	तदलं प्रतिपक्ष ...	२ १५
जहार चास्मादचिरेण ...	१७ ४४	तदा रम्याण्यरम्याणि ...	११ २८
जहिहि कठिनतां ...	१० ५१	तदाशु कर्तुं त्वयि ...	१ २५
जहीहि कोपं दयितो ...	८ ८	तदाशु कुर्वन्वचनं ...	३ ५४
जिह्वाशतान्युल्लस ...	१६ ३७	तदुपेत्य विघ्नयत ...	६ ४३
जीयन्तां दुर्जया देहे ...	११ ३२	तद्गणा ददृशुर्भीमं ...	१५ ३५
जेतुमेव भवता ...	१३ ५४	तनुमवजितलोक ...	१० १५
ज्वलतस्तव जात ...	२ २४	तनुवारभसो भाखान् ...	१५ २३
ज्वलतोऽनलादनु ...	१२ ७	तनूरलक्षारुणपाणि... ..	८ ५
ज्वलितं न हिरण्य ...	२ २०	तपनमण्डलदीपितमेक ...	५ २
तत उदग्र इव द्विरदे ...	१८ १	तपसा कृशं वपुरुवाह ...	१२ ६
ततः किरातस्य वचो ...	१४ १	तपसा तथा न मुदमस्य ...	१८ १४
ततः किराताधिपते ...	१६ १	तपसा निपीडितकृश ...	१२ ३९
ततः प्रजहे सममेव ...	१५ ४४	तपोबलेनैष विधाय ...	१४ ६०
ततः प्रयात्यस्तमदा ...	१७ १७	तप्तानामुपदधिरे विषाण ...	७ १३
ततः शरच्चन्द्रकरा ...	३ १	तमतनुवनराजिश्यामितो ...	४ ३८
ततः सकृजत्कलहंस ...	४ १	तमनतिशयनीयं सर्वतः ...	५ ५२
ततः सदर्पं प्रतनुं ...	१४ ३५	तमनिन्द्यबन्दिन इवेन्द्र ...	६ २

	स०श्लो०		स०श्लो०
तमाशु चक्षुःश्रवसां ...	१६ ४२	ददशेऽथ सविस्मयं...	१३ १७
तमुदीरितारुणजटांशु ...	१२ १४	दधत इव विलासशालि ...	५ ३२
तरसा भुवनानि यो ...	१८ ३७	दधतमाकरिभिः करिभिः ...	५ ७
तरसैव कोऽपि भुवनैक ...	१२ २६	दधति क्षतीः परिणत ...	६ ७
तवोत्तरीयं करिचर्म ...	१८ ३२	दनुजः खिदयं क्षपा ...	१३ ८
तस्मै हि भारोद्धरणे ...	१७ १४	दरीमुखैरासवराग ...	१६ ४६
तस्यातियत्नादति ...	१७ ३२	दिङ्गागहस्ताकृतिमुद्रहद्भिः ...	१६ ३८
तस्याहवायासविलोल ...	१७ ८	दिवः पृथिव्याः ककुभां ...	१४ ५३
तं शंभुराक्षिप्तमहेषु ...	१७ ४३	दिव्यस्त्रीणां सचरण ...	५ २३
तान्भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि ...	३ ३५	दिशः समूहञ्चिव ...	१४ ५०
तापसोऽपि विभुता ...	१३ ३९	दीपयन्नथ नभः ...	९ २३
तामैक्षन्त क्षणं सभ्या ...	११ ५१	दीपितस्त्वमनुभाव ...	१३ ३८
तावदाश्रीयते लक्ष्म्या ...	११ ६१	दुरक्षान्दीव्यता राज्ञा ...	११ ४७
तिरोहितश्वभ्रनिकुञ्ज ...	१४ ३३	दुरासदवनज्यायान् ...	११ ६३
तिरोहितान्तानि नितान्त ...	८ ४७	दुरासदानरीनुग्रान् ...	११ २३
तिरोहितेन्दोरथ शंभु ...	१६ ३१	दुर्वचं तदथ मा स्म ...	१३ ४९
तिष्ठतां तपसि पुण्य ...	१३ ४४	दुःशासनामर्षरजो ...	३ ४७
तिष्ठद्भिः कथमपि ...	७ ४	दूनास्तेऽरिबलादूना ...	१५ ३१
तीरान्तराणि मिथुनानि ...	८ ५६	दृश्यतामयमनोकहा ...	१३ ७०
तुतोष पश्यन्कमलस्य ...	४ ४	दृष्टावदानाद्यथतेऽरि ...	१७ १६
तुल्यरूपमसितोत्पल ...	९ ६१	दृष्ट्वा दृश्यान्याचरणीयानि ...	१८ २८
तुषारलेखाकुलितो ...	३ ३६	देवाकानिनि कावादे ...	१५ २५
तेजः समाश्रित्य परै ...	१७ ३	द्यां निरुन्धदतिनील ...	९ २०
तेन व्यातेनिरे भीमा ...	१५ ४२	द्युतिं वहन्ती वनिता ...	८ ३९
तेन सूरिरूपकारिता ...	१३ ६०	द्युवियद्गामिनी तार ...	१५ ४३
तेनानिमित्तेन तथा ...	१७ ४०	द्यौरुन्ननामेव दिशः ...	१६ ३५
तेनानुजसहायेन ...	११ ४८	द्रुतपदमभियातुमिच्छतीनां	१० २
त्रयीमृतूनामनिला ...	१४ ४८	द्वारि चक्षुरधिपाणि ...	९ ४३
त्रासजिह्वं यतश्चैता ...	१५ ६	द्विरदानिव दिग्वि ...	२ २३
त्रिःसप्तकृत्वो जगती ...	३ १८	द्विषतः परासिसिषु ...	१२ ३४
त्वमन्तकः स्थावरजङ्गमानां	१८ ३५	द्विषतामुदयः ...	२ ८
त्वया साधु समारम्भि ...	११ १०	द्विषता विहितं ...	२ १७
त्विषां ततिः पाटलिता ...	१६ ३३	द्विषन्निमित्ता यदियं ...	१ ४१
दक्षिणां प्रणतदक्षिण ...	१८ २७	द्विषां विघाताय ...	१ ३

	स०श्लो०		स०श्लो०
द्विषां क्षतीर्याः प्रथमे ...	१४ ५५	न स्रजो रुरुचिरे ...	९ ३५
धनुः प्रबन्धध्वनितं ...	१६ २०	नानारत्नज्योतिषां ...	५ ३६
धर्मात्मजो धर्मनिबन्धि ...	३ ३४	नान्तरज्ञाः श्रियो जातु ...	११ २४
धार्तराष्ट्रैः सह प्रीति ...	११ ५५	नाभियोक्तुमन्तं ...	१३ ५८
धार्ष्यलङ्घितयथोचित ...	९ ७२	नासुरोऽयं न वा नागो ...	१५ १२
धूतानामभिमुखपातिभिः ...	७ ३	निचयिनि लवली ...	१० २९
धृतबिसवल्यावलि ...	१० २४	निजघ्नरे तस्य हरेषु ...	१७ २६
धृतबिसवलये निधाय ...	१० ४६	निजेन नीतं विजितान्य ...	१४ ३९
धृतहेतिरप्यधृतजिह्व ...	६ २४	निद्राविनोदितनितान्त ...	९ ७५
धृतोत्पलापीड इव ...	१६ १५	निपतितेऽधिशिरोध ...	१८ ६
धैर्यावसादेन हृतप्रसादा ...	३ ३८	निपीयमानस्तबका ...	८ ६
धैर्येण विश्वास्यतया ...	३ ३४	निबद्धनिःश्वासविकम्पिता ...	४ १५
ध्रुवं प्रणाशः प्रहितस्य ...	१४ ९	निमीलदाके करलोल ...	८ ५३
ध्वनिरगविवरेषु ...	१० ४	निरञ्जने साचिविलोकितं ...	८ ५२
ध्वंसेत हृदयं सद्यः ...	११ ५७	निरत्ययं साम न दान ...	१ १२
न ज्ञातं तात यत्नस्य ...	११ ४२	निरास्पदं प्रश्नकुतूहलित्व ...	३ ९
न तेन सज्यं क्वचिदु ...	१ २१	निरीक्ष्यमाणा इव ...	४ ३
न ददाह भूरुहवनानि ...	१२ १६	निरीक्ष्य संरम्भनिरस्त ...	३ २१
न दलति निचये ...	१० ३९	निर्याय विद्याथ दिनादि ...	३ २५
ननु हो मन्थना राघो ...	१५ २०	निवृत्तवृत्तोरुपयोधर ...	८ ३
न नोननुन्नो नुन्नोनो ...	१५ १४	निशम्य सिद्धिं द्विषतां ...	१ २७
न पपात संनिहित ...	१२ ४	निशातरौद्रेषु विकासतां ...	१४ ३०
न प्रसादमुचितं गमिता ...	९ २५	निशितासिरतोऽभीको ...	१५ २२
न मृगः खलु कोऽप्ययं ...	१३ ६	निःशेषं प्रशमितरेणु ...	७ ३८
नयनादिव शूलिनः ...	१३ २२	निःशेषं शकलित ...	१७ ६२
न रागि चेतः परमा ...	१८ ३१	निःश्वासधूमैः स्थगितांशु ...	१६ ३९
नवपल्लवाञ्जलिभृतः ...	६ २६	निषण्णमापत्प्रतिकार ...	१४ ३७
न वर्म कस्मैचिदपि ...	१४ १४	निषादिसंनाहमणि ...	१६ १२
नवविनिद्रजपाकुसुम ...	५ ८	निसर्गदुर्बोधमबोध ...	१ ६
नवातपालोहितमाहितं ...	४ ८	निहते विडम्बित ...	१२ ३८
न विरोधिनी रुपमियाय ...	१२ ४६	निहितसरसयावकै ...	१० ३
न विसिस्मिये न विषसाद् ...	१२ ५	नीतोच्छ्रयं मुहुरशिशिर ...	५ ३१
न समयपरिरक्षणं ...	१ ४५	नीरन्ध्रं पथिषु रजो रथाङ्ग ...	७ २५
न सुखं प्रार्थये नार्थ ...	११ ६६	नीरन्ध्रं परिगमिते ...	१७ ६

	स०श्लो०	स०श्लो०
नीलनीरजनिभे हिम ...	९ १९	पुरोपनीतं नृप ... १ ३९
नुनोद तस्य स्थलपद्मिनी ...	४ ५	पुंसः पदं मध्यममुत्त ... १६ १९
नूनमत्रभवतः शराकृतिं ...	१३ ४५	पृथग्विधान्यस्त्रविराम ... १६ ३४
नृपतिमुनिपरिग्रहेण ...	१० ६	पृथुकदम्बकदम्बकराजितं ... ५ ९
नृपसुतमभितः ...	१० ४४	पृथुधाम्नि तत्र परिबोधि ... ६ ४५
न्यायनिर्णतसारत्वात् ...	११ ३९	पृथूरुपर्यस्तबृहलता ... १४ ३४
पतत्सु शस्त्रेषु वितल्य ...	१४ ४९	प्रकृतमनुससार नाभि ... १० ४१
पतन्ति नास्मिन्विशदाः ...	४ २३	प्रचलिते चलितं ... १८ १०
पतितैरपेतजलदान्नभसः ...	६ २७	प्रणतिप्रवणान्विहाय ... २ ४४
पतिं नगानामिव ...	१७ ५	प्रणतिमथ विधाय ... ६ ४७
पथश्च्युतायां समितौ ...	३ १५	प्रणिधाय चित्तमथ ... ६ ३९
पपात पूर्वां जहतो ...	४ १८	प्रणिधाय तत्र विधिना ... ६ १९
परमास्त्रपरिग्रहोरु तेजः ...	१३ २६	प्रतप्तचामीकरभासुरेण ... १६ ४०
परवानर्थसंसिद्धौ ...	११ ३३	प्रतिक्रियायै विधुरः ... १७ ४१
परस्य भूयान्विवरे ...	१६ २३	प्रतिघ्नतीभिः कृत ... १६ ४३
पराहतध्वस्तशिखे ...	१६ ५६	प्रतिदिशमभिगच्छता ... १० २१
परिकीर्णमुद्यतभुजस्य ...	१२ ११	प्रतिदिशं प्लवगाधिप ... १४ ६४
परिक्षते वक्षसि दन्ति ...	१६ ११	प्रतिबोधजृम्भणविभिन्न ... ६ १२
परिणामसुखे गरीयसि ...	२ ४	प्रत्यार्द्राकृततिलकास्तुषार ... ७ १५
परिणाहिना तुहिनराशि ...	१२ २३	प्रत्याहतौजाः कृत ... १७ १५
परिभ्रमन्मूर्धजषट्पदा ...	४ १४	प्रनृत्तशववित्रस्त ... १५ २६
परिभ्रमंल्लोहित ...	१ ३४	प्रपित्सोः किं च ते मुक्तिं ... ११ १६
परिमोहयमाणेन ...	१५ ३६	प्रबभूव नालमवलोकयितुं ... ६ ६
परिवीतमंशुभिरुदस्त ...	१२ १८	प्रभवति न तदा परो ... १० ३५
परिसरविषयेषु लीढ ...	५ ३८	प्रभवः खलु कोश ... २ १२
परिसुरपतिसुनुधाम ...	१० २०	प्रमार्ष्टुमयशःपङ्क ... ११ ६७
परिस्फुरन्मीनविघटितोरवः ...	८ ४५	प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि ... ८ १४
परीतमुक्षावजये ...	४ ११	प्रयुज्य सामाचरितं ... १४ ७
परोऽवजानाति यदज्ञता ...	१४ २३	प्रलीनभूपालमपि ... १ २३
पश्चात्क्रिया तूणयुगस्य ...	१७ ४२	प्रववृतेऽथ महाहव ... १८ ८
पाणिपल्लवविधूनन ...	९ ५०	प्रवालभङ्गारुणपाणि ... ८ २१
पातितोत्तुङ्गमाहात्म्यैः ...	१५ ११	प्रविकर्षनिनादभिन्न ... १३ १६
पातुमाहितरतीन्यभि ...	९ ५१	प्रविततशरजालच्छन्न ... १४ ६५
पार्थवाणाः पशुपते ...	१५ ४०	प्रविवेश गामिव ... १२ १०
पुरःसरा धाम्बतां ...	१ ४३	प्रवृत्तनत्तदिव ... १६ ४७
पुराधिरूढः शयनं ...	१ ३८	प्रवृद्धसिन्धूर्मिचय ... १६ ६०
		प्रशान्तधर्माभिभवः ... ८ २८

	स०श्लो०		स०श्लो०
प्रश्न्योतन्मदसुरभीणि ...	७ ३५	भर्तृभूपसखि निक्षिप ...	९ ६६
प्रसक्तदावानल ...	१६ २६	भवतः स्मरतां सदा ...	१८ ३८
प्रसह्य योऽस्मासु परैः ...	३ ४४	भवद्विरधुनाराति ...	१५ १७
प्रसादरम्यमोजखि ...	११ ३८	भवन्तमेताहं मनखि ...	१ ३२
प्रसादलक्ष्मीं दधतं ...	३ २	भवन्ति ते सभ्यतमा ...	१४ ४
प्रसेदिवासं न तमाप ...	१७ २३	भवभीतये हतबृहत्तम ...	६ ४१
प्रस्थानश्रमजनितां ...	७ ३१	भवदृशेषु प्रमदा ...	१ २८
प्रस्थिताभिरधिनाथ ...	९ ३६	भव्यो भवन्नपि मुने ...	५ ४९
प्रहीयते कार्यवशा ...	१६ २२	भित्त्वेव भाभिः सवितु ...	१६ ५१
प्राञ्जलावपि जने ...	९ १०	भुजगराजसितेन ...	५ ४
प्राप्तोऽभिमानव्यसनाद् ...	३ ४५	भूर्भर्तुः समधिकमादधे ...	७ २७
प्राप्यते गुणवतापि ...	९ ५८	भूयः समाधानविरुद्ध ...	१७ ७
प्राप्यते यदिह दूर ...	१८ २५	भूरिप्रभावेण रणाभि ...	१७ २
प्रियेऽपरा यच्छति ...	८ १५	भूरेणुना रासभधूसरेण ...	१६ ७
प्रियेण संप्रथ्य विपक्ष ...	८ ३७	भृशकुसुमशरेषु ...	१० ६१
प्रियेण सिक्ता चरमं ...	८ ५४	भ्रूविलाससुभगाननु ...	९ ५६
प्रियेषु यैः पार्थ विनोप ...	३ ५२	मग्नां द्विषच्छन्नानि ...	३ ३९
प्रियैः सलीलं करवारि ...	८ ४९	मणिमयूखचयांशुक ...	५ ५
प्रीते पिनाकिनि मया ...	११ ८१	मतिभेदतमस्तिरो ...	२ ३३
प्रेरितः शशधरेण करौघः ...	९ २८	मतिमान्विनयप्रमाथि ...	२ ५२
प्लुतमालतीसितकपाल ...	१२ २४	मथिताम्भसो रयविकीर्ण ...	१२ ५१
बदरीतपोवननिवास ...	१२ ३३	मदमानसमुद्धतं ...	२ ४९
बद्धकोपविकृतीरपि ...	९ ३४	मदसिक्तमुखैर्मृगा ...	२ १८
बभार शून्याकृति ...	१७ ३९	मदस्रुतिश्यामित ...	१६ २
बलवदपि बलं मिथो ...	१० ३७	मधुरैरवशानि ...	२ ५५
बलवानपि कोपजन्मनः ...	२ ३७	मध्यमोपलनिभे लसदंशा ...	९ २
बलशालितया यथा तथा ...	१३ १२	मनसा जपैः प्रणतिभिः ...	६ २२
बहुधा गतां जगति ...	६ ४२	मनःशिलाभङ्गनिभेन ...	१६ ४५
बहु बर्हिचन्द्रकनिभं ...	६ ११	मनोरमं प्रापितमन्तरं ...	४ ७
(बहुभिश्च बाहुभिः) ...	१२क्षेपकः	मन्दमस्यन्निष्ठुलतां ...	१५ १३
बहुशः कृतसंस्कृतेर्विधातुं ...	१३ १०	मया मृगान्हन्तुरनेन ...	१४ २५
बाणच्छिदस्ते विशिखाः ...	१७ २०	मरुतः शिवा नवतृणा ...	६ ३३
विभरां वभूवुरपवृत्त ...	१२ ४९	मरुतां पतिः खिद ...	१२ १५
बृहदुद्रहञ्जलदनादि ...	१२ ४२	महता मयूखनिचयेन ...	१२ १३
भयंकरः प्राणभृतां ...	११ १७	महते फलाय तदवेक्ष्य ...	६ २८
भयादिवाश्लिष्य झषाहते ...	८ ४६	महत्त्वयोगाय महा ...	३ २३
भर्तृभिः प्रणयसंभ्रम ...	९ ५४	महर्षभस्कन्धमनून ...	१४ ४०

	स०श्लो०		स०श्लो०
महानले भिन्नसिताभ्र ...	१६ ५७	यथा निजे वर्त्मनि...	१७ ५७
महारथानां प्रतिदन्य ...	१६ १४	यथाप्रतिज्ञं द्विषतां ...	११ ७४
महास्रदुर्गे शिथिल...	१६ ३६	यथायथं ताः सहिता ...	८ २
महिषक्षतागुरुतमाल ...	१२ ५०	यथास्वमाशंसित ...	१४ ४३
महीभृता पक्षवतेव ...	१६ १३	यदवोचत वीक्ष्य ...	२ २
महीभृतां सच्चरितै ...	१ २०	यदात्थ कामं भवता ...	१४ १८
महेषुजलधौ शत्रो ...	१५ ३२	यदा विगृह्णाति हतं ...	१४ २४
महौजसो मानधना ...	१ १९	यदि प्रमाणीकृतमार्य ...	१४ ११
मा गमन्मदविमूढ ...	९ ७०	यदि मनसि शमः किमङ्ग ...	१० ५५
मा गाश्चिरायैकचरः ...	३ ५३	यमनियमकृशीकृत ...	१० १०
मानिनीजनविलोचन ...	९ २६	यया समासादित ...	३ २२
मा भूवन्नपथहृतस्तवे ...	५ ५०	यशसेव तिरोदधन्मुहुः ...	३ ५८
माया खिदेषा मति ...	१६ १८	यशोऽधिगन्तुं सुख ...	३ ४०
मार्गणैरथ तव ...	१३ ५९	यष्टुमिच्छसि पितृन्न ...	१३ ६५
मा विहासिष्ट समरं ...	१५ ८	यस्मिन्ननैश्वर्यकृत ...	३ १९
माहेन्द्रं नगमभितः...	७ २०	यः करोति वधोदर्का ...	११ १९
मित्रमिष्टमुपकारि ...	१३ ५१	यः सर्वेषामावरीता ...	१८ ४०
मुकुलितमतिशय्य ...	१० २७	या गम्याः सत्सहायानां ...	११ २२
मुक्तमूललघुरुज्झित ...	९ ५	यातस्य ग्रथिततरङ्ग ...	७ १६
मुखैरसौ विद्रुमभङ्ग...	४ ३६	युक्तः प्रमाद्यसि हिता ...	११ २९
मुञ्चतीशे शराञ्जिष्णौ ...	१५ ३४	युक्ताः स्वशक्त्या मुनयः ...	१८ २९
मुदितमधुलिहो वितानी ...	१८ २०	युयुत्सुनेव कवचं ...	११ १५
मुनयस्ततोऽभिमुख...	१२ २५	येनापविद्धसलिलः ...	५ ३०
मुनिदनुतनयान्विलोभ्य ...	१० १६	योगं च तं योग्यतमाय ...	३ २६
मुनिमभिमुखतां ...	१० ४०	योषितः पुलकरोधि ...	९ ४१
मुनिरस्मि निरागसः ...	१३ ७	योषिदुद्धतमनोभव...	९ ६८
मुनिरूपोऽनुरूपेण ...	११ २	रक्षोभिः सुरमनुजैः...	१८ ३६
मुनीषुदहनातप्तान् ...	१५ ३०	रजनीषु राजतनयस्य ...	१२ १२
मुनेर्विचित्रैरिषुभिः...	१७ १९	रञ्जिता नु विविधा ...	९ १५
मुनेः शरौषेण तदुग्र ...	१४ ५९	रणाय जैत्रः प्रदिशन्निव ...	१४ २८
मुहुरनुपतता विधूय ...	१० ३३	रथाङ्गसंकीर्तितमश्व ...	१६ ८
मुहुश्चलत्पल्लवलोहिनी ...	१६ ५३	रम्या नवद्युतिरपैति ...	५ ३७
मूलं दोषस्य हिंसादे ...	११ २०	रयेण सा संनिदधे...	१७ ५२
मृगान्विनिघ्नन्मृगयुः ...	१४ १५	रहितरत्नचयाञ्च शिलो ...	५ १०
मृणालिनीनामनुरञ्जितं ...	४ २७	रागकान्तनयनेषु ...	९ ६३
मृदितकिसलयः सुराङ्गना ...	१० ९	राजद्भिः पथि मरुता ...	७ ६
यच्छति प्रतिमुखं ...	९ १४	रात्रिरागमलिनानि...	९ १६

	स०श्लो०	स०श्लो०
रामाणामवजितमाल्य ...	७ ७	विचित्रया चित्रयतेव ... १६ ३
रिक्ते सविस्त्रम्भमथा ...	१७ ३६	विच्छिन्नाभ्रविलायं ... ११ ७९
रुचिकरमपि नार्थं ...	१० ६२	विजहीहि रणोत्साहं ... ११ ३१
रुचिरपल्लवपुष्पलता ...	५ १९	विजिगीषते यदि जगन्ति ... १२ ३०
रुचिराकृतिः कनकसानु ...	६ १	विजित्य यः प्राज्य ... १ ३५
रुजन्महेषून्बहुधा ...	१५ ५१	विततशीकरराशिभिः ... ५ १५
रुन्धती नयनवाक्य ...	९ ६७	वितन्वतस्तस्य शरा ... १७ २०
लघुवृत्तितया भिदां ...	२ ५३	विदिताः प्रविश्य विहिता ... ६ ३०
लभ्यमेकमुकृतेन ...	१३ ५२	विदूरपातेन भिदामुपेयुः ... ८ १०
लभ्या धरित्री तव ...	३ १७	विधाय रक्षान्परितः ... १ १४
लिलिक्षतीव क्षयकाल ...	१६ ५४	विधाय विध्वंसमनात्म ... ३ १६
लेखया विमलविद्रुम ...	९ २२	विधिसमयनियोगा ... १ ४६
लोकं विधात्रा विहितस्य ...	३ ४१	विधुरं किमतःपरं ... २ ७
लोचनाधरकृता ...	९ ६०	विधूतकेशाः परि ... ८ ३३
लोलदृष्टि वदनं ...	९ ४७	विधूनयन्ती गहनानि ... १४ ४७
वदनेन पुष्पितलतान्त ...	१२ ४१	विनम्रशालिप्रसवौ घ ... ४ २
वनान्तशय्याकठिनी ...	१ ३६	विनयं गुणा इव विवेक ... १२ १७
वनाश्रयाः कस्य मृगाः ...	१४ १३	विनिर्यतीनां गुरुखेद ... ८ २६
वनेऽवने वनसदां ...	१५ १०	विपक्षचित्तोन्मथना ... ८ ३४
वपुरिन्द्रियोपतपनेषु ...	१२ ३	विपत्रलेखा निरलक्तका ... ८ ४०
वपुषा परमेण भूधरा ...	१३ १	विपदेति तावदवसाद् ... १८ २३
वयं क वर्णाश्रमरक्षणो ...	१४ २२	विपदोऽभिवन्त्य ... २ १४
वरं कृतध्वस्तगुणा ...	१५ १५	विपाण्डुभिर्मर्लानतया ... ४ २४
वरोरुभिर्वारणहस्त ...	८ २२	विपाण्डु संव्यानमिवा ... ४ २८
वसूनि वाञ्छन्न वशी ...	१ १३	विफलीकृतयत्नस्य ... १५ ४६
वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्य ...	११ ६९	विबोधितस्य ध्वनिना ... १७ ४६
वंशोचितत्वाद्भिमान ...	१७ ४	विभिन्नपर्यन्तगमीन ... ८ ३०
वाजिभूमिरिभराज ...	१३ ५५	विभिन्नपातिताश्वीय ... १५ २४
वाससां शिथिलतामुप ...	९ ६५	विभेदमन्तः पदवी ... १७ २७
विकचवारिरुहं दधतं ...	५ १३	विमुक्तमाशंसित ... १४ ५१
विकसितकुसुमाधरं ...	१० ३२	विमुच्यमानैरपि तस्य ... ४ १२
विकार्मुकः कर्मसु शोच ...	१७ ५३	वियति वेगपरिप्लुत ... १८ १२
विकाशमीयुर्जगतीश ...	१५ ५२	विरचय्य काननविभाग ... १२ ४४
विकोशनिर्धौततनो ...	१७ ४५	विरोधि सिद्धेरिति ... १४ ८
विगणय्य कारणमनेक ...	६ ३७	विलङ्घ्य पत्रिणां पाङ्क्ति ... १५ ४४
विगाढमात्रे रमणीभि ...	८ ३१	विलम्बमानाकुलकेश ... ८ १८
विचकर्ष च संहितेषु ...	१३ १८	विवरेऽपि नैनमनिगूढ ... १२ ३७

	स०श्लो०		स०श्लो०
विवस्वदंशुसंश्लेष ...	१५ ९	शक्तिवैकल्यनम्रस्य ...	११ ५९
विविक्तवर्णाभरणा ...	१४ ३	शङ्किताय कृतबाष्प ...	९ ४६
विविक्तेऽस्मिन्नगो ...	११ ३६	शतशो विशिखानवद्यते ...	१५ ४८
विशङ्कमानो भवतः ...	१ ७	शमयन्धृतेन्द्रियशमैक ...	६ २०
विशदभ्रूयुगच्छन्न ...	११ ४	शरणं भवन्तमति ...	१८ २२
विषमोऽपि विगाह्यते ...	२ ३	शरदम्बुधरच्छाया ...	११ १२
विसारिकाञ्चीमणि ...	८ २३	शरदृष्टिं विधूयोर्वी ...	१५ ४१
विस्फार्यमाणस्य ततो ...	१७ २४	शरानवद्यन्ननवद्य ...	१७ ५६
विस्मयः क इव वा ...	१३ ४०	शशधर इव लोचनाभि ...	१० ११
विस्मितः सपदि तेन ...	१८ १३	शंभोर्धनुर्मण्डलतः ...	१५ ४९
विहस्य पाणौ विधृते ...	८ ५१	शाखावसक्तकमनीय ...	७ ४०
विहाय वाञ्छामुदिते ...	४ २५	शान्तता विनययोगि ...	१३ ३७
विहाय शान्तिं नृप ...	१ ४२	शारतां गमितया शशि ...	९ २९
विहारभूमेरभिघोष ...	४ ३१	शिरसा हरिन्मणिनिभः ...	६ २३
विहितां प्रियया ...	२ १	शिलाघनैर्नाकसदा ...	८ ३२
वीक्ष्य रत्नचषके ...	९ ५९	शिवध्वजिन्यः प्रतियोध ...	१४ ५८
वीक्ष्य रन्तुमनसः ...	९ १	शिवप्रणुजेन शिलीमुखेन ...	१७ ५८
वीतजन्मजरसं परं ...	५ २२	शिवभुजाहतिभिन्न ...	१८ ३
वीतप्रभावतनुरप्य ...	१६ ६४	शिवमौपयिकं गरी ...	२ ३५
वीतौजसः संनिधि ...	३ ४९	शीधुपानविधुरासु ...	९ ४२
वीर्यावदानेषु कृता ...	३ ४३	शीधुपानविधुरेषु ...	९ ७३
वेत्रशाककुजे ...	१५ १८	शुकैर्मयूखनिचयैः ...	५ ४२
व्यक्तोदितस्मितमयूख ...	२ ५९	शुचि भूषयति श्रुतं ...	२ ३२
व्यथितमपि भृशं मनो ...	१० २२	शुचिरप्सु विद्रुमलता ...	६ १३
व्यथितसिन्धुमनीरशनैः ...	५ ११	शुचिवल्कवीततनुरन्य ...	६ ३१
व्यधत्त यस्मिन्पुरमुच्च ...	५ ३५	शुभाननाः साम्बुरुहेषु ...	८ ४२
व्यपोहितुं लोचनतो ...	८ १९	शून्यामाकीर्णतामेति ...	११ २७
व्यानशे शशधरेण ...	९ १७	श्रयोतन्मयूखेऽपि हिम ...	३ ८
व्याहृत्य मरुतां पत्या ...	११ ३७	श्रद्धेया विप्रलब्धारः ...	११ ३५
व्रज जय रिपुलोकं ...	१८ ४८	श्रियः कुरुणामधिपस्य ...	१ १
व्रजति शुचि पदं त्वयि ...	१८ २६	श्रियं विकर्षत्यपहन्य ...	३ ७
व्रजतोऽस्य बृहत्पतत्र ...	१३ २१	श्रिया हसद्भिः कमलानि ...	८ ४४
व्रजन्ति ते मूढधियः ...	१ ३०	श्रीमद्भिर्नियमितकन्धरा ...	७ ३७
व्रजाजिरेष्वम्बुदनाद ...	४ १६	श्रीमद्भिः सरथगजैः ...	७ १
व्रणमुखच्युतशोणित ...	१८ ४	श्रीमल्लताभवनमोषधयः ...	५ २८
व्रीडानतैराप्तज्ञनोप ...	३ ४२	श्रुतमप्यधिगम्य ...	२ ४१
शक्तिरर्थपतिषु स्वयं ...	१३ ६१	श्रुतिसुखमुपवीणितं ...	१० ३८

	स०श्लो०		स०श्लो०
श्रेयसीं तव संप्राप्ता ...	११ ११	स विभर्ति भीषण ...	६ ३२
श्रेयसोऽप्यस्य ते तात ...	११ ४४	स भवस्य भवक्षयैक ...	१३ १९
श्लिष्यतः प्रियवधूरुप ...	९ २७	स भोगिसंघः शम ...	१६ ४८
श्वसनचलितपल्लवा ...	१० ३४	समदशिखिरुतानि ...	१० २५
श्वस्त्वया मुखसंवित्तिः ...	११ ३४	स मन्थरावलिगत ...	४ १७
स किंसखा साधु न ...	१ ५	समवृत्तिरुपैति ...	२ ३८
सक्तिं जवादपनयत्य ...	५ ४६	समस्य संपादयता ...	१४ ६
स क्षत्रियद्वानसहः ...	३ ४८	समानकान्तीनि तुषार ...	८ २५
स खण्डनं प्राप्य पराद् ...	१७ ६०	समुच्च्वसत्पङ्कजकोश ...	८ २४
सखा स युक्तः कथितः ...	१४ २१	समुज्झिता यावदराति ...	१४ ५६
सखि दयितमिहानयेति ...	१० ४७	समुन्नतैः काशदुकूल ...	८ ९
सखीजनं प्रेम गुरुकृता ...	८ ११	समुल्लसत्प्रासमहोर्मि ...	१६ ४
सखीनिव प्रीतियुजो ...	१ १०	स यौवराज्ये नव ...	१ २२
स गतः क्षितिमुष्ण ...	१३ ३१	सरजसमपहाय ...	१० २६
सचकितमिव विस्मया ...	१० ७	सरभसमवलम्ब्य ...	१० ५४
स जगाम विस्मयमुदीक्ष्य ...	६ १५	सरोजपत्रे नु विलीन ...	८ ३५
सजलजलधरं नभो... ...	१० १९	सललितचलित ...	१० ५२
सजनोऽसि विजहीहि ...	१३ ६६	सलीलमासक्तलता ...	८ १६
सज्यं धनुर्वहति यो ...	१३ ७१	सलेशमुल्लिङ्गितशात्रवे ...	१४ २
स ततार सैकतवतोरभितः... ...	६ १६	स वंशस्यावदातस्य... ...	११ ७५
स तदोजसा विजित ...	१२ २९	सविनयमपराभिसृत्य ...	१० ५७
स तमालनिभे रिपौ ...	१३ २४	सवृषध्वजसायकावभिन्नं ...	१३ २८
स तमाससाद् धननील ...	१२ ५३	सव्यलीकमवधीरित ...	९ ४५
सदृशमतनुमाकृतेः... ...	१० १३	सव्यापसव्यध्वनितो ...	१७ २५
सद्गनां विरचनाहित ...	९ ३४	सत्रीडमन्दैरिव ...	३ ४६
सद्वादितेवाभिनिविष्ट ...	१७ ११	ससत्त्वरतिदे नित्यं... ...	१५ २७
स धनुर्महेषुधि ...	१२ २७	स समुद्धरता विचिन्त्य ...	१३ ३४
सध्वानं निपतितनिर्झरासु ...	७ २२	स संप्रधायैवमहार्य... ...	१६ २५
सनाकबनितं नितम्ब ...	५ २७	स सायकान्साध्वस... ...	१७ २१
सपदि प्रियरूपपर्वरेखः ...	१३ २५	स सासिः सासुसूः... ...	१५ ५
सपदि हरिसखैर्वधू ...	१० १८	ससुरचापमनेकमणि ...	५ १२
स पिङ्गाक्षः श्रीमान् ...	१८ ४५	सहशरधि मिजं तथा ...	१८ १६
स पिशङ्गजटावलिः ...	१५ ४७	सहसा विदधीत ...	२ ३०
स पुमानर्थवज्जन्मा ...	११ ६२	सहसोपगतः स ...	२ ५६
स प्रध्वनय्याम्बुदनादि ...	१७ १०	संक्रान्तचन्दनरसा... ...	८ ५७
स प्रयुज्य तनये ...	१३ ३६	संततं निशमयन्त ...	१३ ४७
स ब्रभार रणापेतां... ...	१५ ३३		

	स०	श्लो०		स०	श्लो०
संनिबद्धमपहर्तु	१८ ३०	सृजन्तमाजाविषु	३ २०
संपश्यतामिति	१५ ५३	सेतुत्वं दधति पयोमुचां	७ १९
संप्रति लब्धजन्म	५ ४३	सोडवान्नो दशामन्यां	११ ५३
संप्रीयमाणोऽनुबभूव	१७ १३	सोडावगीतप्रथमा	१७ २८
संभिन्नार्मविरलपातिभि	७ २३	सोत्कण्ठैरमरगणै	७ २
संभिवैरिभतुरगावगाह	७ ११	स्तुवन्ति गुवांमभिधेय	१४ ५
संभोगक्षमगहनामथो	७ २६	स्थितमुन्नते तुहिन	१२ २१
संमूर्च्छतां रजतभित्ति	५ ४१	स्थितं विशुद्धे नभसीव	१७ ४८
संरम्भवेगोज्झित	१७ ४९	स्थित्यतिक्रान्तिभीरूणि	११ ५४
संवाता मुहुरनिलेन	७ १४	स्नपितनवलतातरु	५ ४४
संविधातुमभिषेक	९ ३२	स्पृहणीयगुणैर्महा	२ ३४
संसिद्धावितिकरणीय	७ १७	स्फुटता न पदैरपा	२ २७
संसेवन्ते दानशीला	१८ २४	स्फुटपौरुषमापपात	१३ ३२
संस्कारवत्त्वाद्रमयत्सु	१७ ६	स्फुटबद्धसटोन्नति	१३ २
साचि लोचनयुगं	९ ४४	स्फुरत्पिशङ्गमौर्वीकं	१५ ३९
सादृश्यं गतमपनिद्र	५ २६	स्मर्यते तनुभृतां सनातनं	१३ ४२
सादृश्यं दधति गभीर	७ ३९	स्यन्दना नो चतुरगाः	१५ १६
साफल्यमन्त्रे रिपु	१६ ४९	खकेतुभिः पाण्डुर	१६ ५८
सामोदाः कुसुमतरु	७ २८	खगोचरे सत्यपि चित्त	८ १३
साम्यं गतेनाशनिना	१७ ५१	खधर्ममनुरुन्धन्ते	११ ७८
सावलेपमुपलिप्सिते	१३ ५६	खयं संराध्यैवं शतमख	१० ६३
सितच्छदानामपदिश्य	४ ३०	खादितः खयमथैधित	९ ५५
सितवाजिने निजगदू	६ ९	हताहतेत्युद्धतभीम	१६ ५
सिन्दूरैः कृतरुचयः	७ ८	हरपृथासुतयो	१८ २
सिषिचुरवनिमम्बुवाहाः	१८ १७	हरसैनिकाः प्रतिभये	१२ ४८
सुकुमारमेकमणु मर्म	६ ४०	हरिन्मणिश्याममुदप्र	१४ ४१
सुखेन लभ्या ददतः	१ १७	हंसा बृहन्तः सुरसद्म	१८ १९
सुगेषु दुर्गेषु च तुल्य	१४ ३२	हता गुणैरस्य भयेन	१४ ६१
सुता न यूयं किमु	३ १३	हतोत्तरीयां प्रसभं	११ ४९
सुरकृत्यमेतदवगम्य	१२ ३६	हदाम्भसि व्यस्तवधू	८ ४३
सुरसरिति परं तपो	१० १२	हीतया गलितनीवि	९ ४८
सुलभैः सदा नयवता	५ २०	हेपयन्नहिमतेजसं	१३ ४१
सुहृदः सहजा	२ ४५			

किरातार्जुनीयस्य १५ सर्गे धृतानां चित्रबन्धानामुद्धारः ।

गोमूत्रिकाबन्धः । (१२ श्लोकः ।)

ना सु रो यं न वा ना गो ध र सं स्थो न रा क्ष सः ।

ना सु खो यं न वा भो गो ध र णि स्थो हि रा ज सः॥

सर्वतोभद्रः । (२५ श्लोकः ।)

दे	वा	का	नि	नि	का	वा	दे
वा	हि	का	स्व	स्व	का	हि	वा
का	का	रे	भ	भ	रे	का	का
नि	स्व	भ	व्य	व्य	भ	स्व	नि
नि	स्व	भ	व्य	व्य	भ	स्व	नि
का	का	रे	भ	भ	रे	का	का
वा	हि	का	स्व	स्व	का	हि	वा
दे	वा	का	नि	नि	का	वा	दे

अर्धभ्रमकः (२७ श्लोकः ।)

स	स	त्व	र	ति	दे	नि	त्यं
स	द	रा	म	र्ष	ना	शि	नि
त्व	रा	धि	क	क	सं	ना	दे
र	म	क	त्व	म	क	र्ष	ति

किरातार्जुनीयव्याख्यायां प्रमाणत्वेन समुपन्यस्तानां

ग्रन्थानां ग्रन्थकाराणां च नामानि ।

अगस्त्यः १२१४०
 अमरः १११, ११२, ११७, इत्यादि.
 आगमः ११४६, ३३७, ९३३ इत्यादि.
 आलंकारिकाः १११, १८१४४.
 कामन्दकः ११३१, २१६, २१९० इत्यादि.
 काव्यप्रकाशः ११८, ११९२, ११३९ इत्यादि.
 काशिका ११३, ११६, ११११ इत्यादि.
 केशवः २१२१, ८१२४, ९१११ इत्यादि.
 कैयटः १११, १११०, ८१११ इत्यादि.
 क्षीरस्वामी ११९, ११२१, १०१३.
 गणव्याख्यानम् २११७, २१३०, ३१६०.
 दृष्टी ११४६, ८१४४.
 दशरूपकम् ८११३, ९१२६, ९१४५.
 धन्वन्तरिः ४१२८.
 नारदः १११३.
 निरुक्तम् ७११०.
 नीतिवाक्यामृतम् ११२, ११४, ११२६
 इत्यादि.
 नृत्यविलासः ८१५३.
 नैषधम् ८१४९.
 न्यायः ११२४, २१५.
 न्यासोद्घोतः २११७.
 पालकाप्यम् ७१८.
 पुराणम् २१२६.
 प्रकाशवर्षः ४११०.
 भारतम् ५१३०, १३११०, १४११०.
 भाष्यकारः १११, १११०, ८१११ इत्यादि.
 मनुः २१६, १११७, १४१६ इत्यादि.

माघः ५१३, ८१४९.
 मातङ्गः ४१३३.
 मार्तण्डः ८११५.
 यादवः ११३४, ३११९, ७१४ इत्यादि.
 रघुवंशम् ८१४९.
 रघुवंशसंजीविनी १११७६.
 रसरत्नाकरः ९१७२.
 रसिकाः १२१४०
 रामायणम् ११९.
 रुद्रटः ५१८.
 वाग्भटः ५१८.
 वात्स्यायनः ९१४७.
 वामनः २१२७, २१३७, ४१२४ इत्यादि.
 विद्याधरः ४१३८.
 विश्वः ११८, ११९, ११२४ इत्यादि.
 वैजयन्ती १११३, २१८, ४१३६ इत्यादि.
 वैद्यकम् ५१११.
 व्यक्तिविवेकः ३१२१.
 शब्दार्णवः ८१३१.
 शाकटायनः ३१३५.
 शाश्वतः २१२२, ३१५, ७१२७ इत्यादि.
 श्रुतिः
 सज्जनः १३१४५, १४१२७, १६१५९.
 सर्वस्वकारः १११८, ९११५.
 सामुद्रिकाः ६११.
 स्मरणम् (स्मृतिः) १११३, ६१२९ इत्यादि.
 हलायुधः २१३, ४१३८, ७११३.
 हैमः ११२९, ५१४९, १०१३.

अथ कैरातपर्वविशिष्टांशात्मकं परिशिष्टम् ॥

- जनमेजय उवाच—भगवन्! श्रोतुमिच्छामि पार्थस्याऽक्लिष्टकर्मणः ।
विस्तरेण कथामेतां यथाऽस्त्राण्युपलब्धवान् ॥
कथं च भगवन्! स्थाणुर्देवराजश्च तोषितः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्प्रसादाद् द्विजोत्तम ॥
- वैशम्पायन उवाच—कथयिष्यामि ते तात! कथामेतां महात्मनः ।
पार्थस्य देवदेवेन शृणु सम्यक्समागमम् ॥
युधिष्ठिरनियोगात्स जगामाऽमितविक्रमः ।
शक्रं सुरेश्वरं द्रष्टुं देवदेवं च शंकरम् ॥
दिव्यं तद्धनुरादाय खड्गं च कनकत्सरुम् ।
महाबलो महाबाहुरर्जुनः कार्यसिद्धये ॥
दिशं ह्युदीचीं कौरव्यो हिमवच्छिखरं प्रति ।
वनं कण्टकितं घोरमेक एवाऽन्वपद्यत ॥
रमणीये वनोद्देशे रममाणोऽर्जुनस्तदा ।
दर्भचीरं निवस्याऽथ दण्डाजिनविभूषितः ॥
वायुभक्षो महाबाहुरभवत्पाण्डुनन्दनः ।
ततो महर्षयः सर्वे जग्मुर्देवं पिनाकिनम् ॥
निवेदयिषवः पार्थं तपस्युग्रे समास्थितम् ।
तं प्रणम्य महादेवं शशंसुः पार्थकर्म तत् ॥
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा मुनीनां भावितात्मनाम् ।
उमापतिर्भूतपतिर्वाक्यमेतदुवाच ह ॥
- महादेव उवाच—न वो विषादः कर्तव्यः फाल्गुनं प्रति सर्वशः ।
यत्त्वस्य कांक्षितं सर्वं तत्करिष्येऽहमद्य वै ॥
- वैशम्पायन उवाच—गतेषु तेषु सर्वेषु तपस्विषु महात्मसु ।
पिनाकपाणिर्भगवान्सर्वपापहरो हरः ॥
किरातवेषसंछन्नः स्त्रीभिश्चापि सहस्रशः ।
स संनिकर्षमागम्य पार्थस्याऽक्लिष्टकर्मणः ॥
वाराहं रूपमास्थाय तर्कयन्तमिवाऽर्जुनम् ।
हन्तुं परमदुष्टात्मा तमुवाचाऽथ फाल्गुनः ॥
गाण्डीवं धनुरादाय शरांश्चाशीविषोपमान् ।
सज्यं धनुर्वरं कृत्वा ज्याघोषेण निनादयन् ॥
यन्मां प्रार्थयसे हन्तुमनागसमिहाऽऽगतम् ।
तस्मात्त्वां पूर्वमेवाऽहं नेताऽद्य यमसादनम् ॥
दृष्ट्वा तं प्रहरिष्यन्तं फाल्गुनं दृढधन्विनम् ।
किरातरूपी सहसा वारयामास शंकरः ॥
मयैष प्रार्थितः पूर्वमिन्द्रनीलसमप्रभः ।
अनाटल्य च तद्वाक्यं प्रजहाराऽथ फाल्गुनः ॥
किरातश्च समं तस्मिन्नेकलक्ष्ये महाद्युतिः ।
प्रमुमोचाऽशनिप्रख्यं शरमग्निशिखोपमम् ॥

तौ मुक्तौ सायकौ ताभ्यां समं तत्र निषेततुः ।
 स विद्वो बहुभिर्बाणैर्दीप्तास्यैः पन्नगरिव ॥
 ममार राक्षसं रूपं भूयः कृत्वा विभीषणम् ।
 किरातवेषसंछन्नं स्त्रीसहायममित्रहा ॥
 तमब्रवीत्प्रीतमनाः कौन्तेयः प्रहसन्निव ।
 को भवानदत्ते शून्ये वने स्त्रीगणसंवृतः ॥
 न त्वमस्मिन्वने घोरे विभेषि कनकप्रभ ! ।
 किमर्थं च त्वया विद्वो वराहो मत्परिग्रहः ॥
 मयाऽभिपन्नः पूर्वं हि राक्षसोऽयमिहाऽऽगतः ।
 कामात्परिभवाद्वापि न मे जीवन्विमोक्ष्यसे ॥
 न ह्येष मृगयाधर्मो यस्त्वयाऽद्य कृतो मयि ।
 तेन त्वां नाशयिष्यामि जीवितात्पर्वताश्रय ! ॥
 इत्युक्तः पाण्डवेयेन किरातः प्रहसन्निव ।
 उवाच श्लक्ष्णया वाचा पाण्डवं सव्यसाचिनम् ॥
 न मत्कृते त्वया वीर ! भीः कार्या वनमन्तिकात् ।
 इयं भूमिः सदाऽस्माकमुचिता वसतां वने ॥
 त्वया तु दुष्करः कस्मादिह वासः प्ररोचितः ।
 वयं तु बहुसत्त्वेऽस्मिन्निवसामस्तपोधन ! ॥
 भवांस्तु कृष्णवर्त्माभः सुकुमारः सुखोचितः ।
 कथं शून्यमिमं देशमेकाकी विचरिष्यति ॥

अर्जुन उवाच—गाण्डीवमाश्रयं कृत्वा नाराचांश्चाऽग्निर्संनिभान् ।
 निवसामि महारण्ये द्वितीय एव पावकः ॥
 एष चापि मया जन्तुमृगरूपं समाश्रितः ।
 राक्षसो निहतो घोरो हन्तुं मामिह चाऽऽगतः ॥

किरात उवाच—मयैष धनुभिर्मुक्तैस्ताडितः पूर्वमेव हि ।
 बाणैरभिहतः शेते नीतश्च यमसादनम् ॥
 ममैष लक्ष्यभूतो हि मम पूर्वपरिग्रहः ।
 ममैव च प्रहारेण जीविताद्वयपरोपितः ॥
 दोषान्स्वान्नाऽर्हसेऽन्यस्मै वक्तुं स्वबलदर्पितः ।
 स्थिरो भवस्व मोक्षयामि सायकानशनीरिव ॥
 तस्य तद्गचनं श्रुत्वा किरातस्याऽर्जुनस्तदा ।
 रोषमाहारयामास ताडयामास चेषुभिः ॥
 ततो हृष्टेन मनसा प्रतिजग्राह सायकान् ।
 स दृष्ट्वा बाणवर्षं तु मोघीभूतं धनञ्जयः ॥
 परमं विस्मयं चक्रे साधु साध्विति चाऽब्रवीत् ।
 कोऽयं देवो भवेत्साक्षाद्गुदो यक्षः सुरोऽसुरः ॥
 न हि मद्बाणजालानामुत्सृष्टानां सहस्रशः ।
 शक्तोऽन्यः सहितुं वेगमृते देवं पिनाकिनम् ॥
 ततो हृष्टमना जिष्णुर्नाराचान्मर्मभेदिनः ।
 व्यसृजच्छतधा राजन् ! मयूखानिव भास्करः ॥

शूलपाणिः प्रत्यगृह्णाच्छिलावर्षमिवाचलः ।
 क्षणेन क्षीणबाणोऽथ संवृत्तः फाल्गुनस्तदा ॥
 चिन्तयामास जिष्णुस्तु भगवन्तं हुताशनम् ।
 किं नु मोक्षयामि धनुषा यन्मे बाणाः क्षयं गताः ॥
 प्रगृह्याऽथ धनुष्कोट्या कौन्तेयः परवीरहा ।
 मुष्टिभिश्चाऽपि हतवान्वज्रकल्पैर्महाद्युतिः ॥
 ततश्चटचटाशब्दः सुघोरः समपद्यत ।
 पाण्डवस्य च मुष्टीनां किरातस्य च युद्धतः ॥
 ततोऽभिपीडितैर्गात्रैः पिण्डीकृत इवाऽऽबभौ ।
 फाल्गुनो गात्रसंरुद्धो देवदेवेन भारत ! ॥
 पपात भूम्यां निश्चेष्टो गतसत्त्व इवाऽभवत् ।
 स मुहूर्तं तथा भूत्वा सचेताः पुनरुत्थितः ॥
 पपात पादयोस्तस्य ततः प्रीतोऽभवद्भवः ।
 उवाच चैनं वचसा मेघगम्भीरगीर्हरः ॥

भव उवाच—भो भो फाल्गुन ! तुष्टोऽस्मि कर्मणाऽप्रतिमेन ते ।

शौर्येणाऽनेन धृत्या च क्षत्रियो नाऽस्ति ते समः ॥
 प्रीतस्तेऽहं महाबाहो ! पश्य मां भरतर्षभ ! ।
 प्रीत्या च तेऽहं दास्यामि यदस्त्रमनिवारितम् ॥
 त्वं हि शक्तो मदीयं तदस्त्रं धारयितुं क्षणात् ।

अर्जुन उवाच—कपर्दिन्सर्वदेवेश भगनेत्रनिपातन ! ॥

व्यतिक्रमं मे भगवन्क्षन्तुमर्हसि शंकर ! ।
 प्रसादये त्वां भगवन्सर्वलोकनमस्कृतम् ॥
 परिष्वज्य च बाहुभ्यां प्रीतात्मा भगवान्हरः ।
 पुनः पार्थ सान्त्वपूर्वमुवाच वृषभध्वजः ॥
 प्रीतिमानस्मि ते पार्थ ! भवान्सत्यपराक्रमः ।
 भगवन् ! ददासि चेन्मह्यं कामं प्रीत्या वृषध्वज ! ॥
 कामये दिव्यमस्त्रं तद्धोरं पाशुपतं प्रभो ! ।

भव उवाच—ददामि तेऽस्त्रं दयितमहं पाशुपतं विभो ! ॥

समर्थो धारणे मोक्षे संहारे चाऽसि पाण्डव ! ।
 न त्वेतत्सहसा पार्थ मोक्तव्यं पुरुषे क्वचित् ॥
 अवध्यो नाम नास्त्यस्य त्रैलोक्ये सचराचरे ।
 ततस्त्वध्यापयामास सरहस्यनिवर्तनम् ॥

तदस्त्रं पाण्डवश्रेष्ठं मूर्तिमन्तमिवाऽन्तकम् ।

प्रतिजग्राह तच्चाऽपि प्रीतिमानर्जुनस्तदा ॥

ततः प्रभुस्त्रिदिवनिवासिनां वशी महाद्युतिर्गिरिश उमापतिः शिवः ।

धनुर्महद्दितिजपिशाचसूदनं ददौ भवः पुरुषवराय गाण्डिवम् ॥

ततः शुभं गिरिवरमीश्वरस्तदा सहोमया सिततटसानुकन्दरम् ।

विहाय तं पतगमहर्षिसेवितं जगाम खं पुरुषवरस्य पश्यतः ॥

कतिचिदुपयुक्तग्रन्थाः ।

मू. रु. आ. मा. रु. आ.

अभिज्ञानशाकुन्तलम् —कालिदासकृतं, राघवभट्टकृत- यार्थद्योतनिकाटीकया, परिशिष्टपाठान्तरानेकसूच्यादिभिश्च सहितम्... .. ३ ८ ० ८
स्वप्नवासवदत्तम् —महाकविभासप्रणीतं, पं. पुरुषोत्तम- शास्त्री दत्तवाडकरविरचितव्याख्ययालङ्कृतम् कलि- काता-वाराणसी-संस्कृतपरीक्षार्थिनां तथा आंग्लमहा- विद्यालये विशेषेण संस्कृताध्येतृणां कृतेऽतीवोपयुक्त- मिदम् । व्याख्या चैतस्यातीव सरला विस्तृता च । ध्वन्य- लङ्कारवस्तुरसादीनां च विवेचनं तथा प्रत्यङ्कारम्भे तस्य तस्याङ्कस्य विषयः स्थलकालयोर्निर्णयश्च नावीन्यं प्रकटीकरोति १ ८ ० ४
अलङ्कारसर्वस्वम् —राजानकरुय्यककृतं, जयरथकृतटीका- सहितम् । अस्मिन् शब्दार्थोभयविधालङ्काराणां मनोहर- तया विवेचनं विद्यते, अत एवायं ग्रन्थः केवलं (रसादि- ज्ञानं विना) अलङ्कारजिज्ञासूनामतीवोपयोगीति प्रसिद्धिः सर्वत्र २ ० ० ८
अभिधावृत्तिमातृका —महामहोपाध्याय-श्रीमन्मुकुल- भट्टप्रणीता ० १२ ० ३
अलंकारकौस्तुभः —पं. श्रीविश्वेश्वरविरचितम् ... ४ ० ० १२
उज्ज्वलनीलमणिः —श्रीमद्रूपगोस्वामिप्रणीतः, १ श्रीमद्विश्व- नाथविरचितव्याख्या-श्रीजीवगोस्वामिविरचितव्याख्या इति टीकाद्वययुतः ४ ० ० १२
अष्टाङ्गहृदयम् —अरुणदत्तकृतसर्वाङ्गसुन्दरया, हे- माद्रिविरचितया ह्यायुर्वेदरसायनाख्येति टीका- द्वयेन प्राच्यार्वाचीनवाग्भट्टविमर्शेन च विभूषितोऽयं सर्वा- ङ्गीणो ग्रन्थः प्रथमत एवोपाहियते त्वगदंकारेभ्यः ... २० ० २ ०

मनेजर—निर्णयसागरमुद्रणालयम्, मुंबई